पूर्णवाद–प्रबोध

भारतीय दर्शन परम्परा का पूर्णवादी मूल्यांकन

विष्णु रामचन्द्र पारनेरकर

पुस्तक परिचय

वेदान्त भारतीय परम्परा का सर्वाधिक गतिशील दर्शन और उतना ही सांस्कृतिक परिव्याप्ति रखने वाला जीवन-दर्शन है। प्रस्थानत्रयी, पांचरात्र और भागवत् पुराण को आधार बनाकर केवलाद्वैत से लेकर स्वामीनारायण सेश्वर वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय देश-काल और परिस्थिति के अनुरूप लगातार विकसित होते रहे हैं। इसी निरन्तरता में प. पू. रामचन्द्र प्रह्लाद पारनेरकर प्रणीत 'पूर्णाद्वैत' 20वीं शताब्दी में विकसित हुआ वेदान्त का एक अभिनव सम्प्रदाय है। श्रुतियों के तात्पर्य को 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' में देखना इसका प्रस्थान वैशिष्ट्य है। पूर्णवादाचार्य डॉ. विष्णु रामचन्द्र पारनेरकर कृत यह प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय दर्शन परम्परा का पूर्णाद्वैती दृष्टि से अनुशीलन करने वाला खण्डन-मण्डन-परक एक प्रौढ़ दार्शनिक कृति है। इस ग्रन्थ में पूर्णपुरुष, माया, जीवात्मा, अविद्या, ज्ञान-विज्ञान और मोक्ष इत्यादि विषयों पर श्रुतिसम्मत रूप से जिस तरीके से विचार किया गया है वह सर्वथा अभिनव अर्थों को उन्मीलित करता है।

₹ : 1200

प्रथम संस्करण : 2015

ISBN : 81-8315-272-4
978-81-8315-272-3

वेद
दर्श
वात
भाग
लेव
सम
लग
पू
20
आ
'पृ
इस
वि

से
क

प्र

I
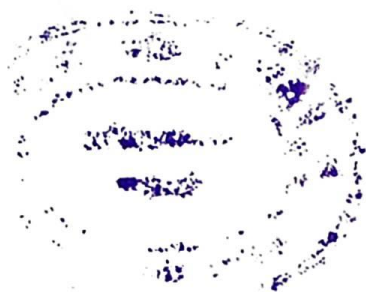
पूर्णवाद-प्रबोध

भारतीय दर्शन परम्परा का पूर्णवादी मूल्यांकन
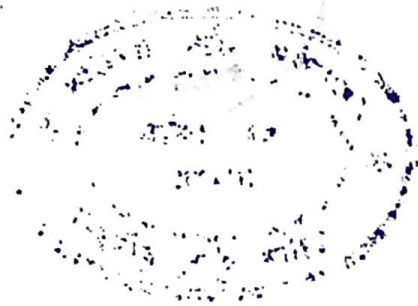
पूर्णवाद-प्रबोध

भारतीय दर्शन परम्परा का पूर्णवादी मूल्यांकन

डॉ. विष्णु रामचन्द्र पारनेरकर

प्रकाशक

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन

(दिल्ली) : : (भारत)

भूमिका

उन्नीसवीं शती से इक्कीसवीं शती तक विज्ञान जगत् ने संसार को नित्य नूतन शोध तथा निरंतर संशोधन से अभिभूत कर जहां भौतिक प्रगति को शिखर तक पहुँचाया है वहां दार्शनिक जगत् 7वें शतक से 15 शतक ही सीमित अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को आद्यतन मानकर चल रहा है। परिणामी वैज्ञानिक आविष्कारों के सामने वह निश्प्रभ होता दिखाई दे रहा है। जबकि आवश्यकता यह है कि दर्शन के क्षेत्र में भी परिष्कृत तथा निरंतर संशोधनों की आवश्यकता है। भारत भूमि ने समस्त संसार को ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में अपने मूलभूत सिद्धांतों से दिग्दर्शित किया है। पश्चिम ने विज्ञान तथा तंत्र ज्ञान को सर्वप्रथम पुरस्कृत करना प्रारंभ किया है। वास्तव यह है कि भारतीय दर्शन में ज्ञान–विज्ञान भी काफी उन्नत मात्रा में होकर भी आज हम मात्र प्रयोगशील तथा संशोधनात्मक स्तर पर पिछड़ते जा रहे हैं।

वेदकालीन दर्शन ज्ञान–विज्ञान से परिपूर्ण दर्शन है जिसमें ग्लोबल विश्व मानव के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की क्षमता है। कृणवंत विश्वं आर्य, तथा शापादपि शरादपि जैसा सामर्थ्य होने पर भी जिसने अहिंसा का संदेश आधुनिक संसार को दिया है। सांख्य और योग दर्शन ने समस्त विश्व को प्रभावित किया है। लेकिन सदियों से हम वितराग आलाप कर दर्शन के वैज्ञानिक पहल की अनदेखी कर रहे हैं। इसका एकमात्र कारण दर्शन के एकांगी पहलू को ही हम उजागर करते रहे हैं। मसलन हम मात्र परब्रह्म को ही केन्द्र में रखकर वेदों के पूर्णपुरुष की संकल्पना की अनदेखी करते आ रहे हैं जब कि पूर्णपुरुष की संकल्पना Cosmology से जुड़ी है – सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्ष सहस्त्रपात–सभूमि विश्व तो व्रत्यात्तिष्ठम दशांगुलम।

संपूर्ण विश्व ही एक अंग के रूप में विद्यमान है जिसे स्वरूप संबंध की दृष्टि से देखने पर हमें पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त होती है। वही पुरुष सूक्त का विषय

है। इस विश्व Universe को ही एक अंग मानने पर इसकी कोई भी इकाई या अंग निरुपयोगी नहीं है। इसीलिए ही वेदों को संकल्पना मान्य नहीं है। और यही वह मान सूत्र है जो विश्वबंधुत्व कल्पना को बल देकर "वसुधैव कुटुंबकम" (Globel Family) की स्थापना करता है। अतः वेदों के इस वैश्विक संकल्पना को पूर्णवादाचार्य ने 'पूर्णवाद' ग्रंथ में पूर्णाद्वैत सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया है। इस सिद्धांत ग्रंथ की समालोचना करने का मैंने पूर्णवाद प्रबोध ग्रंथ के माध्यम से प्रयास किया है।

इस ग्रंथ में 9 अध्याय हैं जिनके माध्यम से वेदों की पूर्णपुरुष संकल्पना को विस्तारित रूप से प्रस्तुत किया है। परब्रह्म, माया, विद्या–अविद्या, ज्ञान–विज्ञान की संकल्पनाओं को वैदिक और वेदान्तियों के दृष्टिकोण को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया है।

अन्त में उपसंहार अध्याय में पूर्णाद्वैत सिद्धान्त को सूत्र रूप में संक्षेप में विश्लेषित किया है।

चार्वाक आदि नास्तिक आचार्य, षड्दर्शनकार, आचार्य शंकाराचार्य तथा वैष्णवाचार्य विश्व के मूल में किसी कारण को मानते है।

पूर्णवाद की विशेषता यह है कि उसमें 'पूर्णपुरुष' को सत्य (Absulate Truth) मानते हुए उसके शिवरूप, विष्णुरूप और विश्वरूप को मानकर उनका स्वरूप संबंध स्पष्ट किया है।

पूर्ण तथा पश्चिम के शास्त्रज्ञों ने विश्व को कार्यरूप माना है। परंतु वेदों ने ऐसा कहीं भी नहीं कहा। इन संदर्भों को मैंने वेद तथा उपनिषद् के आधार पर प्रमाणित करने का प्रयास इस समीक्षात्मक ग्रंथ में किया है। मैं पूर्णाद्वैत सिद्धान्त के आचार्य मेरे पिताश्री तथा सद्गुरू डॉ. रामचन्द्र प्रह्लाद पारनेरकर के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर मेरे इस समीक्षात्मक ग्रंथ को विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत करता हूं।

विष्णु रामचन्द्र पारनेरकर
गुरुवाडा पारनेर
जिला अहमदनगर (महाराष्ट्र)
Contact Number: 9890235535 / 9226885522

पुरोवाक्

मनुष्य के स्वरूप की खोज और उसके गन्तव्य की भारतीय जिज्ञासा दस्तुतः दार्शनिक चिन्तन के उत्स एवं उसके पर्यवसान को ही वेदान्ती चिन्तन में देखती रही है। इसीलिए भारतीय दर्शन के अधिकांश सम्प्रदाय जहाँ भारतीयता का प्रतिनिधित्व उसके भौगोलिक परिधि में होने के अर्थ में करते हैं वहीं वेदान्त की विचार और भावधारा भौगोलिकता की सीमा को पार कर भारतीयता को तदात्मक प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। दार्शनिक दृष्टि से वस्तुतः भारतीयता का विशेषण 'वेदान्त' नहीं बल्कि वेदान्त का विशेषण ही 'भारतीयता' बनती है। यही कारण है कि भारत के सांस्कृतिक जीवन और दार्शनिक मानस में वेदान्त की प्रतिष्ठा एक दार्शनिक धर्म के रूप में हुई है। एक सम्पूर्ण जीवन–दर्शन के रूप में वेदान्त की मूलभूत मान्यताओं में मानवीय अनुभव और उसकी अतिकामी अभीप्सा (श्वेतकेतो तत्त्वमसि) के लिए अपेक्षाकृत व्यापकतर अवकाश है। मनुष्य की गरिमा और उसके उदात्त स्वरूप के साथ–साथ लोकमंगल के लिए सर्वतोभद्र तत्परता एवं अद्भुत लचीलापन है। इसमें मानवीय चेतना के ज्ञानात्मक, संकल्पात्मक और भावनात्मक, तीनों ही, अभिवृत्तियों को एक साथ और अलग–अलग रूपों में परमत्व प्राप्त होने के अवकाश हैं। ऐसी मूलगामिता यदि भारतीय दर्शन के किसी अन्य सम्प्रदाय में रही है तो उसे केवल महायान बौद्ध दर्शन में ही कुछ हद तक देखा जा सकता है। परन्तु अद्वैत वेदान्त द्वारा उसका दार्शनिक सात्मीकरण तथा कतिपय सांस्कृतिक विरोधों और साथ ही साथ लोक जीवन से समंजस पुरुषार्थमीमांसीय दृष्टि के अभाव के कारण महायान बौद्ध दर्शन उतना प्रतिष्ठित नहीं हो सका जितना कि इस देश में सांस्कृतिक स्वीकरण वेदान्त को मिला।

भारत–प्रभव आस्तिक–नास्तिक और निगमागमिक दर्शन परम्परा में अद्वैतवादी प्रकार के दर्शनों की प्रधानता और बाहुल्य शुरू से ही रहा है। श्रुतिमूलक ब्रह्माद्वैत और उसके विभिन्न संस्करणों का विकास, महायान बौद्ध परम्परा में बुद्धवचनों के तात्पर्य को शून्याद्वय एवं विज्ञानाद्वैत में देखा जाना, व्याकरण

परम्परा में शब्दाद्वैत का प्रौढ़ प्रतिपादन तथा शैवागमीय परम्परा में स्वतन्त्राद्वैत की पार्यन्तिक प्रतिष्ठा को इसके लिए प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इन सभी अद्वयवादी अथवा अद्वैतवादी दार्शनिक प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा स्वकीय परम्पराओं के अन्तर्गत एक–एक दार्शनिक धर्म के रूप में रही है। इतना ही नहीं, यहाँ तो साहित्यशास्त्र का पर्यवसान भी ब्रह्मानन्द सहोदर रूप से 'रसो वै सः' में होता है। इन सबों ने मिलकर भारतीय संस्कृति की आत्मप्रतिमा और विश्व–दृष्टि को अपने–अपने तरीके से प्रभूत समृद्धि प्रदान किया है। विश्व इतिहास में भारत का आध्यात्मिक–दार्शनिक उत्कर्ष और विश्वजनीन सांस्कृतिक अभ्युदय की सम्भावना इन्हीं अद्वैतवादी प्रकार के दार्शनिक प्रवृत्तियों में गोपित है।

यद्यपि वेदान्त की श्रुतिमूलकता तथा वाचिक भावधारा के रूप में उसकी प्राचीनता से इन्कार नहीं किया जा सकता लेकिन लिखित परम्परा के रूप में इसके इतिहास के आरम्भिक सूत्र समंजस रूप में उपलब्ध नहीं होते हैं। यत्र–तत्र कुछ ग्रन्थगत साक्ष्यों के संकेतन मात्र से वेदान्त वाङ्मय के अतिप्राचीन और बृहद् होने का आभास अवश्य मिलता है। उदाहरणार्थ गीता में एक 'ब्रह्मसूत्र' का उल्लेख मिलता है (ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिनिश्चितैः) जो बादरायण प्रणीत प्रचलित ब्रह्मसूत्र से अवश्य ही प्राचीन एवं भिन्न रहा होगा, क्योंकि प्रचलित ब्रह्मसूत्र तो गीता को स्वयं ही प्रमाणत्वेन् उद्धृत करता है। इसके बावजूद भी वेदान्त दर्शन का भगवत्पाद् शंकर पूर्व और पश्चात् जैसा भी इतिहास उपलब्ध है, उसके आधार पर वेदान्त को भारतीय परम्परा का सर्वाधिक गतिशील दर्शन और उसी अनुपात में सांस्कृतिक परिव्याप्ति रखने वाला जीवन–दर्शन कहा जा सकता है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता रूपी प्रस्थानत्रयी तथा पांचरात्र एवं भागवत् पुराण को आधार बनाकर शांकरवेदान्त, रामानुज वेदान्त, वाल्लभवेदान्त, माध्ववेदान्त, निम्बार्कवेदान्त, चैतन्यवेदान्त, स्वामीनारायण–वेदान्त इत्यादि वेदान्तीय सम्प्रदाय लगातार आविर्भूत और विकसित होते रहे हैं। वेदान्त के ऐसे अनेकविध संस्करणों एवं पुनर्रचनाओं के आपसी विवाद और मतभेदों को भी किसी तरीके से कम करके नहीं आंका जा सकता लेकिन तब भी सबकी आत्मा एक है।

वेदान्त की आत्मा है –'एकमेवाद्वितीयम्'। यह श्रुतिवाक्य वेदान्त–विचार के लिए सामान्य लक्षण जैसा है। इसी के साथ वेदान्त के सभी संस्करण अपनी–अपनी दृष्टि से भिन्न–भिन्न श्रुतियों का योगायोग दिखाकर अपने–अपने वेदान्त प्रस्थानों

को विकसित किया है। द्रष्टव्य है कि शांकर वेदान्त 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'नेहनानास्ति किंचन' का योग दिखाकर पारमार्थिक अद्वैत और मायिक द्वैत प्रतिपादित करते हुए केवलाद्वैत की प्रतिष्ठा करता है। रामानुजीय वेदान्त 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'यः सर्वभूतेषु तिष्ठन्....' का योग कर विशिष्ट अद्वैत और विशेषण–विशेष्य के द्वैत रूप में विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करता है। माधव वेदान्त 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' का योग दिखाकर औपचारिक अद्वैत और पारमार्थिक द्वैत रूप में केवलद्वैत का विधान करता है। वाल्लभ वेदान्त 'एकमेवाद्वितीयम्' के साथ 'तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय' का योग दिखाकर स्वाभाविक अद्वैत और ऐच्छिक द्वैत को उद्घाटित कर शुद्धाद्वैती अवधारणा को प्रकट करता है। अतएव कहा जा सकता है कि 'रूचिनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल नाना पथजुषाम् ...' की भावभूमि पर वेदान्त ही भारत की आध्यात्मिक वैचारिक विरासत है जो आज भी हम भारतीयों की आत्म–प्रतिमा में बहुविध रूप से अभिव्यक्ति पाता है।

इस तरह देखा जाये तो भारतीय परम्परा में वेदान्त एक कल्पवृक्ष के समान है जिसकी विविध शाखायें न केवल भारत के धार्मिक–दार्शनिक उत्कर्ष की हेतु बनीं बल्कि समय–समय पर सांस्कृतिक संकटों से उबारने की भी हेतु बनीं हैं। एक समय जब पूरा भारत बौद्ध संघ में रूपान्तरित होकर चीवर के निवृत्तिवादी रंग में रंगता जा रहा था तो संसार को असार कहने में कुशल 'अद्वैतवेदान्त' ही भारत के सांस्कृतिक एकीकरण का दर्शन बनकर उभरा। इसी तरह मुगलकालीन सांस्कृतिक त्रासदी से इस देश को उबारने और उसकी सांस्कृतिक शुद्धता को बनाये रखने में वैष्णव वेदान्त के दार्शनिक सम्प्रदायों ने अग्रणी भूमिका निभाई है। इतना ही नहीं बल्कि संतपरम्परा का सम्पूर्ण भावबोध और मूल्य बोध वेदान्त की प्रखर अद्वैतवादी दार्शनिक चेतना से आपूरित रही है। वैसे ही ब्रिटिशकालीन भारत में भारतीय जनमानस को परतन्त्रता की लम्बी त्रासदी और गुलामी की भस्मीभूत कर देने वाली लूम–लपट से वेदान्त ही बचाता रहा। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत राजाराम मोहन राय, महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी इत्यादि के हाथों वेदान्त ही 'नव–वेदान्त' के रूप में पुनर्सृजित होकर न केवल भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को वैचारिक आधार प्रदान किया बल्कि 'भारतीय स्वराज का दर्शन' बनकर प्रतिष्ठित हुआ।

पूरे भारतीय नवजागरण काल में 'नव–वेदान्त' कहे जाने वाले दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता आद्यन्त रूप से देखी जा सकती है। उस समय के दार्शनिक जो एक साथ जन नायक और समाज सुधारक भी रहे, उन्होंने मानवीय जीवन के सभी पक्षों की व्याख्या पाश्चात्य सभ्यता बोध को पूर्वपक्ष बनाते हुए 'नव–वेदान्तवादी' दृष्टि से किया है। जीवन और जगत् के प्रति मायावादी दृष्टिकोण का नकार और जगत् की यथातथ्यता की स्वीकृति तथा वेदान्ती विश्वदृष्टि में ही प्रगतिशील एवं रचनात्मक जीवन के लिए अधिकाधिक अवकाश निर्मित करना नव–वेदान्ती चिन्तन की प्रस्थानमूलक विशिष्टता रही है। साथ ही साथ नव–वेदान्ती चिन्तन में उन सामाजिक–सांस्कृतिक विकारों के प्रति भी एक सशक्त आत्मचेतना दिखाई पड़ती है जिन्हें वेदान्त दर्शन की अद्वैती विश्वदृष्टि से कथमपि संगत नहीं कहा जा सकता। इस तरह नव–वेदान्तवादी चिन्तन में न केवल परम्परागत वेदान्त की तत्त्वमीमांसीय पुनर्रचना हुई बल्कि भारतीय संस्कृति और समाज में आक्षिप्त विकारों के परिमार्जन का उपक्रम भी साधा गया। परन्तु स्वाधीन भारत में अन्यान्य कारणों से नव–वेदान्त की इस समृद्ध दार्शनिक विरासत को बहुत अधिक महत्त्व नहीं मिला। यह मान सा लिया गया कि नव–वेदान्त की दार्शनिक चेतना एक समय की मांग थी और उस समय के बीत जाने के साथ ही उसकी रचनात्मक भूमिका समाप्त हो गई है। यद्यपि किसी भी विचार परम्परा की प्रभावमत्ता यकायक समाप्त नहीं हो जाती है, फिर भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि नव–वेदान्त स्वातन्त्र्योत्तर भारत में दार्शनिक चेतना की मुख्य धारा बनी रही।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में विश्वविद्यालयीय व्यवस्था के माध्यम से जो अकादमिक वातावरण निर्मित हुआ उसमें अध्ययन–अध्यापन की दृष्टि से पारम्परिक वेदान्त का ही पुनरोदय हुआ है। भारतीय दर्शन के आधुनिक इतिहास की दृष्टि से इस समय को पाश्चात्य दर्शन के सन्दर्भ में भारतीय दर्शनों, उसमें भी विशेषकर अद्वैतवेदान्त की पुनर्रचना और तुलनात्मक दर्शन का काल कहा जा सकता है। इस प्रकार की दार्शनिक प्रवृत्ति और प्रविधि की एक समृद्ध पृष्ठभूमि स्वतन्त्रता के पूर्व ही स्वनामधन्य के.सी. भट्टाचार्य (1876–1949), आर.डी. राणाडे (1886–1957), एस.एन. दासगुप्ता (1885–1952), ए.सी. मुखर्जी (1888–1968), सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (1898–1974), जी.आर. मलकानी (1892–1977) एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त (1898–1974) इत्यादि ने अपने–अपने दार्शनिक अध्यवसाय से तैयार किया था। स्वातन्त्र्योत्तर

भारत में तुलनात्मक दर्शन के नाम पर भारतीय दर्शनों की आधुनिक व्याख्या एवं उन्हें अकादमिक स्वरूप प्रदान किये जाने के जो भी अच्छे–बुरे प्रयास हुए हैं, उसकी पैतृक पृष्ठभूमि उपर्युक्त दार्शनिकों का दार्शनिक अध्यवसाय ही रहा है। आज भी भारत की साम्प्रतिक अध्येतृता, कुछ अपवादों को छोड़कर, इसी पैतृक पृष्ठभूमि की दार्शनिक प्रवृत्ति एवं प्रविधि से पोषित और पल्लवित हो रही है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में वेदान्त अध्ययन के क्षेत्र में उपर्युक्त पैतृक पृष्ठभूमि की प्रेरणा और प्रभावमत्ता पूरे देश में प्रसारित हुई। इस परम्परा को उत्तराधिकार भाव से जिन अध्येताओं ने आगे बढ़ाया उनमें टी.आर.वी. मूर्त्ति (1902–1986), पी. टी. राजू (1903–1993), टी.एम.पी. महादेवन (1911–1983), कालिदास भट्टाचार्य (1911–1984), एन.के. देवराज (1917–1999), गणेश्वर मिश्रा (1917–1985), आर.के. त्रिपाठी (1918–1981), सी.डी. शर्मा (1920–2004), के. सच्चिदानन्द मूर्त्ति (1924–2011), संगमलाल पाण्डेय (1929–2002), एस.एस. राय (मृ. 2000) एवं आर. बाला सुब्रह्मण्यम् (ज. 1929) इत्यादि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में वेदान्त की विचारधारा और भाव धारा से सम्बन्धित कुछ आनुषंगिक प्रवृत्तियों का भी न्यूनाधिक रूप में विकास हुआ है। इन प्रवृत्तियों की विशेषता यह है कि वे सभी उसी पद्धति से अपने सम्प्रदाय की स्वायत्तता को प्रस्तावित करते हैं जिस पद्धति से वेदान्त के अन्य प्राचीन सम्प्रदायों ने अपने प्रस्थान वैशिष्ट्य को प्रतिपादित किया है। अवधेय है कि वेदान्त का कोई भी सम्प्रदाय अपने प्रस्थान की स्वायत्तता को तभी प्रतिपादित कर सकता है जब उसके द्वारा ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् एवं गीता तथा भागवत् की व्याख्या अपने स्वाभिमत के अनुरूप सुसंगत रूप से किया गया हो। इस दृष्टि से 21वीं शताब्दी में स्वामी नारायण वेदान्त द्वारा 'ब्रह्मसूत्र स्वामीनारायण भाष्यम् (2009)' एवं 'उपनिषद् स्वामीनारायण भाष्यम्' का प्रणयन बहुत ही प्रशंसनीय एवं उल्लेखनीय रहा है। इस महनीय कार्य को साधु भद्रेशदास ने जिस मनोयोग और शास्त्रीय निष्ठा से किया है वह भारतीय आचार्य परम्परा के निरन्तरता का ज्वलंत प्रमाण है। यहाँ प्रसंग वश 'साधु श्रुतिप्रकाशदास' का उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है जो सम्प्रति स्वामीनारायण वेदान्त के नवोदित एवं परिनिष्ठित अध्येता हैं। इनकी अध्येतृता में स्वामीनारायण वेदान्त, वेदान्त के अन्य सम्प्रदायों से संवाद करता हुआ अपने को प्रतिष्ठित करता है।

इसी तरह स्वातंत्र्योत्तर काल में वेदान्त के एक और नवीन सम्प्रदाय का विकास 'पूर्णाद्वैत' के रूप में हुआ है। सम्प्रति इसका केन्द्र महाराष्ट्र स्थित पारनेर है लेकिन धीरे–धीरे इसका फैलाव एक जीवन दर्शन के रूप में गुरू परम्परा के माध्यम से देश–विदेश पर्यंत हो रहा है। पूर्णवाद के प्रथम संस्थापक आचार्य परमपूज्य डॉ. रामचन्द्र प्रहलाद पारनेरकर रहे हैं। इसका आकर ग्रन्थ 'पूर्णवाद' है जो वास्तव में 1948 में उनके द्वारा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी–एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत किया गया प्रबंध था। इस सम्प्रदाय का दूसरा आकर ग्रन्थ 'अभिनव अभंग' है जो स्वयं उन्हीं के द्वारा मराठी भाषा में प्रणीत है। 'पूर्णवाद' ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के तत्त्वदर्शन को प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ वादकथा शैली में लिखा गया है और श्रुति–स्मृतियों के अनेकों आकर स्थलों की मौलिक व्याख्या करते हुए केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत इत्यादि वेदान्त के सम्प्रदायों के समानान्तर और खण्डनोपरान्त 'पूर्णाद्वैत' को फलित किया गया है। इस ग्रन्थ के बीजभूत विचारों में यह सम्भावना निहित है कि उनको आधार बनाकर, उनका पल्लवन करते हुए प्रस्थानत्रयी का पूर्णाद्वैतीय भाष्य किया जा सकता है। इतना ही नहीं, इस ग्रन्थ में समस्त भारतीय दर्शनों एवं पाश्चात्य दर्शनों के पूर्णाद्वैतीय मूल्याँकन का सामर्थ्य भी निहित है। 'अभिनव अभंग' इस सम्प्रदाय के जीवन–दर्शन को प्रस्तुत करने वाला एक मूल्यवान ग्रन्थ है। इसमें समस्त आधुनिक शास्त्रों की अपूर्णताओं को जाँच–परख कर एक पूर्णतावादी जीवन–दर्शन की रूप–रेखा तैयार की गई है। वस्तुतः यह एक ऋतानुगामी जीवन दर्शन है जो अपने मूलगामी स्वरूप में विशुद्ध वैदिक जीवन दृष्टि है। आधुनिक सभ्यता की विकृतियों से मुक्त जीवन दर्शन के सम्पूर्ण सम्भावनायें 'अभिनव अभंग' में विद्यमान हैं।

सम्प्रति इस परम्परा की दूसरी पीढ़ी के आचार्य पूर्णवाद वर्द्धिष्णु प.पू. डॉ. विष्णु रामचन्द्र पारनेरकर हैं और तीसरी पीढ़ी के पूर्णवाद भविष्णु श्री गुणेश विष्णु पारनेरकर हैं। इस तरह देखा जाए तो पूर्णवाद वेदान्त की एक सशक्त एवं नवोदित सम्प्रदाय है। एक गुरु 'कुल' के रूप में इसका प्रचार प्रसार जिस अनुपात में हुआ है, उसी अनुपात में इसका अकादमिक विकास अभी होना बाकी है। इसमें तो एक 'स्वतंत्र दर्शन' के रूप में भी विकसित होने की सम्भावनायें विराजमान हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि परमपूज्य डॉ. रामचन्द्र प्रहलाद पारनेरकर के पूर्णवादी विचारों को उनकी समस्त सम्भावनाओं के साथ पुष्पित और पल्लवित किया जाये। प्रसन्नता की बात यह है कि प.पू.

डॉ. विष्णु रामचन्द्र पारनेरकर जी को इस दायित्व का अहर्निश आत्मबोध है। वे अकादमिक एवं संस्थागत रूप से पूर्णवाद के प्रचार–प्रसार के लिए बहुत उत्साही हैं। 2013 में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के 57वें अधिवेशन का समारोह पूर्वक आयोजन कर उन्होंने इसी सारस्वत आत्मचेतना का परिचय दिया था। तत्पश्चात् 2013 में ही अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के तत्त्वावधान में एथेन्स में आयोजित वर्ल्ड फिलासफी कांग्रेस में पूर्णवाद पर एक परिचर्चा आयोजित किया जाना 'पूर्णवाद' के प्रचार–प्रसार का एक अन्तर्राष्ट्रीय पहल था।

अवधेय है कि कोई भी विचार परम्परा सिद्धान्त और आचरण दोनों ही आयामों में विकसित होकर पूर्णता को प्राप्त होती है। इसलिए किसी भी विचार–परम्परा के विकास की गति स्वाभाविक रूप से धीमी होना लाजमी है। मैं समझता हूँ कि 'पूर्णवाद' का विकास पूर्णवादी आचार्य कुल के माध्यम से ही पीढ़ी–दर–पीढ़ी होते रहना चाहिए। इससे इसकी पवित्रता और आचार्य कुल की जीवन्त निरन्तरता बनी रहेगी। प.पू. डॉ. विष्णु रामचन्द्र पारनेरकर ने 'पूर्णवाद प्रबोध : भारतीय दर्शन परम्परा का पूर्णाद्वैती मूल्याँकन' नामक इस ग्रन्थ का प्रणयन कर पूर्णवादी आचार्य कुल की दूसरी पीढ़ी का सारस्वत दायित्व एक तरह से पूरा कर लिया है। अब इस ग्रन्थ के माध्यम से पूर्णवादी दर्शन को जो विस्तार प्राप्त हुआ है वह अकादमिक विमर्श का विषय बने, यही मेरी शुभकामना है। पूर्णवादी आचार्य कुल की तीसरी पीढ़ी के दायित्वों का संकेत भी इसी ग्रन्थ में निहित है। वह यह कि तीसरी पीढ़ी के पूर्णवादाचार्य द्वारा पश्चिमी दर्शन परम्परा के पूर्णवादी मूल्याँकन को ध्यान में रखकर 'पूर्णवाद प्रबोध' प्रणीत किया जाए। मेरी यह भी शुभकामना है कि पूर्णवाद आचार्य कुल में उत्तरोत्तर ऐसे आचार्य समुत्पन्न हों, और क्रमशः उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र, गीता एवं भागवत् पुराण इत्यादि पर पूर्णवादी दृष्टि से भाष्य ग्रन्थ का प्रणयन करते रहें।

उत्पत्स्यतेस्ति ममकोऽपि समानधर्मा।
कालोह्वयं निरवधिः विपुला च पृथ्विं।।

अम्बिकादत्त भार्मा
महामंत्री
अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

4 अप्रैल (बुद्ध पूर्णिमा) 2015, सागर

अ/६६२

विषय–सूची

प्रथम अध्याय

पूर्णवाद हृदगत

पूज्यपाद डॉ. रामचन्द्र प्रह्लाद पारनेरकरजी
के अथाह, विराट तथा असीम अंतःकरण का
अंतरिक्ष और अंर्तजगत् ही पूर्णवाद का
प्रथम अध्याय है । जिस पूर्ण का हृदगत
उन्होंने इसमें अभिव्यक्त किया है उस पूर्ण का
स्वरूप बनकर पूज्यपाद के हृदय से अभिव्यक्त
पूर्ण रूप वर्तुलाकार स्वरूप में दिखाया है।
तथा चित्र को नीली छटाओं में दिखाया है,
इसलिए कि पूज्यपाद का हृदय
ही आकाश जैसे अथाह है।

१

पूर्णवाद हृदगत

ॐ नमोजी आद्या । वेद प्रतिपाद्या ।।

जय जय स्वसंवेद्या । आत्मरूपा ।।

डॉ. रामचन्द्र पारनेरकरजी का दार्शनिक ग्रंथ पूर्णवाद जिसे डॉक्टरेट उपाधि हेतु सादर किया गया था, उसी मूल ग्रंथ का यह प्रथम अध्याय है । ज्ञानेश्वरी जैसे महान ग्रंथ का प्रारंभ ही 'ॐ नमोजी आद्या' इस सूत्र से होता है ।

इस ग्रंथ की शुरुवात ही इस ॐकार रूपी मूलमंत्र से हुई है। जिसमें ज्ञानेश्वर ने ॐकार का वर्णन किया है। यह ॐकार कैसा है? जो सभी का प्रारंभ है। सभी का आदि है, आद्य (प्रारंभ) है। लेकिन क्या इसे आद्य (प्रारंभ) कहने का अधिकार हमें है। उसके आद्य स्वरूप का बोध क्या हमें तथा उसे आद्य कहने वाले को ज्ञात हुआ है? किस आधार पर हम सब उसे आद्य कहते हैं । यह सहज ही प्रश्न उपस्थित होता है। ॐकार स्वयं इसे आद्य कहने वालों से पूछ सकते हैं। जैसे ज्ञानेश्वर तथा डॉ. पारनेरकरजी ने इसे जानकर ही उस आद्य मूलमंत्र को अत्यंत लीन और विनम्र भाव से कहा हैं कि आपका यह आद्य रूप हमने नहीं वेदों ने कहा हैं । इसे कहने का अधिकार मात्र वेदों को ही हैं। फिर भी वह अधिकार मुझे प्राप्त हो सकता है क्या? यह मै अत्यंत विनम्र भाव से इस ग्रंथ के प्रारंभ में ही उस आद्यस्वरूप की प्रार्थना कर रहा हूँ।

इस पर प्रसन्न होकर आद्य स्वरूप ने हामी भर दी कि हाँ - यह आद्य स्वरूप स्वयंवेद्य तथा आत्मस्वरूप ही है । इस परम सत्य की अनुभूति जैसे ही ज्ञानेश्वर को हुई तो वे भाव विभोर होकर आनन्दातिशय अवस्था में उस ॐकार स्वरूप की जयकार करने लगे। यहाँ हम यह देखते हैं कि प्रथम ज्ञानेश्वर ने उस अनाकलनीय आद्यस्वरूप का विनम्र भाव से अभिवादन किया तथा जैसे ही उन्हें यह ज्ञात हुआ कि यह आद्य स्वरूप आकलनीय है तथा उसे साध्य किया जा सकता है तो उन्होंने स्वखुशी से उसका

जय जयकार किया । मनुष्य आनंदावस्था में जयजयकार करता है तो आदर भाव से नमस्कार करता है। मानवीयन की इन सहज प्रवृत्तियों को ज्ञानेश्वर ने उन्हें अध्यात्मिक सत्य में कैसे अभिव्यक्त किया है यह विशेष है। वह अनाकलनीय गूढ़ वेदप्रतिपाद्य आद्य स्वरूप स्वसंवेद्यत्त्वा के द्वारा जब पूर्ण रुपेण आकलन होता है तो उस आनंदमयी स्थिति का वर्णन नहीं किया जा सकता। इसलिए ॐकार स्वरूप का आद्य रूप मूलारंभ यह सत् स्वरूप है। उसका स्वसंवेद्यत्त्व आत्मरूप चिद्रूप है, तथा उसकी अनुभूति आनंद स्वरूप है।

यह ॐकार ही एक प्रकार से पूर्ण पुरुष का ही स्वरूप हैं, तथा आत्मरूप से वह हमें स्वयंवेद्य बनता है। पूर्णवाद ग्रंथ उस ॐकार का वाद आद्य स्वरूप है कि जो वेद द्वारा सिद्ध है तो 'हृदगत' यह ग्रंथ का पहला अध्याय उसका आत्मरूप है। इसमें ग्रंथकर्ता ने यह आत्मस्वरूप स्वयंवेद्य करने की प्रेरणा कैसे हुई इसका वर्णन है। इस ग्रंथ के अध्ययन से, तथा आकलन से जो आनंद, अलौकिक अनुभूति से मिलने वाला जो महत्तम् आनंद है वही इस ॐकार का आनन्द स्वरूप है। वैसे भी हृदगत अध्याय के प्रारंभ में वेद की एकाध ऋचा अथवा मंत्र न लेकर रचनाकार ने संत साहित्य के संदर्भ देने का कारण है कि रचनाकार को यह ग्रंथ लेखन की प्रेरणा संत साहित्य से ही प्राप्त हुई हैं। वैसे ही 'पूर्णवाद' का मूल स्वरूप सिद्धांत को संत साहित्य के ओवी (मंत्ररूप) से कर उपनिषद् के 'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं...' इस श्लोक से पूर्णत्त्व तक पहुंचा दिया है।

पूर्णवाद का स्वरूप सिद्धान्त ही ज्ञानेश्वर ने अपने ओवी (मंत्ररूप) में व्यक्त किया है, यह बात आम पाठक के भी समझ में आने जैसी है। यह आद्य स्वरूप भी स्वसंवेद्य आत्मरूप से ही जाना जा सकता है, अन्यथा नहीं यह भी पाठक को ज्ञात हो जाएगा। ॐकार के आद्य स्वरूप के स्थान पर यह स्वसंवेद्य, स्वयंसिद्ध होने के कारण ही हमें स्वसंवेद्य आत्म रूप द्वारा ही समझ में आ सकता है उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है। आद्य स्वरूप का यह स्वरूप संबंध ध्यान में रखकर ही आनंद विभोर होकर ज्ञानेश्वर ने यह जय जयकार किया और इसी एक महत्त्वपूर्ण कारण से इस ओवी (मंत्ररूप) का चयन रचनाकार ने किया। इस ओवी (मंत्ररूप) का औचित्य तथा अर्थ दोनों ही समझ में आने जैसी बात है।

डॉ. पारनेरकरजी अपने ग्रंथ की भूमिका में कहते हैं, 'मुझे मेरे प्रबंध ग्रंथ में क्या कहना है इस नियोजन को मैं अपने नजरों में तथा चिंतन में सतत् रखता हूँ। इसलिए कि अपने विषय को छोड़ कर मैं अन्यत्र न चला जाऊँ। सनातन तथा पारंपरिक विचारों का प्रभाव मुझ पर अधिक हावी न हो और ग्रंथ के प्रतिपादनीय विषय पर न्याय हो। इसलिए मैं अपना प्रतिपादित विषय पाठकों के सम्मुख रखना चाहता हूँ।'

(यह बात पाठकों के भी हित की है कि वे इस 'पूर्णवाद' को अच्छी तरह से समझने में सफल हो, और किसी प्रकार से कोई भ्रम विषय को लेकर न हो यह मेरा प्रयास है।)

वे आगे कहते है कि प्रथमतः मेरा दर्शन का परिचय संत साहित्य तथा संतग्रंथों से ही हुआ, तथा मेरी सतत की जिज्ञासा ने मैंने द्वादशदर्शन (छहः आस्तिक तथा छहः नास्तिक) साथ ही द्वैत-अद्वैत इत्यादि विभिन्न आचार्य दर्शन का भी अध्ययन किया। इस प्रकार से यथाशक्ति, यथामति अध्ययन करते समय मैंने यह अनुभव किया कि हर आचार्य ने अपनी अपनी दृष्टि से श्रुति अर्थात् वेदों का ही आधार लेकर कुछ मतभिन्नता, कुछ अलग हटकर अपना अलग मत या सिद्धांत स्थापित करने का प्रयोग किया। इन मतों के विभिन्नता में सत्य क्या है? यह प्रश्न सहज ही मेरे चिंतन में आने लगा है, और इन विभिन्न मतों में से कोई एक तो सत्य हो सकता है, अथवा अन्य मत असत्य इन दोनों में से कोई एक सत्य होना ही चाहिए। ऐसा ही मैं सोचता रहा।

इस प्रकार मैं सोचता रहा तो लगा कि जो भी एक मात्र सत्य होगा जिसे वेदों का आधार भी होगा, उस वेदों के अध्ययन से मुझे कुछ पूर्ण सत्य या अंतिम सत्य का ज्ञान होगा इस श्रद्धा से वेद तथा उपनिषदों का अध्ययन मैंने शुरू किया मैंने अपने मन में कोई पूर्वगृह को रखा नहीं लेकिन परिणाम मेरी कल्पना के विपरीत निकला वह यह कि कोई एक मत सत्य तथा इतर मत असत्य ऐसा नहीं हुआ बल्कि यह अनुभव हुआ सभी विभिन्न मत सत्य है। वह कैसे, यही मुझे इस 'पूर्णवाद' प्रबंध में सिद्ध करना है।

इसी का दूसरा अर्थ है इस पूर्णवाद प्रबंध की मूल प्रेरणा पूज्यपाद डॉ. पारनेरकरजी को सर्व प्रथम संत साहित्य से ही प्राप्त हुआ। तद्नंतर उन्होंने वेदों का अध्ययन किया, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए। वैसे ही सभी स्वसंवेद्यत्त्व द्वारा ही केवल सत्य के प्रतिपादन में लगे हैं उनमें से कोई भी असत्य कथन में संलग्न नहीं था। सभी ने उस आद्यस्वरूप का ही विश्लेषण करने का तथा उसे अनुभूति में उतारने का ज्ञान ही प्रतिपादित किया। इस कारण उन सभी में सत्य का ही प्रतिपादन किया। वह स्वसंवेद्यत्त्व से ही उपजा होने के कारण उसे असत्य नहीं कहा जा सकता। फिर भी उनमें मतभिन्नता होने के कारण 'पूर्ण' की अनुभूति उससे प्राप्त नहीं होती थी।

उदाहरण - आद्यशंकराचार्य जैसे लोकोत्तर विभूति ने वेदों का आधार लेकर जिस अद्वैतवाद तथा मायावाद का प्रतिपादन किया उस सिद्धान्त को उन्हीं वेदों के आधार पर वैष्णवाचार्यों ने खंडन किया वैसे ही विशुद्ध अद्वैत पर बल देकर वेदों द्वारा ही श्री गौडपादाचार्य ने अजातवाद से मायावाद का खंडन किया। इन मतभिन्नता के कारण विद्वानों के समाज में तथा सामान्यजनों के परिचित विश्व की अनुभूति भी शंकराचार्य के

मायावाद के भ्रमजाल में उलझी रही। तो वैष्णवाचार्य के मत से वह सत्य है यह सिद्ध हो रहा था। गौडपादाचार्य के अजातवाद से तो वह भ्रम रूप से, मिथ्यात्त्व से भी कभी भी विद्यमान हुआ नहीं। भ्रम से भी अनुभव नहीं होता यह स्पष्ट हो रहा था। वेदों द्वारा ही इन तीनों में कार्य कारण भाव पर आधारित इस वैचारिक पद्धति से भी इन तीनों में कहीं तालमेल न होने के कारण सामान्य जन के मन में उलझन तथा भ्रम की अवस्था ही रही।

इसका अर्थ यह हो रहा है कि इन तीनों आचार्यों (भाष्यकार) के द्वारा स्वसंवेद्यता से ही अनुभूत सत्यत्त्व को माने भी तो उसके खंडन-मंडन में अपनायी गयी कार्य कारण भाव की पद्धति में ही भूल (मूल में भूल) हो रही थी यह कहना पड़ रहा था। इसलिए पूर्णवाद ने इस खंडन-मंडन पद्धति से अलग हटकर अपनी एक आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ विचारों की एक सर्वथा नयी पद्धति का अपने पूर्णवाद सिद्धान्त को स्थापित करने के हेतु अविष्कार किया। इस कारण पूर्णवाद को किसी भी एक मत का खंडन अथवा मंडन करना नहीं है। बल्कि सभी सही हैं अथवा कैसे सही हैं? यही वेदों द्वारा सप्रमाण तथा आधुनिक प्रयोग को ही स्वीकारने वाले बुद्धिवाद द्वारा ही सिद्ध करना है तथा साथ ही अपना कुछ खास (विशेष) मत स्थापित करना लक्ष्य है।

डॉ. रामचन्द्र पारनेरकरजी आगे कहते हैं कि, ''मेरे इस मत को कहने वाला न कोई व्यक्ति या ग्रंथ आज तक नहीं मिला है। इसलिए मेरे इस आधुनिक तथा अभिनव मत का प्रतिपादन पूर्णतः ईश्वर मुझ से ही करवाने को कृतसंकल्प है। यही मेरी अनुभूति है। इसी प्रेरणा से मैं यह कार्य करने को प्रतिबद्ध हूँ। उस असीम प्रभु को यदि यह मान्य है तो वह इस कार्य को पूर्णता प्रदान करने में सक्षम तथा सर्वशक्तिमान है। काय म्यां पामरें बोलावी उत्तरे (मैं पामर क्या उत्तर दे सकता हूँ) यह मेरी स्थिति है। तो 'मूकं करोति वाचालम्' (गूँगे को भी वक्ता बनाने की क्षमता) यह अधिकार मात्र उस सर्वसत्तामान ईश्वर का है।

ग्रंथ के प्रारंभ में ही उल्लेखित आद्य स्वरूप को जानने का ज्ञान अथवा स्वसंवेद्यत्त्व का अनुदान उस 'पूर्णपुरुष' की कृपा के बिना प्राप्त होना संभव नहीं है। यह मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि वह सिद्धान्त (पूर्ण पुरुष सिद्धान्त) ईश्वर ने अपनी कृपा से अभिभूत होकर मुझसे सिद्ध करवाया। यह कथन अत्यंत विनम्र भाव से रामचन्द्र महाराज ने यहाँ विदित किया है। क्योंकि श्रवण-मनन-निदिध्यास इत्यादि साधनों से जिसे अपरोक्षानुभूति अथवा परब्रह्मानुभूति कहते हैं उसकी अनुभूति हो सकती है। लेकिन पूर्ण के स्वरूप का ज्ञान उसी की कृपा तथा उसी सदृष्य विभूति द्वारा ही संभव है। ग्रंथकर्ता

ने इस ग्रंथ के अध्ययन के समय क्या नहीं भूलना है यह बताया है। उसके लिए उन्होंने कुछ प्रश्न निर्माण कर अध्येता के सामने प्रस्तुत कर उसे दृष्टि पथ में रखने की पाठकों को बिनती की है।

उदाहरण : १) अगर सभी सही हैं अथवा सत्य हैं तब क्या वेद मात्र इन सभी विभिन्न विचारों का संकलन है? अथवा २) अगर सभी मात्र सत्य का प्रतिपादन कर समय समय पर परस्पर भिन्न सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं तो क्या सभी सत्य का प्रतिपादन कर रहे हैं.. अथवा वे सभी एक ही समय पर प्रामाणिक हो सकते क्या? अथवा ३) ऐसा कौन सा निर्विवादित वेदमान्य शुद्ध सत्य है कि जो इन सभी को अपने में समाहित कर भी स्वतः शुद्ध स्वरूप सत्य ही शेष रहता है? इन प्रश्नों का समाधान ग्रंथकर्ता ने अपनी तीव्र प्रज्ञा द्वारा इस ग्रंथ में किया है। उन्हें ठीक प्रकार से समझने के लिए उन पर हमारा ध्यान रहना चाहिए। वैसे ही ग्रंथ के परिपूर्ण अध्ययन के लिए उसके कुछ विशिष्ट सूत्र जो ग्रंथकर्ता के मौलिक प्रमेय हैं, उन्हें भूलना नहीं चाहिए।

वेद अपौरुषेय है। वह अपनी रचना नहीं है इसका संज्ञान ग्रंथकर्ता को है फिर भी वेदों के आधार पर उन्होंने अपना ग्रंथ सिद्ध किया है और उनका मत है कि वेदवर्णित आद्यस्वरूप ॐकारस्वरूप को अनुभूति में उतारना निश्चित ही पौरुषेय है और वह अपने पुरुषार्थ का ही काम है। यह सिद्धान्त अनुभूति में कैसे उतारना यह भी ग्रंथकर्ता ने बताया है। स्वसंवेद्य आत्मस्वरूप से लेकर पूर्ण स्वरूप तक का जो प्रयास है वह भी एक पुरुषार्थ ही है। लेकिन यह प्रयास 'मैं' के आधिभौतिक ममत्त्व से ही शुरु होता है। इस आधिभौतिक में उस आत्म रूप का स्वरूप मानों सद्गुरु ही होते हैं। सद्गुरु के कारण हमें स्वसंवेद्यत्त्व श्रीसद्गुरुत्त्व की पहचान हो सकती है। इस आधिभौतिक में उस आत्मरूप का स्वरूप मानों सद्गुरु ही होते है। सद्गुरु के कारण हमें स्वसंवेद्यत्त्व श्री सद्गुरुत्त्व की पहचान हो सकती हैं। यह पूर्णरूप - आत्मस्वरूप ॐकार रूप सद्गुरु ही हमें स्वसंवेद्यत्व की अनुभूति-आत्म स्वरूप का दर्शन करा सकते हैं। सद्गुरू में आत्मस्वरूप स्वसंवेद्यत्व द्वारा देखे बिना पूर्ण स्वरूप तक हम पहुँच ही नहीं सकते उस आत्मस्वरूप को साथ लेकर ही पूर्ण स्वरूप तक पहुँचा जा सकता है। वहाँ जैसे पहले कहा जा चुका है मात्र ज्ञान से चिंतन मनन से कार्य होना संभव नहीं क्योंकि ज्ञान एकांगी साधन है। श्रीमद्-आद्यशंकराचार्यादि ने "ज्ञानात् एव तू कैवल्यम" (ज्ञान से ही कैवल्य प्राप्ति संभव है) ऐसा जब कहा तब वे साधन को ही साध्य का स्वरूप देते दिखाई देते हैं। लेकिन ज्ञान यह साधन एकांगी होने के कारण उससे पूर्णानुभूति प्राप्त नहीं होती। पूर्णसत्य की अनुभूति लेने के लिए आगे चलकर ज्ञान साधन को भी छोड़ना पड़ता है।

गुरु जैसे शिष्य को छह व्याहृति रूप साधनों से जैसे भूः भुवः स्वः इत्यादि व्याहृति साधनों से घेरते हैं (उपनयन-जनेऊधारण विधि में जैसे बालक बटु को छह धागे में बांधा जाता है) वैसे ही वह सातवें से मतलब पूर्णसत्य की अनुभूति हेतु इन छह बंधनों का भेदन कर शिष्य की इन बंधनों से मुक्ति करता है। इसे ही सोडमुंज (महाराष्ट्र में) कहा जाता है। छटे 'तप' रूप व्याहृति से 'सत्य' या सातवें की अनुभूति प्राप्त होती है, यह बात सही है। परंतु इसके पहले साधक या उपासक को "भूः भुवः स्वः महः जनः तपः" इन छहों बंधनों से मुक्त होना पड़ता है, और यह काम सिर्फ गुरू ही कर सकते हैं। इन छह व्याहृतियों को ही पूर्णवाद ने समायोचित षडंग साधनों में परिवर्तित कर दिया (निपुणता, योजकता, लोकसंग्रह, लोकमत, कालज्ञान, उपासना, यह पूर्णवाद की षडांगपूर्ण साधना है।) व्याहृति का मतलब अव्यवहार्य को व्यवहार्य बनाना है। अव्यक्त को व्यक्त तक लाना अथवा अनाकलनीय को आकलनीय कर अनुभूति तक लाना है। इसके लिए 'गुरू' और 'तप' इन दोनों की नितांत आवश्यकता रहती हैं।

पूर्णवाद के लिए शिष्य कैसे हो, उसका अधिकार क्या हो इस बात की भी चर्चा है। तो शिष्य १ वर्ष के बालक समान (यहां १ वर्ष का मतलब उसकी आध्यात्मिक आयु को बताया है) आधिभौतिक जिसे 'मैं' क्या हूँ का बोध हो रहा हो तथा महत्व क्या है, यह अनुभव से ज्ञान हुआ है। उस शिष्य की आयु एक वर्ष माना जा सकता है। उसी पर गुरू ऊपर बताए छह व्याहृतियों के (षडंग उपासना के) बंधन डाल सकता है। बाद में 'तप' से उसे सत्य जानने का अधिकार प्राप्त हो सकता है। यह अधिकार प्राप्त होने पर गुरु स्वयं उसको ऊपर बताये हुए बंधनों से मुक्त कर देता है। (उसकी सोडमुंज करा देता है) लेकिन तब तक हमें क्या जानना है, कहां तक जाना है इस को याद रखने के लिए 'ब्रह्मगांठ' का मतलब ब्रह्मगांठ जैसी कोई एक बात या लक्ष्य-साध्य हमेशा याद रहे इसका गुरु ध्यान दिलाते हैं। हेतु सिद्ध होने तक क्या सिखना है या क्या स्मरण रखना है उससे भी क्या भूलना नहीं यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे अगर हम नहीं भूलते हैं तो ही हम पुरुषार्थ साध्य कर सकते हैं। अन्यथा मार्ग से भटकने की अधिक संभावना रहती है। तब गुरु का आत्मस्वरूप, स्वसंवेद्यत्त्व साथ लेकर चलने वाला साधक-उपासक आगे चलकर 'पूर्णस्वरूप' की अनुभूति का अधिकारी बनता है।

पूज्यपाद डॉ. रामचन्द्र पारनेरकर महाराज के इस 'हृदगत' का जो पाठकगण शांतचित्त से मनन करेगा तथा पूर्णवाद ग्रंथ अध्ययन के समय अपने सामने रखेंगे, उन्हें इस ग्रंथ का कुछ न कुछ साक्षात्कार (अनुभूति) निश्चित होगी ही इस बात को पाठक अवश्य स्मरण रखे। यह विनती है।

* * * * * *
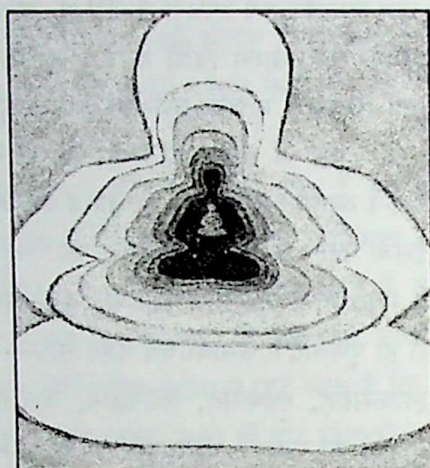
द्वितीय अध्याय

पूर्णपुरुष

'पूर्णपुरुष' जिसके बाहर कुछ भी नहीं है। जिसने सब कुछ अपने आप में समाहित किया है और इन सबको समाहित कर जो दशांगुल शेष है वह। लेकिन यह जो पूर्ण उसकी अनुभूति जिस मैं को होती है, वह 'मैं' इस चित्र में बीच मध्य सुवर्ण रंगों में चित्रित किया हुआ है। उसके स्वरूप को 'पूर्णपुरुष' दिखाया है। उसके 'मैं' में उसकी व्याप्ति (परिधि) कितनी है तो सप्त व्याहृती के साथ। सुवर्णवर्णा की सबसे छोटी आकृति उस 'मैं' की है तथा उसके बाहर की परतें जो ७ हैं वे हैं - भूः, भुवः, स्वः, मह, जन, तप, सत्यं। इन सप्त व्याहृति के साथ जो सर्वव्याप्त होकर भी दशांगुल जो शेष रह गया है वह 'पूर्णपुरुष' जो उस 'मैं' का वर्ण है वही उस 'पूर्णपुरुष' का वर्ण है। जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। इस न्याय से जो सूक्ष्म है, वही बृहत है। मैं वह और वह मैं। पूर्ण का एक महत्त्वपूर्ण गुण पूज्यपाद डॉ. रामचन्द्र महाराज ने बताया है वह है 'विकास', वह विकास भी इस चित्र में दिखाई देता है। सूक्ष्म से बृहत तक ऐसा 'पूर्णपुरुष'।

२

पूर्णपुरुष

ईश्वर तथा विश्वसंबंध :

पूर्णवाद ग्रंथ का नाम। पूर्णत्त्व ही केवल शुद्ध (आत्मा), सत्य (ब्रह्म), परमेश्वर (ईश्वर) है, यह है सिद्धान्त।

जो इसे, परमेश्वर को जानता है उसे ही वेदों ने 'धन्य' कहा है। इससे वेदों का यह स्पष्ट मत है कि जो ईश्वर को पहचानता है, जानता है वही वेदों को जानता है। ईश्वरानुभूति के बिना, सिर्फ आत्मानुभूति से अथवा ब्रह्मानुभूति से वेदों का निचोड़ (सार) जान लिया, ऐसे होता नहीं। इसलिए महाराष्ट्र के संत तुकाराम कहते हैं कि, ''वेदांचा तो अर्थ आम्हासीच ठावा येरांनी वहावा भार माथा।''

ऋचोक्षरे परमे व्योमन्यस्मिंदेवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति
य इत्तद विदुस्त इये समासते।।१।।

''ईश्वर के अनुग्रह के बिना अर्थात् पूर्ण के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कृपा के बिना ईश्वरी मायाजाल में जीव को मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक ज्ञान, भक्ति, योगादि की प्राप्ति संभव नहीं है।'' यह पुष्टिमार्गी वल्लभाचार्य जो अधिकार वाणी से कहते हैं उसे परमार्थ के मार्ग पर चलने वाले के सहज ही समझ आने वाली बात है। इसलिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ऐसे ईश्वर कृपा के बिना सिर्फ ज्ञान से मुक्ति (मोक्ष) प्राप्ति नहीं होती। यह सूर्य की रोशनी के समान साफ तथा स्पष्ट है।

ऐसे ईश्वर के ध्यान के लिए - अर्थात् उसकी मूर्ति तथा उसका रूप आँखों के सामने लाने के लिए ऋग्वेद के हजारों मंत्रों से जिस महत्त्वपूर्ण पुरुष सूक्त के मंत्र की वैदिक अर्चना पद्धति में स्वीकार किया है। जिसका उल्लेख इस प्रकार है।

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमि विश्वतो वृत्वाऽत्यातिष्ठद्दशांगुलम्।।२।।

अर्थात् जिसे हजारों सिर हैं, हजारो आँखें, हजारों हाथ हैं जिसने इस विश्व को तथा उसके अंतर्गत वस्तु तथा ज्ञानादि पदार्थ को भी अपने में समाहित किया है और फिर भी वह दशांगुल शेष ही रहता है, ऐसा जो पुरुष है, वही ईश्वर है। ऐसे ईश्वर को अगर हम श्रीगणेश, शिवाजी, श्रीविष्णु, परमेश्वर ऐसा कहते हैं तो भी उसका एक ही नाम है यह उपर्युक्त मंत्र से सिद्ध होता है। इस ईश्वर या पूर्ण के विश्लेषण से ऐसी दो शंकाएं संभव हैं - १) जो पूर्णपुरुष अथवा ईश्वर इस अखिल चराचर को (जड़ चेतन) भी अपने में समाहित कर रहा है वह इन सबसे भिन्न स्वरूप है और यह नित्य अनुभूत जगत् मिथ्या, असत्य मात्र भासमान (मिथ्या) है क्या? २) जो हुआ है (अतीत) जो आगे होने वाला है (भविष्य) और जो कार्यरत है (वर्तमान) वे सभी एकमात्र, एक ही एक पूर्णपुरुष ईश्वर है यह कहते हुए, भूत (अतीत) भविष्य, वर्तमान इन शब्दों से प्रकट होने वाले नश्वरत्त्व, अनित्यत्त्व समझ में आने पर उसे 'ईश्वर' कहना कहाँ तक उचित है?

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभव्यम्।
उतामृतत्त्वस्येशानो यदन्ननातिरोहति।।३।।
महान्प्रभुर्वे पुरुषः सत्वस्यैषः प्रवर्तकः।
सुनिर्मलामिमांप्राप्तिर्मीशानो ज्योतिरव्ययः।।४।।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमातृत्य तिष्ठति।।५।।

इसमें पहली शंका का उत्तर सर्वसामान्य को समझने में आसान उत्तर यह है कि, यह विश्व समाहित (व्याप्त) होकर जो "अत्यतिष्ठत दशांगुलम्" इस न्याय से पूर्णपुरुष का ही रूप शेष रहता है। इसी को शंकराचार्यजी ने (परं) ब्रह्म कहा है। या (परं) ब्रह्म की अनुभूति लेते समय उस पूर्ण पुरुषरूपी ईश्वर की विश्वादि रूपों को भी छिपा कर रखना पड़ता है, अथवा नजरों से ओझल रखना पड़ता है। उस अवस्था में विश्वादि अन्य रूपों का जरा भी विचार मन में हम नहीं रख सकते। रखना ठीक भी नहीं।

उदाहरण-पेड़ पर बैठे हुए पक्षी के आँख पर अनुसंधान करने वाले अर्जुन को जिस प्रकार पक्षी की सिर्फ आँख ही दिखाई देती थी, शेष कहीं पर भी उसका ध्यान नहीं था। वैसे ही यह है। फिर भी उसे उस समय अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता था इसका अर्थात् यह तो नहीं होता कि सचमुच ही वहाँ कुछ नहीं था या असत्य या यह कहना भी गलत

ही होगा। उस समय न दिखने वाले पक्षी के अन्य रूप जितने सत्य हैं उतना ही सत्य यह विश्व है। और वह पूर्णपुरुष का ही रूप है।

अब इस जगत् में दिखने वाले 'नश्वरत्त्व' तथा अनित्यत्त्व के संबंध में दूसरी शंका की ओर दृष्टिपात करेंगे। उत्पत्ति-स्थिति-लय यह जैसे हम नित्य इस संसार में देखते हैं। वैसे ही एक और अन्य बात हम देखते हैं। वह है विकास - वह दो प्रकार से होता है हम देख सकते हैं - एक है बीज से वृक्ष का होना और दूसरा है एक का इक्कीस होना। यह बात इस अनित्य विश्व में नित्य होते हम देखते हैं। यह किसका सामर्थ्य है।

इसे तो देने वाली वस्तु को 'अन्न' संज्ञा से हम जानते हैं ''अन्नेन अविरोहति'' यह श्रुति वचन है। यह विश्व की शक्ति - सामर्थ्य है। इसलिए विश्व ही पूर्णपुरुष का स्वरूप है। वह भी सत्य ही है ऐसा श्रुति का, वेदों का निश्चय है। इसे कैसे इन्कार किया जा सकता है।

इस पर भी कोई यह कह सकता है कि क्या आपको विश्व की सत्यता को प्रतिपादित करना है? फिर द्वैती मध्वाचार्य, विशिष्टाद्वैती रामानुजाचार्य, द्वैताद्वैती निम्बाकाचार्य, अचिन्त्य भेदाभेद - जीव गोस्वामी ये सभी इस बात का प्रतिपादन कर रहे हैं। इससे हट कर आप कुछ पूर्णवाद में कह सकते हैं क्या?

तो मेरे मत से जगत् मिथ्या कहने वाले शंकराचार्य अथवा मध्वाचार्य एक ही पंक्ति में बैठने वाले हैं। क्योंकि ये सभी पूर्व मीमांसाकार छोड़ कर शेष सभी दार्शनिक ''विश्व और परमेश्वर'' का कार्यकारण संबंध बताते है और उनके कारण मीमांसा देने के कारण -

१. क्षणिकात्मवाद
२. दुःख विज्ञानात्मवाद
३. स्थल क्षण विज्ञानात्मवाद
४. शून्यात्मवाद
५. परिणात्मवाद
६. नित्यात्मवाद
७. वैशेषिक नित्यात्मवाद
८. सांख्ययोग
९. अखण्ड प्रकाशात्मवाद
१०. परिणामवाद

११. अजातवाद

इत्यादि अनेक वाद निर्माण होते हैं। पूर्वमीमांसाकार मात्र अपौरुषेय वेदप्रामाण्य पर बल देकर ईश्वर रूप अलौकिक है ऐसा मानते हैं। (इसलिए छोड़ देते हैं) फिर भी वहां सांख्यमत का प्रभाव हैं।

पूर्णवाद को मात्र विश्व का सत्यत्त्व ही प्रतिपादित करना न होकर विश्व का तथा उस पूर्णपुरुष का कार्यकारण भाव का खंडन कर 'स्वरूप संबंध' को स्थापित करना है। यही प्रमेय (सूत्र) ''वृक्ष इव स्तब्धो'' - वृक्ष जैसे स्थिर इस श्रुति वाक्य में है वृक्ष कहते ही एकत्त्व का बोध होता है। फिर भी उसमें टहनियाँ, पत्ते, फूल, नानात्म तो हैं ही। वैसे ही पूर्ण पुरुषरूपी इस जगत् में नानात्त्व (अनेकत्त्व) है फिर भी ईश्वर एक है।

इस प्रकार यह दृश्य विश्व उसका रूप होने के कारण इस जगत् में मानव को जन्म देता है उसी प्रकार मनुष्य भी उसको जन्म देकर इस चक्र को पूर्ण करता है। इसके विपरीत ईश्वर ने मानव का जिस प्रकार निर्माण किया है उससे अधिक सार्थक, सुन्दर, विविध गुणसंपन्न ऐसे ईश्वर को जन्म दिया। श्रीगणेश, शिवाजी, विष्णु, दत्त, इत्यादि ऐसे ही निर्माण हुए हैं।

कालसापेक्षता में यद्यपि ईश्वर सुष्ट अथवा दुष्ट (अच्छे/बुरे) मानवजात को जन्म देता है तो भी अनिष्ट-दुष्ट पर मानव के विजय के लिए अत्यंत आवश्यक है ठीक वैसे ही जिस प्रकार खून में RBC तथा WBC की उपस्थिति, ॲन्टिबॉडिज की आवश्यकता, मनुष्य ही नहीं बल्कि हर जीव के लिए भी हितकारी ही है इसी कारण मानव जाति के अस्तित्त्व तथा सुख के लिए जिस प्रकार दुष्ट मानव पर विजय प्राप्त उसके गतिविधियों को (खेती के तृण जैसे) मर्यादित कर मानव जाति को आगे बढ़ाने के लिए सुष्ट (इष्ट देवता) को कार्यरत रखने के लिए भी आवश्यक हैं। इसी कारण सुष्टदेवता का अस्तित्व जीवन में स्थायी बनता है विज्ञान ने मानव के लिए जैसे सुख-सुविधाएँ प्रदान की वैसे ही विघातक अस्त्र - ॲटम बम तथा मिसाइल्स भी दिए लेकिन फिर विश्व कल्याण हेतु अमेरिका, रूस, तथा अन्य देश उसे विनाशक होने से बचाने में लगे रहते हैं। अतीत में ऋषि मुनियों द्वारा आधिदैविक शक्ति से दुष्ट शक्ति को नियंत्रित किया जाता था।

संक्षेप में हम कह सकते हैं, कि पूर्णवर्तुल (पूर्णाकार) की प्रत्येक अवस्था अंततः पूर्ण से ही, पूर्णाकार से ही युक्त होती हैं। और उसमें आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूप का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष अस्तित्व रहता ही है। विश्व का स्वरूप ही मूलतः पूर्णपुरुष होने के कारण हर स्थान पर इस वर्तुलाकार पूर्ण का साक्षात्कार होता है आकाश से वर्षा (बारिश) पृथ्वी पर होती है वही वर्षा का पानी

वाष्प बन कर वायु रूप से पुनः आकाश में समा जाता है। इस प्रकार वर्तुल पूरा होता है। बाप जिस प्रकार पुत्र को जन्म देता है वैसं ही पुत्र भी आगे चलकर बाप बनकर पुत्र/कन्या को जन्म देता है। और इस प्रकार वर्तुल (चक्राकार) पूरा करता है। परंतु पुत्र और कन्या ''आत्मा वै पुत्रनामासि'' इस वचन से बाप तथा माँ का ही एक रूप है। बाप तथा पुत्र दोनों ही जीवित रहते समय Twin Stars अथवा संयुक्त तारका जैसे एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। संबंधित रहते हैं। यह संबंध प्रत्यक्ष भले ही न दिखे लेकिन पिता की मृत्यु के बाद उसका सर्वस्व पुत्र में परिणित होता है अथवा पुत्र के आधार से रहता है। अथवा नजदीकी जिसे वो अत्याधिक चाहता हो उसके आधार से रहता है। इसलिए पिता की मृत्यु के उपरांत कुछ दिन बाद पुत्र पिता जैसे ही दिखता है। और कभी कभी उसके जैसे ही व्यवहार करता है। शिष्य गुरु जैसे गुरु का आचरण करता है। इस प्रकार की स्वीकृति समाज द्वारा भी कभी कभी होती है। इसलिए पहले के लोग निपुत्रिक को नास्ति कहते थे (अथवा निगुरा - जिसे गुरु नहीं है) तब पिता कारण तथा पुत्र कार्य न होकर पिता-पुत्र तथा गुरु-शिष्य में स्वरूप संबंध होने के कारण ही ''आत्मा वै पुत्रनामासि'' यह श्रुति दचन है। यही संबंध पुरानी पीढ़ी तथा नयी पीढ़ी में होता है इसे सयाने लोग अच्छी तरह जानते हैं।

सारांश, ईश्वर पहले, बाद में विश्व अथवा विश्व पहले और बाद में ईश्वर ऐसा कुछ भी नहीं है - दोनों ही बराबर हैं। यह उसका स्वरूप ही है। कुछ स्वरूप प्रकट तो कुछ अप्रकट इतना ही, कारण -

यस्मात्परं नापरमस्ति, किंचिद्यस्मादणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धोदिवि, तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं।।६।।
को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत्।।७।।

इत्यादि वचनों में कहा गया है कि जो परमेश्वर इस संसार को चलाता है उसे उत्पन्न होते किसी ने देखा नहीं। अगर किसी ने उसे देखा होगा तो वह कह पाता कि पृथ्वी, उसके जीव, आत्मतत्त्व, उसका खून (रक्त) इत्यादि उस समय कहां थे। लेकिन कोई भी कर नहीं पाया इसलिए ईश्वर तथा विश्व दोनों एक साथ ही हैं।

ऋग्वेद के वामनीय सूक्त में दीर्घतमा ऋषी अत्यंत विनम्र भाव से प्रश्नार्थक वाक्य में यह सूचित कर देना चाहते हैं कि, ''ईश्वर व विश्व का स्वरूप संबंध ही है।''

अचिकित्वाचिकितुषश्चिदत्र कवी पृच्छामि विद्मनेन विद्वान।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्।।८।।

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेदसः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।९

वह कहता है भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं इन सप्त व्याहृति से सत्य छोड़ कर ये छः लोक जिसने धारण किये उस जन्मरहित ईश्वर स्वरूप में एकात्मता, एकतत्त्व ही है न? पृथ्वी, उसका वातावरण, अंतरिक्ष उसके पार आकाश और उसके तीनों भुवन, ऐसे छहों भुवनों को जिस प्रकार से वह अकेला अथक संभाले हुए हैं। तो इसका सरल अर्थ है कि वह सभी उसी का स्वरूप है। ऐसा ही बोध लेना क्या उचित नहीं है?

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे, विश्वविदं वाचम्विश्वमिन्वाम्।।१०।।

इत्यादि वचनों का अर्थ यही है न? क्योंकि कारण यदि है तो वहां उपाधी भी है ही। कर्त आने पर थकान है ही। जब वह ईश्वर बिना थके इन छहों लोक को धारण किया हुआ है तब हम निश्चित ही कह सकते हैं कि ये सभी लोक उसके ही स्वरूप में समाहित हैं। इस प्रकार दीर्घतमा ऋषि के विष्णु सूक्त वर्णित इन भुवनों को विष्णु ने समाहित तो कर ही लिया वैसे ही अत्युच्च विष्णु लोक भी उसी में समाहित है ऐसा भी कहा गया। इसी विष्णु के तीन कदमों ने विश्व को भी व्याप्त किया है। इन सभी उदाहरणों से यह शास्त्र सम्मत सिद्ध हो रहा है कि ईश्वर का विश्व से स्वरूप संबंध है।

लेकिन कोई भी बात मात्र शास्त्र संम्मत है ऐसा कहना पर्याप्त नहीं है। उस प्रकार की अनुभूति को भी बताना आवश्यक हो जाता है। और उसे कहने वाला भी जगत्मान्य होना आवश्यक है। ऐसा अनुभव यदि बताना है तो महाराष्ट्र के शीवकालीन संत तुकाराम का उदाहरण लिया जा सकता है। जिन्हें वेदों का ज्ञान विधिवत प्राप्त नहीं था। वे कहते हैं-

''विष्णुमय जग वैष्णवांचा धर्म। भेदाभेद भ्रम अमंगल।।''

इस का अर्थ है - यह विश्व ही विष्णुमय है अर्थात् वह विष्णु का ही रूप है। विष्णु तथा जगत् में भेद देखना तथा विष्णु अलग, जगत् अलग मानना तथा अभेद मानना - अर्थात् विष्णु को न मानकर जगत् को अथवा जगत् को न मानकर मात्र विष्णु को ही मानना ऐसा किसी एक को कार्य कारण रूप से मानना अमंगल है। योग्य नहीं है। तो यह विश्व ही विष्णु का रूप है और वह रूप भी उसमें समाया है - व्याप्त है। और फिर भी वह शेष है, दशांगुलम्।

पूर्णपुरुष ही शुद्ध सत्य परमेश्वर होने के कारण तथा विश्व का उससे स्वरूप संबंध

होने के कारण विश्व की हर वस्तु तथा प्रक्रिया वर्तुलाकार रीति से अपने स्वरूप को नित्य बदलते रहकर उस पूर्णत्त्व की साक्ष हर समय देते रहते हैं। इन सबको अपने में समाहित कर शेष को भी धारण करने का काम विश्व को अपने में समाहित कर फिर उसका शेष रूप – 'अत्यतिष्ठत दशांगुलम' का काम करता ही है। इसी को शंकराचार्यजी (परं) ब्रह्म कहते हैं।

इस बात को गणितीय भाषा में यदि कहना हो तो हम कह सकते हैं कि – विश्व को अर्थात् विश्वरूप को समाहित करने वाले विश्वरूप पूर्णपुरुष को 'क्ष' कहेंगे उसे समाहित कर शेष रहने वाले उसे धारण करने वाले तथा उसके ईर्दगिर्द रहने वाले पूर्णपुरुष को 'ज्ञ' कहने पर तो संपूर्णपुरुष पुरुष का सत्य स्वरूप क्ष X ज्ञ ऐसा गुणाकार है। और वह सहज ही शुद्ध-सत्य-अनंत और एकमेवाद्वितीय ऐसा है। इसलिए विश्व यदि मर्यादित तथा Finite माना गया (जैसे पृथ्वी, वातावरण) फिर भी उसे समाहित कर शेष पूर्णपुरुष अमर्याद होने के कारण उसका गुणाकार अमर्याद (Infinity) अथवा अनंत होता है। यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। संक्षेप में पूर्णपुरुष ही शुद्ध सत्य परमेश्वर है।

ऐसे पूर्णपुरुष की काल के साथ तथा काल के सापेक्षत्त्व में पहचान करने के हेतु अथवा अनुभूति के लिए कहिए। मनुष्य ने इस काल को भी तीन टुकड़ों में बांधा है। अतीत-भविष्य तथा वर्तमान ये वो तीन टुकड़े। इन तीनों टुकड़ों से काल को पहचानना है। इन तीन टुकड़ों के सापेक्षत्त्व में पूर्णपुरुष की भी शिव-विष्णु-ब्रह्मदेव इस प्रकार तीन स्वरूप को कल्पित किया। फिर भी इन तीनों देवताओं को मिलाकर एक ही पूर्णपुरुष है इसे समझना होगा। अतीत के सापेक्षत्त्व में शिव दैवत की कल्पना की। वर्तमान के लिए विष्णु तथा भविष्य के लिए ब्रह्मा को कल्पित किया। इस प्रकार तीनों रीति से समझने के लिए मनुष्य ने पूर्णपुरुष के तीन स्वतंत्र रूपों की यद्यपि कल्पना की फिर भी वे तीनो रूप पूर्ण के ही हैं।

अब हम दीर्घतमा ऋषि के उपर्युक्त विष्णुसूक्त के संदर्भ में विचार करेंगे। इसमें सात ऋचाएं है। प्रथम में विष्णु ने इन सभी भुवनों को धारण किया है। तथा त्रिविध रूप से उन सभी को व्याप्त किया है। यह कहा गया है।

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्करभायदुत्तरं सधस्थं
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः।।११।।

दूसरे में तीन कदमों में इस विशाल विश्व को व्याप्त किया है ऐसा कहा गया है।

प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।।१२।।

तीसरे में यह विशाल विश्व उसके अकेले के तीन कदम में बसता है ऐसा कहा गया है, और यही उसकी विशेषता तथा सफलता है। इस प्रकार का वर्णन है।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरूगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः।।१३।।

चौथें में ये तीनों उसके निवास स्थान स्वधया अर्थात् स्वाभाविक रीति से पूर्णानंद में मग्न हैं।

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा।।१४।।

आखिरी दो भक्तिरस प्रधान है।

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो यदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्या विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।।१५।।
ता वां वास्तुन्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा
अयासः अत्राह तदुरूगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ।।१६।।

यहां स्वध्या स्वाभाविक रीति से इन पदों पर विचार करेंगे। हमारे सामने एक प्रश्न उपस्थित होता है कि विष्णु अथवा ईश्वर या पूर्णपुरुष का स्वरूप ही विश्व, ये प्रत्यक्ष कैसे घटित हुआ होगा। संक्षेप में यह ईश्वर- (शिव-विष्णु-गणपती) हजारों आँखें, हजारों हाथ इस विश्वरूप को कैसे प्राप्त हुआ होगा अथवा कैसे हुआ? तो उसका उत्तर है 'स्वध्या' - स्वाभाविक रीति से, सहज, आनंदपूर्ण वृत्ति से ऐसा।

यहां हम थोड़ा सा 'ध्यान' पर विचार करेंगे। ध्यान का योग में अत्यंत महत्त्व है। ध्यान से ध्यान-धारणा-समाधि इन सीढ़ियों से समाधि तक पहुँचा जा सकता है। अब आत्मज्ञान के लिए कर्म-भक्ति-ज्ञान ये मार्ग है तो मनुष्य इस 'ध्यान' तक कैसे आया? यह प्रश्न चिंतन का विषय है - तो उसका उत्तर ऐसे है - कि हम जो चाहते हैं या मनचाही बात हम ध्यान में उपस्थित कर सकते हैं। यह ध्यान का सबसे बड़ा फायदा है। कोई भी व्यक्ति जिस बात की इच्छा करता है वह उसे अपने मन में चाहे तब चाहे जिस स्थान पर मन में उपस्थित कर सकता है। इसलिए ध्यान से मन की शक्ति को बढ़ाकर मन में उपस्थित किये हुए संकल्प चित्र-इच्छा, कुछ भी कहिए उन्हें मन में उपस्थित कर उसके उपलब्धि का आनंद उठाने की क्षमता योग द्वारा हमें प्राप्त है। इसी योगमार्ग की अथवा ध्यान की उच्च अवस्था (स्थिति) समाधि है।

यह समाधि दो प्रकार की हैं - सविकल्प - निर्विकल्प। सविकल्प समाधि मन से होता है, निर्विकल्प में वह नहीं होता, वह नष्ट होता है। निर्विकल्प केवल निर्विकल्प समाधि प्रयत्न साध्य होने के कारण वह जल्दी उतरती है। सहज निर्विकल्प समाधि सहज लगने के कारण स्थायी रहती है। तथा अधिक समय तक बनी रहती है। इस सहज निर्विकल्प समाधि में भी भारतीय लोग इतने अत्युच्च शिखर तक पहुँचे हैं कि केवल निर्विकल्प समाधि में भी योगी का शरीर इस पंचमहाभूत (पंचतत्त्व) में विलीन होता है। तथा पंचतत्त्व में घुल जाता है। और यह अत्यंत सहज घटित होने वाली प्रक्रिया है। यह जिस प्रकार सहजता से आराम से होता है उतनी ही सहजता से वह फिर से पंचतत्त्व से निकल कर पुनः अपनी मूल प्रकृति तथा सगुण आकार में देह रूप द्वारा प्रकट हो सकती हैं।

हम जब निंद्रित होते हैं तो जिस प्रकार मन तथा विचार सहज ही लुप्त होते हैं तथा मन हृदय या दिमाग में विलीन होता है। जाग जाने पर सहज सुख से ही फिर अपने मूल अवस्था में आते हैं। वैसी ही है यह निंद्रित अवस्था का ही मन जागृत अवस्था में पुनः प्रकट होता है। यह मन सोने के पहले कुछ अलग था और अब कुछ अलग है ऐसा कभी होता नहीं। वैसे ही पंचतत्त्व में विलीन हुआ योगी का देह फिर अपने मूलरूप में प्रकट होता है। संत ज्ञानेश्वर ने सदेह सहज समाधि संजीवन समाधि प्राप्त की। इसका अर्थ उन्होंने सहज निर्विकल्प समाधि प्राप्ति की यही है। इसलिए यद्यपि ज्ञानेश्वरजी सदेह समाधि में जाने के पश्चात् उनका शरीर भले ही पंचतत्त्व में विलीन हुआ होगा, फिर भी वह अपने मूल रूप में प्रकट हो सकते हैं (मूल सदेह) यह निर्विवाद है। यही बात संत तुकाराम की है। संत तुकाराम सदेह वैकुंठ गये। इसका अर्थात् ही भक्तिमार्ग से भी उनकी सहज समाधि लगी और अल्पावधि में वे उच्च अवस्था में गये तथा उनका देह पंचतत्त्व में अल्पावधि में विलीन हुआ वह फिर मिला नहीं। भक्तिमार्ग से भी योग की उच्चावस्था प्राप्त की जा सकती है यह संत तुकाराम के उदाहरण से स्पष्ट होता है।

अब ईश्वर जब ध्यान में होंगे तो - जैसे, शंकर ध्यानस्थ बैठे हैं ऐसे चित्र में हम देखते हैं - उनकी ध्यानावस्था सहज निर्विकल्प समाधि है। तब उनका शरीर भी विश्व में समा जाता होगा तब इस रीति से ईश्वर जगत् रूप, हजारों आँखें, हजारों हाथ के रूप में ही विश्व में अवस्थित होता है। यह काम सहज निर्विकल्प समाधि के कारण होता है। अतः यह काम स्वध्या आनंद से स्वाभाविक रीति से होता है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १५४वें सूक्त की चौथी ऋचा में इन्हीं तीन निवास स्थान उसके रूप स्वाभाविक रीति से पूर्णानन्द में मग्न रहते हैं। ऐसा कहा गया है। (१४, १५, १६) और इसलिए यह जगत् (विश्व) यह उसका स्वरूप बनता है। इसी आधार पर हम यह निश्चित कह सकते हैं कि ईश्वर और जगत् में स्वरूप संबंध है। इसी कारण से वेदों में उसने यह निर्माण

किया और उसमें प्रवेश किया ऐसा स्पष्ट कहा गया है।

ईश्वर और ॐकार संबंध

मिट्टी का घट बनता है तब उस घट का कारण मिट्टी को उपादान कारण कहा जाता है तथा उसे बनाने वाले कुम्हार को निमित्त कारण कहा जाता है। अनेक कार्यों में उपादान और निमित्त कारण भिन्न भिन्न होते हैं।

लेकिन मांडुक्य उपनिषद् में विश्व का उपादान तथा निमित्त कारण एक है और वह मात्र ईश्वर ही हैं। इस अर्थ का वचन है -

एषसवेश्वर एष सर्वज्ञ एषोन्तर्यामेष योनिः।
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम।।१९।।

इसमें विश्व का प्रभाव अर्थात् उदय तथा उप्यय (लय) एक ही ईश्वर कारण में बताया है। इसका यदि उदाहरण देना है तो किसी ने यदि स्वेच्छा स्वतः ही दूसरे का स्वा़ंग करना ऐसा दे सकते हैं, तथा ईश्वर ने जगत् का स्वांग लिया है ऐसा भी कह सकते हैं।

लेकिन प्रश्न यह है कि यहां उसे इस प्रकार स्वांग करने की क्यों इच्छा हुई? और उसके सिवाय और कोई भी विश्व में ऐसा न होने पर भी उसने किसका स्वांग लिया? इस प्रकार की दो शंकाएं मन में आती हैं। इस पर उसने उसी का स्वांग रचा। इसका अर्थ ईश्वर ही निमित्त कारण और उपादान कारण है। सारांश, विश्व ही ईश्वर का स्वरूप सिद्ध होता है। यही अर्थ लेना यथार्थ हैं।

इसी उपनिषद् में एक दूसरी जगह कहा गया है कि - सर्व ॐकार है ऐसा कहकर अनित्य जगत् तथा नित्य ऐसा जो भी है वह सब ॐकार के ही स्वरूप हैं -

ॐ ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तपस्योपव्याख्यानं
भूतंभवद्भत्रिष्यदिति सर्वं ओकार एव।
यच्चान्यत् त्रिकालातीत तदप्योंकार एव।।२०।।

श्री शंकराचार्य ने भी नबल ही शुद्ध है तथा माया से अधिष्ठित शबल का अर्थात् मलीन ब्रह्म अर्थात् विश्व (जगत्) ऐसा कहकर दोनों को भी ब्रह्म कहा है। लेकिन एक ही वस्तु संपूर्णतः शुद्ध अथवा संपूर्णतया अशुद्ध नहीं होती, तो कहीं शुद्ध कहीं अशुद्ध हो सकती है। लेकिन श्रुति का यहां विरोध है-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमदुच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।२१।।

इस वचन में विश्व को व्याप्त कर शेष रहे ब्रह्म को अर्थात् शुद्ध ब्रह्म को भी श्रुति पूर्ण ही कहती है। तो विश्व को भी अर्थात् मलीन ब्रह्म को भी श्रुति पूर्ण ही कहती है। शंकराचार्य मात्र शुद्ध ब्रह्म को 'शून्य' अथवा शून्य स्वरूप विश्व कहने के कारण विश्व को 'शून्य' कह नहीं सकते। इसलिए वे विश्व को मिथ्या अथवा भासमान कहते हैं। अजातवाद ने तो यह कह डाला कि जो हुआ ही नहीं उसके बारे में क्या बताना ऐसा कहकर विश्व शून्य ही है यह प्रतिपादित किया।

'शून्य अथवा पूर्ण' इसे वर्तुलाकार भले ही बताया जाता होगा फिर भी वे दोनों विधर्मी तथा परस्पर भिन्न हैं। पूर्ण में तो शून्य भी समाया जाता है। लेकिन शून्य में पूर्ण नहीं समाया जा सकता। शंकराचार्य ने शून्य शब्द का प्रयोग बुद्ध के 'शून्यवाद' संस्कारों के कारण किया होगा। (यही कारण है कि शंकराचार्य को प्रच्छन्न बुद्ध कहा जाता है) पहले कुछ भी नहीं था शून्य ही था, आगे भी कुछ नहीं हो सकता अर्थात् शून्य ही शेष रहेगा। ऐसे में वर्तमान जीवन तथा विश्व भी नहीं। यही बुद्ध का शून्यवाद है।

शंकराचार्य ने मात्र पहले कुछ नहीं था, आगे कुछ नहीं रहेगा यह ज्ञान मुझें हैं इसलिए मैं ज्ञानरूप शाश्वत हूँ - अर्थात् मेरा अस्तिभान सत्, चित् तथा आनंदभान आनंद शाश्वत है यह कहकर सच्चिदानन्दरूपी 'ब्रह्म' यही सत्य है। ऐसा प्रतिपादन किया।

लेकिन बुद्ध के संस्कार के कारण, इस ब्रह्म के विश्वनिर्मिती के पहले का स्वरूप शून्यरूप था और बाद में मोक्ष से भी इसी शून्यरूप का साक्षात्कार होता है ऐसा प्रतिपादन किया। परंतु इसमें सिर्फ सच्चिदानन्द भाव (शिवरूप) शाश्वत रहता है, यह भी कहा।

लेकिन अगर पहले शून्य था तो उसमें विविधतापूर्ण विश्व कैसे उत्पन्न हुआ, यह प्रश्न अनुत्तरित रहा, तथा माया के कारण अथवा अज्ञान के कारण ऐसे उत्तर मिले। तब विश्व से प्रारंभ कर फिर पहले के विश्व के कारण में जाने से अनगिनत प्रश्न उपस्थित होते हैं।

लेकिन विश्व के पहले शून्यरूप लगने वाली स्थिति को पूर्ण कहने से उतनी उलझन नहीं होती। और पूर्णपुरुष कहने के कारण ईश्वर को भी (सृष्टि नियमन करने वाला) इसमें समाया जा सकता है। इतना ही नहीं तो वैज्ञानिक दृष्टि से भी यदि देखा जाये तो इस पृथ्वी की कक्षा में आने वाले हजारों मील के अवकाश को भी शून्य नहीं कहा जा सकता। यह बात हाल ही के वैज्ञानिक सम्मेलन में सिद्ध हुई है। उदाहरण सूर्य की किरणें इस आकाश से जब पृथ्वी पर आती हैं तो इस बीच के आकाश पृथ्वी में वे

दिखाई नहीं देते। वहां सिर्फ अंधेरा ही दिखाई देता है। ऐसा प्रत्यक्षदर्शी वैज्ञानिकों ने कहा है। इसका कारण यह है कि सूर्य किरण को परावर्तित करने वाले वायुमंडल अथवा अन्य कुछ भी वहां नहीं होता। ऐसे समय शून्यरूप दिखने वाला आकाश भी शून्य नहीं होता। इसलिए इसे शून्य कहने की अपेक्षा पूर्ण कहना सयुक्तिक है। श्रुति का भी यही मत है। संक्षेप में वह भी पूर्ण यह भी पूर्ण ऐसा कहकर श्रुति ने ईश्वर तथा ब्रह्म का स्वरूप संबंध बताया है।

ईश्वर तथा ब्रह्म संबंध

विश्व सत्य है ऐसा कहनेवाली ''विश्व सत्यं'' ऐसी भी एक श्रुति है। तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मवल्ली ७ में -

असद्वा इदमग्र असीत । ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।
यद्वैतत्सुकृतम् । रसो वै सः । रसं ह्योवायं लब्धाऽऽनन्दी भवति।
को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनंदो न स्यात्।
एष ह्योवाऽऽनन्दयाति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृष्येऽ नात्मेऽनिरुक्ते
अनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते।
अथ सोऽभयं गतो भवति।
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति।
तत्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य । तदप्येष श्लोको भवति।।२२।।

उपर्युक्त श्रुति वचन का अर्थ है इस शून्य रूप ब्रह्म से अर्थात् 'असत' से यह 'सत' ही अव्यक्त से व्यक्त उत्पन्न हुआ अथवा कराया गया, यह तर्कसंगत नहीं लगता इसलिए श्रुति कहती है कि यह किया हुआ नहीं है। वह आत्मा ही यह स्वतः है। इसलिए उसे 'सुकृत स्वरूप' कहा गया है। यह आत्मा अगर खुद ही आनंद का आकाश अर्थात् आश्रय स्थान यदि न होता तो जड़ और चेतन में यह आनंद कहां से आता... इसलिए जगत् के प्राणीमात्र में जो सुख या आनंद है वह उसी से मिलता है। यही वह सुकृत स्वरूप से देता है। संक्षेप में विश्व में और इसमें स्वरूपतः अभेद है। विश्व (जगत्) इसी का स्वरूप है।

यहां स्वीकृत, सुकृत तथा सकृत ये तीन शब्द समानार्थी लगते हैं। लेकिन वह ऐसे नहीं हैं। तब इसका अर्थ समझना जरुरी है।

पूर्णवाद भले ही कार्य कारण भाव को न माने तो भी कर्ता, कार्य तथा कर्म को मानता है। ईश्वर का तथा जगत् का स्वरूप संबंध योग से कैसे सिद्ध होता है यह हमने

देखा। ज्ञान से पूर्ण तथा शून्य के अध्ययन से सिद्ध हुआ। अब कर्म से वह कैसे सिद्ध होता है इसे देखना है।

कृत में मूलधातू से कृ - करना ऐसा होता है। और कृत - किया हुआ। स्वकृत - अर्थात् स्वतः क्रिया हुआ कार्य। कर्ता ने स्वयं प्रत्यक्ष किया हुआ। सुकृत अर्थात् कर्ता को प्राप्त हुए पद या अधिकार के कारण अथवा परिस्थिति के कारण या विशिष्ट प्रकार के अस्तित्व के कारण बनने वाले व घटित होने वाले। तथा सकृत का अर्थ है स्वाभाविक - सहजता से अपने आप घटित होने वाला। जब कर्ता एकाध कार्य करता है तब इस कार्य में ये तीनों बातें 'स्वकृत - सुकृत - सकृत' कम अधिक रहते ही हैं। तब कहीं कोई कार्य पूरा होता है। बाली का उदाहरण - राम स्वतः उसके पास गये और इस कार्य का कर्ता मैं हूँ। (यह तीर मैने चलाया) कहकर कार्य को पूर्ण किया। ईश्वर तथा जगत् के संबंध में यदि कर्म के बारे बताये तो जगत् यह ईश्वर का स्वकृत न होकर सुकृत है। इसमें सबसे बड़ा हिस्सा सुकृत स्वरूप का है। इसलिए ही संत ज्ञानेश्वर अपने ज्ञानेश्वरी ग्रंथ में कहते है -

हे मजचि स्तव जाहले । परि म्या नाही केले।
ऐसे जेणे जाणितले । तो सुटला गा।।

संक्षेप में, ईश्वर तथा जगत् का कर्म के दृष्टिकोण से सुकृत स्वरूप का संबंध होने के कारण यह जगत् उसका ईश्वर का सुकृत स्वरूप ही है। एक स्वरूप ही है यह सिद्ध होता है। संक्षेप में ईश्वर तथा जगत् के संबंध का विचार ज्ञान से योग से या कर्म से भी करना है तो भी वह स्वरूप संबंध ही है। कार्य कारण संबंध नहीं है यह सिद्ध होता है।

इसके आगे के विषय को जानने से पहले अब तक जो विषय विश्लेषण हुआ उसका पूर्णवाद ग्रंथ में जो संदर्भ ऋचाएं तथा उपनिषद् से लिए गये उसका सिलसिलेवार क्रम रखकर एक सिंहावलोकन (रिव्ह्यू) करना श्रेयस होगा।

१) प्रथम हमने ईश्वर तथा जगत् के संबंधों का विचार किया और उसके लिए ईश्वर से ही ज्ञानमार्ग से विचार करना शुरू किया।

२) 'सहस्त्रशीर्षः ... पुरुष ...' इस वचन से विविधतापूर्ण हजारों सिर, आँखों को अपने में समाहित कर भी जो शेष रहता है वह पूर्ण ईश्वर है। यह हमने देखा। तद्नंतर अतीत-भविष्य-वर्तमानादि संपूर्ण विश्व या जगत् ।

३) 'पुरुषां एवेदं सर्वयद भूतं यच्च भव्यम' इस न्याय से पूर्ण रूप ईश्वर स्वरूप ही है यह जान लिया। लेकिन इस जगत् की नश्वरता तथा अनिश्चितता देख कर जगत् ईश्वर रूप कैसे? यह शंका उपस्थित हुई। तब उत्पत्ति-स्थिति-लय के साथ ही

जगत् में नित्य दिखने वाला विकास – यह विश्व का सामर्थ्य उसे कैसे प्राप्त हुआ। ऐसा विचार करने पर –

४) 'महान प्रभुः वै पुरुषाः' इस वचन से वह ईश्वर का ही सामर्थ्य है – अर्थात् विश्व ही ईश्वर का स्वरूप है। यह समझ में आया। इन सबसे 'नामस्वरूपात्मक विश्व' यह ईश्वर रूप है यह कहते हुए श्रुति ईश्वर को नामरूपात्मक साकार प्रतिपादित करता है। तब ईश्वर मात्र सगुण साकार ही है क्या? इस प्रकार शंका उपस्थित हुई। इस पर विचार करने पर –

५) 'सर्वतः पाणिपादं... सर्व आवृत्यतिष्ठति' इस श्रुतिवचन से ईश्वर यह विश्व नाममात्र ही अर्थात् सगुण साकार ही ऐसा श्रुति का संकीर्ण विचार नहीं है बल्कि विश्व को अपने में समाहित कर जो शेष रह गया है। ऐसा विचार है। तब उसका शेष रूप ही शंकराचार्य प्रणित 'ब्रह्म' ही है। यह हमने देखा। यहां फिर एक शंका आती है कि – विश्वव्यापी होकर भी शेष रहने वाला 'अत्यतिष्ठत दशांगुलम' इस न्याय से शेष बचा ब्रह्मरूप ईश्वर अथवा ब्रह्म ये दो अलग तो नहीं? तो यहां – 'यस्मात परं नापरमस्ति – तिष्ठति एकस्तेनेदं पूर्णपुरुषेण सर्व' इस वचन में ईश्वर वृक्ष जैसे निश्चल, प्रकाशमान तथा एक ही एक हैं, वह जिस अर्थ में एकत्त्व से खड़ा है इसका अर्थात् वे दोनों अलग अलग न होकर वे पूर्णरूपेन एकरूप ही हैं। यह बात प्रमाणित हुई। फिर भी विश्व का लय संभव होने से विश्व के उत्पत्ति के पहले केवल ब्रह्म रूप ईश्वर ही हो सकता है। इस मूल ब्रह्म रूप कारण से – विश्व उत्पन्न करने वाला और उसे व्याप्त करने वाला ईश्वर वा ईश्वर रूप निर्माण हुआ ऐसा लगने लगा तब –

७) 'को ददर्श ... त्पृष्टुमेतत!' इस श्रुतिवचन से जो अजड़ ईश्वर या विश्व पालनकर्ता को उत्पन्न होता हुआ यदि किसी ने देखा है, ऐसा सुनने में नहीं आया और उसके उत्पन्न होने से पहले पृथ्वी, उस पर जीव तथा उसका आत्मतत्त्व कहां था? यह यदि किसी को ज्ञात नहीं है – इसका अर्थ ही है कि वे तत्त्व वहां थे ही नहीं। तब ब्रह्म रूप ईश्वर पहले और बाद में विश्व, अथवा विश्व पहले और ईश्वर बाद में। ऐसा न होकर दोनों एक साथ ही थे। यही संभव लगता है। तथा 'जीवभूतः सनातनः' इत्यादि वचन से वह सिद्ध हुआ। इसलिए आज तक ईश्वर तथा जगत् का जो कार्य कारण संबंध बताया जाता रहा वह तर्क संगत तथा न्याय संगत भी नहीं था। वह स्वरूप संबंध है यह सिद्ध होता है। यह स्वरूप संबंध और स्पष्ट करने के लिए वामनीय सूक्त के –

८) 'अचिकित्वचिकितुष ... स्विदेकम' इस आधार पर अत्यंत विनम्र भाव से दीर्घतमा ऋषि ने प्रश्नार्थ सूचक जो सत्य बताये उसका भी हमने विचार किया। इस विनय का कारण -

९) 'यस्यामतं तस्य मतं...' इस कथन से जो मुझे सत्य का ज्ञान हुआ है यह मान कर फूले नहीं समाता, तो समझो उसे वह ज्ञान नहीं हुआ ऐसा जानिए। इस अर्थ का एक श्रुतिवचन है। इस सत्य का -

१०) तीस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् --- इस वचन से भूः भुवः स्वः इन व्याहृतियों ने निर्देशित छहः भुवन जब कि न थकते हुए धारण करता है। इसका अर्थात् ही वह उसका कर्म न होकर रूप है। यही हमने देखा। इन्ही ऋषि के विष्णु सूक्त की छः ऋचाओं

११) विर्ष्णोनुकं ...

१२) प्रतद्विष्णु ...

१३) प्रविष्णवे ...

१४) यस्त्र त्री पूर्णा ...

१५) तदस्य प्रियमभि ...

१६) ता वां वास्तून्युश्मसि ... जब हमने विचार किया तब देखा कि यह विश्व विष्णु के पद से व्याप्त है। इसलिए यह सब उसका रूप है न कि कर्म, यह जाना।

यहां ज्ञान मार्ग से ईश्वर तथा जगत् के संबंधों का अध्ययन पूर्ण हुआ, तथा यह संबंध स्वरूप संबंध है यह सिद्ध हुआ। लेकिन किसी भी सिद्धी के लिए मात्र शास्त्रार्थ या मात्र शब्दों का जाल काफी नहीं हैं। इसे अनुभूतिजन्य प्रमाण की आवश्यकता भी उतनी ही आवश्यक है। तब स्वरूप संबंध प्रत्यक्ष अनुभूतिजन्य है क्या? यह भी तो देखना अनिवार्य बनता है, और अगर, यह अनुभूति आती है तो किस प्रकार की। यह कहने के लिए -

१७) 'विष्णुमय जग' यह संत तुकाराम की अनुभूति काफी प्रेरक है। इतना ही नहीं तो इस स्वरूप संबंध की अनुभूति के सामने आधिभौतिक संपत्ति अथवा आध्यात्मिक मोक्ष, भी इसके सामने नगण्य है यह बताने के लिए -

१८) 'हेचि दान देगा देवा' यह अभंग (गीत) जिसका अर्थ - 'यही दान दीजिए हे प्रभो!' यहां ज्ञानमार्ग का विचार पूर्ण हुआ।

लेकिन जगत् ईश्वर का स्वरूप है, इसे योग मार्ग से कुछ प्रमाण मिलते हैं क्या? इस स्वरूप संबंध की सभी शंकाएं निष्प्रभ करने वाला कोई उत्तर यद्यपि इस ग्रंथ

में नहीं है। फिर भी १४) 'यस्य त्री पूर्णा' इस वचन में 'स्वधया' शब्द से सूचित करने के कारण उस पर भी विचार करना अनिवार्य होगा। वेद त्रिकांण्डात्मक होने कारण उसमें ज्ञान, भक्ति, कर्भ ये तीन मार्ग बताए हैं लेकिन इसके लिए कुछ अधिकार तथा विशिष्ट परिस्थिति का होना आवश्यक है। लेकिन फिर भी हर व्यक्ति को एक मन होता है और उसकी एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण कोई भी व्यक्ति हर मनचाही चीज कहीं भी और कभी भी ध्यान में उपस्थित कर सकता है। इस मन की शक्ति को बढ़ा कर उपस्थित किये प्रश्न का ज्ञान प्राप्त करने का मार्ग योग ने विकसित किया है। योग मार्ग ध्यान की उच्चावस्था ही समाधि है। यह सविकल्प तथा निर्विकल्प दो प्रकार की होती हैं। सविकल्प समाधि में मन एक ही संकल्प पर केंद्रित होने के कारण वहां मन होता है। निर्विकल्प समाधि में मन का विनाश होता है, अर्थात् मन शून्य होता है। निर्विकल्प समाधि भी दो प्रकार की होती हैं। एक केवल दूसरी सहज। केवल निर्विकल्प समाधि प्रयास है। इसलिए वह दीर्घ समय तक रहती नहीं। इसमें सहज निर्विकल्प समाधि में भारतीय योगी जब श्रेष्ठ अवस्था में पहुँचते है तब उनका मन भी नष्ट होता है और साथ ही उनका आधिभौतिक शरीर भी पंचतत्त्व में विलीन होकर विश्वरूप बनता है। संत ज्ञानेश्वर की संजीवन समाधि (सदेह) इसी प्रकार की सहज निर्विकल्प समाधि है। "**विश्वचि माझे घर । अशी जयाची मति स्थिर।।**" किंबहुना "**जो चराचर आपण झाला**" यह संत ज्ञानेश्वर की (ओवी) पंक्ति मात्र उनकी संवेदना न होकर, उनका शरीर भी विश्व रूप में ही परिवर्तित हुआ। यह योग से सिद्ध हुआ है। यह सब सहजता से ही स्वेच्छा से ही बनता है और ऐसा योगी सशरीर वापस आता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर का जगत् से स्वरूप संबंध है। अब कर्म से वह कैसे सिद्ध है यह ग्रंथ में दिये हुए सूत्रों से देखेंगे।

मांडुक्य उपनिषद् का १९) एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ ... इस वचन से यह सिद्ध होता है कि विश्व का उद्भव तथा लय इन दोनों का उपादान तथा निमित्त कारण ईश्वर है, यह समझने के लिए यह उसने अपना ही स्वांग धारण किया है यह हमने देखा। इस प्रकार स्वांग धारण करने के कर्म से विश्व की उत्पत्ति हुई है। फिर भी यही सिद्ध हो रहा है कि ईश्वर तथा जगत् का स्वरूप संबंध ही है। २०) ॐ ओमित्येतदक्षरमिदं ... तदप्योंकार एव' इस वचन से अनित्य जगत् व नित्य ये सब ओंकार हैं। यह भी हमने देखा। नित्य ब्रह्म को शून्य न कहकर श्रुति पूर्ण कहती है।

२१) ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं इस न्याय से जगत् को भी जिस अर्थ में पूर्ण कहते हैं तब पूर्णब्रह्म पूर्णजगत् से भी स्वरूप संबंध है यह प्रमाणित होता है।

२२) 'असद् वा इदमग्रे' इन वचनों से कर्म के हर कार्य में स्वकृत, सुकृत तथा सकृत का अंश रहता ही है, तथा ईश्वर और जगत् को कार्य कहे तो इस जगत् कार्य में सुकृत का बहुत बड़ा योगदान होने के कारण जगत् सुकृत स्वरूप है अर्थात् ईश्वर पद के कारण, अधिकार के कारण, विशिष्ट स्तर के कारण सहज निर्माण होने के कारण वह उसी का स्वरूप रूप ही है यह प्रमाणित होता है। इस प्रकार ज्ञान, योग, कर्म अथवा तीनों प्रकार से विचार करने पर भी ईश्वर तथा जगत् का स्वरूप संबंध ही सिद्ध होता है। पूर्णवाद कर्ता, कार्य, कर्म मानता है। लेकिन कार्य कारण संबंध को नहीं मानता। इसे स्मरण करना आवश्यक है। इस प्रकार ईश्वर तथा जगत् के संबंध को स्पष्ट कर हम जगत् तथा जीव ईश्वर और ब्रह्म का क्या संबंध है इसे देखेंगे।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि, वायु, सूर्य आदि देवता जिस अर्थ में भय से व्यवहार करते हैं, अर्थात् वे ब्रह्म तथा जगत् में भेद मानते हैं। इस प्रकार क्या हम यह कह सकते हैं कि उन्हें ब्रह्म का ज्ञान नहीं है? अथवा जगत् कार्य मानने पर भी जगत् कार्य में सुकृत का योगदान अधिक होने के कारण जगत् और ईश्वर के अभेद का ज्ञान उन्हें नहीं होता है क्या? इसका यह उत्तर है कि, उन्हें यह ज्ञान है, अनुभूति भी है लेकिन कर्म के कारण उन्हें भेद करना पड़ता है। इसे मानने पर ही धाक अथवा भय लगता है। यह काम कहीं हमसे छिन न लिया जाये यह भय उन्हें रहता हैं।

देवता यदि ईश्वर की अभेद स्थिति में रहने लगे तो वे अपना विशिष्ट कार्य ही न कर पाते। सूर्य सिर्फ प्रकाश देने का ही कार्य करे, यह होने के कारण उसे वह कार्य करना पड़ता है। इसलिए ईश्वर एक तथा देवता अनेक इस सिद्धान्त को बल प्राप्त होता है।

माँ अपने बालक को पास भी रखती है और उसे पाठशाला में भी भेजती है। बालक माँ का ही स्वरूप होता है। पास लेने पर बालक अभेद की अनुभूति लेता है और पाठशाला भेजने पर भेद की अनुभूति करता है। इस भेद के कारण धाक तथा भय निर्माण होता है। लेकिन अभेद की अनुभूति के कारण पाठशाला से घर आने पर माँ फिर उसे गोद लेगी यह विश्वास भी बालक को होता है। अभेद में सुखद स्थिति होती है इसीलिए माँ हमेशा भेद न करे यह भय बालक में होता है। वही स्थिति देवता की होती है। भय के कारण देवता काम करते हैं ऐसा कहा जाता है।

परंतु उस जीव को ब्रह्म और जगत् का परमेश्वर से संपूर्ण अभेद होने का ज्ञान नहीं

होता है। शब्दगत भी नहीं तथा अनुभूतिजन्य भी नहीं। उसे ईश्वर का भय होने का कारण, निराकार ब्रह्म का, शून्यरूप का भय, मृत्यु का भय, जगत् का भय इस प्रकार भय स्थायी भाव बन जाता है। देवताओं का वैसे नहीं है।

ईश्वर तथा जगत् का स्वरूप संबंध ज्ञान मार्ग से योग से तथा कर्म से प्रथम सिद्ध करने पर अब हम जीव, आत्मा तथा ब्रह्म का तथा ईश्वर का वैसे ही इनका तथा जगत् का क्या संबंध है इसका विश्लेषण ज्ञानमार्ग से करेंगे।

विश्व व ब्रह्मसंबंध

इस दृष्टि से २३) द्वा सुपर्णा... इस वचन में परमेश्वर वृक्ष है तथा उस पर बैठने वाले एक दूसरे से जुड़े हुए पंख वाले दो पक्षी, अर्थात् दृश्य जगत् तथा अदृश्य ब्रह्म हैं यह पूर्णवाद का मत है। वृक्ष अर्थात् शरीर और दो पक्षी अर्थात् आत्मा तथा जीव। इस प्रकार जो अर्थ लगाने की परंपरा चल रही है वह एकदम गलत है। यह पूर्णवाद का दृढ़ मत है। कारण इसी वृक्ष को आगे ''इनो विश्वस्य गोपा'' यह कह कर वह ईश्वर ही है यह श्रुति सूचित करती हैं।

इस जगत् में ही विश्व में घटित अनेक घटनाओं के सुख दुख का ज्ञान जैसे मनुष्य को रहता है वैसे ही इसी जगत् में उसे ब्रह्मानुभूति की अनुभूति भी होती है। इसलिए जगत् में ब्रह्म और ब्रह्म में जगत्। (जल में कुंभ, कुंभ में जल - कबीर) यही सिद्ध होता है। लेकिन जगत् तथा ब्रह्म जुड़ंवा पक्षी होने के कारण जब जगत् पक्षी दिखता है तब पीछे का ब्रह्म पक्षी दिखाई नहीं देता वैसे ही जब ब्रह्म पक्षी दिखता है तो उसके पीछे छिपा हुआ जगत् पक्षी दिखाई नहीं देता। यही कारण है कि ब्रह्मानुभूति में जगतानुभूति नहीं होती और वैसे ही जगतानुभूति में ब्रह्मानुभूति नहीं होती।

लेकिन यह जुड़ंवा पक्षी जब उड़कर कहीं दूर जाकर फिर लौट कर पेड़ पर बैठता है अथवा पेड़ की एक टहनी से दूसरे टहनी पर जा बैठने के कारण पेड़ की दृष्टि से अथवा पेड़ के मध्य देखने पर इन दो जुड़ंवा पक्षी के दोनों अंगों के दर्शन संभव बनते हैं।

संक्षेप में ईश्वरानुभूति के माध्यम से अथवा ईश्वर केन्द्र से ब्रह्म तथा जगत् की अनुभूति एक ही समय पर प्राप्त हो सकती है।

जीव, व्यक्ति अथवा आत्मा अर्थात् त्रिकोन का एक कोन 'अ' मानने पर, ईश्वर, परमेश्वर अथवा विश्व व्याप्त कर शेष विशुद्ध ब्रह्म यह त्रिकोन का शीर्षस्थ कोन 'ब' माना गया, तथा जगत्-समाज तथा विश्व इत्यादि को त्रिकोन का 'क' मानने पर इन तीनों में स्वरूपतः अभेद है और यह सभी पूर्णपुरुष के ही रूप हैं। इस बात को भूमिती

के द्वारा सरल बनाया जा सकता है।

आकृती
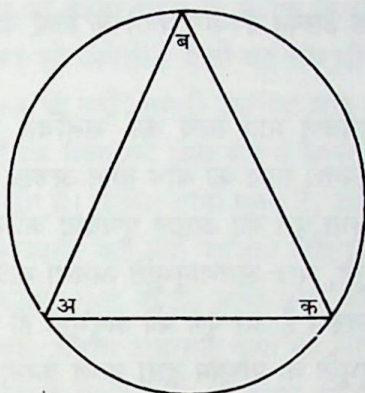
जीव और जगत् 'अ क' यह त्रिकोन की बुनियाद है इसलिए जीव को ईश्वरानुभूति, ब्रह्मानुभूति आदि इसी जगत् में अर्थात् जीवन में ही प्राप्त करनी है। इन तीनों का स्वरूप संबंध जीव को जगत् में ही रहकर समझना है।

लेकिन जीव जब जगत् की ओर देखता है तो उसे जगत् उसके बाहर के दूसरा अर्थात् द्वैत दिखाई देता है। वास्तव में यह उसका दृष्टि भ्रम है। इसे दूर करने के लिए जगत् नहीं है, तू ही आत्मा सर्वत्र है यह बताया गया। लेकिन इसमें से ईश्वर छूट गया। 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' में जीव ब्रह्म है यह सिद्ध हुआ लेकिन इसमें जगत् और ईश्वर छूट जाते हैं। जिसके कारण ही जगत् को मिथ्या व ईश्वर को माया का कार्य बताना पड़ता हैं।

लेकिन जीव अगर जगत् को ईश्वर के माध्यम से अर्थात् ईश्वरानुभूति से देखता है तो उसे ईश्वर का जगत् तथच ब्रह्म का स्वरूप संबंध आसानी से समझ में आ सकता है। विष्णुमय जगत् जल्दी समझ में आ सकता है, तथा खुद का तथा विष्णु का प्रेम भाव से अभेद होने के कारण जीव तथा जगत् का अभेद सहज ही समझ में आ सकता है। दूसरा, ईश्वरानुभूति में जीव का ईश्वर से देवभक्त-उपास्य-उपासक इस न्याय से भेद भी रहता है, तथा प्रेम से अभेद भी रहता है। इसलिए वह थोड़ा अलग रहकर ईश्वर, जगत् तथा ब्रह्म की अनुभूति का अमृत पान कर सकता है। वैसे ही अभेद भाव से प्राप्त हुआ सामर्थ्य तथा सत्ता का उपयोग वह कर सकता है।

इसके विपरीत ब्रह्मी भूत अर्थात् ब्रह्म से एकाकार हुए व्यक्ति को अर्थात् समाधि में स्थित व्यक्ति को यदि सत्चित आनंद स्थिति का अनुभव बार-बार आता हो फिर भी वह उससे अलग स्थिति का अनुभव न लेने के कारण वह उसकी सत्ता का उपयोग भी नहीं कर सकता। क्योंकि उसका उपयोग करने के लिए नाममात्र भी वह अलग नहीं रह सकता।

यही कारण है कि पूर्णवाद मात्र सत्य का 'सत्चित आनंद' स्वरूप का सतत् आग्रह करना उचित नहीं मानता। सत्य का बोध होना अच्छा है लेकिन वास्तव, यथार्थ ही श्रेयस है। केवल सत्य तथा पूर्ण का आग्रह पूर्णवाद को स्वीकार्य है। इसलिए मात्र ब्रह्मानुभूति, मात्र ईश्वरानुभूति, मात्र आत्मानुभूति अथवा मात्र जगदानुभूति पूर्णवाद का लक्ष्य न होकर ये जिसके स्वरूप हैं उस पूर्ण की अनुभूति ही पूर्णवाद का साध्य अथवा लक्ष्य है, और वह ईश्वरानुभूति के माध्यम द्वारा प्राप्त करना अधिक आसान मार्ग है।

'जो है वह ईश्वर का स्वरूप है' यह विचार अब तक ज्ञान से तथा आध्यात्मिकता से प्रतिपादित किया गया है। लेकिन उसकी अनुभूति लेने के लिए आधिदैविकता की अर्थात् ईश्वर की आवश्यकता है, और उसके लिए उपासना मार्ग की आवश्यकता है। इसके पहले बताए गये त्रिकोन में जीव-आत्मा-व्यक्ति रूप 'अ' कोन यह आध्यात्मिक है, तो ईश्वर-परमेश्वर रूप 'ब' कोन यह आधिदैविक है और जगत्-विश्वरूपी 'क' यह आधिभौतिक कौन है। वैसे ही आध्यात्मिक 'अ' कोन यह स्वयं निर्णय का कोन है तथा आधिदैविक 'ब' कोन यह स्वसंपर्क का कोन है। साथ ही आधि भौतिक 'क' कोन यह स्वधर्म का कोन है। इन तीनों को मिला कर पूर्ण गोलाकार बनता है।

कोई भी काम तथा कर्म व्यक्ति को ही करना होता है इसलिए व्यक्ति को स्वयं निर्णय का अधिकार होना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक है स्वयं से संपर्क। यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। वैसे ही जिस परिस्थिति, जिस कालखण्ड, जिस समाज में काम करना है उस परिवेश से संपर्क कर उस परिवेश की सापेक्षता में 'मैं' इस व्यक्ति का कर्तव्य क्या है। इस 'मैं' से स्थापित किये गये संपर्क के परिप्रेक्ष में निश्चित करना आवश्यक है। इसी को 'स्वधर्म' की पहचान कहा जाता है। इस 'स्वधर्म' को जानने पर वह योग्य है अथवा नहीं, उसे इच्छित फल प्राप्त होगा कि नहीं यह आधिदैविक दृष्टि से तथा ईश्वर के माध्यम से जांचना जरूरी बनता है। १) गायत्री अनुष्ठान, २) समाधि मार्ग, ३) गुरु कृपा इत्यादि जो मार्ग पूर्णवाद ने बताए हैं उनका उद्देश्य है स्वधर्म को आधिदैविक दृष्टि से परखना आवश्यक है। कारण ईश्वर सत्य संकल्प का दाता है। यश को प्राप्त करने के लिए उसके साथ संपर्क स्थापित करना उतना ही आवश्यक है। यहां

एक महत्त्वपूर्ण बात मन में रखनी है कि जो है वह (सच्चिदानंद) ईश्वर स्वरूप है। यह जितना सत्य है और वही यहां भले ही सिद्ध किया हो फिर भी उपासक को जो रूप अपेक्षित रहता है वह रूप भी ईश्वर भक्त के कारण ले सकता है। ऐसे में जो है वह ईश्वर रूप ही हैं। यदि भक्त को अपेक्षित है तो वह रूप भी ईश्वर भक्त के लिए धारण करता है। उसे असंभव कुछ भी नहीं। हमारी उपासना मात्र श्रेष्ठ श्रेणी की होनी चाहिए। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भक्त को जिस रूप में ईश्वर को देखने की इच्छा है उसी रूप में वह आपको दर्शन देता है। लेकिन ज्ञानी भक्त हैं, उसी रूप में ईश्वर को पहचानने के कारण वे ईश्वर को निष्कारण कष्ट नहीं पहुंचातें और इसलिए ईश्वर कृपा से मनुष्य को सहज स्थिति में भी मनोअनुकूल वरदान प्राप्त करने की क्षमता है। लेकिन फिर भी उसके लिए ईश्वर की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कृपा की नितांत आवश्यकता है। वैसे ही भक्त को अपेक्षित रूप लेना है या नहीं यह भी ईश्वर की मर्जी का प्रश्न होने के कारण कभी कभी वह हमारे मनोरथ पूर्ण करता है तो कभी वह करता भी नहीं यही भक्तजन का अनुभव है। लेकिन ऐसा होकर भी भक्त तथा ईश्वर का विशेष संबंध हैं। इसका अर्थात् यह हुआ कि अन्यजनों से उसके सामान्य संबंध है। यही इस बात से सिद्ध होता है।

ईश्वर – आत्मा स्वरूपतः अभेद

विश्व में चल रहा घटना क्रम निश्चित ही ॐकार ही है और उसके अतिरिक्त त्रिकाल स्थित ब्रह्म भी ॐकार ही है। उसी से जगत् तथा ईश्वर संबंध स्पष्ट होता है यह हमने देखा है। ॐकार परमेश्वर का एक नाम है। अतः ॐकार ही परमेश्वर है। अब अगर परमेश्वर नित्य है तो यह भी नित्य ही है। अतः 'ओमित्यंतदक्षरमिदं... तद प्योंकार' इस वचन से ''ब्रह्म यह स्वरूप तथा जगत् कार्य न होकर ब्रह्म का तथा जगत् का स्वरूपतः अभेद ही है इन दोनों का भी परमेश्वर से स्वरूपतः अभेद ही हैं यह सिद्ध होता है।'' सच्चिदानंद आत्मा कहते ही जैसे सत्, चित्, आनंद इनका आत्मा से जैसे स्वरूपतः अभेद आनंद ही हैं।

अब आत्मा तथा ॐकार का क्या संबंध हैं यह देखेंगे। आत्मा को चार पद है और ॐकार को साढ़े तीन मात्रा है।

जगत् के अनेकत्त्व को देख कर जिनको जगत् को परमेश्वर का ॐकार स्वरूप आत्मा का स्वरूप कहना जान पर आता होगा तो उन्हें आत्मा के चार पद हैं कहते हुए उसमें भी भेद के कारण विविधता हैं यह उन्हें स्वीकार करना पड़ता हैं।

अ, उ, म तथा अर्धमात्रा यह ॐ की चार मात्राएं हैं वे जागृति, स्वप्न, सुषुप्ती,

तथा तुर्या यह चार अवस्थाओं के परिचायक हैं तो विश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा तुरीय ये आत्मा के चार पाद हैं और वे क्रम से इन्हीं चार मात्राओं से संबंधित है। यह –

सोऽयं आत्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा
मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति।।२५।।

इस वचन से स्पष्ट है।

ॐकार अक्षर के पहले आत्मा तथा परमेश्वर होने के कारण परमेश्वर को तथा ॐकार का अद्याक्षर अथवा अधिमात्रा कहा गया है। अब ॐकार यह आत्मानुभूति का साधन होने के कारण इस साधन से ही आत्मानुभूति अथवा स्व की अनुभूति कैसे प्राप्त हो सकती है इसे देखेंगे। हमें अपनी अर्थात् व्यक्तिगत स्तर पर आत्मा की अनुभूति लेनी हो तो वह ज्ञान मार्ग से अथवा ध्यान मार्ग से प्राप्त हो सकती हैं। तब उसे प्राप्त करने में क्या क्या बाधाएं आती हैं इस पर विचार करेंगे।

सबसे प्रथम ध्यान के लिए आसन को स्थिर करने पर हम जिस आसन पर बैठे हैं उसके आसपास की सभी वस्तुओं को देखकर उसका बोध हमारे मन में समझ कर उनका अवलोकन करना चाहिए। हम जिस कमरे में ध्यान के लिए बैठते हैं उसकी लंबाई-चौड़ाई, ऊँचाई, उसके अंदर की आलमारियाँ इत्यादि फर्नीचर ध्यान में रखकर हमारे सामने की मूर्ति, फोटो अर्थात् अपने आसपास का विश्व क्या है इसे इन्द्रियों से जानकर, समझ कर ही बाद में 'ध्यान' का प्रारंभ करे।

ध्यान के माध्यम से हम चाहे जिस दृश्य को अथवा कल्पना को उपस्थित कर सकते हैं। इस बात को ध्यान में रख कर हम आँखे मूँद कर सहज ही अपने मन को स्थिर करने का प्रयास करना चाहिए।

ध्यान में आत्मानुभूति के लिए हमें पीछे उलटे जाना है। उलटे चलना है समझ कर धीरे से ध्यान में बैठना है। उलटे चलना है का अर्थात् है जागृति से स्वप्न तक और स्वप्न से सुषुप्ति में जाना है। इसका अर्थ है हमें ॐ के 'अ' मात्रा से 'उ' तक और 'उ' से 'म' तक की यात्रा है। सामान्यतया व्यक्ति नींद से स्वप्न में जाता है लेकिन इसके उल्टे हमें जागृति से स्वप्न तक जाना है तथा स्वप्न से नींद में जाना है। यहां तक की यात्रा ही हमें अपने प्रयत्नों से संभव है। निद्रावस्था से तूर्या में जाने के लिए गुरुकृपा का अधिकार चाहिए।

अब ध्यान की शुरुवात करने से पहले अपने आस-पास का विश्व जिसको हमने अपने इंद्रियों द्वारा अवलोकित किया है। उसको व्याप्त करने वाले आत्मा से अर्थात् आत्मा के विश्वपाद से प्रथम संपर्क करना है।

विश्व मन में उपस्थित किये वस्तुओं पर मन एकाग्र होने पर निर्विकार स्थिति प्राप्त होती है और उसमें इस आत्मा के प्रथम विश्वपाद से संपर्क स्थापित होता है। यह स्थापित होने पर अपने विश्व में जो चीजें हम मन में उपस्थित करेंगे उसका संपूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त होने लगता है। उदाहरण अपने सामने शीशे की अलमारी है और उसमें पुस्तकें हैं यह यदि इंद्रियों ने हमें ध्यान के पहले सूचित किया होगा और यदि वह अलमारी को ध्यान में उपस्थित किया हो और अपने आत्मविश्व से संपर्क किया तो अलमारी की पुस्तकें बिना इंद्रियों के, आँखे मूंद कर गिनने आते हैं। पीछे-पीछे जाते हुए मनुष्य धीरे धीरे जाता है अथवा गाड़ी Reverse लेते समय अगर कोई बाधा हो तो सूचना मिले अथवा अपनी गति ठीक Reverse ही है यह समझे इसलिए हम पीछे किसी व्यक्ति को नियुक्त करते हैं। उस प्रकार इस ध्यान योग में गुरू को हमारे दो कदम पीछे नियुक्त करने की परंपरा है। अर्थात् हम यदि आत्मा के विश्वपाद का अभ्यास कर रहे हैं तो गुरू अथवा इष्ट देवता प्राज्ञपद में स्थिर हैं ऐसा भाव करना अपने हित में रहता है। इस प्रकार जब हमारा अपने ही विश्वपाद से संपर्क आता है तो हम बिना अपनी इंद्रियों के मदद विश्व की सूचनाएं मात्र आत्मा द्वारा ध्यान में आती हैं। प्रथम यह होना अत्यंत आवश्यक है। यहां मैं यह सभी जानकरी तथा सूचनाएं ले रहा हूँ। मैं मेरे आत्मानुभव से ये सब कर रहा हूँ इस भाव को कायम रखना जरूरी है। 'मैं' को संपूर्णतया भूला देना नहीं, यह सूत्र यहां स्मरण रहे। अपनी साधना तक भी मन यदि निर्विकार, निर्विचार हुआ तो भी यह मेरा मन है इसे स्मरण रखना।

दूसरी बात यह है कि यह सिद्ध हुआ अर्थात् सब कुछ हुआ ऐसा नहीं है। यह मात्र प्रथम पाद है तथा सामान्य व्यक्ति को भी इंद्रियों द्वारा यह ज्ञान होता है वह इस आत्मा के विश्वपाद के कारण। इंद्रियों द्वारा हर चीज की प्रतिमा अपने मस्तिष्क में प्रतिबिंबित होती है। लेकिन उसका ज्ञान आत्मा के कारण होता है। यह आत्मा यदि प्रत्यक्ष न भी हो और किसी दूसरी बात में व्यस्त है तो भी कान से सुनने पर भी व्यक्ति को कोई बोध नहीं होता।

इसके पश्चात् द्वितीय पाद पर, स्वप्न पर अथवा तेजस पर जाना है। यहां धीरे धीरे विश्व छूट जाता है। उदाहरण हाथी विश्व में जो दिखाई देता है उससे भिन्न बिना सूंड़ के दिखाई देता है और वह अपने मुख से बोल रहा है ऐसा अनुभव होता है। कमल दिखता है, स्वस्तिक दिखाई देता है, रंग आदि भी दिखाई देते है। यहां व्यक्ति यदि नीतिमान, सत्यवचनी सात्त्विक वृत्ति का, विकारों पर विजय प्राप्त किया पुण्यात्मा हो तो शुभ चिन्ह दिखाई देते है। अपनी आत्मा यदि मलीन है तो भयप्रद तथा भयावह दृश्य का अनुभव होता है। इसलिए यहां गुरू की नितांत आवश्यकता होती हैं। वैसे ही हमें

आत्मानुभूति चाहिए, दूसरा कुछ भी नहीं यह तीव्र भाव मन में पक्का करना चाहिए। तद्नंतर इस प्रकार से निरंतर अभ्यास से व्यक्ति तीसरे पाद तक पहुँच जाता है। यहां वह समाधि अवस्था में रहता है। इसे ही जीते जी निद्रा तथा जीते जी मृत्यु कहा जाता है। यहां गुरु कृपा से उसे उसके सामने प्रकट हुए ज्योति स्वरूप आत्मा के तुरीय अवस्था में दर्शन होते है, जैसे शीशे में अपना ही प्रतिबिंब दिखाई देकर अपना ही आत्मदर्शन होता है। वैसे ही हमारी आत्मा (जीवात्मा) हमें अपने सामने प्रकट हुई दिखाई देती हैं। इसे ही 'स्व' की पहचान 'स्व' बोध, आत्मानुभूति Self Realisation आदि कहा जाता है।

अब सामान्यतया साधक इस विश्वपाद पर पहुंच कर आवश्यक मेहनत अथवा अभ्यास न करने के कारण समाधि अवस्था के बाद उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। 'मैं' अथवा आत्मपाद यह तीसरे प्राज्ञ अवस्था तक उसके साथ रहते हैं तथा रहने भी चाहिए। इसमें अगर 'मैं' नष्ट हुआ तो आत्मदर्शन किसे होंगे?

इसलिए अत्यंत सावधानी से यह उल्टी चाल हम स्वयं बिना गिरे पीछे-पीछे चलकर समझनी पड़ती है। विश्वपाद से 'मैं' की घनिष्टता यदि हुई तो ही आगे मार्ग सरल बनता है।

अब जिस समय 'मैं' का आत्मा के विश्वपाद से संपर्क होता है तब उसे ध्यान में 'अ' मात्रा दिखाई देती है, 'अ' दिखाई देता है। वह रंगीन दिखाई देता है। तेजस में, स्वप्न में 'उ' मात्रा स्पष्ट दिखाई देती है। तो जागृति, सुषुप्ति प्राज्ञ में 'म' मात्रा दिखाई देती है। आत्मानुभूति में ये तीनों मात्राएं एकत्रित होती है। इसलिए संत ज्ञानेश्वर कहते है –

''अकार चरण युगुल । उकार उदर विशाल।'' इत्यादि इस प्रकार के ॐ कार उपासना से, अर्थात् अ, उ, म के ध्यान से आत्मानुभूति होती है। वह ॐ और उसकी मात्राओं के भेद से ही अथवा आत्मा और उनके पाद में भेद कर उपासना करने पर होने के कारण ॐ की उपासना वह और उसके रश्मी में भेद कर कैसे करनी है इसका उल्लेख छांदोग्य उपनिषद् में इस प्रकार है –

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।
ओमिती ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्।।२७।।

इस प्रकार से वर्णन है। 'एषां भूताना पृथिवी रसः' ऐसा कहकर आधिभौतिक से शुरुआत कर फिर आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ऐसा उपासना भेद बताया गया है। यह सर्व जगत् के अंतर्गत ही आता है। तब जगत् दृष्टि से ॐकार की उपासना छांदोग्य उपनिषद् का आठवां अध्याय, चौदह खंडों में बतायी गयी हैं। इसके एक ही ॐकार की

उपासना के बहुविधता का ठीक से विचार करने पर यह सर्व उपनिषद् ही पूर्णवादी बन जाता है। ऐसे में जगत् तथा ॐकार में अभेद मानने वाले प्रमाणित होते हैं।

अब पूर्णवाद को स्वीकारने पर ज्ञान, कर्म, उपासना का समूह बनता हैं। लेकिन उपर्युक्त ध्यान से आत्मानुभूति के मार्ग में मात्र ध्यान धारणा का अर्थात् है ज्ञानमार्ग अथवा योगमार्ग ही बताया गया हैं। ऐसा लगने की संभावना बनती हैं। लेकिन वह सही नहीं है। इसलिए कि यह ध्यान अधिक से अधिक आधा घंटा-घंटा भर या बहुत ही हुआ तो डेढ़ या दो घंटे। इस ध्यान को शुरु करने पर व्यक्ति आध्यात्मिक उपासना मार्ग पर चलता है। लेकिन उसमें जो मात्रा अ, उ, म, दिखाई देते हैं उसके ध्यान के अतिरिक्त समय में नित्य पूजने पर वह साधक को अधिक फलदायी होता है। उसके अलावा जिस ॐकार की यह मात्राएं हैं उस ॐकार रूपी परमेश्वर को उपासना से समझ लेने पर उस मार्ग में एकत्त्व है और अपना लक्ष्य यह एकत्त्व अनुभव करना है। इस बात का स्मरण रहता है। और इस मार्ग में जो सिद्धियां आती हैं उसे उपयोग करने की, उसका तथा प्रयोग कर ज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्मा के विश्वपाद का और विश्व का संबंध परखने के लिए सामान्य जीवनयापन तथा कर्म की आवश्यकता रहती ही हैं। तब आत्मानुभूति की उपासना यदि योगमार्ग की लगी तो भी वह स्वभावतः कर्म, उपासना, ज्ञानमार्ग की है यह सिद्ध हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो अध्यात्म के प्रथम पाद में 'अ' मात्रा ध्यान में न दिखती (विश्व के साथ-गहराई के साथ) आत्मानुभूति के मार्ग में ध्यान द्वारा यश प्राप्ति के लिए कर्म तथा उपासना की जरुरी है। इसलिए जो आखिर आत्मानुभूति रूप सिद्धि प्राप्त होती वह भी पूर्णवाद की ही सिद्धि रहती है। इस पूर्णवाद से उपासक अपने मार्ग से भटकता नहीं। अन्यथा ध्यान मार्ग में लगे अनेक साधक आत्मानुभूति तक न पहुँच कर वाममार्ग में लगे रहते हैं। कारण वह कर्म, उपासना, जीवन आदि का त्याग, उपेक्षा अथवा तिरस्कार करने लगते हैं। लेकिन आत्मानुभूति यह ब्रह्मानुभूति, ईश्वरानुभूति, जगदानुभूति इस प्रकार की मात्र एक अनुभूति हैं और यह अनुभूति लेने का उद्देश्य अपने जीवन को परिपूर्ण तथा सुखमय बनाना है यह वे भूल जाते हैं। इस अनुभूति को न लेने वाले सामान्यजन अपनी अपनी दृष्टि से यश तथा सुखमय जीवन बिता रहे हैं, यह बात उनके समझ में नहीं आती। जो जीता है वह कौन? इस प्रश्न को लेकर वे चिंतित नहीं लगते। अर्थात् जीवन को पूर्णता से जीने के लिए इनकी आवश्यकता है यह बात सही है। लेकिन इसके बिना आम आदमी का काम कहीं रुका नहीं है। इस बात को कई बार यह योग मार्ग के साधक भूल जाते हैं। इसलिए ज्ञान, उपासना, कर्म, इन तीनों का आत्मानुभूति की उपासना में समाहित करना पूर्णता प्राप्त करने के लिए नितांत आवश्यक है।

यहां तक बताई आत्मानुभूति यह अपना विशुद्ध आत्म स्वरूप यही सही अर्थ में 'मैं' हैं। ''आत्मा ही परमात्मा'' इस न्याय से वही परमेश्वर का स्वरूप होता है। लेकिन कर्म के कारण आत्मा पर अहंकार की परतें चढ़ती हैं। उसी से अहंकार की उत्पत्ति होती है।

कर्म को जो प्रतिष्ठा प्राप्त है वह विश्वागत का परमेश्वर से स्वरूपतः अभेद के बिना असंभव है। इसलिए बिना कर्म के कुछ भी संभव नहीं है। कर्ता ईश्वर तथा जगत् कार्य कहने पर जैसे रामानुज इत्यादि का मत है कि एक उपासना से भी काम बनता है। (जीव तथा जगत् अज्ञान के कारण हैं कहने पर) अर्थात् अज्ञान मानने पर ज्ञान के बिना संभव नहीं। इनका एक प्रकार की उपासना से काम चलता है। लेकिन संहिता तथा उपनिषद् ग्रंथों में जहां तीनों के एक ही पंक्ति में बिठा कर इस बात को महत्त्व दिया है। तब उनको अपेक्षित सिद्धि पूर्णवाद की तथा पूर्णतव की है यह निश्चित है। भक्त को जैसे कलश का दर्शन लेने से ईश्वर के दर्शन का पुण्य प्राप्त होता है। इत्यादि बातों की उत्पत्ति पूर्णवाद के कारण ही बनती हैं।

ईश्वर और जीवन संबंध

इसके बाद जीव का विषय शुरू हुआ है।

अथ होवाच, ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु।

सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि, सर्वान्वा वः

पृच्छामिति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः।।२८।।

यदवृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः।

मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति।।२९।।

इस प्रकार का प्रश्नं याज्ञवल्कय ने ब्राह्मणों को किया। पेड़ काटने पर वह फिर से बढ़ता है। यह प्रश्न कर याज्ञवल्क्य ऋषि कहते है कि एक बार वृक्ष को जड़ से उखाड़ने पर वह फिर से बढ़ता नहीं। लेकिन मर्त्य को मृत्यु जड़ से छिन्नभिन्न करने पर व मर्त्य फिर से कैसे उत्पन्न होता है? बताइए। इस प्रश्न कोई उत्तर न मिलने पर याज्ञवल्क्य ऋषि सिद्धान्त रूप से उसका उत्तर देते हैं।

जात एव न जायते कोन्वेनं जनयेत्पुनः।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्मरातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति।।३०।।

अरे भाई! वह तो 'स्वयंभू' है। जब वह जन्मा ही नहीं, तो मृत्यु के बाद पुनः कैसे जीवित हो उठेगा? यह पूछने का प्रश्न ही नहीं, इत्यादि। इस पर जीव का शास्ता

आनंदमय सर्वज्ञानी ईश्वर जिस प्रकार स्वयंभू है वैसे ही जीव भी स्वयंभू ही है। यदि ईश्वर स्वयंभू है तो 'जात एव' ऐसा कहकर जीव भी स्वयंभू ही बनता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि जीव तथा ईश्वर स्वरूपतः अभेद है।

आत्मा को विशेषतः शुद्ध आत्मा को आत्मा तथा परमात्मा के अभेद का ज्ञान होता है। उसे अपना तथा ईश्वर का अभेद संबंध है यह भी समझता है। ऐसा होकर भी व्यक्ति को जिसका मूल रूप आत्मा है उसे मात्र इस जगत् में भेद कैसे दिखाई देता है? उसे ऐसा क्यों लगता है कि यह सब अपने से भिन्न है? और लोगों का भोजन हुआ तो मेरा भोजन हुआ ऐसे लगता नहीं। वैसे ही हम यदि भूखें हैं तो हमें बड़ा दुःख होता है। बाकी को नहीं होता ऐसा क्यों? यह भेद किस कारण होता है? तो उत्तर है जीवदशा के कारण। अब इस जीव को मृत्यु जड़ से इस दृश्य जगत् से काट कर भी यह फिर कैसे निर्माण होता है? वह स्वयंभू कैसे है? इस प्रकार के प्रश्न निर्माण होते है।

तो यह समझने के लिए नित्यत्त्व, एकत्त्व और अभेदत्त्व इनमें जो अन्तर है इसे जानना आवश्यक है। घड़ी की टिक टिक नित्य होकर भी दो टिक टिक में खण्ड है। वसंतादि ऋतु नित्य होकर भी उन्हें आदि और अन्त है। वैसे ही जीव नित्य होकर भी उसे जन्म तथा मृत्यु का खण्ड है। लेकिन खण्ड़ है इसलिए वह नष्ट हुआ, अनित्य है, अथवा भ्रम है ऐसा नहीं होता। जन्म मृत्यु से खण्ड हुआ तो भी जब वह नित्य है उस अर्थ में वह मूल में स्वयंभू है। जीव नित्य होकर भी उसमें एकत्त्व नहीं। आत्मा तथा परमात्मा के नित्यत्त्व में एकत्त्व है। उसमें खण्ड नहीं। एक नदी के पास अगर एकत्त्व है तो भी उसके पानी तथा दूसरी नदी के पानी में पाणी रूप में अभेदत्त्व है इसका संज्ञान उसे नहीं होता। एकत्त्व उपासना से स्थायी बनता है तथा अभेदत्त्व ज्ञान से ही समझ में आ सकता है तथा उसकी अनुभूति भी होती है। इसलिए जीवदशा अथवा जीव यह नित्य है और इसलिए वह स्वयंभू है। इस दृष्टि से उसका ईश्वर से अभेद है। जीव तथा ईश्वर की अभेद सिद्धि में कहां कहां साम्य है यह देखना जरुरी है। स्वयंभूत्व यह पहली समानता है।

असल में हमारा अर्थात् जीव का तथा परमात्मा से स्वरूपतः अभेद होने पर भी उसे यह भेद क्यों लगता है? यह प्रमुख प्रश्न है। मनुष्य को जब आत्मानुभूति अथवा Self Realisation होता है, उस समय उसे अपने 'मैं' के अस्तित्व के नित्य अविनाशी सदा सम ऐसा स्वरूप प्रत्यक्ष अनुभव में भले ही आता हो फिर भी यह मेरा 'आत्मस्वरूप' है ऐसी अनुभूति आने के कारण उसे 'मैं' अथवा 'अस्मिभाव' जुड़ा हुआ होने के कारण 'मैं' इस संकल्पना को 'मैं' अन्य जनों से अलग हूँ, इस प्रकार का अलगाव का भाव उसके मन में निरंतर वास करता है। इस प्रकार के भाव को ही जीव दशा कहा जाता है।

यह अलगाव की दशा स्वयंभू जन्मतः मात्र सजीव ही नहीं बल्कि जड़ वस्तु को भी चिपकी रहती हैं। हर वस्तु अन्य वस्तु से भिन्न ही होती है। अलग गुणों से युक्त होती हैं। जिस समय यह अलगाव का भाव प्रकट रूप से सामने आता है उस समय उसे जीव दशा कहा जाता है। यह अलगाव का भाव न होने पर जीव को कोई भी अनुभूति आत्मा की, ब्रह्म की, ईश्वर की तथा जगत् की भी नहीं हो सकती है। तब सच्चिदानंद परमात्मा की अथवा ब्रह्मस्वरूप की अनुभूति का आनंद लेने के लिए मनुष्य को अलगपन का अनुभव भी जरुरी है। यद्यपि जीव मूल में आत्मा का ही एक स्वरूप है, तथा परमेश्वर का अंश भी है तो भी उसे आत्मानुभूति तथा परमात्मा की अनुभूति लेने के लिए उससे अलगपन का अनुभव भी उतना ही आवश्यक है। इसलिए जीव के अलगपन की अनुभूति स्वयंभू है। उसमें यद्यपि जन्ममृत्यु के कारण खण्ड पड़ता हो अथवा उसके एकता के लिए बाधा भी आती हो तो भी वह नित्य है। अस्तिभाव को उसके प्रकट अनुभूति के लिए अस्मिभाव की अपेक्षा है। अर्थात् आत्मा को तथा ब्रह्मा को उसकी अनुभूति के लिए जीव की तथा अहं से संबोधने वाले आत्म तत्त्व की अपेक्षा है। इसलिए जीव दशा स्वयंभू है और उसका होना आवश्यक है।

लेकिन अलग अनुभूति की मनुष्य नित्य शुद्ध स्वरूप में दखल नहीं लेता। तब वह कर्म के माध्यम से हमेशा दखल लेते रहता है। इसलिए जीव दशा कर्म से बंधी जाती हैं। उदाहरण मैं दुनिया से, औरों से अलग हूँ। इसी भाव से मैं वकील हूँ, प्रोफेसर हूँ, ड्राईवर हूँ, सुन्दर हूँ, तरुण हूँ आदि। इन बातों से वह अपने को कर्म से बांध लेता है, और उस कर्म के परिप्रेक्ष्य में अपने अलगपन की अनुभूति लेकर वह जीता है। इसलिए जीव को कर्म बंध है ऐसा कहा जाता है। वास्तव में शुद्ध जीवदशा के अलगपन के भाव में यह कर्मबंध नहीं रहता। परंतु फिर भी यह अलगपन का भाव सतत प्रकटता से कायम रखने के लिए कर्म की आवश्यकता रहती ही है, और इसलिए आत्मानुभूति के लिए, ब्रह्मानुभूति के लिए कर्म का त्याग अथवा कर्मफल का त्याग आवश्यक माना जाता है। परंतु इस कारण शुद्ध अलगपन के भाव का संपूर्ण त्याग अपेक्षित नहीं रहता। जीव ही गया अथवा ब्रह्म स्वरूप हुआ तो यह ब्रह्मानुभूति कौन लेगा? अपने अलगपन का भाव विकसित करने के लिए मनुष्य जिन कर्मो का आश्रय लेता है। उस कर्म को भी जो प्रतिष्ठा है वह विश्वागत का परमेश्वर से स्वरूपतः अभेद होने के कारण है। इसका अर्थात् ही कर्म का फल यह विश्व व ईश्वर के अभेद के कारण ही मिलता है। तब कर्म से जीव बंधा न हो या कर्म का फल अच्छा मिले इसलिए क्यों न हो ईश्वर कृपा की नितांत आवश्यकता होती है अर्थात् ज्ञानमार्ग से जाते हुए भी (कर्मबंध के मुक्ति के लिए) चित्तशुत्रि के लिए ईश्वर कृपा की अर्थात् ईश्वर की आराधना जरुरी है इसलिए

ज्ञान से ब्रह्मानुभूति के लिए अथवा योग से आत्मानुभूति के लिए ईश्वर कृपा तथा आराधना की आवश्यकता है।

किसी भी विषय का अध्ययन दो पद्धतियों से होता है, एक तुलनात्मक दृष्टि से अर्थात् किसी के सापेक्षता में अथवा स्वतंत्र रीति से, यहां जीव अभ्यास हम परमेश्वर की सापेक्षता में कर रहे है। अब अगर कोई पूछे कि अभी ईश्वर की ही सिद्धि पूर्ण नहीं हुई तब आप जीव का अभ्यास ईश्वर की सापेक्षता में कैसे करते है? तो उसका उत्तर यह है कि जगत् का तथा ईश्वर का अभेद इसे पहले जानना जरूरी है। जगत् सिद्ध है इसलिए ईश्वर जगत् की सापेक्षता में सिद्ध ही है। वह अलग पद्धति से जब सिद्ध होगा तब तुलनात्मक अध्ययन दृढ़ होगा। इस समय ईश्वर का जिस प्रकार का वर्णन है वैसा ही है इसे मान कर यह अध्ययन किया है।

वास्तव में जीव तथा ईश्वर का अथवा ब्रह्म मूल में अभेद ही है। यह सत्य है फिर भी जीव को भेद की ही अनुभूति है यह भी सत्य ही है। इस भेद की निरंतरता के कारण जीव को अपना ईश्वर से अभेद है इसका विस्मरण हुआ तब अद्वैतवादियों ने उसे अभेद का स्मरण दिलाया तथा इस भेद को थोड़ी देर के लिए भुला कर अभेद की प्रत्यक्ष अनुभूति आती है यह अपरोक्षानुभूति से सिद्ध किया। लेकिन यह सिद्ध करने पर इस अभेद को अति व्याप्त बनाकर भेद भ्रम है, यह भेद अनुभूति मूल में कभी थी ही नहीं यह कहना शुरु किया। इसका कारण मूल में अभेद की अप्रेक्षानुभूति आने पर भी यह भेद कैसे आता है, इसका सम्यक उत्तर अद्वैतवादी नहीं दे सके। उसे पूर्णवाद ने दिया। इस उत्तर के समझने के लिए हम जीव तथा परमेश्वर का किस बात में अभेद है यह जानने का प्रयास करेंगे। पहले ईश्वर जैसा स्वयंभू वैसे ही जीव भी स्वयंभू है। इसे हमने देखा।

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्ससंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्त्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।।२१।।

इस वचन में बताया गया ईश्वर जैसे स्वयं भोक्ता, भोग्य तथा भोग का प्रेरक है, लेकिन जीव वैसा है यह सामान्यतया समझ में नहीं आता। उदाहरण अन्न यह भी ईश्वर तथा खाने वाला भी ईश्वर ही है, यह जैसे सत्य है, वैसे अन्न मनुष्य खेती में निर्माण करता है अथवा द्रव्य देकर खरीदता है और खुद ही खाता है। मनुष्य बूढ़ा होता है वह भी अपना यौवन उपभोग कर। मनुष्य जब दो-दो दिन भूखा रहकर काम करता है (जीव-मैंने खाना खाया है ऐसा समझता है) तब वह अपने आप को खाता है ऐसा कहने पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इस तरह जीव ही अनेक प्रकार के

विचार, भाव, कल्पना निर्माण करता है और उसका आनंद स्वयं ही लेता है। इस रीति से ईश्वर व जीव ये दोनों मूल में भोक्ता तथा भोग्य दोनों ही है यह सिद्ध है और इन दोनों की समानता है।

दूसरी समानता यह है कि ईश्वर स्वतः स्वरूपतः जिस प्रकार विकसित होते रहता है वैसे ही जीव भी विकसित होते रहता है। जगत् में ईश्वर व्याप्त होने के कारण आम जो प्रथम कच्चे आम के रूप में खट्टा रहता है वह अपने आप में स्वरूपतः विकसित होकर मधुर बनता है। उसके लिए कुछ बाहरी साधन उसे नहीं लगते। यह जिस प्रकार होता है वैसे ही जीव भी अपने आप स्वरूपतः विकसित होता है। बचपन के हम स्वतः सहज ही बड़े बनते है वैसे ही जीव भी सहज विकसित होते रहते हैं। उसके विकास में सुकृत का तथा सकृत का योगदान बड़ा होता है। उसमें स्वकृत का अर्थात् खुद का योगदान बहुत कम ३३ प्रतिशत से भी कम रहता है। किसी भी बात का विकास सुकृत, सकृत तथा स्वकृत कर्म से होता है, इसे हमने देखा। जड़ वस्तु में वह विकास केवल सुकृत तथा सकृत से ही होता है। तो जीव के विकास में स्वकृत का भी कुछ हिस्सा रहता है। अपने आप में स्वरूपतः विकास यह ईश्वर तथा जीव की समानता बताने वाला और एक उदाहरण है। उपर्युक्त एज्ज्ञेयं... वचन में भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता वाले को ब्रह्म कहा गया है। अतः जीव, परमेश्वर तथा ब्रह्म में स्वरूपतः अभेद हैं यह सिद्ध होता है।

ईश्वर भोक्ता होने के कारण उसे भोग चढ़ाना पड़ता है। वह भी अपने जैसे देखता है, बोलता है, खाना खाता है, भोग का उपभोग करता है। उसे भी अपने जैसे ही इच्छा-अनिच्छा है, यह ईश्वर भोक्ता तथा भोग्य है यह इस वचन से सिद्ध होता है। फिर भी ईश्वर मानने वाले इस बात को न समझ कर वह दिखाई नहीं देता इसलिए वह नबल ब्रह्म जैसे निर्गुण, निराकार, अकर्ता, अभोक्ता है ऐसा कहते है, वह सही नहीं है।

ईश्वर व सत्यसंबंध

वास्तविक आत्मा, जीव, ईश्वर, ब्रह्म यह पूर्ण के ही रूप है तथा पूर्ण पुरुष का उनके साथ स्वरूपतः अभेद है। परंतु यह पूर्णावस्था अथवा पूर्णपुरुष समझ में आए इसलिए हम भेद से इन भिन्न बातों का अध्ययन कर रहे हैं। इस अध्ययन से मूल के अभेद रह कर भी हमें भेद की अनुभूति क्यों और कैसे होती है इसका सम्यक उत्तर प्राप्त होगा।

पीछे हमने 'आत्मा' विषय का अध्ययन किया और उस समय साक्ष गुरू की थी। यह गुरू अथवा मार्गदर्शक अपने आगे (गति के) दो कदम अर्थात् हम विश्वपाद में हैं

और गुरू प्रज्ञापाद में हैं ऐसा मान लिया गया था। कोई भी अध्ययन यह स्वतः अकेले को ही करना पड़ता है। मात्र किसी के साथ ध्यान में बैठने पर किसी दूसरे की अनुभूति का तथा अभ्यास का हमें अपने लिए कोई लाभ नहीं होता। हम जिस समय आत्मा का अभ्यास करते हैं उस समय गुरू वहां प्रत्यक्ष नहीं रहते हैं, लेकिन वे प्राज्ञ अवस्था में स्थित है। साक्षी भाव से हमें उनका योग्य मार्ग दर्शन मिलता है। हम प्राज्ञ तक पहुंचने के बाद साक्षी गुरु पर ही ब्रह्मा का आरोप होता है। (हम एकरूप होते हैं)

इस प्रकार से आत्मा का अभ्यास करते समय गुरू को साक्षी रखना पड़ता है। वैसे जीव का अभ्यास करते समय ईश्वर को साक्षी रखना चाहिए। जीव का अभ्यास ईश्वर के साक्षीत्त्व में ही होता है। तो ईश्वर का अभ्यास सत्य के साक्षीत्त्व में करना होता है।

आत्मा के अभ्यास में गुरु ब्रह्म रूप रहते हैं तो जीव के अभ्यास में वही गुरू विष्णु रूप रहते हैं। तो ईश्वर के अभ्यास में गुरु सत्य रूप, शिव रूप रहते हैं। इसलिए गुरू ब्रह्मा, गुरूर्विष्णु, गुरूर्देवो महेश्वरः ऐसा कहा जाता है। यह सब पूर्ण का विषय होने के कारण गुरु को ही पूर्ण अथवा परब्रह्म ऐसा आगे कहा गया है।

तो हमने आत्मा का अभ्यास प्राज्ञ तक लाकर रखा है। जीव का अभ्यास उसके तथा ईश्वर के साम्य तक लाकर रखा और अब ईश्वर का अभ्यास सत्य के साक्षेप में कर रहे हैं। जहां हमने इस अभ्यास तक लाकर रखा है वे सभी स्थान ध्यान में रखकर आगे परब्रह्म के अभ्यास के समय वह हमें पूर्ण करना है। वहां हमें मूल में अभेद होते हुए भेद अनुभव में आता है यह समझ में आने वाला है।

आत्मा तथा जीव का अभ्यास हमने कुछ पादान के बाद छोड़ दिया है। तो भी वह अपूर्ण है ऐसा नहीं। वह अपने-अपने दृष्टि से पूर्ण ही हैं। पूर्ण के अभ्यास की यही तो विशेषता है। उसमें हम कहीं भी रुके तो भी अपूर्णता अनुभव नहीं होती और इसलिए सामान्य मनुष्यों को आधिदैविक तथा आध्यात्मिक का कुछ भी ज्ञान न होने पर भी उनके जीवन में कुछ भी दिक्कत नहीं आती। जो आधिभौतिक शरीर को ही सबकुछ मानते हैं उनका भी जीवन कहीं रुकता नहीं। क्योंकि आधिभौतिक स्तर पर जो शरीर है वह भी पूर्ण ही है। वह पूर्ण का ही स्वरूप है। इसलिए हमारा जीवन कहीं अपूर्ण हैं या कहीं कुछ रुका हुआ है ऐसा कभी लगता नहीं। यह जैसे है वैसे ही पूर्ण के किसी भी हिस्से का ज्ञान पूर्ण ही रहता है। उसमें कहीं भी अपूर्णत्त्व रहता नहीं।

अब हम ईश्वर का सत्य की सापेक्षता में विचार करेंगे। जीव ईश्वर का अंश होने के कारण जीव का बृहद् रूप जो ईश्वर है उसका अध्ययन करने पर जीव का भी अध्ययन सहज होगा। जीव की जो सूक्ष्म स्थितियां हैं जो साधारणतया किसी की दृष्टि

में नहीं आती वह ईश्वर के अध्ययन से सहज ही समझ में आ सकती है। आत्मा का बृहद् रूप जैसे ब्रह्म है वैसे ही जीव का बृहद् रूप ईश्वर है।

अब सत्य अर्थात् क्या? तो जिसके खरेपन की तथा सत्य वदिता ठोस है वह सत्य है। उदाहरण जीवित व्यक्ति को अपने प्राण सच है या झूठ इसमें कोई संभ्रम नहीं होता। वह सच, सही है यह उसका दृढ़ निश्चय रहता है। वैसे ही ज्ञानीजनों का जिनका सत्यता के बारे में दृढ़ निश्चय रहता है उसी को सत्य कहा जाता है। यही सत्य है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अध्याय दो में -

द्वे वाव ब्रह्मणोरूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यंचामृतं च
स्थितं च यच्च सच्च त्यंच ।।३२।।

ऐसे जो वचन हैं। उसका अर्थ इस प्रकार है - ब्रह्म के दो रूप हैं- एक मूर्त और दूसरा अमूर्त। ऐसे ही एक मर्त्य दूसरा अमृत। एक मृर्त्यु रूप है तथा दूसरा अमर है। यहां मर्त्यरूप अर्थात् जगत् और अमर रूप अर्थात् तुरीय ब्रह्म यह स्पष्ट है। ऐसे दो सत्य रूप जिस समय एक बात में स्थित रहते हैं तब वे पूर्ण के रूप हैं। यहां पूर्ण परमेश्बर का रूप है ऐसे जानना चाहिए। क्योंकि परमेश्वर यही सत्य का रूप है। यहां पूर्ण के तथा परमेश्वर के दो सत्य रूप है (जिस प्रकार का प्रकृति पुरुष) यह कहने से अच्छा है परमेश्वर सत्य का सत्य है। यह कहना अधिक उचित है। जगत् भले ही सत्य हो तो भी इस सत्य का सत्य ही ईश्वर है। श्रुति का भी यही मत है।

तब जीव के अध्ययन के लिए जीव मूल में अभेद होकर उसे भेद क्यों लगता है। इसे जानने के लिए जीव का बृहद रूप (विशाल रूप) वह ईश्वर, उसका हम सत्य के साक्षीत्त्व में अध्ययन कर रहे हैं यह यहां ध्यान रखना जरुरी है।

ऐसे इस ईश्वर का रूप कैसे है यह सामान्यतया यदि देखना हैं तो-

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा महाजनंवासो
यथा पाण्डूवाविकं यथेंद्रगोपो यथा अग्न्यर्चं:
यथा पुण्डरिकं यथा सकृत् विद्युत सकृद्विद्युदेव
हवा अस्य श्री भवति य एवम् वेदाथात्
आदेशोनेति नेति नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ
नामध्येयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं
तेषा मेष सत्यम् ।।३३।।

इस वचन से आप जानिए ऐसा श्रुति का कथन है अर्थात् परमेश्वर का रूप इस

प्रकार है– हल्दी से रंग किया गया वस्त्र उन का सफेद वस्त्र देव गायों का समूह – अग्नि की ज्वाला – शुभ्रकमल – एकदम बिजली की चमक जैसे, वैसे ही जिसका नेति नेति आदेश है – ऐसा है।

अब इस दृष्टान्त (उदाहरण) की 'अग्नि ज्वाला पर विचार करेंगे इसमें ईश्वर के कौन कौन से गुण विशेष समझ में आते है यह देखेंगे तो अग्नि स्वतः ही प्रकाशमान है। उसमें गर्मी तथा प्रकाश दोनों हैं। वैसे ही एक और बात जो सहज समझ में न आनेवाली है। वह है धुवाँ (धुम्र) अग्नि में हम जो डालेंगे वह अग्नि रूप ही हो जाता है। उसमें प्रसारण की क्षमता है। उसमें कार्य करने की क्षमता है। वह किसी भी चीज को जला कर भस्म कर देता है। वैसे किसी धातु को तपा कर नरम बना देता है। अन्न पका देता है।

इससे ईश्वर १. प्रकाशमान है। २. विकासशील है। ३. उसमें कर्म करने की क्षमता है। ४. उसे जो पूजता है उसे वह अपना रूप देता है। ५. वह नेति नेति आदर्श से जाना जाता है। ६. वह सत्य का सत्य है इत्यादि। यही गुण जीव के अर्न्तयामी अंश रूप से कैसे रहते हैं, इसे हमें जानना है।

इस पद्धति से जीव का अध्ययन ईश्वर की सापेक्षता में (Relative) हमें करना है। आत्मा के अध्ययन के समय हमारी दृष्टि और गति पीछे–पीछे जाने वाली थी। तो जीव के अध्ययन में वह आगे–आगे जाने वाली है। यह जीव का अध्ययन हम भेद से स्वतंत्र रूप से करने जा रहे हैं।

ईश्वर का अध्ययन करने की दो पद्धतियाँ है। एक अभेद से तथा दूसरी भेद से। अभेद से ईश्वर को जानना सरल है। परंतु जीव का उससे समाधान नहीं होता। तो भेद से स्वतंत्ररीति से अर्थात् हम स्वतंत्र रहकर ईश्वर की अनुभूति लेने पर ही मनुष्य को समाधान प्राप्त होता है। इसलिए ईश्वर का निर्गुण साक्षात्कार तुलनात्मक दृष्टि से सरल और आसान है। वह अभेद ज्ञान से हो सकता है। परंतु ईश्वर को भेद से जानना कठिन है। इस के लिए ज्ञान को कर्म के साथ जोड़ना नितांत आवश्यक है। ईश्वर विकासशील होने के कारण उसके भेद रूप साक्षात्कार के लिए जीव को विकासशील रहकर कर्म से ईश्वर का साक्षात्कार करना पड़ता है। यही बात लोग भूल जाते हैं। ज्ञान मार्ग के संस्कार से ईश्वर साक्षात्कार के लिए कर्म की और वह भी विकासशील कर्म की आवश्यकता है। यह प्रायः किसी को पता नहीं रहता। इसलिए पूज्यपाद पारनेरकरजी कहते हैं कि, "करी जो जीवन देवाचे पूजन" तथा संत ज्ञानेश्वर कहते हैं, "... वगैरा – तात्पर्य मराठी के इन वचनों का अर्थ है – स्वकर्मो से ही ईश्वर की सही पूजा हो सकती है। ईश्वर मात्र ज्ञान से जानने का विषय न होकर वह ज्ञान के साथ कर्म से ही जाना जाता

है। कर्म से ही उसका सगुण साक्षात्कार भेद रूप से हो सकता है। इस बात को स्मरण रखना चाहिए।

ईश्वर कर्म से जानना चाहिए। कर्म तथा ज्ञान से ईश्वर साक्षात्कार होता है। मात्र ज्ञान से, भेदरूप से होता नहीं यही बात ऊपर बताई गयी है। अब प्रश्न है कौन से कर्म से? किस प्रकार के कर्म से ईश्वर जाना जाता है?

स्वधर्म कर्म से जाना जाता है। स्वधर्म पहचानने के मार्ग बताए हैं। लेकिन उससे भी आसान मार्ग इस प्रकार हैं। - जो कर्म हम अपने लिए करते हैं, अपने विकास के लिए करते हैं, या अपने आनंद के लिए करते हैं, उस कर्म को। उस कर्म को जब सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। तब जिस कर्म के लिए समाज अपने पास कृतज्ञता भाव व्यक्त करता है, उस समय वह कर्म ईश्वर को प्रिय लगने के कारण, उस कर्म से ईश्वर को संतोष हुआ ऐसा समझना चाहिए। लेकिन यह होने के लिए हमारे लिए ईश्वर जो भी करता है उसके लिए ईश्वर के पास कृतज्ञता व्यक्त करनी चाहिए। हम ईश्वर के प्रति जितने कृतज्ञ है उतना ही समाज हमारे कर्म के प्रति कृतज्ञ रहता है। जब हम जनता के लिए कुछ करते हैं और यदि जनता आपके प्रति कृतज्ञ नहीं है तो समझना चाहिए ईश्वर के प्रति हमारा कृतज्ञता का भाव कम हुआ।

ईश्वर के प्रति जीव का कृतज्ञता का भाव निरंतर बढ़ते रहना चाहिए। ईश्वर विकासशील है। हमसे, हमारे कर्म से ईश्वर विकसित होता है, विकास करता है यह भाव तथा अनुभूति जिन कर्मो द्वारा प्राप्त होती हैं उस कर्म से ईश्वर का साक्षात्कार होता है। हम भक्त और ईश्वर देव ऐसा होता है। भेद से ईश्वर जाना जा सकता है। ईश्वर के विकास के लिए अर्थात् परिणामस्वरूप जगत् के विकास के लिए हमें ईश्वर ने जन्म दिया है। यह वास्तव होने के कारण अपने द्वारा ईश्वर का विकास साधना अर्थात् अपने ही जीव का विकास साधना यह मनुष्य का स्वधर्म बनता है। ईश्वर जीव का बृहद् रूप होने के कारण हम अपने जीव का जितना विकास करेंगे उतना ईश्वर हमारे द्वारा विकसित होते रहता है। इसी में हम जीवन का उत्युच्च आनंद प्राप्त करते हैं।

हम अपने सुख के लिए, आनंद के लिए शादी करते हैं, प्रपंच करते हैं उसी से ईश्वर जगत् का विकास हमारे हाथ से सहज ही बिना जाने समझे होते रहता है। लेकिन वहां हम ईश्वर को जानते नहीं हैं। हम सोद्देश्य अपने हाथ से जो ३३ प्रतिशत स्वकृत कर्म यदि हम ईश्वर के विकास में लगाते हैं तो उसमें हमारा विकास होता है। उसका आनंद भी प्राप्त होता है। जनता भी इस कार्य में हमारे प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

हम यह अध्ययन अपने आनंद के लिए (स्वांत सुखाय) अपने विकास के लिए करते हैं। परंतु यदि इससे लोगों को आनंद मिलता है, तथा उनका विकास हुआ और उन्होंने अपने प्रति कृतज्ञता का भाव व्यक्त किया तो यह कर्म ईश्वर कर्म बनता है।

पूर्णवाद दर्शन मैंने अपने समाधान तथा प्रगति के लिए खोज निकाला। उसका अनेक लोगों को फायदा हुआ तथा उन्होंने कृतज्ञता व्यक्त की। इसलिए पूज्यपाद पारनेरकरजी 'पूर्णवाद' को ईश्वर कार्य है ऐसा कहते थे। तब कृतज्ञता भाव इस कर्म की कसौटी 'टेस्ट' तथा लक्षण है। हम अपने विकास के लिए ईश्वर के प्रति कृतज्ञता का भाव रखते हैं तो समाज भी आपके प्रति कृतज्ञ रहता है।

हम ईश्वर का अध्ययन करते समय ईश्वर तथा जीव के समानता का भी विचार किया वैसे ईश्वर के सत्य का सापेक्षता में अध्ययन करते समय ईश्वर सत्य का भी सत्य है यह जाना। उपनिषदों ने आत्म तत्त्व का अधिक विचार तथा अध्ययन किया है। विज्ञान तथा वेद के कर्मकाण्ड रूपी अध्याय में विश्वतत्त्व का अध्ययन किया तो संतों ने भक्ति मार्ग बताकर और वेदों का उपासना मार्ग पर बल देकर ईश्वर तत्त्व का विचार तथा अध्ययन किया।

प्राण यह सत्य है और उसके सत्य का सत्य (ईश्वर) 'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूप' इस न्याय से ईश्वर ही सत्य है यह हमने देखा। प्राण ही सत्य तथा सत्य का सत्य ईश्वर भी सत्य है। इस वचन का सत्य 'सत्य एक ही है' कहने वाले शंकराचार्य जी ने लगाया अर्थ ठीक नहीं लगता है। क्योंकि उन्होंने ईश्वर को ही माया का कार्य बताकर तथच सत्य एक ही मानने के कारण सत्य का सत्य ईश्वर रूप कैसे यह उन्हें स्पष्ट करते नहीं बना। एक ही अध्याय में छह वचनों के अंतर से उनके दृष्टि से परस्पर विरोधी वचन मिलते हैं। ऐसे में ईश्वर यह सत्य का सत्य कैसे है यह उनके द्वारा स्पष्ट नहीं हुआ। पूर्णपुरुष ईश्वर का तथा ब्रह्म का स्वरूप संबंध है यह पूर्णवाद का प्रतिपादन है इसलिए ब्रह्म यह सत्य और उस सत्य का सत्य पूर्णपुरुष ईश्वर है और वह तो सत्य ही है यह सहज ही स्पष्ट होता है।

ब्रह्म यह सत्य का सत्य ईश्वर भी सत्य है यह मात्र मेरा ही कथन है ऐसा नहीं है। तो श्वेताश्वतर उपनिषद् का भी वचन इस प्रकार है -

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ताः।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दतेब्रह्ममेतत्।।३४।।

इस वचन का अर्थ स्पष्ट तौर पर यही है कि ज्ञानी ईश्वर तथा अज्ञजीव दोनों जन्मरहित है। भोक्ता, भोग्य, तथा भोग से युक्त एक परमेश्वर ही है जो अनंत आत्मा,

विश्व रूप तथा अकर्ता (साक्षी) है। यह उसकी त्रिविधता मिल कर सर्वव्यापकत्त्व यही ब्रह्म है। यह जब वह जानता है तब वह मुक्त अर्थात् 'मुच्यते सर्व पाशैः।' ऐसा होता है।

यह त्रिविधता मिलकर सर्वव्यापकत्त्व ही ब्रह्म है यह जानने के लिए नौ बातों का विचार होना चाहिए।

	विश्व	ईश्वर .	आत्मा
ब्रह्म वा आत्मतत्त्व	सत्	चित्	आनंद
जीव वा ईश्वरतत्त्व	वासना	भोग	तृप्ती
विश्वतत्त्व	उत्पत्ती	स्थिति	लय

इन नौ बातों का आपस में संबंध है। सत् है कि भावना है के भाव का बोध चित सत है तथा है का बोध चित इनका जब मिलान होता है तब आनंद की निर्मिती होती है। वैसे ही वासना के कारण भोग की इच्छा होती है। भोग की इच्छा तथा भोग का विषय इनके भी मिलान से - अर्थात् वासना भोग इनके एकत्त्व में तृप्ति का निर्माण होता है। वैसे ही उत्पत्ति - स्थिति का एकीकरण (मिलान) दृढ़ होने पर बाद में लय संभव होता है। अथवा लय में परिवर्तित होता है। उत्पत्ति - स्थिति रूप में परिवर्तित होने पर ही लय होता है।

उपर्युक्त तक्ते में यदि खड़े स्तंभ का विचार किया तो भी उसमें संबंध है ऐसा बोध होता है। उदाहरण सत - अर्थात् जो है - उसी की वासना संभव है। जो मूल में है ही नहीं अथवा कल्पना में भी नहीं, जिसकी वासना होती ही नहीं वह कोई मांगता भी नहीं। जिसकी वासना नहीं होती उसकी इच्छा भी नहीं होती या वह उत्पन्न भी नहीं होती। 'Necessity is mother of invention' यह प्रसिद्ध वाक्य है।

संक्षेप में इन नौ बातों में से कोई तीन चुन लीजिए तो भी उसमें संबंध आता है। उदाहरण चित्, वासना, स्थिति इस तिकोन को लिया तो भी बोध के बिना वासना नहीं। वासना के बिना कोई एक स्थिति रहना संभव नहीं है। तब इन नौ चीजों का आपस में संबंध है। इसका कारण वह मूल में एक ही चीज के भिन्न भिन्न रूप है। एक प्रमुख बात इन सब में व्याप्त है और वह है 'ब्रह्म'। ज्ञान से हमें यह समझ में आता है कि यह सब चीजे सच्चिदानंद ब्रह्मरूप 'आनंद' में स्थित है। ब्रह्म में स्थित है। यह नौ एक में समा जाते है। गणित के १ से ९ अंक संख्या में आते हैं - एकाध संख्या में एक होता है। नौ ग्रह एक सूर्य में समा जाते क्योंकि वह सभी उसकी परिक्रमा में ही रहते हैं।

इन नौ को एक में समाया जा सकता है यह भी बात यदि समझ में आयी तो भी

यह छोड़ कर जो शेष ब्रह्म रूप है जो शून्य सदृश्य तथा अनंत है उसका तथा इस एक का जब तक कोई संबंध प्रस्थापित नहीं होता तब तक इन नौ के एकता में क्या प्रयोजन है? समझ में नहीं आता। यह नौ बातों का ज्ञान होता है। इनकी अनुभूति भी संभव है। ज्ञान से इनको आनंद में समाया जा सकता है। लेकिन जो अनुभूति में नहीं आते - नकारात्मक है - वे शून्य सदृश्य रूप ही हैं और अनंत Infinite है। इस एक का जब इन अनुभूतियों में न आने वाले अनंत से शून्य सदृश्य रूप से संबंध स्थापित होता है तो दस संख्या सिद्ध होती है। यही शून्य के विस्तार के साथ अनंत 'Infinite' बनती जाती है। यह एक तथा शून्य का संबंध स्थापित हुआ कि पूर्णपुरुष जो 'दशांगुल शेष है' का साक्षात्कार होता है, उसकी दिव्य अनुभूति ऐसी आती है कि वह सबसे परे होती है।

विश्वव्याप्त अर्थात् गुणात्मक - नाम रूपात्मक बातों को व्याप्त कर शेष निर्गुण-निराकार ईश्वर रूप को - जिसकी अपरोक्षानुभूति शिव है उसे ब्रह्म कहने पर जिनकी अनुभूति नहीं तथा जो अनंत तथा शून्य Conscous or subconscous को भी व्याप्त करता है उसे 'पूर्णपुरुष' कहा गया है।

Conscous जागृत अनुभूति में आने वाले सब प्रयत्न करने पर भी जब कोई चीज प्राप्त नहीं होती तब वह प्राप्त न होने के कारण अचेतन subconscous में होनी चाहिए यह स्पष्ट है। ज्ञान से हमारी समझ विस्तृत होती है। लेकिन समझ के परे subconscous (अचेतन) बातें समझे नहीं आती। इसलिए ज्ञान की जहां मर्यादा समाप्त होती है वहां 'तप' का आश्रय लेना पड़ता एकत्त्व को शून्य से अर्थात् अनंत से जोड़ने का महंत्त्वपूर्ण काम पूर्णवाद ही कर सकता है। एकत्त्व को शून्यत्त्व से जोड़ने पर 'दशांगुले' में शेष पूर्णपुरुष का ज्ञान, भान, बोध हो सकता। इस अवस्था (भानात) में (जाणिव नेणिव) दोनों भाव नहीं रहते। इसलिए, ''जाणीव नेणीव भगवंती नाही'' ऐसा संत ज्ञानेश्वरजी कहते हैं।

परमेश्वर यह आत्म रूप अर्थात् ब्रह्म रूप तथा विश्व रूप है और जिस प्रकार वह अकर्ता है, उस अर्थ में विश्व उसी रूप के अन्तर्गत आता है। ऐसे में उसका जगत् रूप तथा विश्व रूप, जीव तथा ईश्वर रूप और ब्रह्म तथा आत्म रूप यह तीनों रूप को समझकर ही मनुष्य मुक्त हो सकता है।

ऋग्वेद में उसके विश्व रूप का एक छोटा सा वर्णन है। उससे, विश्व माया से उत्पन्न हुआ यह भ्रम दूर होता है। वह वचन -

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्याम् धंमति स पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।।३५।।

विश्व का 'चक्षु' - नेत्र - इस प्रकार जिसका विश्व रूप वर्णन किया है वह अपने हाथों त्रिपाद ऐसी, द्यावा-भूमि, अन्तरिक्ष आदि को उत्पन्न करने वाला तथा (तीन कदमों में व्याप्त करने वाला) इनका व्यवहार चलाने वाला ऐसा एक ही ईश्वर है। इससे यह प्रमाणित हो रहा है कि विश्व यह उसी का रूप है। इस बात से यह प्रमाणित हो रहा है विश्व मायोपाधित नहीं उत्पन्न हुआ। तब वह उसका स्वकृत रहे, सुकृत रहे अथवा सकृत। उसका रूप कहिए या कार्य। यहां माया को स्थान नहीं है। यह बात प्रमाणित और स्पष्ट है।

विश्व अथवा जगत् यह कार्य है अथवा स्वरूप

वैसे ही तैत्तिरीय उपनिषद् में यह माया तथा अज्ञान से उत्पन्न न होकर उसने सोच समझकर किया हुआ है। इस अर्थ का यह वचन -

सोऽकामयत । बहुस्याम् प्रजायेय इति । स तपोऽतप्यत ।
स तपस्तप्त्वा इदम् सर्वमसृजत । यदिदं किंच ।
तत्सृष्ट्वातदेवानुप्रविशत् ।।३६।।

हम बहुविध बने ऐसी वह कामना कर रहा है। इसलिए उसने तप किया तथा उसे पूर्ण होते ही उसने इस विश्व रूप जगत् का निर्माण किया। यह जगत् उसने निर्माण भी किया और उसमें प्रवेश भी उसने किया।

संक्षेप में - उसने इस रूप को धारण किया लेकिन रूप लेने के पहले उसने तप किया। सब साधन के अन्तर्गत आते हैं। साधन से ज्ञान प्राप्त होता है। परंतु जहां एक भी साधन उपलब्ध न हो तो ज्ञान प्राप्त नहीं होता। ज्ञान से हमें जो जो प्राप्त करना है वह कैसे इस बात का विश्लेषण होता है। परंतु जहां एक भी साधन उपलब्ध नहीं और जिसके कारण ज्ञान प्राप्त नहीं होता और हमें जो चाहिए वह प्राप्त नहीं होता, हमें उसे प्राप्त करना ही है। ऐसी जब परिस्थितियां आती है तब तप ही काम आता है। यह जिसका है उसे ही स्वयं करना पड़ता है। क्योंकि उसका और कोई मार्गदर्शक साधनभूत नहीं हो सकता। ''साधने हिंपुटी होती'' ऐसी उसकी स्थिति होती है। यहाँ कोई भी साधन न होने के कारण यहां 'संभावना होना' तथा असंभावना - अर्थात् संभव तथा असंभव से परे की स्थिति होना जरूरी बनता है। ईश्वर को कोई भी असंभव नहीं है। उसके मर्जी में आने पर हमें वह चाहिए जो असंभव लक्ष्य भी पूरा कर देता है, हमें जो देना है वह किसी भी साधन द्वारा - बिना कार्यकारण-प्राप्त करा देता है। इसका पक्का विश्वास कहिए या श्रद्धा कहिए होने पर यह ''संभावना'' बनी रहनी चाहिए और वह भी विरोध में और उसका विकास। उसे समृद्ध कर उसके प्रत्यक्ष में साकार करना तथा

उसे सत्य संकल्प का रूप देकर विशुद्ध करना। यही तो 'तप' है। (संपर्क : आधिदैविक, सूत्र १४ देखें)

यहां कार्यकारण भाव को भी भूलना चाहिए जिसका हमारे वैचारिक विश्व में बड़ा ही प्रभाव रहता है। उदाहरण ६० साल की स्त्री जो रजस्वला खो चुकी है। फिर भी तप से संतती होती है। यहां तप ही काम आता है। हमारे सामान्य जीवन में भी – जीव तथा ईश्वर में साम्य होने पर किसी भी कारण मीमांसा से जो घटित नहीं हो सकती ऐसी बातें भी मात्र 'संभावना' भाव को बनाए रखने से बनती हैं और वह भी तप बल से लेकिन जहां से ज्ञान की सीमा समाप्त होती है तभी तप की योजना बनानी पड़ती है। बिना प्रयत्न के अथवा यथायोग्य ज्ञान प्राप्त करने के सभी साधनों का प्रयोग किये बिना तप का मार्ग नहीं अपनाना चाहिए। यह विषय फिर से आगे आने वाला है। तात्पर्य, बहुविध होने की कामना कर और बिना कोई साधन न कर अपनी कामना (कारण उसके पास कोई भी साधन नहीं था) पूर्ण करने के लिए जिस उद्देश्य से विश्व उत्पन्न किया इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि अज्ञान से, माया से उत्पन्न होना न संभव है न तर्कसंगत।

यह जगत् उसने किस से किया? किन साधनों द्वारा किया? यह हमारा प्रश्न है। उसका उत्तर है – माया से अथवा मायावात ऐसा न होकर वह स्वतः 'तप' द्वारा उसमें व्याप्त हुआ। ऐसा स्पष्ट है। इसलिए जगत् का मिथ्यतत्त्व अथवा मायोत्पन्न होना संभव नहीं है। इसलिए जगत् को असत अथवा मिथ्या मानना सरासर गलत है। उल्टे ब्रह्म को ही असत कहने के वचन श्रुति में मिलते हैं। उदाहरण "असन्नेव संभवति । असत ब्रह्मेति वेद्येत।।३७।।"

इस प्रकार असत् कहने वाला निषेधार्थी जैसे वचन हैं वैसे ही 'असद्वा इदमग्र आसीत्' ऐसा भी वचन मिलता है। यहां असत् का अर्थ अव्यवहार्य ऐसा होता है तो भी ब्रह्म को यहां असत् कहा गया है यह निश्चित हैं।

अब कोई यह भी कह सकता है कि ईश्वर को इच्छा हुई, उसने तप किया और जगत् का निर्माण किया है। अगर आप यह मानते हैं, तो यह जगत् ईश्वर का कार्य व ईश्वर कर्ता ही बनता है, ऐसा होकर भी आप विश्व का परमेश्वर से स्वरूपतः अभेद है ऐसा कैसे मानते हैं? यहां ईश्वर कर्ता तथा जगत् कार्य ऐसा इन दोनों में स्पष्ट भेद दिखता नहीं है क्या?

पाठक की यह शंका योग्य तो है परंतु जगत् को कार्य कहा भी तो वह दूसरे किसी वस्तु के, गोष्टी के अगर दूसरे किसी का भी न होकर मात्र ईश्वर का ही है। वह पूर्णपुरुष इन सबका उत्तम ज्ञाता है। मात्र त्रयस्थ साक्षी के रूप में न होकर, उसका प्रभु उस पर प्रभु सत्ता करने वाला है। यही मुझे मंत्र दृष्टा ऋषि जैसे कहना है इसलिए मेरे सिद्धान्त के

संदर्भ में शंकाए उठ सकती हैं इसलिए मैंने यह श्रुति वचनों का संदर्भ दिया। इन शंकाओं को मैं आगे भी निरस्त करुंगा। परंतु जगत् यह सत्य त्रिकालाबाधित सत्य है ऐसा कहने पर उनका नियंता वह एक पूर्णपुरुष ही होना चाहिए - जहां अज्ञान, माया, भ्रम इन्हें स्थान नहीं है। ऐसा पाठकों के स्मरण में लाने का मेरा प्रयास है।

'पूर्णवाद' यह मेरा मताभिमान नहीं है। वह कैसा भी हो (आप की दृष्टि से गलत या सही) फिर भी मैं उसे पूजना ही चाहूँगा। वह आपको स्वीकार्य हो ही ऐसा मेरा आग्रह तथा दुराग्रह नहीं होगा। लेकिन पूर्णवाद स्वरूप की जिज्ञासा आपके मन में होना स्वाभाविक है। पूर्णवाद क्या है? देखें तो सही ऐसा तुम्हें लगना सहज है। इसलिए मैं उसका स्वरूप जो मूल में वेदों ने भी गाया है तथा मेरी बुद्धि को भी तर्कसंगत लगा, वही तुम्हारे सम्मुख प्रस्तुत है।

आप में से अधिकारी जन तथा अन्य सभी अपनी दृष्टि से विचार करे यह मेरा नम्र निवेदन है। मात्र पुराना जो चलता आ रहा है वही सही है तथा नया सब कुछ गलत है इस प्रकार का दुराग्रह नहीं होना चाहिए। इसका आपकी दृष्टि से विचार कर उसे जीवन में परखकर, जाँचकर ही स्वीकार करना चाहिए यह मेरी नम्र विनती है। इसका जीवन में उपयोग करने पर यह 'जीवन मनोनुकूल सुख से कैसे जीना है तथा जीवन जीते ही उच्च आध्यात्मिक स्तर पर कैसे लाया जाये इसका सरल सुगम मार्ग आपको बताएगा यह मेरा दृढ़ विश्वास है।'

जगत् सत्य है तथा वह ईश्वर का कार्य न होकर स्वरूप है यह सिद्ध करने का तथा हमारी मनोकामना पूर्ण करने वाला एक स्थल है उसे यहां लेंगे। श्वेताश्वतर-उपनिषद् के छठे अध्याय के सोलह तथा सत्रह ऐसे दो वचन यहां देते हैं, जो सुन्दर हैं-

पहला वचन

स्वविश्वकद्विश्व विदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधान क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशाः संसार मोक्ष स्थिति बंध हेतुः ।।३८।।

दूसरा वचन

स तन्मयो ह्यभृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय ।।३९।।

पहले वचन का अर्थ - वह विश्व का कर्ता, विश्व को जानने वाला, आत्मयोनीज्ञाता, काल कर्ता, गुणवान, सभी घटनाओं को जानने वाला, जड़ जीव तथा अव्यक्त विज्ञानात्मा का पालनकर्ता (पति), संसार, मोक्ष, स्थिति, बंध इनका भी हेतु है। उस अर्थ में वह जगत् रूप है यह निर्विवाद है। कारण जगत्त्व ही बंधन का कारण माना जाता

है। इस प्रकार जगत् यह उस पूर्णपुरुष का स्वरूप है यह स्पष्ट होता है।

यहां 'आत्मरूपयोनी' का अर्थ आत्मा इस योनी से ही आत्मरूप जगत् का निर्माण हुआ। इसलिए जगत् आत्मा का ही स्वरूप हैं। कार्य नहीं है ऐसा मेरा मत है और यहां विवाद भी उपस्थित हो सकता है। आत्म योनी से जगत् का कार्य निर्माण हुआ ऐसे कोई कह सकता है। तब इसका निराकारण इस वचन से होता है-

वह तत - अर्थात् जगन्मय (ब्रह्ममय नहीं) अमृतमय देवलोक से युक्त ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु से युक्त अपना स्वरूप पहचानने वाला (ज्ञः) सर्वव्याप्त त्रैलोक्य का रक्षक ऐसा इस जगत् को नियंत्रित करता है - वह यह व्यवहार चलाने में उसका दूसरा कोई भी हेतु नहीं है।

जिस अर्थ में वह स्वतः का रूप पहचानने वाला वह जगत् का नित्य नियंत्रण करता है तब जगत् उसका रूप ही है यह सिद्ध होता है। यहां तत् का अर्थ ब्रह्ममय लेते नहीं बनता क्योंकि वैसा करने से आगे अमृतमय इस वचन को कोई अर्थात् ही नहीं रहता।

और एक है कि उसका जगत् व्यवहार का दूसरा कुछ हेतु नहीं हैं। यह उसका कार्य नहीं रूप है। यह बताने के लिए इतना पर्याप्त है। यह जगत् किस कारण, किस हेतु निर्माण किया इसका उत्तर यहां 'सहज बिना कोई हेतु' ऐसा दिया है। वह कार्य यदि रहता तो हेतु भी होता। जगत् को सत्य मानने वाले वैष्णवाचार्य भी यह उनका कार्य मानने के कारण परमेश्वर ने भक्त कल्याणार्थ विश्व निर्माण किया ऐसा बताते हैं। लेकिन यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि भक्त पहले थे और बाद में उनके कल्यार्थ जगत् का निर्माण किया, अथवा जगत् के निर्माण के बाद भक्त रक्षणार्थ उसका उपयोग किया। ऐसा प्रश्न निर्माण होता है। इससे यह बात सामने आती है कि जब वह जगत् का नियंत्रण करता है और वह भी बिना किसी हेतु सहज करता है तब यह उसका स्वरूप है और आत्मयोनी पद का अर्थ स्वरूप ही है यह निश्चित होता है। तब इस विश्व का तथा परमेश्वर का स्वरूपतः अभेद हैं यह इन दो वचनों से निःशंक मार्ग से सिद्ध होता है।

अब उपर्युक्त वचनों से ऐसी शंका उपस्थित होती है कि ईश्वर ने यह जगत् अगर 'हम बहुविध बने' इस कामना से निर्माण किया है - अर्थात् सकाम वृत्ति से निर्माण किया है, तब उसका नियंत्रण तथा पालनपोषण करने में उसका कोई अन्य हेतु नहीं है ऐसा अर्थ 'इशनाम अन्य हेतुः न विद्यते' इस वचन का अर्थ लगाना योग्य है क्या? स्वतः कामना से निर्माण किये जगत् का प्रतिपालन परमेश्वर पिता-पुत्र न्याय से दूसरा कोई भी हेतु न रखकर वह निर्हेतुक करता है यह कैसे सत्य मानें? तो उसका उत्तर,

'वैसे समझना ही उचित है' ऐसा है। क्योंकि उसी अध्याय के दूसरा वचना यही दर्शाता है।

विश्वकार्यका हेतू क्या? विश्वनिर्मितीका हेतू

न तस्य कार्य करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दुष्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।४०।।

इस वचन में श्रुति का कथन है। उसका कोई भी कार्य नहीं है अथवा किसी भी कार्य के प्रति उसकी वासना, कामना अथवा संकल्प भी नहीं हैं। वास्तव में उसके समान वही है। उससे अधिक श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं उसकी यह असिमित, अतर्क्य शक्ति जिसका वर्णन उसका ज्ञान, उसका बल उसकी क्रिया आदि विविध बातों से हम सुनते आये हैं। यह उसकी स्वाभाविक शक्ति है। यहां ईश्वर भाव परब्रह्म से गौण है ऐसा अद्वैतवादियों का खंडन है। तब इस वचन से यह जगत् निर्माण करने में उसका अन्य कोई हेतु नहीं है यह स्पष्ट होता हैं वैसे ही ज्ञान, बल, क्रिया यह उसकी स्वाभाविक शक्ति अर्थात् उसका स्वरूप है यही सिद्ध होता है। परंतु यहा ईश्वर कार्य न होकर ईश्वर की शक्ति का अर्थात् ईश्वर की सहज माया शक्ति द्वारा यह कार्य हुआ ऐसा लगने के कारण ईश्वर तथा ईश्वर की शक्ति में भेद है ऐसा लगना संभव है।

परंतु 'तत् समः च नच अभ्यदिक' इसी वचन की उक्ति के कारण उसके जैसा और उससे अधिक कुछ निराला ऐसा कोई दूसरा न होने के कारण ईश्वर की शक्ति तथा ईश्वर में भेद मानना गलत होगा।

विश्व रूप तथा ब्रह्म तथा उनकी शक्ति इनको अपने में समाहित कर रहने वाला परमेश्वर यह पूर्णपुरुष है-

द्वे अक्षरे ब्रह्म परे त्त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्रगूढे।
क्षरंत्वविद्याह्यमृतंतु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोन्य।।४१।।

इस वचन से भी स्पष्ट होता है कि -

''क्षर यह विद्या तथा अमृत भी विद्या'' लेकिन यह दो अक्षर जिनके पास हैं और जो इनका नियमन करता हैं वह इन दोनो से भिन्न (अर्थात् जिसको अक्षर भी नहीं कह सकते न क्षर) ''परब्रह्म पूर्णपुरुष अनंत तथा गूढ हैं।'' ऐसा इस वचन का अर्थ हैं।

संक्षेप में, उत्पत्ति, स्थिति, लय रूपी विश्व अविद्या तथा नित्य अखण्ड साक्षी ब्रह्मविद्या जिनके पास अपने अपने सामर्थ्य के साथ रहते हैं और जो इन दोनों का नियमन करता है वह एक पूर्णपुरुष ही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मात्र आत्मतत्त्व अथवा मात्र विश्वतत्त्व यह एकांगी पूर्ण ईश्वर भाव नहीं बन पाता। ''तत् समः न च

अभ्यधिकः''। इसके जैसा अथवा इससे कुछ निराला ऐसा कुछ भी नहीं। इस वचन में भी मात्र साक्षी ब्रह्म का बोध न होकर जगत् जिसमें समाया हुआ हैं - ऐसे पूर्णपुरुष का ही बोध होता है। अगर ऐसा न होता तो इससे जगत् कुछ और ही होता। 'द्वे अक्षरे' इससे भी जगत् तथा ब्रह्म यह दोनों अक्षर हैं ऐसा कहा गया। इसलिए दोनों का परस्पर स्वरूपतः अभेद सिद्ध होता है। अर्थात् पूर्ण का ही वेदों में प्रमुखतया उल्लेख मिलता है।

उद्गीतमेतततत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं
स्वप्रतिष्ठाऽक्षरं च ।।४२।।

इन श्रुति वचनों में भी सभी वेदों में जिसका विशेष उल्लेख मिलता है। उसकी (ब्रह्म की) त्रिविध नित्य अक्षर तथा स्वयंतिष्ठित रूप बताए गए हैं। अर्थात् एक विश्वरूप, दूसरा विष्णुरूप तथा तीसरा शिवरूप यहीं वह रूप हैं। इन सब से पुरित एक चौथा पूर्ण रूप है। उसी को वेद ने ब्रह्मणस्पती कहा है। इन तीन रूपों में कितना अंतर हैं? जमीन-आसमान का अंतर हैं क्या? ऐसी शंका आने श्रुति वचन हैं -

संयुक्तमेतत्क्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।।४३।।

अर्थात् विश्व उसके स्वरूप के अन्तर्गत आने के कारण विश्व का विस्तार यह पूर्णपुरुष जैसे है। तब इस विश्व में क्षर, अक्षर, व्यक्त, अव्यक्त यह सर्व वह ईश्वर दूध में जैसे घी वैसे संयुक्त रीति से धारण करता है, अर्थात् ईश्वर का पूर्णपुरुष में विश्वतत्त्व, आत्मतत्त्व (अर्थात् विश्व, विष्णु, शिवरूप) परस्पर एकजीव बन जाते हैं। परंतु विश्वरूप नित्य होने के कारण वह रूप मनुष्य के ध्यान में आता नहीं और ब्रह्मबुद्धि को अनाकलनीय होने के कारण उसे समझ में नहीं आता। दोनों तरफ से उसकी कुष्ठा होती है। फिर भी यदि उसमें से एकाध रूप समझ आने पर भी सही पूर्णरूप दूर ही रहता है। संक्षेप में परमेश्वर की यथार्थ पहचान होना कठिन होता है।

यह पहचान होनी चाहिए इसलिए बड़ी-बड़ी हस्तियों-आचार्यों ने साधन के तौर पर कोई ज्ञान, कोई उपासना, कोई विष्णुतत्त्व, कोई शिवतत्त्व ऐसे साधन बताये। लेकिन यह कहते समय वेदों ने मात्र ऐसे साधनों का पूर्णपुरुष के एक ही अंग का निषेध किया है इस बात को भूला दिया गया है। और इसलिए कुछ लोग 'सगुण' ईश्वर को पूजने लगे तो कुछ ईश्वर के 'निर्गुण' रूप को। इस प्रकार पूजा पद्धति एकांगी बन गयी।

वेदों में मात्र -

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाम् रताः।।४४।।

इस वचन से मात्र सगुण-साकार-क्षर अविद्या को ही पूजते हैं वे गूढ़ अंधकार में जा डूबते है। ऐसा स्पष्ट वचन है। परंतु ऐसा होता है इसलिए इन दोनों की उपासना करनी नहीं चाहिए ऐसा मात्र नहीं कहा गया है। तो इस हर उपासना का फल अलग-अलग है। ईश्वर के एकांगी रूप के है। ऐसा कहकर उनकी समन्वीत उपासना ही श्रुति में बतायी गयी है-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयें सह।
अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।४५।।

जो विद्या के साथ अविद्या की उपासना जानता है वह अविद्या द्वारा मृत्यु को लांघकर विद्या से अमृतत्त्व को प्राप्त करता है और उसी को ईश्वर का सही ज्ञान होता है।

ऐसा न करते हुए मात्र विद्या की ही उपासना-निर्गुण निराकार की उपासना की तो देह त्याग होने तक मात्र प्रारब्ध हताश होकर निर्भर होना पड़ेगा। यह निराशा दार्शनिक दोष त्रुटी ही होने के कारण जीवनपर्यंत (मृत्यु तक) अपना योगक्षेम, जीवनयापन उत्तम रीति से चलाने वाला सगुण विष्णु (अविद्या) की उपासना कर जीवन प्रभुत्त्व से जी कर बाद में अमृतत्त्व प्राप्त कराने वाली निर्गुण-निराकार अमृत विद्या जीवनयापन करते करते उसकी उपासना करना अधिक श्रेयस है। ऐसे में मृत्यु तक योगक्षेम उत्तम करने वाले तथा मृत्यु के बाद अमृतत्त्व की प्राप्ति करने वाले पूर्णपुरुष की विद्या सहित अविद्या द्वारा उपासना करनी चाहिए यही वेद कहते आये हैं।

मात्र विद्या तथा अमृतत्त्व का समर्थन करने वाले आ. शंकराचार्य जैमिनी के 'अथातो धर्म जिज्ञासा' का उल्लेख करते हैं, तो निश्रेयसार्थ 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' यही प्रतिपादन करते हैं। भगवद्गीता में स्वधर्म से लड़ने वाला ही पृथ्वी का राज्य अर्थात् अभ्युदय का उपभोग होगा और यदि मृत्यु प्राप्त हुई तो स्वर्ग, अर्थात् निःश्रेयस प्राप्त होगा। इस प्रकार के दोनों ही फल प्राप्त होंगे और वह भी एक स्वधर्म उपासना से प्राप्त करोगे ऐसे भगवान का कहना है। क्योंकि स्वधर्म में दोनों उपासना समाहित है। संक्षेत्र में मरने तक अभ्युदय की तथा मरने के बाद निःश्रेयस की आवश्यकता रहती हैं। अविद्या के साथ विद्या अर्थात् पूर्णपुरुष की उपासना करनी चाहिए ऐसा वेदों का कथन है।

यहां सामान्यतया समझने की बात है कि ईश्वर ने कामना के इच्छा से जगत् का निर्माण करने के कारण उसमें नित्य कामना तथा निष्काम कर्म को वैसे स्थान नहीं है। जीवन में हर काम सकाम ही करना पड़ता है। परंतु संकल्प युक्त जीवन जीते समय

हमारे जीवन को जो एक विशिष्ट उद्देश्य है उसको ठीक से समझना ही चाहिए। अन्यथा हमारा जीवन व्यर्थ है ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि इस जगत् का नियमन - पालनपोषण करने में ईश्वर का अन्य कोई हेतु नहीं है। (देखे - संपर्क खण्ड ३ सूत्र १) जीवन का हेतु ढूंढ़ने की अपेक्षा पहले मनुष्य अपना जीवन किस अन्तःप्रेरणा से जीना होगा - आज हम अपना जीवन किस अन्तःप्रेरणा से जी रहे हैं - इसका विचार करना, स्वधर्म का विचार करना अधिक श्रेयस है। संक्षेप में, संकल्प युक्त क्रिया होनी चाहिए, परंतु उसका विशिष्ट हेतु, विशिष्ट ध्येय नहीं रहना चाहिए। जीवन का यदि कोई ध्येय हो तो जीवन का भिन्न भिन्न कौन से विकास तथा उससे प्राप्त आनंद यह ध्येय रखना चाहिए। क्योंकि जीव व ईश्वर यह दोनों मूलतः विकासशील है। जगत् ईश्वर का कार्य न होकर स्वरूप होने के कारण हम भी एखाद कार्य कितना हुआ है यह देखने की अपेक्षा उस कार्य में हमारे निज (आत्मा तथा जीव) स्वरूप का कितना विकास हुआ यह देखना अधिक बोधप्रद होगा। वैसे भी यह जगत् ईश्वर ने अपने तप से निर्माण किया है। तब जिस समय कामना रहती है और वह पूर्ण करने के लिए दूसरा कोई साधन नहीं रहता है तब ऐसे समय पर 'तप' का अवलंब करना चाहिए (संपर्क : आधिदैविकः १३,१४) तप में 'आग्रह, निग्रह, सामर्थ्य, कार्यक्षमता और सतत उद्योग' यह बातें समायी रहती हैं। तब मनुष्य को चाहिए कि इन बातों को सिद्ध कर ईश्वर की कृपा मांगनी चाहिए। (परिचय, पृ. ६) ईश्वर ने भी अपने तप से ''एक से अनेक होने की'' यह इच्छा पूर्ण की है। इसलिए वह जगत् का सतत् निर्माण करता है। एखाध बात सतत करते रहने पर उसे सतत् उद्योग कहते हैं और इसी से तप बनता है। इसी से सामर्थ्य भी प्राप्त होता है। व्यवहार में भी एखाद बात सतत् करने से सामर्थ्य प्राप्त होता है, मान्यता प्राप्त होती है। इसे सतत करने के पीछे सकाम संकल्प चाहिए। परंतु अन्य कोई हेतु नहीं होना चाहिए। इसे सतत करने से जीव का नित्यत्त्व सिद्ध होता है तथा जीव का सामर्थ्य भी बढ़ता है। इसलिए उपासना भी सतत् नित्य करनी चाहिए। वासना तृप्त करने के लिए जीव शरीर के माध्यम से जो कर्म करता है, वह कर्म करने के लिए जो चित् शक्ति का उपयोग करता है वह शक्ति और जीव यह एकरूप होने के कारण, अलग न होने के कारण जीव का सामर्थ्य बढ़ते ही कार्य क्षमता भी बढ़ती है। इसलिए जीवन के प्रत्येक प्रश्न के लिए अलग उपासना नहीं बताई बल्कि एक ही उपासना संपूर्ण जीवन को सुखमय बना सकती है। इस प्रकार वेद के अविद्या से जीवन सुख से, मनोनुकूल जीते-जीते विद्या का अर्थात् अमृतत्त्व का और ब्रह्मतत्त्व का विचार तथा अध्ययन-स्वाध्याय चालू रखना चाहिए। इस प्रकार अविद्या के साथ विद्या की उपासना करने से ही पूर्णत्त्व की अर्थात् पूर्णपुरुष की उपासना होती है। यही वेद कहते आये है। इसी से

अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। इस प्रकार पूर्णपुरुष को जो जानता है वह अंतिम मुक्ति प्राप्त करता है।

पूर्णपुरुष की व्यापकता

विद्या-अविद्या की उपासना के साथ पूर्णपुरुष की उपासना की जाती है। यह हमने अब तक देखा। परंतु क्षर यह अविद्या तथा अमृतत्त्व विद्या है। ऐसी विद्या अविद्या की परिभाषा दी जाती है। इस पर विवाद हो सकता है। इसलिए इसी ईशावास्य उपनिषद् में विद्या तथा अविद्या इन शब्दों के अतिरिक्त 'असंभूति तथा संभूति' इन दो शब्दों का प्रयोग कर पुनः इस सिद्धान्त को इस प्रकार रखा -

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याम् रताः ।।४६।।

इस वचन में यही सिद्धान्त है। तब जिस प्रकार पूर्णपुरुष की उपासना भी समन्वित (विद्या तथा अविद्या के साथ) करने पर वेदों का बल है। उसी प्रकार से पूर्णपुरुष के साथ विश्व तथा परब्रह्म में स्वरूपतः अभेद है। यह सिद्ध है। नहीं तो जीते जी विश्व में अभ्यूदय होना, जीवन सुखमय जीना इसके लिए पूर्णपुरुष की उपासना का मंत्र देना कैसे संभव है? पूर्णपुरुष यदि मात्र 'परब्रह्म' 'महाशून्यरूप' होता तब वह मृगमरिचिका रूपी भ्रम तथा विपरीत विचार के विश्व में साधक का अभ्युदय कैसे संभव है? कठोपनिषद् में पूर्णपुरुष ॐकार की उपासना कर आपको इच्छित ऊपर अथवा पर का लाभ होता है ऐसा स्पष्ट उल्लेख है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यच्छिति तस्य तत्।।४७।।

इस वचन में श्रुति का कहना है, यह ब्रह्म (अपर) अक्षर ही है, वैसे ही यह 'पर' अर्थात् परब्रह्म भी अक्षर ही है, परंतु तीसरी बार फिर यह अक्षर आया है। उसका अर्थ इन दोनों का संमिलन जहां होता है वह पूर्णपुरुष भी अक्षर ही है। ऐसा जानने वाला जिस इच्छा से वह रहता है वह उसे प्राप्त होता है। उपर्युक्त तीसरी बार अक्षर ऐसा जो उल्लेख आता है उसे ॐकार ही कहते है। इसका अर्थ ॐकार ऐसा ही करते है। तब ॐकार के इस तीसरे अक्षर को जानकर यदि पर तथा अपर की प्राप्ति हो सकती है तब वह ॐकार विश्वरूप तथा आत्मरूप का जिनमें संमिलन होता है ऐसा पूर्णपुरुष परमेश्वर ही हो सकता है यह निश्चित है। ॐकार कहे या पूर्णपुरुष कहे क्या, उसमें विश्व रूप तथा परब्रह्म का संमिलन है यह निश्चित। अगर ऐसा न होता तो सत् ब्रह्म की उपासना से अर्थात् मात्र ब्रह्मरूप ॐकार की उपासना से मिथ्या जगत् की मिथ्या बातों की ही अपरा

की प्राप्ति होती है ऐसा कहना पड़ेगा और ऐसा कहना शास्त्र संमत नहीं है। ऐसे में परापरा का ॐकार के साथ स्वरूपतः अभेद सिद्ध होता है।

इस प्रकरण से-

एतदालंबनं श्रेष्ठमेतदालंबनं परम्।
एतदालंबनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।४८।।

इस वचन में भी श्रेष्ठ अपर (क्षरं प्रधानम्) तथा पर इन दोनों का आश्रय स्थान आलंबन दोनों को बल देता है, इसलिए यह पूर्ण आलंबन अथवा पूर्ण का आलंबन आश्रय स्थान है यह सिद्ध है। यहां पर भी एक आलंबन के कारण पर तथा अपर का पूर्ण से अभेद ही दिखाया है। जब कि सत्य तथा मिथ्या इन दोनों का आलंबन आश्रय स्थान होना संभव नहीं लगता है। कैसे ही कार्य तथा कारण का भी एक ही आलंबन असंभव है। उस अर्थ में इन दोनों का स्वरूपतः पूर्ण से अभेद मानना ही पड़ता है, ऐसा मानने पर, पर तथा अपर यह भाव ही सही अर्थों में शेष रहता ही नहीं।

इस प्रकार कठोपनिषद् में पूर्णपुरुष यह ब्रह्म तथा परब्रह्म से भी श्रेष्ठ परब्रह्म के परे, इस अर्थ का एक स्पष्ट वचन है उसे देखेंगे -

इंद्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।।४९।।
अव्यक्तातु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च।
यं ज्ञात्त्वा मुच्यते जंतुरमृतत्त्वं च गच्छति।।५०।।

इसका अर्थ है इंद्रिय से श्रेष्ठ मन है, मन से बुद्धि बड़ी, बुद्धि से भी महान आत्मा, आत्मा से अव्यक्त श्रेष्ठ अर्थात् तुरीय ब्रह्म श्रेष्ठ ऐसा अव्यक्त के संबंध में स्पष्ट विश्लेषण कर श्रुति आगे के ५० वें वचन में कहती हैं, अव्यक्त से अर्थात् परब्रह्म से पर ऐसा पुरुष यह अधिक व्याप्त तथा अलिंग ही है। यहां पीछे ४३ में जैसा कहा गया कि अव्यक्त का अर्थ परब्रह्म के सिवाय साक्षी विरहित दूसरा कोई अर्थ संभव ही नहीं बनता है और आगे के ५० वें वचन में जैसे कहा गया है - तत्काल अव्यक्त से श्रेष्ठ पर ऐसे पुरुष का वर्णन आने के कारण यह वर्णन पूर्णपुरुष का है यह सिद्ध हुआ। इससे श्रुति का ऐसा स्पष्ट मत है कि, परब्रह्म में पूर्णत्त्व (अर्थात् पूर्ण सत्य) सत्य का सत्य, न होकर पर तथा अपर का स्वरूपतः जहां अभेद सिद्ध होता हैं ऐसा व्यापक तथा अलिंग पूर्णपुरुष यही एक पूर्ण है। कुछ अद्वैताभिमानी पंडित ५० का 'व्यापक अलिंग एवच' का एवच पर बल देकर, एव ने परब्रह्मत का इवने अपरा के श्रुति निर्देशन करने के कारण यहां व्यापक अलिंग परब्रह्म सर्वश्रेष्ठ सत्य है ऐसा कहा गया है लेकिन वह

बराबर नहीं है। लेकिन यदि ऐसा है तो श्रुति अव्यक्त को असत्, अव्यवहार्य कहती है उसका क्या?

मांडुक्य उपनिषद् में,

पुरुष एवेदम् विश्वम् कर्मं तपोब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितम् गुहायाम् सोऽविद्याग्रंथिम्
विकरतीह सोम्य।।५१।।

इस वचन में पूर्णपुरुष ही यह विश्व है। कर्म, तप, ब्रह्म, परामृत आदि यह ही है। प्राणी मात्र के हृदय में रहने वाले को जो पहचानता, वह इस लोक में अविद्या ग्रंथि को नष्ट करता है ऐसा शौनक से कहा गया है। इससे पुरुष अर्थात् पूर्णपुरुष, यही सब कुछ है ऐसा श्रुति का स्पष्ट रुख दिखाई देता।

यह सब स्पष्ट होने वाला अर्थ अलग रख कर कल्पतरूकार तथा केवलाद्वैती इस वचन पर अपने भाष्य में जो अर्थ करते हैं वही सत्य तथा अंतिम मानना क्या ऐसा प्रश्न है। ॐ इति ब्रह्म ॐ इति सर्व का अर्थ केवल ॐकार का गौरव ही मानना क्या? ॐकार में क्षर तथा अक्षर यह दोनों होते हुए उसका अर्थ मात्र परब्रह्म ही करना क्या? शंकराचार्य जी ने अनेक बार अपने भाष्य में पूर्णपुरुष के संबंध में आये हुए वचनों का अर्थ परब्रह्म लगाया है यह देखा गया है। उस समय की मांग थी यह मानने पर भी श्रुति को भी वही अर्थ अपेक्षित है ऐसा कतिपय सिद्ध नहीं होता। क्योंकि श्रुति ने पूर्ण की यथार्थ कल्पना देने के लिए उसके दोनों रूपों का आगे अलग अलग नाम देकर स्पष्ट तौर पर उल्लेख किया है। अक्षर, अव्यक्त, तुरीय ब्रह्म को शिव, हर, शंकर, कहा गया है तो क्षर, व्यक्त, विश्व, जगत् को प्रधान श्रेष्ठ, विष्णु, विराट आदि नाम दिये हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि परब्रह्म से भी पूर्णपुरुष श्रेष्ठ, व्यापक तथा अलिंग है।

श्रुति ने अक्षर, पर, अव्यक्त, ऐसे तुरीय ब्रह्म को शिवलरूप, तो व्यक्त, अपर, विश्व तथा जगत् तत्त्व को प्रधान, श्रेष्ठ तथा विष्णु, विराट ऐसे भिन्न भिन्न नाम से संबोधित इन हर एक संप्रदाय के आचार्यों ने शांकर, शिवाद्वैती अथवा वैष्णव आदि अपने संप्रदाय को भिन्न भिन्न नाम दिये हैं तथा उनका वर्णन श्रुति से प्रामाणिक रहकर ही किया है। रामानुज, मध्व, वल्लभ आदि वैष्णवाचार्य, शंकराचार्य (इ.स. ७००-८००) इन पश्चात (इ.स. ८००, ९००, १०००) होने पर भी सूत्रभाष्य से वैष्णव मत का उल्लेख शंकराचार्य द्वारा किया गया है। इससे उन्हें वैष्णवमत ज्ञात था यह स्पष्ट है। इतना ही नहीं तो उन्होंने वैष्णव मत के दोष बता कर खंडन भी किया है। इन कारणों से वैष्णवाचार्यों ने आचार्य पर तीखी टिप्पणी भी की हैं।

लेकिन जिसे, ''इन दोनों का जिससे स्वरूपतः अभेद है'' उस पूर्णपुरुष को पहचान हुई हैं उसे इन दोनों में से (शंकराचार्य तथा वैष्णवाचार्य) किसी को भी गलत कहने नहीं आता क्योंकि विष्णु का वर्णन किया क्या और शिव का वर्णन किया क्या वह वर्णन पूर्ण का ही होगा उसे अर्धसत्य भी नहीं कहा जाएगा क्योंकि इन दोनों का स्वरूपतः परस्पर अभेद है तथा वह पूर्ण के ही रूप हैं, इसलिए श्रुति भी ''पूर्णमदः पूर्णमिदम्'' कहकर यह शिव का वर्णन भी पूर्ण है तथा शिव का वर्णन भी पूर्ण है ऐसा ही कथन है। फिर भी वह वर्णन तथा यह गति एकांगी लगती है।

पूर्णपुरुष वर्णन

प्रश्नोपनिषद् के पांचवे अध्याय के दूसरे प्रश्न में श्रुति का कथन है –

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।
तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति।।५२।।

हे सत्यकाम, यह ओंकार जो है वही निश्चय ही परब्रह्म तथा अपरब्रह्म भी हैं। इसलिए इसकी उपासना से परब्रह्म (शिवतत्त्व) अथवा अपरब्रह्म (विष्णुतत्त्व) इन से जो चाहिए उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इसके अगले वचन में एक मात्रा से अर्थात् 'अ' मात्रा से युक्त ओंकार का जो ध्यान करता है उसे ऋग्वेद साधक बनता है। ऋग्वेद की ऋचा मनुष्य शरीर प्राप्त करा के उसे पृथ्वी का ऐश्वर्य प्रदान करती है। ऐसा कहकर अगले वचन में जो दो मात्रा से युक्त ओंकार का ध्यान करता है उसे यजुर्वेद का मंत्र पृथ्वी तथा अंतरिक्ष (चंद्र) लोक तक पहुंचा देते हैं। अर्थात् स्वर्ग तक पहुंचा देते हैं। उसके बाद तीनों मात्रायुक्त पूर्ण ओंकार की जो उपासना करता है उस पर श्रुति का कथन है –

यः पुनरेतम् त्रिमात्रेणोमित्यतेनैवाक्षरेण परं पुरुषभिध्यायीत
स तेजसि सूर्ये संपन्न।
यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स
सामभिरुन्नीयते ब्रह्मालोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं
पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोको भवतः।।५३।।

अर्थात् जो उपासक ओंकार की तीन मात्रा के ज्ञान से पूर्ण ओंकार रूप पूर्णपुरुष की उपासना करता है, तो सूर्य के तेज जैसे तेजस्वीं बनता है। जिस प्रकार पादोदर अर्थात् सांप उसके शरीर से मुक्त होता है, अर्थात् केंचुए को छोड़कर पुनः नयी त्वचा युक्त बनता है वैसे उपासक सभी पापों से मुक्त होकर, सामवेद मंत्र से ब्रह्मलोक में पहुंचाया जाता है। वहां वह जीवन समुदाय रूप चैतन्य तत्त्व से भी अत्यंत श्रेष्ठ, अपरा

से भी श्रेष्ठ परब्रह्म, उससे भी श्रेष्ठ पर ऐसे पुरुष संज्ञक पूर्णपुरुष को प्रत्यक्ष देखता है। इस पूर्णपुरुष की स्तुति श्रुति मुक्तकंठ से गाती है। उपर्युक्त वर्णन की सापेक्षता में देखे तो, ''सोध्वनः पारमाप्नोतिद्विषणेः परमंपदम्।'' ''अक्षरामृतम शिवं अद्वैतम'' यह वर्णन एकांगी लगता है। ऐसे में पूर्णपुरुष को जानकर ही पूर्णत्त्व की प्राप्ति संभव है यह स्पष्ट है।

ऋग्वेद के मंत्र ४ सूक्त ४० में पूर्णपुरुष का तथा सत्य का वर्णन -

हंसः शुचिषद्वसुरंतरिक्षसद्धोतावेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऋतजा अद्रिजा ऋतंबृहत्।।५४।।

इस प्रकार है - उसका अर्थ - वह हंस अर्थात् गमन करने वाला, शुचिषा अर्थात् आकाशगामी, वसु अर्थात् सबको स्थापित करने वाला, अंतरीक्षसद् अर्थात् वायु रूप से अन्तरिक्ष में गमन करने वाला, होता अर्थात् अग्नी रूप, वेदिषत अर्थात् पृथ्वी में जाने वाला, अतिथिदुरोणसद् अर्थात् सोम लेकर फलरूप को प्राप्त करने वाला, वरसद् अर्थात् देवों में जाने वाला, ऋतसत अर्थात् सत्य में जाने वाला, व्योमसद् अर्थात् ब्रह्म जाने वाला, अब्जा अर्थात् जल में होने वाला, गोजा अर्थात् पृथ्वी में होने वाला, ऋतजा अर्थात् यज्ञरूप होने वाला, अद्रिजा अर्थात् पर्वत होने वाला, ऐसा ऋत (सत्यस्वभावरूप) महान (बृहत) है।

इस प्रकार उपर्युक्त मंत्र द्वारा जो पूर्णपुरुष के वर्णन का अर्थवाद कह कर त्याग किया तथा एक अखण्ड परब्रह्म किया तो बात अलग। परंतु मंत्र से जाने वाला, होने वाला एखाद कारण रूप तो दूसरी बार कार्यरूप ऐसे विविध रूपों का पठन देख कर इस मंत्र का मूल हेतु विविधता में एकता दर्शाना है। यह स्पषट होता है। परब्रह्म को होना-जाना नहीं यह मान्य है लेकिन यह बातें अपर ब्रह्म के साथ हम नित्य अनुभव लेते। वैसे ही विश्व सत्य है ऐसा प्रतिपादन करने वाले अनेक श्रुतिवचन ही हमने देखे। तब उपर्युक्त मंत्र यह उनमें परब्रह्म तथा अपरब्रह्म दोनो समाये हुए हैं। ऐसे पूर्णपुरुष के रूप का वर्णन करने वाला है यह सत्य है।

एक संख्या में दो नहीं समायी जाती (परब्रह्म तथा अपरब्रह्म) परंतु पूर्ण में दो ही क्या अनेक संख्या समायी जा सकती हैं। इसलिए विविधता (नानात्त्व) यह एक पूर्ण में ही समायी जा सकती है। वह एक ही हैं उसके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं, इस दृष्टि से अद्वैत कहना योग्य नहीं। परंतु जो एक है वह एक का (एक इस अंक के) निर्देशक न होकर एक पूर्ण का निर्देशक है, इसकी ओर ध्यान नहीं गया।

एक संख्या में द्वैत का निषेध संभव है, एक अधिक दो कभी भी संभव नहीं, और

दो को यदि एक के साथ रहना है तो अपने एक को कम करना होगा और यहीं काम केवलाद्वैती शंकराचार्य ने किया। विश्वतत्त्व (अपरब्रह्म) तथा आत्मतत्त्व (परब्रह्म) इन दोनों का हर किसी को अनुभव रहने के कारण विश्वतत्त्व को कम कर आत्मतत्त्व अथवा ब्रह्मतत्त्व यह एक ब्रह्म ही एकत्त्व में बिराजमान है ऐसा प्रतिपादन किया। वैसे ही अनेकत्त्व गये बिना एकत्त्व संभव नहीं बनता। इसलिए नामरूप के अनेकत्त्व का एक ब्रह्म में विलय होना भी असंभव हैं यह भी स्वाभाविक है, और उतने लिए नामरूप का त्याग करना चाहिए ऐसा बताया गया है। विश्व तत्त्व को कम करने के कारण संसार छोड़कर संन्यास लिए बिना ब्रह्म में विलीन होना संभव नहीं बनता, यह भी बताना आवश्यक बना और यह सब एक ब्रह्म की अनुभूति के लिए आवश्यक था और है भी।

परंतु एक पूर्ण में, पूर्णपुरुष में विलीन होने के कारण यह सब करने की आवश्यकता पड़ती ही नहीं। पूर्ण में दो, तीन और चाहे जो संख्या तथा अनेकत्त्व को मिलाया जा सकता है और फिर भी पूर्ण, पूर्ण ही रहता है। और इसलिए उपर्युक्त मंत्र का अनेकत्त्व जिस एकत्त्व में प्रतिपादित किया गया है वह एकत्त्व पूर्ण का एकत्त्व है। पूर्णपुरुष के स्वरूप का ही वर्णन है यह निश्चित ही है। तब यह मंत्र असल में पूर्णपुरुष के वर्णन का ही है। उसके प्रत्येक को सत्ता है। वह ब्रह्म का मात्र लिंगरूप नहीं यह निश्चित।

संक्षेप में, अपर तथा पर अर्थात् विश्व जगत्, विष्णु, विराट, तथा तुरीय शिव परब्रह्म। यह दोनों अक्षर तथा सत्य है यह श्रुति का कहना है। परंतु इन दोनों में जो वैचित्र्य अथवा निरालापन श्रुति वर्णन करती उतना वैचित्र्य तथा निरालापन मनुष्य के स्वभाव में तथा अनुभूति में नहीं होता यह भी सत्य है। एक परब्रह्म की अपरोक्षानुभूति से अपर ब्रह्म अथवा विश्व को छोड़ना पड़ता है और छूटता भी है। विश्व यदि सत्य न होता तो छोड़ो कहने पर भी नहीं छूटता। जब ब्रह्मानुभूति से वह छूटता है तब वह सत्य न होकर कुछ और ही है अर्थात् मिथ्या ही हो सकता है यह शंकराचार्य का तर्क तथा युक्तिवाद सामान्य विद्वान को स्वीकार हो ऐसा ही है। परंतु यहां विश्व छूट जाता है लेकिन कितना यह प्रश्न चिन्ह ही है। वह संपूर्ण छूट जाता तो उनका साधक शरीर नष्ट होना चाहिए था। परंतु वह नष्ट तो होता ही नहीं, परंतु साधक फिर से देह में आने पर उसे विश्व जैसा है वैसे ही दिखाई देता है यही सत्य है। निर्विकल्प सहज समाधि में मन के साथ शरीर का भी पंचतत्त्व में मिलना होता हैं। वह पंचतत्त्व में बिखर जाता है। यह यदि सत्य भी है तो पंचतत्त्व अर्थात् विश्व रहता ही है और पुनः इस पंचतत्त्व से यह शरीर एकत्र आकर साधक पूर्वस्थिति में आता है, यह भी सत्य है। परब्रह्म की अनुभूति लेने वाला भी शरीरस्थ साक्षी भी इस अनुभूति में शेष रहता ही है। वह भी ब्रह्म है ऐसा उस पर ब्रह्म का आरोप होता भी है तो आरोपित सत्य यह वास्तव सत्य नहीं होता। यह

विद्वान जानते हैं। तब ब्रह्मानुभूति में विश्व छूटता है इसलिए वह मिथ्या ऐसा यदि शुरुवात में लग भी रहा तो भी कुछ कालखण्ड के बाद अभ्यास के बाद भी वह पूरा छूटता ही नहीं यह मनुष्य की समझ में आया है। उल्टे संसारी व्यवहार दक्ष लोगों में यह परब्रह्म छुटा हुआ दिखता है। मानव में एक जड़ मस्तिष्क के सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है। यह दिखने वाला विश्व इतना ही सत्य है तथा जीव-ब्रह्म-आत्मा-ईश्वर यह सब कल्पना का विस्तार है ऐसा मानने तक विद्वानजनों की आलोचना हुई। ऐसे में अपरब्रह्म अथवा परब्रह्म इनमें से एक की अनुभूति में दूसरा छूटता है। इसलिए वह मिथ्या है इस तर्क में कोई तुक नहीं है।

यद्यपि परब्रह्म की अनुभूति ज्ञान से ही होती है। 'ज्ञानाद् एव तू कैवल्यम' ऐसा कहा है, वह सत्य है। ज्ञान तथा कर्म को मर्यादा है यह स्पष्ट है। जीवन में ज्ञान-कर्म तथा भक्ति इन तीनों की आवश्यकता होते हुए मात्र एक ज्ञान से, जिसे मर्यादा है यह स्पष्ट है और इस ज्ञान से आने वाली अनुभूति भी उतनी मर्यादा में है। तब ज्ञान, कर्म, भक्ति इनमें से एक एक साधन से जहां काम चलता है, वहां बहुत हुआ तो लोक मर्यादार्थ दूसरे दोनों को गौण स्थान दिया जाता है। ऐसी अनुभूति अथवा प्राप्ति यह एकांगी पद्धति की है, ज्ञान, कर्म, उपासना इन के समन्वय से जो प्राप्त होता है उससे वह निचले स्तर की हो सकती है यह भी स्पष्ट है। इसलिए श्रुति विद्या तथा अविद्या के समन्वय से जिसकी उपासना कहती है वह पूर्णपुरुष ही है, अपर ब्रह्म अथवा परब्रह्म इस से श्रेष्ठ तथा महान होगा यह भी निश्चित हैं।

यहां परब्रह्म + परब्रह्म अर्थात् पूर्णपुरुष ऐसा लगने की संभावना है। लेकिन ऐसा नहीं है। पूर्णपुरुष में जड़चेतन का अथवा अपर-पर का अथवा Mind और Matter का एक प्रकार से समन्वय श्रुति ने किया है ऐसा लगना संभव है । परंतु पूर्णपुरुष में इन दो सत्यों का केवल सह अस्तित्त्व वा समन्वय न होकर भी दोनों जिसके रूप हैं, इन दोनों को व्याप्त कर जो अनंतरूप से तथा एकत्त्व से दशांगुल शेष है वह पूर्णपुरुष ही है यह समझना आवश्यक है। विश्वानुभूति अथवा ब्रह्मानुभूति यदि प्राप्त भी होती है तो भी इस विश्व में ईश्वरी सत्ता का प्रश्न सही अर्थ में किसी भी अनुभूति से हल नहीं होता। उसका सम्यक जैसे केवलाद्वैती ब्रह्मवादी जैसे दे नहीं सकते, वैसे ही जड़वादी, भौतिकवादी भी प्रकृति के परे दे नहीं सकते। उसके सम्यक उत्तर के लिए पूर्णपुरुष की अनुभूति आवश्यक है। ज्ञान, कर्म, उपासना आदि को भी मर्यादा है तो भी उनके समन्वित उपयोग से प्राप्त होने वाली अनुभूति पूर्णत्त्व की अनुभूति होती है। और वह मर्यादित नहीं होती। वह अनंत है इसलिए वह शक्तिमान भी है। उदाहरण मैंने जो कहा अथवा इस ग्रंथ में जो है उससे जब आपको अधिक समझता है तब प्रश्न आता है कि यह कहां

से आया? वैसे ही एक बीज बोने के बाद उसके पांच गुना अथवा दस गुना फल के रूप में मिलने की बजाय वह अनंतगुना आपको प्राप्त होता है वह भी कैसे और कहां से? यह भी तो एक प्रश्न ही है। वैसे ही एक प्रकार के एक उद्देश्य के लिए प्रयोग करते समय कोई दूसरा ही शोध हाथ लगता है। यह भी कैसे? यह भी तो प्रश्न ही है। तब यह सब उस पूर्णत्त्व के अनंत रूप से होता होगा। यह समझ में आने के लिए पूर्णपुरुष की अनुभूति आवश्यक है। इसलिए यहां से नया अध्याय पूर्णत्त्व का अनुभूति शुरू हुआ है।

पूर्णपुरुष की अनुभूति (ज्ञान से)

अब पूर्णपुरुष के वर्णन का अध्याय यहां समाप्त होता है - (३९ वचन से) और पूर्णपुरुष के अनुभूति का विषय शुरू होता है। यह विश्व ईश्वर ने सकाम कामना से निर्माण किया है। इसलिए मनुष्य की हर कृति सकामना से फल की आशा से ही होती है। मुझे ब्रह्मानुभूति आनी चाहिए इस दृष्टि से प्रयत्न करने वाले साधक 'ब्रह्मानुभूति' इस फल की ही कामना करते है। मेरे हाथ से निरपेक्ष कर्म होना चाहिए, यह भी तो एक प्रकार की फलाशा नहीं है। क्या? संक्षेप में, प्रत्येक व्यक्ति फलाशा से ही कर्म करता है यह निश्चित। हम भी पूर्णपुरुष की अनुभूति की फलाशा से ही यह अध्ययन कर रहे हैं।

ऐसा होने के कारण कोई विशिष्ट फल प्राप्त होने के लिए कौन सा कर्म आवश्यक है? ऐसा प्रश्न सहज ही मन में आता है। इसे हल करने के लिए ज्ञान की, शिक्षा की आवश्यकता रहती है। शिक्षा तथा ज्ञान से किस फल के लिए क्या कर्म करना है यह संस्कार मन पर किया जाता है। कर्म की शिक्षा भी प्रशिक्षण (Workshop) द्वारा दी जाती है। इसे ही संस्कृति - अर्थात् संस्कार की रीति तथा अनुकृति - ऐसा कहा जाता है।

इस शिक्षा तथा संस्कृति ने तथा ज्ञान से एक अभावित ऐसे कार्यकारण संबंध की संभावना मानवीय मन में संस्कारीत की जाती है जिस कारण ऐसा करने पर ऐसा होता है इसका ज्ञान तथा विश्वास मनुष्य के मन में जागृत रहता है। सुखशील व्यक्ति को प्रयत्नवादी, समाजोन्मुख बनाने के लिए यह आवश्यक है।

सृष्टि के जीवन में जैसे बीज फल न्याय तथा भौतिक न्याय रहता है, वैसे ही वह मानवीय कर्म सिद्धान्त को भी चरितार्थ होता है। ऐसा मानकर ही प्रचलित शिक्षा मनुष्य को दी जाती है, तथा इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था आवश्यक भी है।

लेकिन इस ज्ञान के बल पर जब मनुष्य जीवन जीने का प्रयत्न करता है, समाज में व्यवहार करता है, तब प्रत्यक्ष में मात्र कर्म तथा फल में कोई संतुलन उसे दिखाई नहीं

देता न कोई निश्चिती रहती है। तब उसे लगता है कर्म किये बिना तो कुछ भी मिलता नहीं है लेकिन कर्म करने पर कुछ फल मिलेगा ही ऐसा भी कोई अनुभव उसे नहीं आता। कभी थोड़ा कुछ करने पर बहुत और तुरंत फल मिलता है तो कभी सुयोग्य प्रयत्न करने पर भी जरा भी फल नहीं मिलता। ऐसे में कर्म और उसका फल इसमें कोई तालमेल नहीं दिखाई देता। नित्य ही ऐसा अनुभव आने लगता हैं। इस अनियमितता तथा अनिश्चिती की शुरूवात बहुधा उसे सिखाई गयी नीति-नियमों के फल से शुरु होती हैं। समाज में सुख तथा प्रभुता से व्यवहार करते बनना चाहिए इसलिए उसे नीतिमूल्य सिखाये जाते है। लेकिन मानव प्रणाली तथा काल सापेक्षता में ये मूल्य बदलते रहते हैं परंतु वह ईश्वर तथा प्रकृति के नियमानुसार है ऐसा जो संस्कार उस पर होता है उसे सबसे पहले धक्का बैठता है।

मनुष्य ने जो नीति नियम निर्धारित किये हैं वही बात नियति के नियमों तथा ईश्वरी नियमों से मेल नहीं खाती इसका उसे अनुभव आने लगता है। इसके बाद आने वाले नित्य के अनुभवों से उसे यह समझ में आता है कि फल मात्र ज्ञान तथा कर्म पर निर्भर नहीं है और कुछ बातों पर निर्भर है। फल निर्धारित करने वाले तत्त्व (Parametres में) ज्ञान तथा कर्म यह महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद स्मरण, तप से निर्माण किया हुआ बल, ईश्वर कृपा, समय ऐसी अनेक बातें उससे संबंधित हैं यह उसके समझ में आता है। ज्ञान से कैवल्य प्राप्त होता है (ज्ञानात एव तु कैवल्यम्) अर्थात् ज्ञान से कुछ एक कर्म करने से विशिष्ट फल प्राप्त होता है यह भले ही निश्चित किया हुआ हो लेकिन प्रत्यक्षतया अनुभव में उस प्रकार फल नहीं मिलता।

यह जीवन का यथार्थ जब तक मनुष्य की समझ में नहीं आता तब तक फल निष्पत्ति संबंध में सत्य जानने के लिए सत्य शोधनार्थ लगने वाले योग्य प्रयत्न तथा तप को प्रवृत्त नहीं होता। जीवन के इस यथार्थ के कारण ज्ञान तथा सयानेपन में फर्क पड़ता है। बुद्धिमान शिष्य के लिए भले ही ज्ञान देने में समर्थ हो लेकिन उस ज्ञान की वास्तविकता (सत्यता नहीं, सत्य सत्य ही होता है) जिन्होंने अनुभव की ऐसे गुरू के सान्निध्य की, मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। गुरू के मार्गदर्शन से ही उसे सही ज्ञान तथा अनुभूति प्राप्त हो सकती है। शिष्य ज्ञानी हो तो गुरू ज्ञान अधिक अनुभूतिपूर्ण रहता है, अथवा होना चाहिए।

संक्षेप में, जिसे फल की इच्छा है वह ज्ञान, कर्म तथा फल के संबंध में वास्तव जानकर उसके संबंध में सत्यशोधार्थ लगने वाले प्रयास तथा तप को प्रवृत्त होना जरुरी बनता है, और यह होने के बाद ही वह पूर्णपुरुष की अनुभूति को पात्र बनता है। अथवा साधक बनने की योग्यता (Eligibility) प्राप्त कर सकता है।

पूर्णपुरुष की अनुभूति की (पूर्णतव की) इच्छा रखने वाले साधक को पहले कर्म तथा उसके फल के संबंध में होने वाली अनियमितता तथा अनिश्चितता को जानना जरूरी है। वैसे ही इस संबंध में सत्यान्वेषण के लिए तप करने को उद्युक्त होना भी आवश्यक है। कर्मफल ईश्वर का कार्यक्षेत्र और उसके अधिकार की बात हैं। ईश्वर कर्तुं अकर्तुम अन्यथा कर्तुंम स्वरूप का है। यह प्रथम जानना चाहिए। कर्तुंम अर्थात्, वह साधक की इच्छानुसार करने वाला, अकर्तुम अर्थात् इच्छा के विपरीत करने वाला तथा अन्यथा कर्तुंम अर्थात् कोई एखाद तीसरा ही करने वाला ऐसा है। यह जानकर तप को प्रवृत्त होना अच्छा है। इस तप के लिए सबसे पहले आसन सिद्ध करना, आसन होना जरूरी है। तब आसन का विषय प्रथम साधक को जानना जरूरी है तथा उसके हित में है। वैसे ही तप अर्थात् आग्रह, निग्रह, सामर्थ्य, कार्यक्षमता तथा सततोद्योग। इन पांच अंगों से करने का अनुष्ठान है। यह जानना जरुरी है। संक्षेप में आसन, तथा तप की संपूर्ण जानकारी लेकर ही साधक को पूर्णपुरुष की अनुभूति के विषय की ओर जाना अच्छा है। आसन तथा तप की जानकारी हमने ली है। उसका मनन कर आगे बढ़ना जरूरी है।

इतना होने पर साधक के लिए बाधक बातों की जानकारी लेकर उसे त्यागने का प्रयास करना चाहिए। किसी भी साधक के लिए कुछ बातें बाधक रहती है और उसका त्याग किये बिना साधना पूर्ण नहीं होती। पूर्णपुरुष की अनुभूति के संदर्भ में जो बातें बाधक है वह है - १. असंभावना, २. निष्कामता, ३. अनित्यता। तब ज्ञान से असंभावना को निकालने का प्रयास करना चाहिए। हमें पूर्णपुरुष की अनुभूति संभव है, निश्चित होगी यह भाव मन में रखना चाहिए। पूर्णपुरुष है यह निश्चित है तथा उसकी अनुभूति भी हमें हो सकती है तथा तप से वह साध्य होगी, इस प्रकार की श्रद्धा मन में रखना। हमारा तप सकाम है, पूर्णपुरुष के अनुभूति की हमें आकांक्षा है, उसके ही हेतु यह तप है यह कभी भूलना नहीं चाहिए। इसका आग्रह हमारा तप निष्काम नहीं, वह सकाम है इसे नित्य स्मरण रखना हैं। ईश्वर अथवा पूर्णपुरुष नित्य है और इसलिए भी उपासना भी नित्य होनी चाहिए। संक्षेप में, असंभावना ज्ञान से (आध्यात्मिक पक्ष से), निष्कामता कर्म से (आधिभौतिक से), तथा अनित्यता उपासना से (आधिदैविक से) नष्ट करनी चाहिए। असंभावना, निष्कामता, तथा अनित्यता का त्याग करना चाहिए। इतना होने पर पूर्णपुरुष की अनुभूति के लिए आगे के विषयों का तथा उसके रूप का चिंतन करना चाहिए तथा अनुभूति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्र तदूब्रह्म तदेवोमृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन एतद्वैतत्।।

कठोपनिषद् के दूसरे अध्याय में बीसवें वल्ली में यमराज नचिकेता से कहते हैं, ''तुम जिसके बारे में प्रश्न कर रहे हो वह परमात्मा अथवा ब्रह्म जिसकी जड़े ऊपर और टहनियाँ नीचे - अधोमुख है ऐसा'' विशाल जैसा कि अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष है ऐसे समझो। उसी को शुद्ध ब्रह्म अथवा अमृत कहते हैं। सब लोक अर्थात् चंद्रलोक, सूर्यलोक, ब्रह्मलोक वगैरे उसके आश्रित है। उसके बाहर कुछ भी नहीं। कोई भी उन पर अतिक्रमण कर नहीं सकता, अर्थात् उसके बाहर जा नहीं सकता। यही वह तुम्हारे पूछे मूल तत्त्व का उत्तर है ऐसे समझो।

उपर्युक्त कृति जैसे ही भगवद्गीता के १५ वें पुरुषोत्तम योग-अध्याय में १ ला श्लोक है। इससे पुरुषोत्तम की पूर्णपुरुष की अनुभूति लेने के लिए उपरयुक्त श्लोक से शुरूवात करनी चाहिए ऐसा गीता का भी स्पष्ट मत है।

इस अश्वत्थ वृक्ष को संसार वृक्ष कहा गया है। (शंकराचार्य गीता भाष्य) जिसका व्रश्चन-छेदन शक्य है उसे वृक्ष कहते हैं। अश्वत्थ कहने का कारण नश्वः अपिस्याता - (जो कल तक है वैसा कायम नहीं रहता) अर्थात् उसमें कुछ न कुछ बदल सतत् होते रहता है। अपने इस जगत् में भी नित्य प्रतिपल परिवर्तन होते रहता है। प्रतिपल नित्य जीव जन्म लेते हैं और पुराने मरते हैं और प्रतिपल उसका रूप बदलते रहता है। इसलिए अश्वत्थ को (बदलते रूप) ही शंकराचार्य ने संसार वृक्ष (विश्वरूप) कहा हैं।

लेकिन यदि उसे संसार वृक्ष कहा जाये तो उसके लिए पीछे सनातन शब्द है। जो उसकी नित्यता दर्शाता है। वैसे ही उसे शुद्ध ब्रह्म तथा अमृत ही कहा गया है। इसलिए उसे संसार वृक्ष कहने की अपेक्षा विराट पुरुष (पूर्णपुरुष) कहना योग्य लगता है। परंतु परब्रह्म (साक्षित्त्व) यह विराट, विश्व रूप से (विष्णु रूप से) अलग है। वह भी उसके बाहर नहीं ऐसा जब कि कहा गया है तब यह मात्र संसार वृक्ष न होकर वह पूर्णपुरुष है यह निश्चित। उसे परब्रह्म कहे अथवा ब्रह्म, उचित नहीं लगता। इसलिए कि वह अखण्ड एक जिन सी नहीं है। वैसे ही गीता में उसका छेदन भी बताया है परंतु पूर्णपुरुष का वर्णन वृक्ष जैसे स्तब्ध ऐसा किया गया है। इसलिए पर्णपुरुषरूपी मूल से उसका वस्तु रूप ही ऐसी दो शाखाएं (टहनियां) एक अपरब्रह्म (जड़) जिसमें यह सब पृथ्वी, स्वर्ग, चंद्र, सूर्य, ब्रह्मलोक है तथा दूसरी पर अर्थात् परब्रह्म है, यह नीचे की ओर झुकी हुई है, ऐसा ही मानना योग्य है।

टहनियाँ नीचे की ओर निकली हुई हैं अर्थात् वह अधोगामी हैं यह मानना गलत है। परमेश्वर तथा पूर्णपुरुष का बोध एकदम एकाएक होना कठिन है। वह होने के पहले इन दो शाखा (टहनी) अपरब्रह्म तथा परब्रह्म ठीक से देखकर तथा समझ कर उसमें से

सगुण- अपर अथवा निर्गुण - पर इनमें से एक को ठीक से पकड़कर सीढ़ी-दर सीढ़ी ऊपरी जड़ (मूल) की ओर पूर्णत्त्व की ओर जाना यही इस पर्णपुरुषरूप वृक्ष को जानने का तथा अनुभव करने का सरल मार्ग है।

इसकी शाखा बहुत कर नीचे झुकने का एक कारण यह है कि इन शाखाओं में सम्मिलित वा नीचे पृथ्वी पर रहने वाले जीव को तथा साधक को इस वृक्ष के मधुर फल चुनकर तत्काल चखते बनना चाहिए, वह सहज ही हाथ लगे। यह फल खाकर आनंद लेने पर उसके बीज से उनको आनंदकंद की कल्पना आनी चाहिए और इससे साधक की सहजवृत्ति अधिक आनंद की ओर होनी चाहिए तथा वह ऊपर की ओर आनंदकंद रूप मूल तक (जड़ तक) जाना चाहिए। कर्मद्वारा फल प्राप्त कर प्रगति करने वाले कर्म से प्रथम चंद्रलोक में पहुँच जाता है, तो फल से वृक्ष का ज्ञान करा लेने वाला, उस ज्ञान से सूर्यलोक जाता है। परंतु फल के संबंध में वृक्ष के प्रति कृतज्ञ रहकर उपासना द्वारा उसकी जड़ की ओर (मूल) प्रगति करने वाला ऊपर के ब्रह्मलोक लोक अर्थात् पूर्णपुरुष तक पहुँचकर उन्हें प्राप्त कर लेता है। संक्षेप में - सीढ़ी-दर -सींढ़ी क्यों न हो परंतु पूर्णपुरुष की अनुभूति का प्रयत्न (एकांगी पर तथा अपर की अनुभूति का नहीं) करता है वह पूर्णत्त्व को प्राप्त होता है। सूक्ष्म ऐसे जड़ तक पहुँचता है और उसी को इस अश्वत्थ रूप से भासमान होने वाले पूर्णपुरुष की पूर्णत्त्व की अनुभूति प्राप्त होती है। तब पूर्णपुरुष की अनुभूति की दृष्टि से इस अश्वत्थ वृक्ष का चिंतन साधक को करना चाहिए ऐसा श्रुति तथा गीता का कथन है। यह प्रथम अभ्यास है।

पूर्णपुरुष उपासना : खण्ड-१

पूर्णपुरुष की अनुभूति का प्रथम अभ्यास हमने अब तक किया। पूर्णपुरुष की अनुभूति की चार सीढ़ियाँ अथवा स्टेजेस है - १) पूर्णत्त्व की अनुभूति का ज्ञान पूर्णवाद ग्रंथ से प्राप्त करना, २) उसका चिंतन तथा मनन कर पूर्णपुरुष की अनुभूति लेने का संकल्प करना, ३) पूर्णवाद ग्रंथ के ज्ञान के परिप्रेक्ष में प्रत्यक्ष कर्म कुछ समय तक नित्य करना, ४) पूर्ण की अनुभूति दृष्टि पथ में न आने पर कर्म तथा फल के संबध में जो अनियमितता तथा 'अनिश्चितता' के कारणों तक सत्य द्वारा जानने का तप अथवा उपासना से प्रयत्न कर उसे दूर करना तथा अनुभूति प्राप्त करना।

इस दृष्टि से 'अनुभूति' के परिप्रेक्ष में 'जिसकी जड़े ऊपर है तथा शाखाएँ नीचे की ओर बिखरी हुई हैं ऐसे सनातन, शुद्ध, अमर, अक्षय, अश्वत्थ वृक्ष का चिंतन करना' ऐसा पूर्णवाद ग्रंथ में 'प्रथम अभ्यास' (प्रथमोध्याय) बताया है। मूल में यह श्लोक कठोपनिषद् का है तथा यह अश्वत्थ वृक्ष ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है तथा इसके बाहर कुछ भी

नहीं होने के कारण नचिकेता द्वारा पूछे गये ब्रह्म तथा सत्य यही है ऐसा यम ने कहा। गीता में भी उत्तम पुरुष, तथा पूर्णपुरुष की अनुभूति लेने के लिए इसी अश्वत्थवृक्ष से शुरूवात करे ऐसा कहा गया है। परंतु वह यह वृक्ष 'संसार वृक्ष' असंगशस्त्र से उसका छेदन कर जिस स्थान पर जाने से मनुष्य वापस नहीं आता ऐसा साधन ढूँढ़ना चाहिए ऐसा कहा गया है। इन दोनों की जानकारी लेने के बाद और उसका ठीक विचार करने पर कठोपनिषद् तथा गीता का वर्णन पूर्णपुरुष का ही है तथा पूर्णपुरुष रूपी इस वृक्ष की दो शाखाएं अर्थात् एक नचिकेता को कहा गया परब्रह्म अथवा शिवरूप है तो दूसरी विष्णुरूप अर्थात् सगुण ईश्वर रूप तथा विश्व रूप है ऐसा पूर्णवाद का निश्चित मत है। इन दो शाखाओं में से एक का, सगुण अथवा निर्गुण का आश्रय कर सीढ़ी-दर-सीढ़ी मूल की ओर जाना चाहिए। इन शाखाओं के हर पत्ते में उलझना नहीं चाहिए। तभी पूर्ण का सही ज्ञान प्राप्त होगा।

पूर्णपुरुष की अनुभूति के परिप्रेक्ष में सोचने पर पूर्णपुरुष को जो विशेषण वेदों ने दिये है वही परब्रह्म से मेल खाते हैं। इसलिए पाठक को भी प्रश्न पड़ता है कि कहां परब्रह्म अर्थ करें और कहां पूर्णपुरुष पर। वैसे ही अन्य शब्द आत्मा तथा परब्रह्म के संबंध में आता है। अनेक स्थान पर आत्मा तथा परब्रह्म के अर्थ से पूर्णपुरुष के रूप का ही वर्णन मिलता है। तब आत्मा का अर्थ बुद्धि, जीव, आत्मा, ब्रह्म अथवा पूर्णपुरुष, इतने प्रकार से होने के कारण संदर्भ देख कर योग्य अर्थ लगाना श्रेयस है।

पीछे हमने श्रुति, अश्वत्थरूपों के वर्णन से, विश्व का परब्रह्म का पूर्णपुरुष से स्वरूपतः कैसे अभेद बताया है यह देखा। अब पूर्णपुरुष के आत्मा शब्द से श्रुति ने किया हुआ वर्णन देखेंगे और इससे पूर्णपुरुष का अनुभूति की दृष्टि से कुछ मार्गदर्शन मिलता है क्या यह देखेंगे।

बृहदारण्य उपनिषद् का -

"स वा एष महानज आत्माऽऽनादो वसुदानों विंदते वसु य एवं वेद।।५६।।"

इत्यादि वचनों का अर्थ, 'वही यह महान अज आत्मा अन्न भक्षन करने वाला, सभी प्राणियों के कर्मों का फल देने वाला ऐसे जो पहचानता है वह उसे वसु समझता हैं। वसु रूप से जानता है, ऐसा है। यहाँ आत्मा को महान तथा अज ऐसे दो विशेषण लगाये हैं। यहां वह कर्म का फल देने वाला होने के कारण उसका अर्थ परब्रह्म अथवा हिरण्यगर्भ ऐसे करने नहीं आता। तब वह पूर्णपुरुष ही है ऐसा करना पड़ता है। पूर्णपुरुष यह अजन्मा जैसे है वैसे ही महान तथा विराट है, ऐसे यहां श्रुति का कथन है अर्थात् यह पूर्णपुरुष के विष्णुतत्त्व का वर्णन है।

वैसे ही आगे इस वचन में -

''स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयम् वै ब्रह्माभयम् ही वै ब्रह्म भवति य एवम् वेद।।५७।।''

श्रुति कहती है यही वह महान अज, अमर, अमृत, अभय, आत्मा हैं। ब्रह्म भी अभय ही हैं। जो इसे पहचानता हैं वह ब्रह्म होता हैं।

यहां फिर से अजर, अमर, अभय, आत्मा, अर्थात् पूर्णपुरुष ही होता है। पूर्णपुरुष अजन्मा है, महान है, उल्टे अश्वत्थ वृक्ष जैसे, परंतु विराट है। ऐसा कहा गया है तथा उसकी अनुभूति देखने वाले के मन में सहज ही भय निर्माण होता है। वह भय न हो इसलिए वह ब्रह्म रूप है और ब्रह्म अभय हैं वह (पूर्णपुरुष) भी अभय हैं ऐसा कहा गया है। यहां ब्रह्म अभय है ऐसा दो बार कहा गया इसका कारण पूर्णपुरुष के पास अपरब्रह्म तथा ब्रह्म ये दोनों हैं और इन दोनों में भी अभय हैं। यह कहने के लिए अथवा इस हेतु से अर्थात् अपरब्रह्म अभय हैं ऐसा कहा गया हैं यह दो वचन अनुक्रम से आये इसलिए इन दोनों में आत्मा का अर्थ पूर्णपुरुष ऐसा लेना ही तर्कसंगत हैं। पिछले वचन में वह अलग और यहां वह परब्रह्म पर ऐसा अलग नहीं कर सकते।

यहां भय का विषय आने के कारण थोड़ा गंभीर विचार होना आवश्यक है। इसी ग्रंथ के पृष्ठ १९ पर यह भय का विचार पहले आया है उसमें सूर्य इत्यादि देवता भय से अपना व्यवहार करते है ऐसा विषय आया है, पीछे उसे देखा भी गया है। उसी संदर्भ में यहां भी भय का विषय संपूर्णतः समझ लेना साधक की दृष्टि से महत्त्व का विषय है।

''जिस समय अद्रष्ट, निर्गुण, निराकार, जगत् विलक्षण ऐसे ब्रह्म में भी साधक निर्भय होता है तब वह सही निर्भय बनता है।'' ऐसा वाक्य 'पूर्णवाद' ग्रंथ के पृष्ठ १९ पर आया है। इसका अर्थ यह है कि, सगुण-अपरब्रह्म तथा निर्गुण-परब्रह्म इनमें से किसी भी रूप से जब साक्षात्कार होता है। ऐसे समय साधक उसके अज्ञानपन के कारण तथा महानता के कारण घबरा जाता है। उसे भय निर्माण होता है। निर्गुण-निराकार में ही भय है, सगुण में नहीं ऐसे साधारणतया माना जाता है, लेकिन वह गलत है। और इसलिए ऊँचे पर्वत पर जाने वाले जिस प्रकार आक्सीजन लेकर ही ऊपर चढ़ते हैं उसी प्रकार अपरब्रह्म - सगुण अथवा परब्रह्म - निर्गुण की अनुभूति की इच्छा करने वाले को चाहिए कि वह निर्भय बना रहे। इसके लिए वह गुरु की मदद अवश्य प्राप्त करें।

सगुण की अनुभूति, मैं तथा ईश्वर ऐसी भेद की रहती हैं, तो परब्रह्म निर्गुण की, अभेद की अनुभूति रहती हैं। भेद में जैसे भय रहता है वैसे ही अभेद भेद प्रारंभिक अवस्था में भेद रहता है। भेद में दूसरा कौन जाने कैसा है? उसमें हमें सुख मिलेगा

अथवा दुःख, इस भाव से भय निर्माण होता है, अथवा वह हमें दूर तो नहीं रखेगा? बाहर का तो नहीं मानेगा? तो अभेद में हमें स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता, इसके तंत्र से चलना पड़ता है इस प्रकार का भय सताता है। अभेद में भी वही स्थिति है। लेकिन यह बात बहुतों की समझ में नहीं आती। उदाहरण जन्म के पहले बालक माँ के गर्भ में अभेद से ही रहता है इसलिए वह सुखी भी रहता है। जन्म लेने पर भेद निर्माण होता है इसलिए वह रोता है। आगे चलकर भेद की उसे आदत पड़ जाती है। और फिर मृत्यु के कारण अभेद में जाने का समय आता है तब भी उसे भय तथा अनिश्चितता लगने के कारण रोना आता है। इस प्रकार भेद तथा अभेद का भय जीवन भर रहता हैं।

परंतु यह भय व्यर्थ है ऐसा श्रुति का मत है। अपरब्रह्म और परब्रह्म दोनों ही अभयरूप है। वहां साधक को अभय ही रहता है। अभेद में कर्म स्वातंत्र्य गवांने पर भले ही भय रहता हो तो भी कर्म के हद तक भेद कर पुनः अभेद में जाने आता है। यही बात आगे चलकर साधक की समझ में आती है। वैसे ही ईश्वर रूप, महान, विराट, सगुण तथा प्रचंड़ होने पर भी उसे साधक के प्रति प्रेम होने के कारण यह भी उसे बाद में अनुभव आता है। संक्षेप में दोनों जगह अभय होने के कारण वह पूर्णपुरुष में स्थायी तथा सहज रहता है। उल्टे वहां अभय का अभय रहता है, यह कहना कोई अतिशयोक्ती नहीं है।

सूर्यादि देवताओं को कर्म करना होता है और वह भेद से ही करना पड़ता है तथा ईश्वर हम में और उसमें कायम भेद न करें इस भाव से या भय से वे अपना कर्म नेक करते हैं (पृ. १९) संक्षेप में शुरू में भले ही भय लगता हो तो भी पूर्णपुरुष की अनुभूति में मनुष्य निर्भय बनता है। यह दूसरा अभ्यास है।

पूर्णपुरुष की अनुभूति (अन्य मार्ग से)

पूर्णपुरुष की अनुभूति के लिए प्रयत्न करने वाले साधक को चाहिए कि वह पहले असंभावना, निष्कामता, तथा अनित्यता का त्याग करें तथा तप के लिए कैसे प्रवृत्त हों यह हमने पहले अभ्यास में देखा, फिर दूसरे में इस अनुभूति के लिए लगने वाले अभय का विचार किया। इतनी तैयारी के बाद पूर्णपुरुष के किस रूप का साधक को चिंतन करना चाहिए यह श्वेताश्वतर के एक वचन में श्रुति ने स्पष्ट किया। यहां पूर्णपुरुष की स्पष्ट कल्पना श्रुति ने व्यक्त की है।

श्रुति का कथन :

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्त्व भावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।।५८।।

इत्यादि – अर्थात् क्षर को प्रधान कहा जाता है अथवा प्रकृति, जड़ ऐसा भी कहा जाता है। यही अपरब्रह्म, विराट विश्वरूप है। परंतु इसे अनुभव करने वाले अक्षर ब्रह्म इस अमृत स्वरूप अविनाशी, जीव समुदाय को, अक्षर, अमृत, तथा हर वा शिव अथवा आत्मा कहते हैं। परंतु क्षर और आत्मा इन दोनों का इशन करने वाला, शासन करने वाला ऐसा तीसरा एक ही ईश्वर है और वह है पूर्णपुरुष। वही प्राप्त करने को तथा जानने को योग्य ऐसा है। उसके चिंतन से अर्थात् क्षर व अक्षर की योजना उसके पास कर उसका चिंतन करने से उससे निराला मैं नहीं कारण वह जैसे क्षराक्षर से वैसे ही मैं हो सकता। ऐसे तत्त्व भाव से आखिर मनुष्य विश्व माया से निवृत्त होकर पूर्णपुरुष की अनुभूति को प्राप्त करता है।

संक्षेप में, क्षर तथा अक्षर का नियमन करने वाला ईश्वर ही पूर्णपुरुष तथा पूर्ण है। अतः मैं भी पहले पूर्ण था और आज भी हूँ। मैं उससे अलग नहीं हूँ। ऐसे चिंतन से मनुष्य विश्व माया से मुक्त होकर पूर्णपुरुष की अनुभूति को प्राप्त करता है। यह महत्त्वपूर्ण बात है।

माया विषय हम स्वतंत्र देखने वाले है। हम यहां उसके बारे में अभी विस्तार से बात नहीं करेंगे। हमारा मुख्य विषय है कि विश्व तथा परब्रह्म का नियमन करने वाला ईश्वर जो है वही पूर्णपुरुष है जिसे गीता में उत्तम पुरुष (उत्तम पुरुष अन्यः) कहा है।

जिस प्रकार श्रुति विश्व तथा परब्रह्म दोनों को मानती हैं वैसे ही शंकराचार्य ने भी मात्र सत्य रूप ऐसे एक ब्रह्म के शबल तथा नबल (अशुद्ध तथा शुद्ध) ऐसे दो भाग स्वीकार किये हैं। परंतु शबल ब्रह्म यह माया का अधिष्ठान है। इस पर कहा गया है कि माया के कारण विश्व दिखाई देता है और नबल ब्रह्म के पास माया नहीं होती। अतः शबलब्रह्म (विश्वरूप) तथा नबल ब्रह्म (परब्रह्म) ऐसी दो बातें मानी गयीं। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि माया शबल ब्रह्म तक ही मर्यादित कैसे? विवर्त तथा अध्यास से शबलब्रह्म पर विश्व दिखाई देता है। ऐसा मानने पर वह नबल ब्रह्म पर क्यों नहीं दिखता? विवर्त मर्यादित कैसे? इसके अतिरिक्त ब्रह्म मूल में शुद्ध नबल होकर माया के कारण (गुणाक्षोभिणी मूल–माया के कारण) उसमें शबल ब्रह्म दिखने लगता है। ऐसा मानने पर शबलब्रह्म पर तथा विश्व की माया के प्रभाव से और कुछ कैसे दिखाई नहीं देता? ऐसे प्रश्न पड़ता है। माया का परिणाम विश्व दिखने तक ही सीमित क्यों दिखें? परंतु श्रुति दोनों को भी परब्रह्म को तथा विश्व को पूर्ण कहने के कारण वहां विवर्त अध्यास का परिणाम रुकता है। अध्यास तथा विवर्त यह मूल में है ही नहीं विश्व के जीव के अविद्या के कारण तथा अज्ञान के कारण दिखता है ऐसा कहे तो श्रुति विश्व को पूर्ण मानती है, उसका क्या? श्रुति इन दोनों को पूर्ण कहती हैं इसलिए दोनों की भी

स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। तब विश्व मात्र मायामय तथा भासमान नहीं है।

अब विश्व सत्य तथा परब्रह्म सत्य, ऐसी दो सत्ताएं मानने पर अद्वैत को स्वीकारना भी तीसरे सत्य के बिना असंभव है। और यह तीसरा सत्य है पूर्णपुरुष है। मूल में यदि अद्वैत नहीं है तो दो सत्य तथा सत्ता एक दूसरे के आड़े आना निश्चित है ऐसे में तीसरा सत्य पूर्णपुरुष इन दोनों को नियंत्रित करने वाला (पूर्णपुरुष) होना आवश्यक है। यही उपर्युक्त श्रुति वचन में बताकर श्रुति ने पूर्णपुरुष की स्पष्ट कल्पना साधक को दी है। श्रुति विश्व को तथा परब्रह्म को क्यों और कैसे पूर्ण मानती हैं? ऐसे प्रश्न यहां उपस्थित होता है। इसका उत्तर पूर्णपुरुषरूपी पूर्ण से पूर्ण ही निकलता है तथा संभव है ऐसा श्रुति ने आगे बताया है।

अब तक हमने क्षर अर्थात् पूर्ण विश्व तथा अक्षर अर्थात् पूर्ण परब्रह्म इनका नियमन करने वाले देवता पूर्णपुरुष का चिंतना करना चाहिए। इस चिंतन से (पर्णपुरुष के प्रति क्षर अक्षर की योजना कर चिंतन करने पर) उससे मैं अलग नहीं ऐसी अनुभूति साधक को होकर पूर्णपुरुष का सही ज्ञान होता है, यह विषय देखा।

यहां एक ऐसी शंका आती है कि, पूर्णपुरुष यदि पूर्ण है तो श्रुति परब्रह्म तथा विश्व को भी कैसे पूर्ण मानती है? श्रुति परब्रह्म तथा विश्व को भी पूर्ण क्यों मानती है? तो इसका उत्तर ईशावास्य उपनिषद् ने दिया है।

श्रुति का कथन :

ॐ पूर्णमदः पर्णमिद् पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।५९।।

इत्यादि - वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण ही निर्माण होता है, संभव होता है। पूर्ण से पूर्ण घटाने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है।

वह अव्यक्त साक्षी परब्रह्म (शिव) और यह अर्थात् व्यक्त विश्व अथवा जगत् (विष्णुतत्त्व) यह दोनों पूर्ण ही है। क्योंकि यह दोनों ही पूर्ण से ही संभव होने के कारण उसके रूप होने के कारण वह भी पूर्ण ही है। यहां फिर शंका आती है कि जिस पूर्ण से यह दोनों पूर्ण संभव है तो मूल पूर्ण का क्या होता है-- तो उसका उत्तर श्रुति देती है कि पूर्णपुरुष का पूर्णत्त्व इन दोनों को (परब्रह्म, विश्व) देने पर भी पूर्णपुरुष पूर्ण ही रहता है, पूर्ण है तथा वह पूर्ण होकर भी एक ही है। विषय को आसान करने के लिए एक मधुर उदाहरण देते हैं। हम एक प्याली चाय लिए और पूछे कि एक प्याली चाय में दूध कितना है? तो कहना ही पड़ेगा प्याली भर, क्योंकि एक प्याली चाय में दूध कहां नहीं है? कोई नहीं बता सकता। शक्कर (चीनी) की यहीं स्थिति है, अब एक प्याली चाय में

चीनी कितनी है तो प्याली भर ही कहना पड़ेगा, वही स्थिति पानी की है, चायपत्ती की भी है अर्थात् एक प्याली चाय में चाय पूर्ण है, दूध पूर्ण, पानी पूर्ण, चायपत्ती पूर्ण। लेकिन चाय चार कप तो नहीं बनती, चाय तो एक ही प्याली है। वैसे ही स्थिति, वही हिसाब पूर्णपुरुष का है। एक पूर्णपुरुष में परब्रह्म भी पूर्ण है, विश्व भी पूर्ण है। वैसे ही कहां ब्रह्म नहीं है कहां विश्व नहीं है। ऐसा पूछने पर उत्तर होगा दोनों सर्वत्र है, उसकी सत्ता भी सर्वत्र है। लेकिन जब यह पूछा जाता है कि चाय में चीनी है कि नहीं? जब हम चाय की घूंट पी लेते है तो कहते हैं, हां इसमें चीनी है। यह कहते हुए हमारा ध्यान उसके दूध तथा उसके गुण की ओर नहीं रहता न ही चाय पत्ती के प्रकार और प्रमाण पर नहीं रहता। आज का दूध कैसा था? इस पर हम इतना कह सकते हैं कि उस समय चाय पूर्ण है और मीठी भी है। अतः पूर्णपुरुष को जो जिस भाव से पूजता है उसे वह (क्षर-विश्व अथवा-परब्रह्म) प्राप्त होता है।

एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परत्।
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्त्वा यो यदिच्छाति तस्य तम्।।४७।।

कठोपनिषद् में कहा गया है (पूर्णवाद ग्रंथ पृ. ३५ देखे)

संक्षेप में एक प्याली चाय में पानी, शक्कर, दूध, चाय पत्ती यह चार चीजें यद्यपि उसमें पूर्णरूप से समाहित होने पर प्रमुख सत्ता चाय की रहती है। वह सत्ता इन चारों का नियमन करती है। मात्र इन चार चीजों को इकठ्ठा करने पर चाय नहीं बनायी जाती। यह जैसे हम जानते हैं वैसे ही विश्व तथा परब्रह्म भले ही पूर्ण हो और यदि दोनों की सत्ता भी स्वतंत्र है तो भी मूल सत्ता पूर्णपुरुष ईश्वर की ही है। वह इन दोनों का नियमन करता है यह नहीं भूलना चाहिए। अतः ईश्वर कृपा होगी तो ब्रह्म ज्ञान होगा। योग पूर्ण होगा ऐसा कहा जाता है। संक्षेप में पूर्ण से पूर्ण ही निर्माण होगा और यदि पूर्ण का पूर्णत्त्व भी लिया तो भी पूर्ण ही शेष रहता है। यह बात इस उदाहरण से स्पष्ट होनी चाहिए।

इससे परब्रह्म तथा विश्व का पूर्णपुरुष से स्वरूपतः अभेद कैसे है यह बात भी स्पष्ट होती है। ऐसा स्वरूपतः अभेद यदि न हो तो आधा परब्रह्म और आधा विश्व कहना पड़ेगा और ऐसा कहने में पूर्ण का पूर्णत्त्व नहीं रहता। सारांश, इस उदाहरण से (शबल तथा नबल की इस प्रक्रिया से बाधा आती है) तथा पूर्णमदः पूर्णमिदं ... इत्यादि वचन से पूर्णपुरुष का पर-अपर से स्वरूपतः अभेद सिद्ध होता है।

मुण्डक उपनिषद् में शौनक ने अंगीरस को ''कास्मिन्नु भगवो विज्ञाते.. भवतीति'' क्या जानने से सब समझ में आता है ऐसा प्रश्न करने से अंगीरस ने उसके प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया -

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह
स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ।।६०।।

हे शौनक, ब्रह्म जानने वाले ब्रह्मर्षि का कहना है कि, विद्या दो हैं एक परा तथा दूसरी अपरा। यह दोनों विद्या सीखना चाहिए। वह क्या है, वह यह संक्षेप में देखेंगे -

पूर्णपुरुष का अनुभव एक दृष्टि से लेने का प्रयास किया तो भी वह विविध रूप से आता है। विश्व जड़, विष्णु-जीव, शिव-साक्षी इन प्रत्येक में पुनः तीन-तीन बातें रहने से कुल मिलाकर ९ प्रकार से पूर्ण का अनुभव आता है। हमने इन ९ का अध्ययन पीछे किया है परंतु इसके व्यक्त तथा अव्यक्त दो प्रकार भी बनते हैं - व्यक्त में विष्णु, विराट, विश्व तत्त्व आता है तो अव्यक्त में शिव तत्त्व आता है। व्यक्त को अपर तो अव्यक्त को पर कहा गया है। तब पूर्णपुरुष का अनुभव द्विविध रूप से, पर तथा अपर से आता है, यह भी कहने आता है। अपने शुरूवात के नाम के आगे छह में परिवर्तित होता है, छह का तीन में तथा तीन का दो में, दो का एक में तथा एक का शून्य के सहायता से पूर्ण में परिवर्तित होता है। अतः पूर्णपुरुष का अनुभव द्विरूप से करने आता है। यह इस बात से भी समझ में आता है। व्यक्ति का अनुभव सहज आता है इसलिए उसका ज्ञान देने वाली विद्या। ऐसा ही श्रुति का निष्कर्ष है। कारण क्षर-अक्षर, अपर-पर, अविद्या-विद्या आदि जोड़ियां व्यक्त विश्व तथा अव्यक्त परब्रह्म इसलिए उपयोग में आते है। व्यक्त विश्व तथा अव्यक्त परब्रह्म यह भी उस पूर्ण के ही रूप होने के कारण उन दोनों के ज्ञान के बिना सही ज्ञान कैसे प्राप्त हो? अतः अंगीरस ने यह दोनों विद्याएं शौनक को समझाई। इस प्रकार की दोनों विद्याओं से संपन्न ज्ञानी जब पूर्णपुरुष को देखता है तो वह तब पूर्णत्त्व को प्राप्त होता है।

मूल पूर्णपुरुष की जो नौ बातें हैं उसका अध्ययन कर तथा अनुभव लेकर तत्पश्चात् उन नौ से छह, छह से तीन, तीन से दो, दो से एक, तथा एक से पूर्ण इस मार्ग से पूर्णपुरुष की अनुभूति प्राप्त हो सक्ती है। वह कैसे वह इस तालिका से स्पष्ट होगा।

नौ

रूप	विश्व	विष्णु	शिव
शिव	सत्	चित्	आनंद
विष्णु	वासना	भोग	तृप्ति
विश्व	उत्पत्ति	स्थिति	लय
	(आदि)	(मध्य)	(अंत)

नौ से छह घटते समय दो-दो की जोड़ियां कर दोनों का संयुक्त अनुभव लेकर आगे बढ़ते बनता है।

छह

रूप	विश्व + विष्णु	शिव
शिव	काल	उपासना
	(सत् + चित्)	(आनंद)
विष्णु	लोकसंग्रह	लोकमत
	(वासना + भोग)	(तृप्ति)
विश्व	नैपुण्य	योजकता
	(उत्पत्ति + स्थिति)	(लय)

अब इन छह को तीन में मिलाया जा सकता है और उसका अनुभव, ज्ञान लेकर जीवन में उसे प्रत्यक्ष उतार सकते हैं।

तीन

(आदि)	(मध्य)	(अंत)
विश्व	विष्णु	शिव
निसर्ग	ईश्वर	परब्रह्म
(शरीर)	(जीव)	(साक्षी, आत्मा)
आधिभौतिक	आधिदैविक	आध्यात्मिक
(विश्व)	देवता (ईश्वर)	मैं

इन तीनों का समन्वय दो में कर अनुभव प्राप्त किया जा सकता है।

दो

विश्व + विष्णु	शिव
व्यक्त	अव्यक्त
क्षर	अक्षर
सगुण साकार	निर्गुण निराकार

शरीर तथा मन का बोध	आत्मा
(चित्, जीव + अचित् जड़)	
विज्ञान ब्रह्म	आनंद ब्रह्म
अपर ब्रह्म	परब्रह्म
अपर	ब्रह्म, पर
जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति	तूर्या

एक

ब्रह्म, शबल व नबल अपरोक्षानुभूति में आने वाले सभी
आत्मतत्त्व तथा ब्रह्मतत्त्व
एक (अनाकलनीय)

इंद्रियों से, मन से, ज्ञान से, आकलन में आने वाले सभी और
ध्यान से, योगा से, समाधि से ज्ञात सभी

किसी भी प्रकार से आकलन में न आ सकने वाले सभी।

पूर्ण

आकलन में आने वाले + आनाकलनीय
(एक) + (आकलन में कभी न आ सकने वाले)
(शून्य)
एक + शून्य - पूर्णपुरुष

जैसे कि हमने अब तक देखा है पूर्णपुरुष का अनुभव पर (अव्यक्त निर्गुण निराकार शिव) तथा अपर (व्यक्त सगुण साकार विष्णु तथा विश्व) ऐसे दो रूपों से आने के कारण उसे संपूर्णतया जानने के लिए परा तथा अपरा यह दो विद्या को सीखना समझदार के लिए आवश्यक है। ऐसा अंगीरस ने शौनक से कहा है। पर और अपर ये दोनों उस पूर्ण के ही रूप हैं। अतः इन दोनों का ज्ञान इन दो विद्याओं से प्राप्त किये बिना संपूर्ण ज्ञान प्राप्त होना संभव नहीं। परंतु इन दो विद्याओं से संपन्न ज्ञानी पुरुष जब उस पूर्णपुरुष की अनुभूति लेने का प्रयत्न करता है तब वह :

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीश पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति।।६१।।

इस वचन में कहा गया है कि वह दिव्य प्रकाश रूपी कर्ता ब्रह्मयोनी ऐसे पूर्णपुरुष को प्रत्यक्ष देखता है। इस कारण उसके सभी पुण्यपाप रूपी कर्म समूल नष्ट होते है तथा वह स्वयं परम निर्मल ऐसे ज्ञान रूप को प्राप्त होकर निरंजन ऐसी परम अवस्था को अथवा स्थितप्रज्ञ अवस्था को प्राप्त होता है।

इस वचन में 'कर्तारंईशम्' तथा 'ब्रह्मयोनिम्' ऐसे दो विशेषण देकर ईश्वर का पूर्णपुरुषत्त्व बताया है। कर्ता कहने पर विश्व का कर्ता ऐसा सहज अर्थ मन में आता है। इसलिए 'ब्रह्मयोनी' का अर्थ ब्रह्मदेव का आदि कारण ऐसा जो किया है वह ठीक नहीं लगता। एक बार विश्व का कर्ता कहने पर 'अपरब्रह्म की योनी' अर्थात् विश्व तथा विष्णु रूप की योनी अथवा कारण ऐसा अर्थ संभव नहीं लगता। वैसे ही कर्ता कहने पर वह जैसे विश्व का प्रत्यक्ष कर्ता नहीं होता, वैसे ही ब्रह्मयोनी कहने पर वह परब्रह्म का कारण भी नहीं बनता। तो वह उन दोनों को अपने स्वरूप में समा लेने वाला पूर्णपुरुष ही बनता है यह स्पष्ट है। इसलिए यह वर्णन पूर्णपुरुष का ही है यह सिद्ध होता है। इसके अलावा इसे एक वचन का संदर्भ भी है।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्यभ्यंतरो ह्यजः
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः।।६२।।

इस वचन में उपनिषदकार कहते है कि, निश्चित ही (हि) निराकार अमूर्त दिव्य ज्योति स्वरूप यह पूर्णपुरुष सबको – संपूर्ण जगत् को अन्दर, बाहर से व्याप्त करने वाला है। यह जन्मादि विकार रहित (अजः) प्राणरहित अर्थात् जिसका जीवन दूसरे पर निर्भर नहीं ऐसा (अप्राणः) निर्मन, शुद्ध, परब्रह्म से पर (अक्षरात परः) सर्वथा विशुद्ध ऐसा (जो कोई भी) है वह तो पूर्णपुरुष ही हैं।

यहां यह शंका आना स्वाभाविक है कि, जब वह पूर्णपुरुष अमूर्त है तो यह मूर्त विश्व उसमें कैसे दिखता। विश्वमूर्त है यह स्पष्ट है। इसका उत्तर ऐसा है कि, हम जब उसे पूर्ण कहते हैं तब विश्व रूप अर्थात् मूर्त रूप यह उसका संपूर्ण एकांगी स्वरूप नहीं है। ऐसा ही कहते हैं। अमूर्त निराकार परब्रह्म तथा मूर्त विश्व इन दोनों का जिससे स्वरूपतः अभेद है वही सही पूर्णपुरुष है ऐसा ही हम कह रहे हैं। यहां फिर एक प्रश्न ऐसा आता है कि ऐसा अगर है तो परब्रह्म (अमूर्त) तथा विश्व (मूर्त) दोनों एक ही समय गोचर हैं ऐसी पूर्णपुरुष की मूर्ति किसी ने देखी है क्या?

इसका उत्तर यदि देना है तो कह सकते कि अमूर्तरूपी ब्रह्म के अथवा आत्मा के

अपरोक्षानुभूति के पहले नहीं ऐसा ही कहना पड़ता है। कारण परब्रह्म की अनुभूति के बिना पूर्णपुरुष में ही परब्रह्म तथा विश्व यह दोनों गोचर हैं, दिखते है ऐसा कैसे कह सकते हैं? इसी वजह से श्रुति उसे अमूर्त कहती है। पूर्ण के स्वरूप के ही यह दोनों अंग होने के कारण यह दोनों एक ही समय वहां अर्थात् स्वरूप में, पूर्ण में विद्यमान है। परंतु वह पूर्ण हमने देखा न होने के कारण तथा कल्पना करने जैसा भी नहीं है, वह निराकार है, अमूर्त है ऐसा कहा गया है। परंतु इसका अर्थ मूर्त विश्व उसके स्वरूप में नहीं। उसके स्वरूप के बाहर है अथवा अस्तित्व में नहीं ऐसा नहीं होता।

बिना सांस के अर्थात् प्राण के सिवाय जीना संभव नहीं, बांडगुल (परोपजीवी) स्वतः प्राण नहीं लेता परंतु प्राण लेने वाले मूल वृक्ष के सहारे जीता है। अर्थात् वह परजीवी है। परंतु यह पूर्णपुरुष किसी दूसरे पर निर्भर नहीं। (परब्रह्म पर निर्भर नहीं) तथा अप्राण होने के कारण नाक दबाने से इसका जीव कुंठित (अवरुद्ध) नहीं होता। वैसे ही इसे दूसरे किसी का चिंतन तथा कामना न होने के कारण वह 'अमन' भी है। अतः ऐसे पूर्णपुरुष की अनुभूति अत्यंत कठिन है। श्रवण, मनन, निदिध्यास ईत्यादी साधनों से ब्रह्म की तथा आत्मा की अपरोक्षानुभूति जिसे कहते है वह संभव है। परंतु उपर वर्णित पूर्णपुरुष के स्वरूप का ज्ञान पूर्णपुरुष की कृपा तथा वैसे ही विभूति के प्रसाद के बिना असंभव है।

इसका महत्त्व का कारण यह है कि तर्क को भी मर्यादा है। मनुष्य की मति केवल तर्क से पूर्णपुरुष को जानने में असमर्थ है। अतः भले आदमी को चाहिए कि वह अपनी मर्यादित मति के सहायता से जितना जान सकते है उतना ही सत्य न मानकर ईश्वर कृपा, गुरुकृपा, तप सामर्थ्य, इत्यादि दूसरे मार्ग का भी आश्रय ले। उदाहरण आँख से जितना हो सके दूर का देखने आता है यह सत्य है फिर भी यदि दुर्बिण से वह इससे भी दूर का वह देख सकता है। यह वास्तव है। इसलिए बुद्धि से जितना जानना संभव है उतना जानने के बाद फिर दूसरे मार्ग को अपनाना चाहिए। ऐसा श्रुति का कहना है। योग्य प्रकार से प्रयत्न करने वाले सिद्ध पुरुषों में से एकाध ही मुझे सिद्धांततः जानता है, इस वचन में भी ब्रह्म के ज्ञान जैसे ही पूर्ण का ज्ञान मात्र श्रवण, मनन, निदिध्यास, से होना संभव नहीं बनता उसके लिए उसी की अर्थात् पूर्ण की पूर्णपुरुष की कृपा अथवा किसी विभूति का प्रसाद होना चाहिए यही गीता का कथन है।

अब यह पूर्णपुरुष यद्यपि स्वयं 'अप्राण' प्राण पर निर्भर न रहने वाला, अमन, मनरहित तथा कामना रहित होने पर भी प्रश्नोपनिषद् के इन वचनों से -

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षम् संप्रतिष्ठन्ते।
एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मानि संप्रतिष्ठते।।६३।।

''आकाश में उड़ने वाले सभी पक्षी जैसे अपने निवासी वृक्ष की ओर संध्या समय होते ही वापस लौटते हैं, तथा उसके आश्रय से रहते हैं। उसी प्रकार प्राण, मन आदि सभी बातें (जिसके बिना पूर्णपुरुष का काम कुछ भी रुकता नहीं) उस पूर्णपुरुष के आश्रय से रहते हैं। यदि मनुष्य थोड़ा सा विचार भी करे तो उसे यह समझ में आने में देर नहीं लगती कि वह भी इस पूर्णपुरुष के स्वरूप के अन्तर्गत आते हैं।''

संक्षेप में हमारी बुद्धि को जान लेने के जो पुराने संस्कार हुए है वह मिटाये बिना पूर्णपुरुष का सही ज्ञान होना कठिन है। यह पुराने संस्कार मिटा कर बुद्धि का शुद्ध होना, तथा शब्दों के अर्थ समझ लेते समय वह पूर्वग्रह दूषित न हो। इस प्रकार का वर्णन उपनिषदों में मिलता है। ऐसे में हम यहां मात्र दृष्टान्त देकर बुद्धि का पूर्वग्रह न बढ़ाकर शब्द के अर्थ संबंध के पुराने ग्रह (मत-मतांतर) निकालने पर शिष्य को ध्यान देना आवश्यक है। ऐसा इस वर्णन का अर्थ है। उदाहरण अमूर्त अर्थात् जो मूर्त नहीं ऐसा करने से अधिक उचित अर्थ होना चाहिए - किसी एक विशिष्ट मूर्ति का न होना इस प्रकार यदि करें तो वह अधिक उचित लगता है। अतः साधक को चाहिए कि वह पूर्णपुरुष के अनुभवजन्य ज्ञान के लिए मात्र तर्काधिष्ठित अर्थ न लगा कर गुरूकृपा, ईश्वर कृपा, तपादी साधनों का उपयोग करना चाहिए, ऐसा श्रुति का कथन है। बुद्धि के पूर्व ग्रह नष्ट हो इसलिए पूर्णवाद के 'माया' प्रकरण का पहले अध्ययन कर बाद में आगे के विषय की ओर बढ़ना विषय को समझने की दृष्टि से अधिक उचित होगा।

यहां अब, बुद्धि का उपयोग कर हम पूर्णपुरुष के अनुभव पूर्ण ज्ञान के क्षेत्र में कहां तक लक्ष्य तक इसका सिंहावलोकन करेंगे।

पूर्णपुरुष के अनुभूतिपूर्ण ज्ञान की शुरूवात उल्टे अश्वत्थ वृक्ष के चिंतन से कर, विश्व तथा परब्रह्म यह दो शाखाएँ (टहनियां) है इसे जान लेने पर मनुष्य के हृदय का अजर, अमर, अभय, आत्मा यह भी पूर्ण पुरूष का ही रूप है, यह हमने देखा। इसके बाद प्रधान ऐसे क्षर विश्व तथा अक्षर आत्मा इन दोनों के अपने स्वरूप का नियमन करने वाला हमारा देवता अर्थात् पूर्णपुरुष होने के कारण क्षर की तथा अक्षर की योजना कर उसका ध्यान कैसे किया जाये यह भी विषय हमने जान लिया। तत्पश्चात व्यक्त क्षर विश्व तथा अव्यक्त साक्षी ब्रह्म स्वतः में पूर्ण होकर पूर्ण से पूर्ण ही संभव होने के कारण यह दो पूर्ण जिस पूर्ण से संभव होते हैं वह पूर्ण पुरूष कैसे पूर्ण है यह हमने देखा। इसके बाद पूर्ण पुरूष का अनुभव एक दृष्टि से लेने वाले साधक वह विविध रूप से (शिव-विष्णु-विश्व) प्राप्त करता है तथा इस प्रत्येक रूप में दूसरे दो रूपों की साक्षी होने के कारण यह अनुभव कुल मिलाकर नौ प्रकार से कैसे आता है यह हमने देखा। इन नौ का

अनुभव छह, तीन, दो, एक तथा पूर्ण इस क्रम से एक एक पूर्ण रूप से इसे अनुभव करना कैसे संभव है इसका भी हमने विचार किया।

परंतु इस एक पूर्ण का संपूर्ण ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन होता है तथा उसे आखिर तक पूर्णपुरुष का अनुभव पर तथा अपर ऐसे दो रूप से द्वैत से ही कैसा आता है यह भी हमने देखा। ऐसा होता है इसलिए पूर्णपुरुष के संपूर्ण ज्ञान के लिए भले आदमी को चाहिए कि वह इन परा तथा अपरा ऐसे दो विद्याओं को प्राप्त करे। ऐसा अंगीरस ने कहा यह जैसे हमने देखा वैसे ही यह दो विद्याओं से संपन्न साधक जब पूर्णपुरुष की अनुभूति लेने का प्रयत्न करता है तब उसे दिव्य प्रकाश रूप अप्राण, अमन, अमूर्त लेकिन जिसमें मूर्त विश्व दिख सकता है ऐसे पूर्णपुरुष का प्रत्यक्ष दर्शन होता है यह भी विषय हमने देखा। यहां तक हमने तर्क का रास्ता अपनाया था। लेकिन तर्क को मर्यादा होने के कारण आगे तर्क के सिवाय अन्य मार्ग का भी हम उपयोग करे ऐसा श्रुति कथन है।

इस नये दृष्टिकोण से विचार करने पर पहले के 'अश्वत्थ' वृक्ष जैसे मानव को पूर्णपुरुष की अनुभूति के लिए प्रथम रथचक्र का विचार करना आवश्यक है। ऐसे पूर्णवाद का कथन है। प्रश्नोपनिषद् का यह वचन देखिए –

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यम् पुरुष वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति।।६४।।

इस वचन में ऋषि कहते हैं, ''जिस प्रकार रथ के चक्र के सभी 'आराएँ' उस चक्र के मध्य में नाभि के गोलाकार भाग में प्रविष्ट रहती हैं उसके आधार से वह गोल चक्राकार घूम कर कलाएं इसी पूर्णपुरुष में यद्यपि वह स्वयं अप्राण, अमन हैं तो भी वह संप्रतिष्ठित हैं। वह पूर्णपुरुष ही इन सबका आधार हैं। वह सब इसी की प्रेरणा से काम करते हैं। ऐसे सबका आधार पूर्णपुरुष को जानना चाहिए।''

इतना कहकर पिप्पलाद ऋषि आगे कहते हैं –

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद।
नातः परमस्तीति।।६५।।

मैं इतना ही परब्रह्म जानता हूँ। इससे श्रेष्ठतम दूसरा कुछ भी नहीं है। अर्थात् इससे श्रेष्ठ मैं जानता नहीं ऐसा नहीं है लेकिन वास्तव में ऐसा कोई तत्त्व अस्तित्व में है ही नहीं। जो कुछ भी है वह मात्र पूर्णपुरुष ही है।

अश्वत्थ के उदाहरण का विचार करते समय जैसे यह अश्वत्थ उल्टा है यह कहने के

पीछे जिस प्रकार संपूर्ण वृक्ष हमारे दृष्टिपथ में आये यह अपेक्षित रहता है। उसी प्रकार यहां भी रथचक्र के उदाहरण में है। मात्र अश्वत्थ वृक्ष का ही ध्यान कहां होता तो मूल (जड़) का ध्यान उसमें नहीं आता। वह जमीन में रहती हैं। उल्टा अश्वत्थ ध्यान में लाने से ऊपर जो जड़ें हैं जो अनेक तंतु (तंत्रिका) युक्त होकर भी एक ही वृक्ष की है। वह एक वृक्ष में समाई जाती हैं। यह जैसे समझता है वैसे ही एक ही वृक्ष की अनेक शाखाएँ (टहनियां) पत्ते, फूल, फल आने पर भी वृक्ष एक ही हैं यहीं सामने आता है। अनेकता में एकता तथा एकता में अनेकता। आधिभौतिक से अर्थात् अनेक नामरूपात्मक विश्व से विचार करने वाले मानव को जैसे आत्मा के एकत्त्व का अनुभव आता है वैसे ही एक ही आत्मज्ञान से अथवा इस एकत्त्व की अनुभूति से मनुष्य फिर अनेकता में जाता है तब वह टहनियाँ - पत्ते, फूल, फल से आनंदित होता है। जागृति से समाधि तथा समाधि से फिर जागृति, ऐसे ही योगीजन का क्रम रहता है। यह जैसे अश्वत्थ दिखता है उसी प्रकार एक ही नाभि से अनेकत्त्व अर्थात् एकत्त्व से अनेक आराओं में तथा अनेकत्त्व से फिर एकत्त्व में अर्थात् चक्र के आखिरी गोलाकार परिघरूपी धाव में जाते बनता है। इस प्रकार रथचक्र के धाव का उदाहरण बताया है।

संक्षेप में पूर्णपुरुष के पास दोनों प्रकार का सामर्थ्य होने कारण अश्वत्थ बनकर भी जैसा वह पूर्ण तथा एक ही है वैसे ही रथचक्र कहने पर भी वह पूर्ण और एक ही है ऐसा ऋषियों का कहना है।

अश्वत्थ तथा रथचक्र यह दो उदाहरण स्थिरता तथा गतिशीलता के परिचायक है। इन दोनों में एक रूप पूर्णत्त्व दर्शाता है। यह दो अनुभव पूर्ण का विश्व रूप में जड़त्त्व से तथा चैतन्य से सबको प्राप्त होता है।

अब तक हमने अश्वत्थ तथा रथचक्र रूपक से अनेकत्त्व में व्याप्त विश्व तथा एकत्त्व से अनुभूति में आने वाली आत्मा तथा परब्रह्म का पूर्णपुरुष से स्वरूपतः अभेद कैसे हैं यह पूर्णपुरुष की अनुभूति के संदर्भ में जान लिया। इन दोनों रूपकों में से किसी भी पद्धति से जो इस वेद्य पूर्णपुरुष को जानता है उसका मृत्यु भय निश्चित तौर पर नष्ट होता है अथवा कम होता है। मरणभयनिवृत्ति यह पूर्णपुरुष की अनुभवयुक्त ज्ञान की मुख्य कसौटी (टेस्ट) है। इसका पूर्णत्त्व के साधक को मन में निश्चित रखना है।

अब पूर्ण का तथा मृत्यु भय का क्या संबंध, ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। इसका उत्तर है कि, मनुष्य को मृत्यु का जो भय लगता है उसका कारण - मृत्यु से मनुष्य के व्यक्त जीवन को मर्यादा आती है। मृत्यु के बाद हमारा जीवन नष्ट होगा, समाप्त होगा, अब हम जिस जीवन को खुलकर आनंदमय बिताते है वैसे हम मृत्यु के बाद शायद

बिता पाएंगे अथवा नहीं, इस भय के कारण मृत्यु का भय लगता है। परंतु पूर्णपुरुष के पूर्ण अनुभवजन्य ज्ञान के साथ पूर्ण में व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों समाये हैं। इस ज्ञान के कारण हम कायम अव्यक्त रहकर जगत् (संसार) से दूर रहेंगे तभी, यह भय नष्ट होता है।

इस कारण 'मरणभयनिवृत्ति' यह पूर्णपुरुष के ज्ञान की कसौटी बनती है। 'मुण्डकोपनिषद्' के एक वचन में – (६०)

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते।।६६।।

ऋषि कहते हैं कि ''यह सर्वज्ञ, सब कुछ जानने वाले 'ज्ञानमय' अर्थात् संकल्पमय तप से ही उससे यह ब्रह्म (विराट रूप जगत्) तथा नाम, रूप, अन्न आदि का निर्माण हुआ है'' अर्थात् पूर्णपुरुष से ही नाम, रूप आदि सब कुछ हुआ है ऐसा उपनिषदों ने स्पष्ट कहकर हमें पूर्णपुरुष की सही कल्पना दी है।

यहां ब्रह्म शब्द का अर्थ विराट रूप जगत् ऐसा न कर यदि परब्रह्म भी किया, तो भी पूर्णपुरुष से ही नाम, रूप तथा परब्रह्म दोनों है यही कथन सिद्ध होता। यहां 'जायते' अर्थात् उत्पन्न होते हैं, ऐसा यदि क्रियापद भी है तो भी उससे अपने स्वरूप सिद्धान्त को बाधा नहीं आती। उल्टे विशिष्ट कल्पना तथा हेतु निश्चित कर उस प्रकार ईश्वर ने पूर्णपुरुष ने यह जगत् निर्माण नहीं किया, अपने इस कथन को बल मिलता है। पहले कोई भी विशिष्ट हेतु न रखते हुए सहज जैसे घटित होता है वैसे नाम, रूप, ईश्वर धारण करता है। इतना ही इस क्रियापद से सिद्ध होता है।

अतः यह 'जायते' क्रियापद पूर्णवाद साधक को ऐसी सूचना देता है कि, ''हे साधक! जिस कल्पना से तुम पूर्ण की अनुभूति लेने का प्रयत्न करोगे उसी कल्पना का तुम्हें अनुभव होगा (अर्थात् पूर्ण का अनुभव) ऐसा निश्चित नहीं है। वह अन्य रूप से भी आ सकती है। मात्र यह पूर्णपुरुष की ही अनुभूति है यह साधक को समझे बस लेकिन इसका अर्थ ईश्वर को तथा पूर्ण को पहले निश्चित कर उस प्रकार रूप लेते नहीं बनता अथवा भक्त अथवा साधक की इच्छानुरूप तथा कल्पनानुरूप धारण करते नहीं बनता ऐसा नहीं है। वह शक्ति उसमें निहित है।

हमारे दैनिक जीवन में भी कुछ बातें हम तय कर उस प्रकार बना लेते हैं। तो कुछ बातें नियति जिस प्रकार चाहती है वैसी सहज होती रहती हैं। उदाहरण बुढ़ापे में हम कैसा दिखें यह हम निश्चित नहीं कर सकते। उस समय जो होगा सो होगा। ऐसा ही कहना पड़ता है। फिर भी हम ऐसा काम करेंगे वैसा काम करेंगे अथवा कुछ विषय का अभ्यास करेंगे आदि वह संकल्प कर सकता है।

संक्षेप में 'जायते' इस क्रियापद का अर्थ ईश्वर सब कुछ पहले निश्चित कर उस बरहुकूम कार्य नहीं करता बल्कि कुछ बातें वह निश्चित कर उसे अमल में लाता है तो कुछ जैसे घटित हो रहा है, वह होने देता। यह अनुभव है। उसके इन दो शक्तियों के कारण 'जायते' इस क्रियापद से अपने पूर्णपुरुष के स्वरूप संबंध को स्वरूप धारण करने के क्रिया को कोई भी बाधा आती नहीं।

इतना करके भी एकाध को इस क्रियापद 'जायते' के कारण कुछ शंका है भी तो वह मुंडकोपनिषद् के इस वचन से दूर हो सकती हैं।

स वेदैतत् परं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रं।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्तिधीराः।।६७।।

यहां जिसमें संपूर्ण विश्व निवास करता है, निहित है (निहितं) उस पूर्णपुरुष को तुम जानो। वह निर्मल अर्थात् स्वयं प्रकाशित है। उस पूर्णपुरुष को जो निष्काम सिद्ध पूजते हैं वह पुनः जन्म-मरण के फेरे में नहीं पड़ते।

संक्षेप में, जिसमें विश्व निहित है ऐसे पूर्णपुरुष की भक्त भी उन्हें कुछ मांगना नहीं होता है फिर भी उपासना करते हैं। तुम भी उसकी उपासना करो यह ऋषि को यहां सूचित करना है। इससे पूर्णपुरुष के स्वरूप संबंधी तथा उसके पूर्णत्त्व की सही कल्पना आती है। 'जायते', निहितं इन दोनों का अर्थ विश्व यह उसी का स्वरूप है ही है। यही ध्यान में रखने की बात है।

यहां पूर्णपुरुष के अनुभूतिजन्य ज्ञान का विषय समाप्त हुआ है, पूर्णपुरुष की उपासना का दूसरा विषय शुरु होता है।

अब तक हमने पूर्णपुरुष के - अनुभूतिजन्य ज्ञान की संपूर्ण जानकारी प्राप्त की। अतः हमें पूर्णपुरुष के स्वरूप की सुस्पष्ट ऐसी संशयातीत निश्चित अब तक होना अपेक्षित है। फिर भी इसमें कोई यदि कमी रह गयी है अथवा निश्चित की ही निश्चित अगर किसी को करनी हो तो वह करते बनना चाहिए, इसलिए पूर्णवादाचार्य ने इस अध्याय के अगले भाग में पूर्णपुरुष की उपासना के संबंध में जानकारी उपनिषद् द्वारा अत्यंत सरल रीति से यहां बताया गया है, उस पर हम अब विचार करेंगे।

कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता से कहते है-

सर्वे वेदा यत्पमानन्ति । तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरंति । तत्तेपदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।६८।।

यह संपूर्ण वेद नाना प्रकार से जिस परमपद का बार बार प्रतिपादन करते हैं, संपूर्ण

तपादि साधनों का एकमात्र जो लक्ष्य रहता है, जिसे प्राप्त करने की इच्छा से साधक निष्ठा से ब्रह्मचर्यादि कठिन व्रत कर वह पूर्णपुरुष ईश्वर का परम तत्त्व अथवा पद मैं तुम्हें एक शब्द में नहीं एक अक्षर में कहता कि ॐ यही वह पद है।

यहां ॐ यह उस पूर्णपुरुष का नाम है (जैसे, गणेश, विष्णु) कह कर उसके रूप का एक अक्षर में बोध किया है। क्षर तथा अक्षर अविद्या पर-अपर ब्रह्म यह दोनों ही ॐकार से अर्थात् पूर्णपुरुष से कैसे व्याप्त है यह विचार अब तक हमने किया। वैसे ही आत्मा की अनुभूति के लिए ॐकार की उपासना वह और उसकी रश्मी अर्थात् मात्रा में भेद कर कैसे करनी है यह भी विषय हमने अब तक अध्ययन में लिया। (पूर्णवाद ग्रंथ, पृ. २२) यहां ॐकार की उपासना पूर्णपुरुष की अनुभूति के हेतु पूर्णपुरुष के स्वरूप के निश्चित के लिए कैसे करनी है यह विषय हम देखेंगे। इसके लिए छांदोग्यउपनिषद् के इस वचन का हम अध्ययन करेंगे।

सर्वम् खल्विदम् ब्रह्म तज्जलानिति शात उपासीत।
अथ खलक्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिन्ल्लोके पुरुषो।।
भवति तथेतः प्रेत्थः भवति, सक्रतु, कुर्वित।।६९।।

यह सब उसके जड़-चेतन विश्व ब्रह्म ही है। यह सब उसके ब्रह्मा के अथवा पूर्णपुरुष के स्वरूप ही हैं, अतः उसकी शांत चित्त से उपासना करनी चाहिए। वास्तव में निश्चित ही यह पूर्णपुरुष ही हैं। इस भूलोक में मनुष्य का जैसा निश्चय होता है वैसे ही उसको प्रिय होता है। अतः विद्वानों को चाहिए कि वह ॐकार इस अर्थ से जाने गये यह सब कुछ पूर्णपुरुष ही हैं ऐसे पहले निश्चय करना चाहिए और फिर ॐ रूपी पूर्णपुरुष की शांत चित्त से उपासना करनी चाहिए।

अर्थात् यहां निश्चय जो कहा है वह यह कि विश्व तथा परब्रह्म का उस पूर्णपुरुष से स्वरूपतः अभेद है, परब्रह्म यह जैसे पूर्णपुरुष का रूप है वैसे ही हमें दृगोचर होने वाले जड़-चेतन विश्व भी उसी पूर्णपुरुष के रूप हैं। परब्रह्म यह पूर्णपुरुष का रूप है यह बात तत्काल मन में बैठती है। परंतु दृष्य विश्व यह पूर्णपुरुष का ही रूप है, यह बात आसानी से गले नहीं उतरती अतः पूर्णपुरुष की उपासना करते समय विश्व यह उसका रूप है ऐसा दृढ़ विश्वास करते समय यदि थोड़ी भी शंका मन में है तो वह दूर कर वैसी दृढ़ श्रद्धा रखने का आवाहन श्रुति करती है। किसी भी उपासक को कुछ निश्चय तो करना ही पड़ता है। यहां पूर्णपुरुष के उपासक को 'विश्व', उसके 'ईश्वर' तथा परब्रह्म पूर्णपुरुष के ही रूप है। (अर्थात् ॐ का रूप है) ऐसा निश्चय करना चाहिए यह श्रुति वचन है।

छांदोग्य उपनिषद् के उपर्युक्त वचन में यह विश्व पूर्णपुरुष का रूप है ऐसा यदि

निःसंदिग्ध कहा है तो भी 'परब्रह्म' का अथवा आत्मा का उसमें नामनिर्देश स्पष्ट नहीं है। अतः उपर्युक्त निश्चय के संबंध में पाठक के मन में किंचित - जरा भी संदेह नहीं होना चाहिए इसलिए बृहदारण्य का यह वचन देते हैं -

सर्वा महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषाऽन्तहृदय
आकाशस्तस्मिंशेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपती
स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष
सर्वेश्वर एष भूतधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण
एषां लोकानामसंभेदाय।।७०।।

वही महान् आत्मा जो प्राण में विज्ञानात्मा है तो मानव के अंतर हृदय रूपी आकाश में रहकर सबको स्ववश रखने वाला अर्थात् सभी इंद्रियों को अपने नियंत्रण में रखने वाला तथा सबका अधिपति है। यह आत्मा तथा आत्मतत्त्व पुण्य तथा पाप कर्मों से न्यून तथा अधिक होता नहीं। वह सबका ईश्वर पंचतत्त्वों का अधिपती भूतपाल है। वह सबका अर्थात् सभी मानवों का अथवा चन्द्र-सूर्य आदि लोक को धारण करने वाला है तथा यह विभिन्न प्रकार के लोक अपनी-अपनी मर्यादा में रहे इसलिए वह किनारों को तथा उन्हें जोड़ने वाले सेतु का कार्य भी करता है।

महान अज, अन्तर हृदयस्थ आदि विशेषणों को लगा कर जिस आत्मा का यहां उल्लेख किया है वह परब्रह्म से अन्य कुछ भी संभव नहीं। मात्र परब्रह्म ही सत्य मानने वाले को इस आत्मा के वर्णन का ईश्वरत्त्व तथा लोकपालत्त्व यह बाधा लगने की संभावना है। यह सत्य है। परंतु अज, हृदयस्थ आदि विशेषणों से यह वर्णन परब्रह्म का ही है यह निश्चित। आत्मा की चार अवस्थाएं - जाग्रती, स्वप्न, सुषुप्ती तथा तुरीय है। आत्मा की तुरीय अवस्था ही परब्रह्म है तथा यही उस पूर्णपुरुष का शिव रूप है। परंतु इसी आत्मा के मनोव्यापार से युक्त जागृति, स्वप्न, सुषुप्ती अवस्थाओं से युक्त जीवभाव यह उसका ईश्वर भाव तथा विष्णु रूप है जिसे निर्जीव अथवा जड़ कहा जाता है। वहां भी वह साक्षी भाव से रहता ही है। अतः आत्मा पूर्णपुरुष का ही रूप है ऐसा कहने पर विश्व, विष्णु तथा परब्रह्म पूर्णपुरुष के ही रूप हैं। यह इस वचन 'अज, महान्, हृदयस्थ आत्मा प्राणों में' विज्ञानमय तथा भूताधिपती है'' इस वचन से सिद्ध होता है। विज्ञानमय का अर्थ जागृती तथा स्वप्न इस अवस्था में जो स्थूल अन्तःकरण रहता है उसे विज्ञान कहते हैं। और उसमें प्रतिबिंबित होने वाले चैतन्य को विज्ञानमय कहा जाता है। जागृत अवस्था में जगत् से संबंध आने के कारण तथा जगत् पूर्णपुरुष का रूप है। अतः यह आत्मा सर्वेश्वर होने के कारण वह पूर्णपुरुष का रूप है यह सिद्ध होता है। यह

विषय परब्रह्म के अध्ययन के बाद और अधिक स्पष्ट होगा। अतः आत्मा का यह वर्णन परब्रह्म को लेकर पूर्णपुरुष का ही है यह सिद्ध होता है।

पूर्णपुरुष की उपासना करने को प्रेरित हुए साधक को यह जानना आवश्यक है कि ॐ यह उस पूर्ण पुरुष का नाम तथा रूप है। इस ॐ की उपासना करते समय विश्व का, विष्णु रूप ईश्वर का तथा परब्रह्म तत्त्व का पूर्णपुरुष से अभेद है, यह पक्का निश्चय मन में रखकर ही साधक उपासना में बैठें। वैसे ही वह उपासना सिद्ध हो इसलिए उसके दस दोषों का त्याग करें। इन दोषों का कष्ट से तथा प्रयत्न से त्याग किये बिना उपासना का फल कदापि नहीं मिलता। ''ज्ञान जाते वाया। यत्न होतो क्षीण।'' ऐसी साधक की अवस्था होती है। अतः साधक तथा उपासक को चाहिए कि वह उपासना के समय यह दस दोष अपने में न आये, इसके लिए उसे सदैव जागृत रहना आवश्यक है।

इसका पहला दोष - निश्चय का पक्का न होना - अपनी उपासना तथा उसके लक्ष्य के बारे में यदि जरा भी शंका मन में रही तो उपासना का फल नहीं मिलता। एक बार निश्चय करने के बाद जब हम उपासना चालू करते हैं तो किसी विपरीत टिप्पनियों के बावजूद हमारे मन का निश्चय ढलना नहीं चाहिए। दूसरा दोष - अपने गुरू अथवा श्रेष्ठ पुरुष तथा ब्राह्मण की निंदा - हमारी उपासना की स्थिति में हर उपासक को चाहिए कि वह इस दोष से बचे। उनका कहना हमें स्वीकार न भी हो तो भी। निंदा करना साधक को सर्वदा वर्ज्य है। अपने गुरु के प्रति मन में नितांत श्रद्धा का होना आवश्यक है। वैसे ही अपने गुरू के विरुद्ध कुछ भी बोलना तथा सुनना साधक को निषिद्ध है। इस पूर्णपुरुष उपासना मार्ग में गुरू शिष्य के पास सदैव (जेथे जातो तेथे तू माझा सांगाती) रहता है तथा इस मार्ग में वह दो कदम आगे रहता है, यह बात साधक कभी न भूलें।

तीसरा दोष अभय के संदर्भ में - पूर्णपुरुष की उपासना से मनुष्य अमृतत्त्व अर्थात् अमरता की ओर बढ़ता है। ऐसे समय हमारा मन अथवा जीवन किसी भय से ग्रस्त न हो न जिसके पास अभय नहीं है और जो सदैव दुःख से तथा भय से ग्रस्त हो वह अमर होकर भी क्या लाभ? अभय अमरत्त्व की पहली सीढ़ी है। गीता में भी दैवी गुणों में - 'अभय सत्वसंशुद्धि' ऐसा कहकर अभय दैवी गुण के लिए पहली सीढ़ी है। ऐसा बताया गया है। लोंगों की आम धारणा (विचार) है कि जो सदैव साहस भरा काम करता हो तथा वीर वृत्ति से रहता हो। अनावश्यक साहस में भी पड़ता हो वह अभय रूप रहता है। लेकिन यह उतना ठीक नहीं है। आक्रामक होना कोई अभय का लक्षण नहीं माना जाता। अभयत्त्व मन की अवस्था है। मन संतुलित तथा भय रहित होना चाहिए। वह किसी भी चिंता से ग्रस्त ना हो, दुःख से भी नहीं। कई बार भय के कारण ही प्राणी दूसरों पर

आक्रमण करते देखे गये है। उसे अभय नहीं कहा जाएगा।

अब इसके आगे भी और दोषों का विचार करेंगे। वास्तव में आगे के विभिन्न वचन, जो पूर्णवादाचार्य ने पूर्णपुरुष के सिद्धान्त के संदर्भ में यद्यपि व्यक्त किये हैं फिर भी वह इस प्रकार रखे कि वह पूर्णवाद उपासक के भी काम आ सके। इसलिए उनके इस दृष्टि का लाभ भी पूर्णपुरुष के उपासक को भी उतने ही मार्गदर्शक है। यह बात आगे आने वाले अध्ययन में भी काम आने वाली हैं। बृहदारण्यक के एक वचन में उपनिषदकार कहते हैं-

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्ताभिन्नन्तर्हृदये।
यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः।
सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशस्ति यदिदं किंच।।७१।।

''मनोमय ऐसा पुरुष अन्तर्हृदय में स्थित है और वही सबका अधिपति है और वही संचार तथा शासन करता है।''

पिछले वचन का तथा इस वचन का अर्थ मूलतः एक है। पिछला वचन सविस्तर है। यह संक्षेप में है। दोनों वचन ईश्वर का ही वर्णन करते हैं। पहले में उसे आत्मा तथा दूसरे में मनोमय पुरुष कहा है। इससे पहले वचन का अर्थ लगाते समय हम आत्मा अर्थात् पूर्णपुरुष ऐसा जो किया है वह कितना सार्थ है यह पाठक को ज्ञात होगा।

अब उपासना की दृष्टि से देखते हुए मन को शरीर के संबंध में अथवा अपने आप के प्रति जितना अपनापन लगता है वैसा वह आत्मा के संबंध में नहीं रहता। इसलिए मनोमय ऐसा पुरुष रहता है तथा ईशत्त्व आत्मा में होता है। आम अज्ञानी मनुष्य को मन के प्रति अपनापन होता है तथा आत्मा और ईश्वर के प्रति परायेपन का भाव रहता है। परंतु उपासना से मनुष्य में आत्मा तथा ईश्वर के प्रति अपनापन बढ़ते जाता है। एक समय ऐसा आता है कि उसे आत्मा और ईश्वर अपना ही लगता है तथा शरीर और मन के प्रति परायापन लगता है। उदाहरण हम गृहस्थी जीवन में संतानादि की उत्पत्ति करते हैं लेकिन बाद में संपर्क के कारण लड़कों के प्रति प्रेम के कारण तथा उनके सुख के लिए अपना सुख तथा प्रसंगोपात खुद का अपनापन भी दूर रखते हैं। ऐसा ही ईश्वर के संबध में है। अपने निर्माण किये जगत् के लिए तथा अपने भक्तों के लिए ईश्वर अपना ईश्वरत्त्व थोड़ी देर के लिए दूर रखकर मानव रूप धारण करता है, तथा दलित का रूप लेकर (विठु महार) भक्तों का मददगार बनता है। तात्पर्य, मनोमनय पुरुष, सबका अधिपति ईश्वर, महान आत्मा तथा परब्रह्म - यह सब उसी पूर्ण के स्वरूप होते हैं। अतः पूर्णपुरुष की उपासना करने से इसकी अनुभूति उपासक को हो सकती है।

अब तक हमने जो दो वचन का अध्ययन किया उसमें एक में परब्रह्म अथवा

आत्मा दूसरे में मनोमय पुरुष अर्थात् विराट पुरुष इनका एक एक का पूर्ण से अभेद है यह हमने देखा। अब हम एक ऐसे वचन पर विचार करेंगे जिसमें इन दोनों का पृथक निर्देश है तथा उनका पूर्णपुरुष से अभेद है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का यह वचन -

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्त्वाऽमृता भवन्ति।।७२।।

"ऋषि कहते हैं कि, जीवन समुदायरूप विराट पुरुष से व्यापक, ब्रह्म से भी परे ऐसा होकर भी वह पूर्णतत्त्व समस्त प्राणी मात्र में उनके शरीर में व्याप्त होकर गुप्त रूप से विद्यमान है। इस रीति से इस संपूर्ण विश्व को चहु ओर से घेर कर तथा उस विश्व को स्वस्वरूप से धारण करने वाले उस एकमात्र देवता अर्थात् पूर्णपुरुष को पहचान कर ही ज्ञानी जन परमपुरुष की अर्थात् अमृतत्त्व की प्राप्ति कर लेते हैं।"

इस वचन में विश्व का नेतृत्त्व ईश्वर के रूप में जैसे एक ही देवता को दिया जाता है, वैसे ही उसे पहचानने पर मनुष्य को अमरत्त्व प्राप्त होता है ऐसा सभी ने कहा है। अतः परब्रह्म को जानने के बाद जो अमरत्त्व प्राप्त होता है, वही इसे ईश्वर रूप (विष्णु रूप) देवता को पहचानने के बाद प्राप्त होता है ऐसा यहां स्पष्ट कहा गया है। यह ईश्वर जगत् का ईशात् कर्म करने वाला है। लेकिन इसलिए वह परब्रह्म से गौण है ऐसा कहने पर परब्रह्म के ज्ञान से जो फल मिलता है वहीं इसके ज्ञान से कैसे प्राप्त हुआ? अतः इसका अर्थ ऐसा है कि - विश्व, ईश्वर, परब्रह्म इनका पूर्ण से स्वरूपतः अभेद है। परंतु इस पूर्णपुरुष को इनके तीन रूपों को न जानने से जीव भ्रमणशील बनता है तथा जन्ममृत्यु के फेरे में पड़ता है।

अब उपासना की दृष्टि से इस वचन को देखते समय एक महत्त्व की बात याद रखनी है वह यह कि, पूर्ण की उपासना अमृतत्त्व के पास मरणभय निवृत्ति की ओर ले जानी वाली है। मनुष्य को मर्त्य शरीर के प्रति लगने वाला अपनापन तथा अजअमर आत्मा के प्रति लगने वाला परायापन यही मृत्यु भय का मुख्य कारण है। परंतु पूर्ण की उपासना से, जीव का स्वरूप आत्मा के प्रति तथा परब्रह्म के प्रति अपनापन जैसे जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे मनुष्य अमृतत्त्व की ओर जाकर मृत्युभय से मुक्त होता है। परंतु पूर्णपुरुष में विश्व तथा ईश्वर समाया होने के कारण आत्मा के अपनेपन के साथ मनुष्य में जगत् तथा शरीर के प्रति निरुत्साह तथा प्रतिकूलता निर्माण नहीं होती। "तुका म्हणे गर्भवासी। सुखे घालावी आम्हासी" इस प्रकार मन की स्थिति बनती है। ईश्वर की अनुभूति के कारण जीवन प्रभुत्त्व से कैसे जिये यह उसे ठीक तरह से समझता है। इसलिए वह अन्य आध्यात्मिक व्यक्ति जैसे मोक्ष तथा मुक्ति के लिए लालायित नहीं

रहता। सारांश, अभय के बिना तथा जीवन पर प्रभुत्त्व के बिना अमरत्त्व की ओर बढ़ना कभी भी श्रेयस नहीं है। यह बात साधक कभी नहीं भूले।

पूर्णपुरुष को न जानने से अज्ञानी जीव कैसे भरमाता है यह बड़ी मार्मिकता से श्वेताश्वतर के इस वचन में बताया है।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्त्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्त्वमेति।।७३।।

इस वचन का अर्थ भक्तिमार्ग के पद्धति से ''ईश्वर इस जीव को शरीर रूप संसार चक्र में उसके कर्म के आधार पर घुमाता है। जब यह जीव अपने आप को तथा परमात्मा को जानता है तब परमात्मा की कृपा संपादन कर वह इससे मुक्त होता है। इस प्रकार अर्थ लगाने की परंपरा है। इसलिए ''ईश्वरः सर्वभूतांना हृद्देशेर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया।'' यह श्लोक इस वचन से ही गीता में आया है। ऐसा तर्क दिया जाता है। लेकिन यहां वह गैर लागू है। अतः पूर्णवादाचार्य का दिया हुआ अर्थ ही योग्य है।

उपासना की दृष्टि से यह वचन महत्त्वपूर्ण है, 'सर्वसंस्थे' इस पद के कारण पूर्णपुरुष सबकी संस्था, सबका आश्रय स्थान है यह सिद्ध होकर प्राणी मात्र का तथा विश्व का पूर्ण से अपने नाम रूप सह अभेद है यह सिद्ध होता है। कई बार अद्वैत के सीख के कारण, अर्थात् परब्रह्म नामातीत है ऐसा कहने के कारण ईश्वर के नाम का महत्त्व साधक की समझ में नहीं आता ''उपजलिया बाळकाशी । नाम नाही तयापाशी।।'' यह यद्यपि सही भी है तो भी 'ठेवलीया नावे ओ देत सुटे' यह भी सही हैं। अतः उपासना में नामरूप सहित ध्यान धारणा करना आवश्यक है। उपास्य देवता को किसी भी नाम से पुकारे तो चलता है यह मात्र भ्रम है। सर्व देवता एक पूर्णपुरुष अथवा ईश्वर में स्थित होने के कारण, आज एक दैवत की उपासना की, कल किसी दूसरे की तो भ्रम वह ईश्वर की ही उपासना होती है इसलिए वह चल सकती है यह भी एक भ्रम ही है। अतः पूर्णपुरुष के उपासक को हम पूर्णपुरुष की ही उपासना करते है, ॐ यह उसका नाम रूप है यह कभी भी भूलना नहीं चाहिए। वैसे ही उपास्य दैवत में और हम में कुछ अंतर है यह भी उपासक ठीक प्रकार से समझ ले। अद्वैत ज्ञान से प्रभावित होकर 'मै' पूर्णपुरुष हूँ इस प्रकार समझना साधक के लिए अत्यंत खतरनाक है तथा अपना अहंकार बढ़ाने का कारण बनता है। यह स्थिति आगे कालांतर से सहज अनुभूति में आने जैसी है। परंतु उपासना में मैं पूर्णपुरुष से अलग हूँ और मुझे उसके प्रति अपनापन बढ़ाना है, यह हमारी भूमिका होनी चाहिए। सारांश, नामरूप के बारे में आग्रह न होना, उपासक-उपास्य

अंतर न मानना यह दो महत्त्वपूर्ण दोष उपासक को दृढ़ता से अपने अन्तःकरण तथा मन से निकालने चाहिए, यह इस वचन का अर्थ है।

ॐ कार रूप पूर्णपुरुष की उपासना जिसने शुरु की है उसे चाहिए कि वह अपना दैनिक जीवन किस ढंग से व्यतीत करे, इस संदर्भ में एक महत्त्व की सूचना 'ईशावास्य' उपनिषद् के पहले श्लोक में उपनिषदकार ने दी है। यह वचन विश्व तथा परब्रह्म का पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध है यह सिद्ध करने वाला होने के कारण हम उस पर विचार करेंगे।

ॐ ईशावास्यस्मिदं सर्वम् यतकिंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्।।७४।।

इस संसार में (जगत्) जो कुछ भी जड़ चेतन रूप भी अल्प स्वल्प होते जाता है वह ईश्वर से व्याप्त है – ईश्वर रूप है ऐसा समझें। इसी से मैं की व्यथा नष्ट होती है। जगत् की प्रत्येक वस्तु ईश्वर का धन रूप होने के कारण उसके प्रति आसक्ति का त्याग कर ही तुम उसका उपभोग करे। इसमें आसक्ति का त्याग यही सही त्याग है, वह कर तुम अपना निर्वाह करो। दूसरे के धन की अभिलाषा मनुष्य को कभी भी नहीं करनी चाहिए।

इस वचन में प्रमुखतया यह बताया गया है कि यह सब जगत् ईश्वर तथा पूर्णपुरुष रूप है। यहां त्याग जो कहा है वह संसार (गृहस्थी) का है। इस संसार का तथा जगत् का पूर्णपुरुष के साथ अभेद बताकर वैयक्तिक प्रपंच भी असल में हमारा नहीं है, वह परमेश्वर का ही है यह समझाया है। इसलिए दूसरे के धन की आसक्ति नहीं रखे, इस नियम से यह ईश्वर का संसार मनुष्य अपना न माने और उसके संबंध में अनावश्यक आसक्ति न रखे। उल्टे त्याग पूर्वक उसका उपभोग ले। यही बात इसमें बताई है।

उपासना की दृष्टि से यह वचन साधक को कहता है कि, एक बार यदि तुमने पूर्णपुरुष की उपासना शुरु की कि तुम्हारे वैयक्तिक संसार की जिम्मेदारी ईश्वर पर तथा पूर्णपुरुष पर आती है। अतः ईश्वर का संसार ईश्वर व्यवस्थित पार करेगा यह विश्वास मन में रखकर साधक को चाहिए कि वह संसार (गृहस्थी) की चिन्ता से अपने आप को मुक्त कर ले। तथा शांत चित्त से ॐकार की उपासना में व्यस्त रहे। जगत् की हर वस्तु यह ईश्वर का धन है। अतः उसके प्रति अतिरिक्त आसक्ति तथा लोभ में हम अपने आप को उलझाये न रखे।

परंतु इसका अर्थ वह अपने गृहस्थी के प्रति उदासीन, बेपर्वा तथा बेजबाबदार रहे ऐसा कदापि नहीं। ईश्वर को (नैवेद्य) भोग चढ़ाने पर कहे हे ईश्वर यह सब तुम्हारा है, मेरा नहीं, यह कहकर जैसे हम वह भोजन ग्रहण कर लेते है, वैसे ही गृहस्थी की

अभिलाषा आसक्ति ईश्वर को अर्पण करने के बाद वह गृहस्थी हमें जबाबदारी से निभानी है। मात्र मन से हम परिणामात्मक चिंता से मुक्त बने रहे। सारांश, मनुष्य को अपनी गृहस्थी साक्षेप (व्यवस्थित) से कर मन से सहज रहकर पूर्णपुरुष की उपासना करनी चाहिए।

पूर्णपुरुष की सिद्धी–स्वरूप :

अब तक हमने उपनिषद् के आधार से पूर्णपुरुष की उपासना संबंधी जो ज्ञान प्राप्त किया, उस उपासना की सिद्धी के संवंध में जानकारी देने वाले इसी ईशावास्यउपनिषद् का और एक वचन लेकर उस पर विचार करेंगे।

तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वंतिके।
तदंतरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास बाह्यतः।।७५।।

''वह पूर्णपुरुष जगत् रूप होने के कारण उत्पत्ति, स्थिति, लय से वह चलती लगता है, वह परब्रह्म रूप होने से वह अखण्ड सर्वत्र व्याप्त होने के कारण वह स्थिर भी लगता है। विश्व रूप से वह अपने करीब – आस–पास होता है, तो आत्म तत्त्व अथवा परब्रह्म रूप से वह अपने से बहुत दूर बुद्धि को अगम्य ऐसा लगता है। वह सब के अन्तर्यामी, आत्मत्त्व से – शिवरूप से विद्यमान रहता है, और सब के बाहर जगत रूप से व्याप्त है।''

सारांश, पूर्णपुरुष के दोनों रूपों में परस्पर विरोधी भाव, गुण तथा क्रिया अर्थात् पूर्ण विधर्म रहकर भी वह दो रूप निरंतर एक स्थान पर अर्थात् पूर्णपुरुष के स्वरूप में दृगोचर (दिखते हैं) होते है। अतः विश्व तथा परब्रह्म का पूर्णपुरुष से स्वरूपतः अभेद है यह सिद्ध होता है। इस प्रकार के वचनों का अर्थ प्रायः परब्रह्म पर लगाया जाता है, वह जब इस प्रकार से हमारे सामने आता है तब वह सकृत रूप से हमें जाँचता नहीं।

परंतु साक्षेप से जीवन जीने वाले पूर्णपुरुष की उपासना करने वाले उपासक की उपासना जब सिद्ध बनती है तब यह दोनों स्वरूप का एक ही स्थान पर एक ही पूर्णपुरुष में उसे प्रत्यक्ष अनुभव आता है 'पूर्णपुरुष की उपासना से अपने जीवन में ''मनी धरावे ते ते होते। विघ्न अवघेची नासोनी जाते।'' यह अनुभव जिस प्रकार उपासक को आता है वैसे ही ''ठेविले अनंते तैसेची रहावे। चित्ती असो द्यावे समाधान।'' यह भी विरुद्ध अनुभव योग्य समय पर लेता है। वैसे ही साधक के जीवन में जब वैश्विक शक्ति की जरूरी होती है तो वे शक्तियां उसे मदद करती हैं। जब ईश्वर की मदद अपेक्षित रहती है तो वह भी मिलती है। जब सच्चिदानंद साक्षी रूप से रहने की आवश्यकता है तो वह भी अनुभूति उसे प्राप्त होती है। सारांश, जो चाहो पूर्णपुरुष का स्वरूप निकट करने की

तथा अनावश्यक को दूर रखने की कला जिस समय पूर्णपुरुष की ही कृपा से प्राप्त होती है, तब पूर्णपुरुष उपासना सिद्ध हुई ऐसा मानकर चले। अतः जीवन यह कला है, उसे पूर्णता की ओर यदि ले जाना है तो ॐकार उपासना अत्यंत जरुरी है। यह पूर्णवाद का कथन है।

जिस प्रकार भक्त को उसकी भक्ति सिद्ध होने पर सब तरफ उसे उपास्य दैवता दिखाई देता है। उस प्रकार पूर्ण के उपासक को भी उसकी उपासना सिद्ध होने पर उसे सब तरफ से पूर्णपुरुष का ही अनुभव किस प्रकार आता है यह दर्शाने वाला एक वचन प्रस्तुत है।

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः जानिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः।।७६।।

''यही देवता प्राची आदि दिशा उपदिशा है। आगे, पीछे, मध्य सब जगह और हर समय वही है। विश्व का भोक्ता तथा त्यक्ता यही है। ''सारांश भूत-भविष्य, वर्तमान में अनुभव आने वाला यह बाह्य जगत् तथा अंतस्थ विष्णु अथवा शिवतत्त्व सब कुछ यही पूर्णपुरुष है। प्रत्येक के अन्तःकरण में वास करने वाला भी यही है। इस प्रकार की अनुभूति उपासक को आती है। इस वर्णन से भी पूर्णपुरुष के स्वरूप का उत्तम बोध हमें हो सकता है। परंतु देवता का वर्णन पूर्णपुरुष का ही है, अथवा मायोपाधिक ईश्वर का अर्थात् राम-कृष्ण आदि दैवत के है ऐसी शंका पाठक के मन में आना स्वाभाविक है। परंतु वैसे है ऐसा मान भी लिए तो भी वह पूर्णपुरुष का नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनका भी पूर्ण से अभेद ही है। परंतु यहां इस वचन का देव इस शब्द का अर्थ पूर्णपुरुष ही है यह 'श्वेताश्वतर' के इस वचन से सिद्ध होगा। इस वचन में -

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपोरुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भ जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभय संयुनक्तु।।७७।।

''जो देवता की उत्पत्ति, स्थिति,-संहार करने वाला है, उन्हें अपने शासन में रखने वाला है। अतः वह उसका अधिपति चालक है। जिसने हिरण्य गर्भ को निर्माण किया है वह दुःख का नाश करने वाला सर्वज्ञ परमेश्वर हमें शुभ बुद्धि दे।''

इससे वेदों में तैंतीस करोड़ देवता है और उन सबका देवता अगर कोई है तो वह परमदेव विद्यमान है और वह देव अपनी दृष्टि से इस सारे विश्व का नियंत्रण करता है। यह बात वेद प्रामाण्य है। यहां उस परमदेव को महर्षि कहा गया है।

महर्षि अर्थात् महान ज्ञानी-सर्वज्ञ-सबका अन्तःसाक्षी होने से उसका परब्रह्म ऐसा अर्थ निकालना संभव है। अतः सभी देवों का देव विश्व का नियंत्रण करने वाला परब्रह्म रूप तथा साक्षी रूप ऐसा होने से उसे परब्रह्म कहने में कोई हरकत नहीं। इस वचन का

परमदेव अर्थात् पूर्णपुरुष ही है यह सिद्ध होता है। वैसे ही पिछले वचन में देव शब्द का अर्थ परमदेव ऐसा ही है यह भी समझ में आता है। अन्य स्थान पर जहां परमब्रह्म कहा जाता है वहां ईश्वरत्त्व नहीं होता, और जहां ईश्वरत्त्व बताया जाता है वहां परब्रह्म नहीं होता। परंतु इस श्लोक में देव को महर्षि कहकर परब्रह्म तथा ईश्वरत्त्व यह दोनों यहां है ऐसा स्पष्ट कहने से यह वर्णन पूर्णपुरुष का ही है –यहां देव पूर्णपुरुष ही है यह निःसंशय सिद्ध होता है।

इसी वचन का और विस्तार से वर्णन चाहिए तो वह इस श्वेताश्वतर के इन वचनों में मिलता है।

तदेवग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः।।७८।।

''वही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमाः अन्य प्रकाश युक्त शुक्रादि नक्षत्र है। वहीं शुद्ध परब्रह्म तथा विराट प्रजापति भी है।''

इस वचन में यह सभी देवता वही है ऐसा कह कर देवलोक तथा शुद्ध परब्रह्म का पूर्ण से अभेद बताया है तथा पिछले दो वचनों का देव शब्द का अर्थ पूर्णपुरुष ही हैं यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है। इसके बाद के श्वेताश्वतरउपनिषद् के वचन में उसका तथा आधिभौतिक का वह स्त्री है, पुरुष है, कुमार है कुमारी भी है ऐसा कहकर स्वरूप संबंध बताया है। अतः वह अर्थात् पूर्णपुरुष ही है यह कथन पक्का होता है।

यहां पर पूर्णपुरुष की उपासना के सिद्धी के संबंध का विषय पूर्ण होता है तथा आगे उपासना के संबंध का नया विषय शुरु होता है।

पूर्णपुरुष की सिद्धी – शक्ति :

पूर्णपुरुष की उपासना सिद्ध होने के बाद निम्नलिखित बातें प्रमुख रूप से होती है।

१. विश्व तथा परब्रह्म यह परस्पर विरोधी भाव, गुण, क्रिया आदि के दोनो रूपों का एक ही पूर्णपुरुष में प्रत्यक्ष अनुभव करना।

२. जीवन में पूर्णपुरुष के जिस रूप की आवश्यकता होगी वह रूप उसकी कृपा से प्रकट होकर जीवन प्रभुत्त्व से जीने में मदद होना।

३. सर्वज्ञ – सभी जगह पूर्णपुरुष अर्थात् केवल शुद्ध, सत्य परमेश्वर व्याप्त है तथा प्रत्येक के अन्तःकरण में आत्मरूप शिवतत्त्व से वहीं वास करता है इसकी अनुभूति साधक को आती है।

इस प्रकार पूर्ण की उपासना के सिद्धी से साधक को विश्व, ईश्वर तथा परब्रह्म का पूर्णपुरुष से स्वरूपसंबंध है इसका प्रत्यक्ष अनुभव आता है। परंतु मात्र पूर्णपुरुष के

स्वरूप सिद्धी से पूर्ण की सिद्धी प्राप्त हुई ऐसा नहीं होता। उसमें एक महत्त्वपूर्ण बात बहुत बार रह जाती है। इसी एक महत्त्वपूर्ण बात का अध्ययन हम करने जा रहे हैं और उसी से यह विषय पूर्णता की ओर जाने वाला है। यह विश्व माया का कार्य है ऐसा जो हम सुनते आये हैं उस माया का सही तथा निश्चित अर्थ हमें समझने वाला है। इसके लिए श्वेताश्वतर के इन वचनों का अर्थ पहले देखेंगे।

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वान् ल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे संभवेच य एतद्विदुर अमृतास्ते भवन्ति।।७९।।

''य एको जालवानीशत ईशनीभिः'' वह जालवान अद्वितीय पूर्णपुरुष तथा परमेश्वर अपने शक्ति से जगत् रूपी जाल निर्माण कर अपने आपको ढ़क लेता है, छिपाता है और अपनी शक्ति से जगत् रूपी जाल का नियमन कर भूतादि सभी लोगों का यथायोग्य संचालन तथा नियमन करता है। अतः उत्पत्ति-स्थिति-संहार होते समय भी उसका एकांत भंग नहीं होता। इस पूर्णपुरुष को जो पहचानता है वह अमृतत्त्व को प्राप्त होता है।

यहां जाल शब्द का अर्थ माया किया है तथा माया का निर्माणकर्ता वह जालवान है तो ईश्वर यह कारण तथा माया कार्य ऐसा कहना पड़ता है। तो मकड़ी अपने शरीर से अनेक जाल बनाती है (मकड़जाल) और उसकी जाल बनाने की क्षमता का बहुवचन होकर वह अनेक जाल बुनता है। अपना ही बनाये जाल का नियमन तथा संहार करने की क्षमता जैसे मकड़ी में रहती है वैसे ही जालवान ईश्वर में माया निर्माण करने की शक्ति उसका नियमन तथा संहार करने की क्षमता है ऐसा कहना पड़ता है। अतः माया यह कोई कारण नहीं है। ईश्वर, जगत् यह कार्य नहीं है कह सकते है। सारांश यह पूर्णपुरुष तथा ईश्वर एक होकर वह भिन्न भिन्न रूपों में विहार करता है।

वैसे ही जगत् में व्यवहार करते समय सब कुछ वह तो है, ऐसा होते हुए भी उसी का रूप सर्वत्र यत्र-तत्र होते हुए भी सामने आये हुए हर चीज से ईश्वर अलग है ऐसे समझते रहता है। ईश्वर सर्वत्र अखण्ड प्रत्यक्ष दिखते हुए भी मनुष्य उसे अपने-अपने ढंग से ढूंढ़ते ही रहता है। ''जो तिल माही तेल है - चकमक में आगी । तेरा साई तुज्ज में जाग सके तो जाग'' (कबीर)।

ईश्वर तथा पूर्ण का ध्यान साधने वाले साधक के मिटाई हुई आँखों के सामने हर क्षण उसी का रूप होते हुए जो भी कोई दत्त बनकर उसके सामने खड़ा होकर भी, वह उसे नहीं पहचानता जो दिखाई दे रहा है 'वह' नहीं है मानकर बैठता है। दिखता है उससे वह निराला है ऐसे मान बैठता है। यहीं साधक का दृढ़ मत रहता है। इसी को जाल

अथवा माया कहा गया है। ध्यान करने वाले साधक का दृढ़ मत रहता है कि जो जो सामने आता है वह ईश्वर नहीं कहकर वह उसे दूर करते रहता है। परंतु वस्तुतः विचार करने पर यही ईश्वर है ऐसा मानो ईश्वर ही उसे कह रहा है। अतः नकारात्मक ध्यान करने की अपेक्षा सकारात्म्क ध्यान अधिक आसान है तथा सत्य के पास होकर भी मनुष्य के समझ में नहीं आता। यही माया है।

यहां अब एक प्रश्न उपस्थित होता है कि, विश्व में दिखाई देने वाली विभिन्नता तथा कार्यकारण संबंध के कारण जो माया तथा भ्रम मनुष्य में निर्माण होता है, इसका मूल कारण क्या है, १) ईश्वर अपने आपको ढकने के लिए छिपाने के लिए यह भ्रम सोच समझकर निर्माण करता है। २) क्या उसके विशिष्ट स्वभाव के कारण वैसे होता है? ३) क्या किसी दूसरी एखाध बात के लिए अथवा कारण यह भ्रम उत्पन्न होता है? सारांश, जगत् को कार्य मानने पर उसका कारण क्या है?

इसका उत्तर ढूंढ़ने पर जगत् को थोड़ी देर के लिए कार्य मानने पर उसका कारण भी वह ही है और कोई दूसरा तीसरा नहीं। यह कार्य उसके बिना दूसरे किसी का (माया अज्ञान) न होकर उसका अपना ही है। बल्कि वह स्वतः ही है ऐसा कहने वाला एक वचन श्वेताश्वतर का है, उसे देखेंगे -

परंतु यह वचन देखने के पहले कुछ बातों पर विचार करना जरूरी बनता है। एखाध व्यक्ति की अनुभूति यदि लेनी है, अथवा परिचय करा लेना है तो वह उसके कार्य से ही हो सकता है। कार्य से ही उसका व्यक्तित्त्व उसका ज्ञान तथा उसकी शक्ति अजमाने से बनती है। परंतु कार्य से एखाध के कार्यरत होने वाली शक्ति का अंदाज भी यदि करने आया फिर भी उसके पास होने वाली शक्ति का अनुमान लगाने नहीं आता। इस पर हमने यदि एखाध स्वरूप जान भी लिया तो भी उसके शक्ति का अंदाज अथवा साक्षात्कार हमें नहीं आता। उसे करने के लिए उसके साथ एकरूप होना अथवा उसके साथ कुछ समय बिताना, यह यद्यपि कुछ मार्ग जरूर है फिर भी जो शक्तियां उसे भी ज्ञात नहीं है, उस शक्ति का उसे स्वयं बोध भी नहीं रहता। इसलिए इस प्रकार का कोई अनुमान निकालना भी युक्तियुक्त न होगा।

यह जैसे मनुष्य के बारे में सही है, वैसे ही विश्व के तथा ईश्वर, परब्रह्म आदि के संबंध में भी सही है। अर्थात् पूर्णपुरुष के बारे में सही है। मात्र ब्रह्म साक्षात्कार कर लेने से ब्रह्म के साथ तादात्म साधने से तथा उसमें स्थित निर्गुण निराकार रूप में व्याप्त शक्ति का हमें ज्ञान होगा ही ऐसा नहीं है। वैसे ही यदि ईश्वर दर्शन भी हुआ तो भी उसके सभी शक्ति का हमें ज्ञान हुआ ऐसे नहीं होता। मनुष्य इस विश्व में यदि रहता भी

है तो भी उसे विश्व की सभी शक्तियों का ज्ञान प्रयत्न करने पर भी होना संभव नहीं है। इसलिए तो हर रोज नये-नये आविष्कार होते रहते हैं और होते रहेंगे। ऐसे में यह विचार कर ही आगे का अध्ययन हम कर सकेंगे। सारांश, शिव यदि समझ में आया तो भी उसकी शक्ति समझना कठिन है। कभी-कभी वह शक्ति शिव को भी ग्रस ले सकती है। मनुष्य को भी अपनी शक्ति का सही अनुमान नहीं होता, और वह आये इसलिए तो आत्मसाक्षात्कार, ईश्वर साक्षात्कार, ब्रह्म साक्षात्कार आदि बातों का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है।

अतः जगत् का दूसरा-तीसरा ऐसा कोई कारण न होकर, जगत् को कार्य कहने पर भी वह प्रत्यक्ष ईश्वर का ही है। अर्थात् उसी में स्थित तथा कभी-कभी उसे भी अगम्य रहने वाली शक्ति का अर्थात् उसी की ही है। यह कहने वाला श्वेताश्वतरउपनिषद् का यह वचन देखेंगे।

आदिः स संयोगर्गनिमित्त हेतुः परस्त्रिकालादकलोपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीडयं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्।।८०।।

''वह विश्व की सभी घटनाओं का आदि कारण है। वैसे ही अतीत, भविष्य तथा वर्तमान इन तीनों कालों से भिन्न है। वह अकाल अर्थात् सामान्य वर्तमान है (अतीत तथा भविष्य उसकी दृष्टि से वर्तमान है) वह प्रश्नोपनिषद् के सोलाह कलाओं से युक्त न रहकर भी, उसे पंचप्राण ज्ञानेंद्रिय आदि न होकर भी वह साक्षात दिखता है। ऋषियों ने उसे जाना है। उस विश्व रूप संसारभूत तथा अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर की हम पहले उपासना कर उसे जानते है।

इस वचन में भी स्वतः का कारण भी वही है ऐसा कहकर विश्वरूपम् ऐसा कहकर अन्तःकरण में स्थित ईश्वर की प्रथम उपासना कर हम उसे पहचानते है - ऐसा कहा गया है। इससे वह पूर्णपुरुष का वर्णन ही है तथा उपनिषदकार उसके शक्ति से हमें परिचित करा रहे है यह सिद्ध होता है।

अब अन्त में इसी पूर्णपुरुष का ही उसके शक्ति संबंधित महत्त्वपूर्ण जानकारी देकर विस्तार से वर्णन करने वाला एक वचन श्वेताश्वतर का है। इसे देखेंगे। तथा यह 'पूर्णपुरुष' विषय यहां पूर्ण करते है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, त देवतानां परमंच दैवतम्।।
पति पतीनां परम परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच।।

न तस्य कश्चित् पतिरस्तिलोके न चेशितानैव च तस्य लिंगम्।
स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चित् जानिता न चाधिपः।।८१।।

''इसके पहले श्लोक में वह समस्त ईश्वरों का ईश्वर, देवों का देव महेश्वर, ब्रह्म से भी परे है ऐसा कहा गया। यहां वह परस्तात ब्रह्म से भी पर कैसे है ऐसी शंका उपस्थित होती है। उसका तत्काल खण्डन दूसरे श्लोक में ''स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रियाच''। यह उसकी स्वाभाविक ज्ञान-बल-क्रिया है ऐसा कहकर किया है। अतः यह सब स्वाभाविक है इस ज्ञान से पूर्णपुरुष के रूप का बोध तत्काल होता है। इस पर भी यदि कोई शंका हो तो तीसरे श्लोक के साक्षी ब्रह्म के योग्य प्रकार के बोधन से वह दूर होती है। अतः इस प्रकार इसके श्लोको से पूर्णपुरुष के स्वरूप की तथा उसके शक्ति की स्पष्ट कल्पना हमें आती है। इस का ब्योरेवार अर्थ देखकर यह विषय पूर्ण होता है।

पहले श्लोक में ऋषि कहते हैं कि - ''वह परब्रह्म पूर्णपुरुष महेश्वर, ईश्वरों का भी ईश्वर, लोकपाल का भी महान शासक है। वह सभी दैवतों का दैवत है तथा सर्वपति का अर्थात् रक्षक का भी रक्षक है। वह परब्रह्म से भी परे होने से स्तुति करने योग्य है। उस प्रकाश रूप परमदेव पूर्णपुरुष को, परमेश्वर को हम जानते है।

पूर्णपुरुष के दो रूप है। उसमें से क्षर विश्व एक है। मात्र इसी का कर्ता नियंता तथा अभिमान वाले देवता को वेद विष्णु कहते है। इसे प्रधान ब्रह्म भी कहा जाता है। पूर्णपुरुष का दूसरा रूप, अव्यक्त रूप परब्रह्म केवल साक्षी है। वेद में इसे शिवशंकर आदि नाम बताये हैं। हरिहर की जोड़ी पुराणों में प्रसिद्ध है। सारांश, ईश्वर पद से इस हरिहर का बोध होता है अर्थात् उससे भी श्रेष्ठ महेश्वर अर्थात् पूर्णपुरुष ही है वही ८ वसू, १२ आदित्य, ११ रुद्र आदि ३३ देवों का देव है। देवताओं को गण रहते है। उसके मुख्य को पति कहा जाता है। जैसे इंद्र के मरुद्गण उनका पति इंद्र। ''सभी पति का जो अधिपती है तथा परब्रह्म से भी पर है वह १४ भुवनों का पालक है। वह अत्यंत स्तुत्य है तथा हम उसे जानते हैं।'' ऐसे ऋषि इस श्लोक में कहते हैं। इसका अर्थात् ही यह है कि इन ऋषियों को पूर्णपुरुष की अनुभूति थी।

दूसरे श्लोक में ऋषि कहते हैं, ''उसका कोई कार्य नहीं। किसी भी विशिष्ट कार्य अथवा हेतु की उसे कामना नहीं है। वह किसी का कारण भी नहीं है। उससे अधिक अथवा श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। उसकी अकाट्य, अतर्क्य शक्ति जिसका वर्णन हम ने 'उसकी ज्ञान बल क्रिया' आदि विविध तरह से सुनते हैं। यह उसकी स्वाभाविक प्रकट होने वाली ऐसी सहज स्थिति है।

सारांश, जगत् के कार्य से ईश्वर की होने वाली पहचान यह उसकी सही अथवा

पूर्ण पहचान नहीं है। ईश्वर की कार्य करने की क्षमता तथा सहजशक्ति जब तक अपनी समझ में नहीं आती तब तक उसकी पूर्णपहचान होती नहीं। इस जगत् में जो बातें ईश्वर सोच्त्रकर करता है, उस संबंध में ईश्वर की शक्ति यद्यपि ईश्वर से एक रूप होने पर भी तथा समझ में आने पर भी तथा उसके संबंधी धर्म ने, वेदों ने विज्ञान ने यद्यपि महत्त्व की जानकारी दी तो भी बिना कुछ तय किये, बिना किये, अपने आप सहजता से जो घटित होता है, उसके संबंध में ईश्वर की शक्ति मनुष्य की समझ के परे है। जो मनुष्य सब करके भी मुक्त-सहज अवस्था में रहना सीख सकता है, उसी को उसके सहजता के अभ्यास से उस शक्ति का थोड़ा बहुत बोध होगा। जब तक ईश्वर के इस सहजशक्ति की पहचान नहीं होती तब तक ईश्वर संबंधी उसका बोध अपूर्ण ही रहेगा। सारांश, 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया' यह पद साधक के जब तक ठीक से समझ में नहीं आता - अथवा गले नहीं उतरता है तब तक पूर्णपुरुष की पहचान होना कठिन होगा।

तृतीय श्लोक ''सत्य लोक में कोई उसका पालक, नियंता तथा स्वामी नहीं। उसका जिससे अनुमान कर सकते है ऐसा कोई लिंग अर्थात् निशानी नहीं। वह सबका हेतु। इंद्रिय अथवा उनकी देवता इन सबका वह अधिष्ठाता है। इसका कोई निर्माता अथवा पालनकर्ता नहीं है।

सारांश, यह अजन्मा सनातन, सर्वथा स्वतंत्र, स्वयंभू, स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया युक्त ऐसा सर्वशक्तिमान पूर्णपुरुष है। विश्व, ईश्वर तथा परब्रह्म से उसका स्वरूप संबंध है। यह सब उसके स्वरूप है। इस वर्णन से ईश्वर परब्रह्म को अधिष्ठान बनाकर, जगत् रूपी मदारी के खेल जैसा माया का पुत्र नहीं है। यह निर्विवाद सिद्ध होता है। वह पूर्ण स्वतंत्र स्वयंभू अज ऐसा ही है। साक्षित्त्व, तथा विश्वत्त्व यह उसमें स्वाभाविक रीति से स्वरूपतः ही है।

इन तीनों श्लोक का वर्ण्य विषय 'एक पूर्णपुरुष' है तथा परस्पर भिन्न विश्व तथा परब्रह्म यह उसका स्वरूप है। यहां यह निश्चित रूप से प्रतिपादित किया है। यद्यपि वह पूर्ण है तो भी हमें वह एकदेशी 'निर्गुण निराकार' अथवा 'सगुण साकार' है ऐसा जो भ्रम होता है उसी को माया कहते है। इसी के कारण उसे मायिन तथा जालवान विशेषण दिये हैं। यह भ्रम नष्ट होना चाहिए तथा पूर्णपुरुष का सही स्वरूप हमारे ध्यान में रहे इसलिए मुमुक्षू को चाहिए कि वह स्थिर चित्त से तीन श्लोकों का यदि विचारपूर्वक मनन करे तो भी उसे पूर्णपुरुष की पहचान पूर्णतया तथा यथार्थ होगी यह विश्वास रखिए।

आद्य शंकराचार्य प्रतिपादित केवलाद्वैत दर्शन के अन्तर्गत, ''चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं'' ऐसे वर्णन करने वाले आत्मषट्क के मनन-चिंतन से आत्मसाक्षात्कार का

विश्वास दिया जाता हैं। वैसे ही उपर्युक्त तीन मंत्रो–श्लोकों के मनन–चिंतन से पूर्णपुरुष का ज्ञान पूर्णतया यथार्थ होता है यह निश्चित।

उपनिषद् के संबंध में संक्षेप में :

हम जिसका अध्ययन कर रहे हैं उस पूर्णवाद ग्रंथ के दूसरे 'पूर्णपुरुष' अध्याय में हमारे पूर्णवाद सिद्धि के लिए अनेक संदर्भ दिये है। इन सभी संदर्भों को पहले से ही नंबर देना आवश्यक है। ऐसे नंबर देने से इन वचनों की संख्या ७५ होती है। उसके पृष्ठ तीन तथा चार ऊपर के संदर्भ को १ तथा १ (अ) तथा पृष्ठ १४ का अन्तिम संदर्भ १५, तो पृ. १५ में मराठी के दो वचनों को १५ (अ) तथा १५ (ब), पृ. २२ में "माझिया भक्ता..." तथा "प्रपंच सोडून परमार्थ केला" इसे ४० (अ) तथा ४० (ब), पृ. ३८ शुरु के वचन को ४७ (अ) नंबर देना योग्य है। यह (अ) तथा (ब) आदि सात वचन मिलाकर कुल मिलाकर संदर्भ ८२ होते है। इसके अधिक तर वचन उपनिषदों के होने के कारण उपनिषदों की प्राथमिक जानकारी अध्येता पाठक को होना आवश्यक है। यह जानकारी मैं अपनी अल्पमति से नीचे संक्षेप में दिया है। उसमें यदि कोई त्रुटि हो तो मुझे बताये यह विनती है।

हिन्दु धर्म का पहला सही नाम वैदिक सनातन धर्म ऐसा है। वैदिक धर्म अर्थात् वेदों पर आधारित धर्म। वेद का ही दूसरा नाम श्रुति है। श्रुति अर्थात् वेद तथा वेद अर्थात्
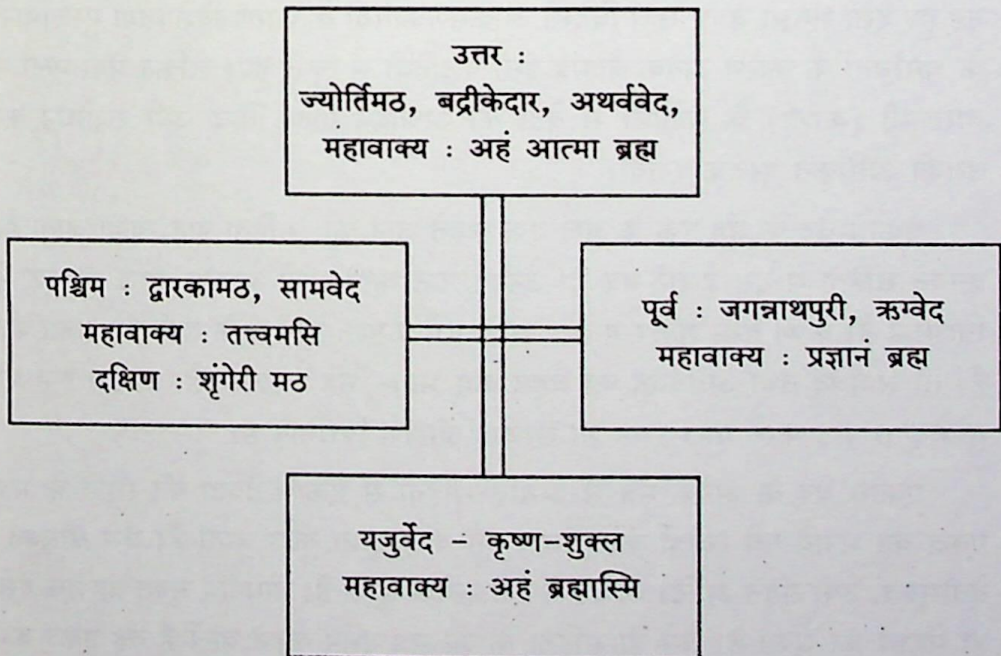
श्रुति। इन वेदों का ही आधार लेकर भिन्न-भिन्न समय (काल) में आचार-विचार (प्रमुखतया धार्मिक) के जो नियम बनाये गये उसे 'स्मृति' अथवा स्मृतिग्रंथ कहते हैं। उदाहरण 'मेनुस्मृति', 'यज्ञवाल्क्यस्मृति' आदि। वेद मूल में चार है तथा वे प्राचीन संस्कृत में है। आद्य शंकराचार्य ने उनके (वेद) प्रचार के लिए चार पीठों को देश में स्थापित किया (इ.स. ७०० से ८००) चार पीठों के चार शंकराचार्य आज भी यह काम कम-अधिक प्रमाण में कर रहे है।

वेद मंत्रमय है। ऋषियों को यह मंत्र दिखे तथा सुनाई पड़े अथवा आकस्मिक मुख से बाहर निकले। अतः इन्हे अपौरुषेय, ईश्वरीय तथा ईश्वर की सांस कहा जाता है। ऋषियों को यह जैसे दिखें तथा सुनाई दिये वैसे ही उन्होंने अपने शिष्यों से कहे और वैसे ही मुखोद्गत कराये। इस प्रकार वेद परंपरागत पाठांतर से ही आज तक चले आये। यह लिखकर अथवा पोथी बनाने की पद्धति उस समय नहीं थी। क्योंकि वह जैसे बन पड़े (उत्स्फूर्त) या सुनाई दिये वैसे ही वह स्वरयुक्त, पोथी से, गुरू से संथा लिये बिना, अर्थात् गुरु द्वारा बिना उच्चारण के हमें वह नहीं आते। यह ऋषियों का भाव था। और यह वेदमंत्र का पठन करते समय जरा भी एकाद स्वर तथा मात्रा इधर-उधर हुई तो वह अक्षम्य माना जाता था।

इसलिए वेदों के जिस भाग का मंत्र कहने वाला तथा अगले पीढ़ी को सिखाने वाला एक भी ब्राह्मण जीवित न बचा तो वेदों का वह भाग अथवा मंत्र लुप्त हुए अथवा नष्ट हुए ऐसा समझा जाता रहा। विदेशी आक्रमणकारियों के कारण विशेषतया मुसलमानों के धर्मांधता के कारण अनेक वेदमंत्र इसी पद्धतियों से लुप्त हुए। लेकिन मॅक्समूलर ने वाराणसी (काशी) के ब्राह्मणों से वेदों का अध्ययन ग्रहण किया और संशोधन कर उसकी अधिकृत पुस्तक बनायी।

एकाध वेद के मंत्र एक के बाद एक कहते जाने को 'संहिता पाठ' कहा जाता है। ऋग्वेद संहिता में दस हजार मंत्र है। उनका पाठ करने वाले ब्राह्मण आज भी देश में विद्यमान है। कृष्ण तथा शुक्ल यजुर्वेद संहिता में क्रमशः प्रत्येक के ढ़ाई तीन हजार मंत्र है। तो सामवेद तथा अथर्ववेद का बहुत कम भाग- मंत्र उपलब्ध हैं। अर्थात् इन्हें भी मुखोद्गत पाठ करने वाले (वह भी सस्वर) ब्राह्मण विद्यमान है।

एकाध वेद के अनेक मंत्र से अर्थात् संहिता से एकाध देवता की स्तुति के मंत्र एकत्र कर बनाये गये स्तोत्रों को (उस रचना को) सूक्त कहा जाता है। जैसे श्रीसूक्त, देवीसूक्त, उषा सूक्त आदि। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त है। वामनीय सूक्त यह एक ऐसे ही महत्त्व का सूक्त है। वैसे ही संहिता के जो मंत्र दर्शन कहने वाले हैं वह एकत्र कर

(तत्त्वविचार) – दार्शनिक विचारों के लिए अथवा अध्यात्म चर्चा के लिए बनाये गये रचनाओं को उपनिषद् कहते हैं। ऐसे अनेक उपनिषद् आज लगभग १०८ से भी अधिक उपलब्ध है। उनमें से कुछ ही महत्त्वपूर्ण गाने जाते है।

अतः उपनिषद् मंत्रमय है तथा यह मंत्र मूल वेदों के संहिता से लिए जाने के कारण उन्हें भी श्रुति ही कह सकते हैं। यह बात ग्रंथ के अध्येता विशेष ध्यान में रखे। दर्शन का अध्ययन करते समय उपनिषद् की ओर देखने का दृष्टिकोण उसके अर्थ की ओर ही अधिक रहता है, उसके मंत्रत्त्व की ओर कम ही ध्यान दिया जाता है। फिर भी उनमें मंत्र सामर्थ्य है तथा उन्हें यथायोग्य उच्चारण-आरोह-अवरोह आदि के साथ यह मंत्र कहने पर वह मंत्र प्रकट हो सकते है। यह बात जिज्ञासा रखने वाले ग्रंथ अध्येता को विशेष स्मरण रखने की है। हमारे सभी धार्मिक व्यवहार शादी-ब्याह-वृतबंध, भिन्न-भिन्न पूजा-पाठ, भिन्न-भिन्न होम-हवन, लघुरुद्र-महारुद्रादि प्रयोग, भिन्न-भिन्न वेदों के वेदसंहिता से लिए हुए मंत्रों से ही होते रहते हैं। अपने यहां आने वाले (गुरुजी) पुरोहित उस कार्य के लिए तथा प्रयोग के लिए लगने वाले मंत्र, अभिषेक, वास्तुशान्ति-उदकशांत, श्राद्धादि क्रिया सीखे हुए रहते है। परंतु उनमें से एकाध को ही एकाध वेद की पूर्ण संहिता याद रहती है। मंत्र पठन करने वाले अथवा वेदपठन करने वाले गुरूजी को उन मंत्रों का अर्थ भी बहुत बार पता नहीं रहता। और उसके मंत्र सामर्थ्य के लिए वैसे अर्थ पता होने की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः कई बार इन वेदमंत्रों का अर्थ लगाना भी नहीं ऐसा यह पुरोहित वर्ग कहता है। उनकी दृष्टि से यह ठीक भी है।

उपनिषद् का कालखण्ड :

पंचांग के कालगणनानुसार १९८८ में कलयुग की ५०८९ वर्ष पूरे हुए। श्रीकृष्ण के निर्माण के बाद से ही कलयुग शुरु हुआ। अतः श्रीकृष्ण तथा महाभारतकाल ईसा पूर्व ३५०० वर्ष, तथा रामायण काल इ.पू. ५००० वर्ष मानने में कोई शंका नहीं है। इस दृष्टि से विचार करनेपर इ.स. ७०० से ८०० शंकराचार्य कालखण्ड के पहले १२०० से १५०० वर्ष पूर्व उपनिषद् कालखाण्ड हो सकता है यह पाश्चात्य मत कोई तर्कसंगत नहीं है। वह इ.पू. २५०० (कम से कम) हो सकता है। उपनिषदों में एक भी देवता का वर्णन नहीं है उसमें सृष्टि (Nature) के मूल से तथा सृष्टि को आधारभूत तत्त्वों का विश्लेषण है तथा अनेक ईश्वावाद से भी एकेश्वरवाद का तथा आध्यात्म का ही विश्लेषण अधिक है। यह देखते हुए उपनिषद् काल तथा गीता काल में बहुत अधिक अंतर नहीं है। फिर भी प्रमुख उपनिषदों का कालानुक्रम विद्वानों ने जो मान्य किया है वह इस प्रकार है-

१. बृहदारण्यक तथा छांदोग्य

२. ईश तथा केन

३. ऐतरेय, तैतिरीय तथा कौषितकी

४. कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर

५. प्रश्न, मैत्री तथा मांडुक्य

बृहदारण्यक तथा छांदोग्य यह सबसे प्राचीन उपनिषद् है। प्रश्न, मैत्री, मांडुक्य यह उस दृष्टि से नवीनतम है, उनका कालखण्ड इ.पू. १००० से ८०० वर्ष तक है। कलयुग में वेद लुप्त होंगे यह जानकर ही जिसके निःश्वास वेद थे उस पूर्णपुरुष भगवान ने कलयुग के शुरूवात में ही सभी वेदों का तथा उपनिषदों का निचोड़ सारांश जिसमें है ऐसी 'गीता' अर्जुन को बताई, तथा गीता के बहुतांश श्लोक का उपनिषद् के वेदमंत्रों से बहुत साम्य है। इसलिए प्रस्थान त्रयी में १) ब्रह्मसूत्रे, २) उपनिषदे, ३) गीता में इन्हीं को प्रमुखतया समाविष्ट किया गया है। गीता का पाठ अर्थात् गीतापठन का अधिकार सभी मानव जाति को है। अतः पूर्णवाद के अध्येता को चाहिए कि वह गीता के २, ३ कम से कम अध्याय मुखोदगत करें। (२, ११, १२, १५) यह हुई उपनिषदों की संक्षिप्त जानकारी जिन्हे उपनिषदों का अध्ययन करना है उनके लिए उपयुक्त ग्रंथ है - 'उपनिषद् रहस्य' यह गुरूदेव रानडे का ग्रंथ है। वैसे गीता प्रेस गोरखपुर 'इशादि नौ उपनिषद्' - (व्याख्याकार हरिकृष्णदास गोयंका) यह कम कीमत में तथा प्रमुख तेरा में नौ उपनिषद् हिन्दी में अर्थ सहित है। इन्हें संग्रह में हमेशा रखें। हर उपनिषद् की रचना अलग प्रकार की है तथा पूर्णवाद का अध्ययन करने वाले को उसकी जानकारी रहना आवश्यक है। अब 'पूर्णपुरुष' अध्याय में दिये गये संदर्भ किस उपनिषद् तथा जो संदर्भ उपनिषद् में नहीं आते वह किन वेदमंत्रों से लिए उसका क्रमवार ब्योरा अगले पृष्ठों पर दिया है। यह जानकारी पूर्णवाद अध्येताओं के लिए अमूल्य धरोहर होगी यह आशा है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् :

यह कृष्ण यजुर्वेद का उपनिषद् है तथा इसमें छह अध्याय है। पहले में १६, दूसरे में १७, तीसरे में २१, चौथे में २१ पांचवें में १४ तथा छठे में २३ ऐसे ११२ मंत्र इसमें है। पूर्णवादाचार्य ने इन उपनिषदों का अपने पूर्णवाद सिद्धी के लिए सबसे अधिक उपयोग किया है।

अ.क्र.	पृष्ठसंख्या पूर्णवाद ग्रंथ	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्रमांक
१.	६	महान प्रभुर्वे पुरुषाः	अध्याय ३ मंत्र १२	३
२.	७	सर्वतः पाणिचारं	अध्याय ३ मंत्र १६	४
३.	८	यस्मात् परं नापरमस्ति	अध्याय ३ मंत्र ९	५
४.	२५	एतज्ज्ञेयं नित्यमेवा	अध्याय १ मंत्र १२	२६
५.	२७	ज्ञाज्ञौ द्वावजविशानीशा	अध्याय १ मंत्र ९	२९
६.	२९	स्वविश्वकृत विश्व	अध्याय ६ मंत्र १६	३३
७.	३०	स तन्मयो त्यमृत	अध्याय ६ मंत्र १७	३४
८.	३१	न तस्य कार्यंकारण	अध्याय ६ मंत्र १७	३४
९.	३२	द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे	अध्याय ५ मंत्र १	३६
१०.	३३	उद्गीतमेतत्परत	अध्याय १ मंत्र ७	३७
११.	३३	संयुक्तमेत्क्षरंच	अध्याय १ मंत्र ८	३८
१२.	४१	क्षरंप्रधानममृताक्षरं	अध्याय १ मंत्र १०	५२
१३.	४९	ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्नं	अध्याय ३ मंत्र ७	६६
१४.	५०	सर्वाजीवे सर्वसंख्ये	अध्याय १ मंत्र ६	६७
१५.	५२	यो देवानां प्रभवश्चोद्	अध्याय ३ मंत्र ४	७१
१६.	५२	तदेवाग्निस्तदादित्य	अध्याय ४ मंत्र २०	७२
१७.	५३	य एको जालवान	अध्याय ३ मंत्र १	७३
१८.	५३	आदिः स संयोग निमित्त	अध्याय ६ मंत्र ५	७४
१९.	५४	तमीश्वराणा परमं महेश्वरम्	अध्याय ६ मंत्र ७	७५
२०.	५४	न तस्य कश्चित पतिरस्ति	अध्याय ६ मंत्र ९	७५

ईशावास्य उपनिषद्

यह शुक्ल यजुर्वेद की काण्वशाखा संहिता ४० वां अध्याय रूप है। यह सबसे छोटा उपनिषद् है, उसमें मात्र १८ मंत्र है।

अ.क्र.	पृष्ठसंख्या पूर्णवाद ग्रंथ	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्रमांक
१.	३३	अंधं तमः प्रविशन्ति	मंत्र ९	३९
२.	३४	विद्यां चाविद्यांच	मंत्र ११	४०
३.	३५	अन्धं तमः प्रविशन्तिये	मंत्र १२	४१
४.	४२	पूर्णमदः पूर्णमिदम्	शान्तिपाठ	५३
५.	५०	ईशावास्य मिदं सर्वम्	मंत्र १	६८
६.	५१	तदेजति तनैजति	मंत्र ५	६९

मांडुक्य उपनिषद्

यह अथर्ववेद का उपनिषद् है। यह छोटा उपनिषद् है तथा इसमें मात्र १२ मंत्र आये हैं।

अ.क्र.	पृष्ठसंख्या पूर्णवाद ग्रंथ	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्रमांक
१.	१६	एषः सर्वेश्वरः एषस्थितः	मंत्र ६	१६
२.	१७	ॐ ओमित्येतदक्षर	मंत्र १	१७
३.	२०	ॐ ओमित्येतरक्षर	मंत्र १	२१
४.	२१	सोऽयमात्माऽध्यक्षरम्	मंत्र ८	२२
५.	२२	जागरितस्थानो वैश्वानरो	मंत्र ९,१०,११,१२	२२-अ

मुंडक उपनिषद्

यह उपनिषद् अथर्ववेद की शौनक शाखा का है। उसमें प्रथम मुंडक, द्वितीय मुंडक तथा तृतीय मुंडक ऐसे तीन मुंडक हैं। प्रत्येक मुंडक में दो खण्ड हैं। प्रथम मुंडक के प्रथम खण्ड के ९, द्वितीय खण्ड के १३ द्वितीय मुंडक के प्रथम खण्ड में १०, द्वितीय खण्ड में ११ तृतीय मुंडक के प्रथम खण्ड के १० द्वितीय खण्ड के ११ ऐसे ५४ मंत्र हैं।

अ.क्र.	पृष्ठसंख्या पूर्णवाद ग्रंथ	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्रमांक
१.	३६	पुरुष एवेदं विश्वम्	मुंडक २ खण्ड १ मंत्र १०	४६
२.	४३	तस्मै होवाच	मुंडक १ खण्ड १ मंत्र ४	५४
३.	४४	यदा पश्यः		

		पश्यते रुक्मवर्ण	मुंडक ३ खण्ड १ मंत्र ३५५
४.	४४	दिवो ह्यमूर्तः पुरुषः	मुंडक २ खण्ड १ मंत्र २५६
५.	४६	यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य	मुंडक १ खण्ड १ मंत्र ९६०
६.	४६	स वेदैतत् परम् ब्रह्म	मुंडक ३ खण्ड २ मंत्र १६१

प्रश्नोपनिषद्

प्रश्नोपनिषद् यह अथर्ववेद के पिप्पलाद शाखा के ब्राह्मण भाग का एक भाग है। इसमें पिप्पलाद ऋषि ने अन्य ऋषियों द्वारा पूछे गये छह प्रश्नों के उत्तर दिये हैं। इसमें क्रमशः १६, १३, १२, ११, ७, ८ ऐसे ५७ मंत्र हैं।

अ.क्र.	पृष्ठसंख्या पूर्णवाद ग्रंथ	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्रमांक
१.	३७	एतद्वै सत्यकाम परम्	प्रश्न ५ मंत्र २	४७
२.	३८	यः पुनरेतन त्रिमात्रेण	प्रश्न ५ मंत्र ५	४७अ
३.	४५	सः यथा सोम्य वयांसि	प्रश्न ४ मंत्र ७	५७
४.	४५	अरा इव रथ नाभौ	प्रश्न ६ मंत्र ६	५८
५.	४५	तान्होवाचैतावदेहमेततः	प्रश्न ६ मंत्र ७	५९

कठोपनिषद्

यह कृष्ण यजुर्वेद के कठ शाखा का उपनिषद् है। इसमें यम तथा नचिकेता का संवाद है। इसमें दो अध्याय है। उसके प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्ली है। पहले अध्याय के तीन वल्ली में क्रमशः २९, २५, १७ तो द्वितीय में तीन वल्ली में १५, १५, १८ ऐसे ११९ मंत्र है।

अ.क्र.	पृष्ठसंख्या पूर्णवाद ग्रंथ	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्रमांक
१.	३६	इंद्रियेभ्यः परं मनो	अध्याय २ वल्ली ३	४४
२.	३५	एतद्ध्वाक्षरंब्रह्म	अध्याय १ वल्ली २ मंत्र १६	४२
३.	३५	एतदालंबनंश्रेष्ठम्	अध्याय १ वल्ली २ मंत्र १७	४३

४.	३६	अव्यक्तातु परः पुरुषो	अध्याय २ वल्ली ३ मंत्र ८	४५
५.	३९	ऊर्ध्वमूलोवाकशाखा	अध्याय २ वल्ली ३ मंत्र १	४९
६.	४६	सर्वे वेदा यत्पर मानन्ति	अध्याय २ वल्ली २ मंत्र ५	६२

तैत्तिरीय उपनिषद्

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखा का है। तैत्तिरीय आरण्यक के दस अध्याय में से ७, ८, ९ वें अध्याय को तैत्तिरीय उपनिषद् कहते हैं। इसमें शिक्षा वल्ली, ब्रह्मानन्द वल्ली तथा भृगु वल्ली ऐसी तीन वल्ली है। पहली में १२ दूसरी में ९ तथा तीसरी में १० ऐसे ३१ अनुवाक है।

अ.क्र.	पृष्ठसंख्या पूर्णवाद ग्रंथ	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्रमांक
१.	१८	असदव इदमग्रे आसीत	ब्रह्मवल्ली २ अनुवाक ७	१९
२.	२८	सोकामयत, बहुस्याम प्रजायेय	ब्रह्मवल्ली २ अनुवाक ६	३१
३.	२९	असन्नेन संभवति	ब्रह्मवल्ली २ अनुवाक ६	३२

केनोपनिषद्

यह उपनिषद् सा सामवेद के तलवकार ब्राह्मण का ९ वां अध्याय है। इसमें ४ खण्ड है। पहले में ८, दूसरे में ५ तीसरे में १२, चौथे में ९ इस प्रकार कुल ३४ मंत्र है।

अ.क्र.	पृष्ठसंख्या पूर्णवाद ग्रंथ	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्रमांक
१.	११	यस्यामतं तस्य तम्	खण्ड २ मंत्र ३	८

छान्दोग्योपनिषद्

यह सामवेद के तलवकार ब्राह्मण के अन्तर्गत आता है। इसमें अग्नि, वायु, आप, विद्युत, आदित्य आदि की दैविक उपासना हैं। नेत्र, श्रोत्र, आत्मा, इनकी उपासना हैं। इनकी उपासना का मुख्य साधन का करण यह ॐ बताया है। ॐ के द्वारा सभी देवी-देवता और उनके अन्तर्गत आने वाले सभी फल जिस प्रकार प्राप्त होते है उसी प्रकार

आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए ॐ की उपासना बताई है। सारांश, ॐ की उपासना कैसे करें इसका मार्गदर्शन इस उपनिषद् में प्राप्त होता है। इसमें कुल ८ अध्याय हैं उसमें क्रमशः १३, २४, १९, १७, २४, १६, २६, १५ खण्ड है १०३, ८६, ९५, ७८, ८८, ७१, ५१ तथा ६१ कुल ६३३ मंत्र है। यह उपनिषद् प्राचीनतम तथा बृहदाकार है। जो उपासक अपने को अनुभूति चाहता है तो इस उद्देश्य से इसकी उपासना उपयोगी है।

अ.क्र.	पृष्ठसंख्या पूर्णवाद ग्रंथ	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्रमांक
१.	२२	ओमित्येदक्षर उदगीयम्	अध्याय १ प्रथम खण्ड मंत्र १	२२ अ
२.	४७	सर्व खुलं उदं ब्रह्म	अध्याय ३ खण्ड १४ मंत्र १	६३

बृहदारण्यकोपनिषद्

यह यजुर्वेद के वाजसेनीय शाखा का ब्राह्मणोपनिषद् है। ईशावास्य इसी शाखा का संहितोपनिषद् है। यह शुक्ल यजुर्वेद का उपनिषद् है ऐसा लगता है। इस उपनिषद् में छह अध्याय है। पहले में ६ दूसरे में ६ तीसरे में ९ चौथे में ५ पांचवें में १४ ब्राह्मण छठें में कुल ४५ ब्राह्मण तथा पहले अध्याय में ८० दूसरे में ७६ तीसरे में ९२ चौथे में ८८ पांचवे में २७ तथा छठे में ७५ ऐसे कुल ४३८ मंत्र तथा मंत्रसमूह इसके अन्तर्गत आते हैं।

अ.क्र.	पृष्ठसंख्या पूर्णवाद ग्रंथ	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्रमांक
१.	२३	अथ होवाक ब्राह्मणाः भगवन्तो	अ. ३ ब्रा. ९ मंत्र२७	२३
२.	२३	यद्वृक्षो वृण्णो	अ. ३ ब्रा. ९ मंत्र २८	२४
३.	२४	जान एव न जायते	अ. ३ ब्रा. ८ मंत्र २८	२५
४.	४०	स वा एष महानज अगमा	अ. ४ ब्रा. ४ मंत्र २४	५०
५.	४०	स वा एष आत्मा अजसे	अ. ४ ब्रा. ४ मंत्र २५	५१
६.	४८	स वा एष महानज आत्म योऽयं विज्ञानमयः	अ. ४ ब्रा. ९ मंत्र २२	६४
७.	४९	मनोमयोऽयम पुरुषः	अ. ५ ब्रा. ६ मंत्र १	६५

अन्य संदर्भ

अ.क्र.	पृष्ठसंख्या पूर्णवाद ग्रंथ	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्रमांक
१.	४	सहस्रशीर्षा पुरुषः	ऋग्वेद मंडल १० पुरुषसूक्तः	१ अ
२.	५	पुरुष एवेदं सर्व	श्रुति	२
३.	१२	तिस्त्रो मातृसीन्	ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १६४	९
४.	१३	विष्णोर्नुक	ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १५४	१०
५.	१३	प्रतदष्णु	ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १	११
६.	१४	प्रविष्णवे	ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १५४	१२
७.	१४	यस्य त्रिपूर्णा	ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १५४	१३
८.	१४	तदस्य प्रियमभि	ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १५४	१४
९.	१४	त वां वास्तू	ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १५४	१५अ
१०.	१९	द्वा सुपर्णासियुवा	ऋग्वेद मंडल १ सूक्त १६४	२०
११.	२८	विश्वतश्चक्षु	ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १	३०
१२.	५१	एषः देव प्रदिषोऽनु	यजुर्वेद अध्याय ३२-४	६९

उपनिषद् के ६०, वेदों के १३ इस प्रकार कुल ७३ वचन संस्कृत के हैं। तो ४ मराठी के हैं। इन सब उपनिषदों में पूर्णपुरुष की उपासना की दृष्टि से छांदोग्यउपनिषद् विशेष अध्ययनीय है। प्रमुख ग्यारह उपनिषदों में से ऐतरेय इस उपनिषद् का एक भी वचन इसमें नहीं है। यजुर्वेद के कृष्ण यजुर्वेद शाखा के श्वेताश्वतर, कठ, तैत्तिरीय यह तीन तथा शुक्ल यजुर्वेद के ईशावास्य तथा बृहदारण्यक यह दो, इस प्रकार ५ उपनिषद् के वचन इसमें लिये गये हैं। सामवेद का केन तथा छांदोग्यउपनिषद् भी इसमें आये हैं। अथर्ववेद के मांडुक्य, मुंडक, प्रश्न इस प्रकार तीन उपनिषद् भी संदर्भ के लिए इसमें हैं। सारांश ग्यारह प्रमुख उपनिषदों में से दस उपनिषद् के वचन इस अध्याय में आये हैं। संदर्भ के लिए पूर्णवाद ग्रंथ प्रथम संस्करण (आवृत्ति) का आधार इस के लिए प्रमाण है।

* * * * * *

परिशिष्ट

पूर्णवाद के अभ्यासक तथा अध्येताओं के दृष्टि से इस ग्रंथ के विषय प्रतिपादन के उपकारक संदर्भ तथा विश्लेषण यहां दिये है। प्रत्येक परिशिष्ट की विशेषता उसके प्रारंभ में दिये गये है। यह परिशिष्ट इस प्रकार –

१. दर्शनशास्त्र के कुछ वाद

२. 'पूर्णपुरुष', अध्याय का सारांश

३. उपनिषदों के संबंध में

परिशिष्ट - १

दर्शनशास्त्र के कुछ वाद

(लेखक - डॉ. शंकर पांडुरंग पाध्ये, मॅट्रिक एस.एस.सी. १९४८, जगन्नाथ शंकरशेट स्कॉलरशीप, एम.ए. १९६१, पीएच.डी. १९७१, पुणे विद्यापीठ, प्राध्यापक (संस्कृत), जे.एस.एम. कॉलेज अलीबाग, सेवानिवृत्त १९७८)

जीवन और दर्शन :

सामान्यतया लोग जीवन तथा दर्शन में अन्तर करते हैं। दर्शन विद्वानों का ही क्षेत्र है, इस प्रकार भ्रांत धारणाएं होती हैं अथवा उसका अध्ययन बुढ़ापे में करना चाहिए। जीवन का रहस्य समझे उसे सुगंध प्राप्त हो इसके लिए हर व्यक्ति को दर्शन की आवश्यकता होती है। जिससे व्यक्तित्त्व में गरिमा आती है।

दर्शन क्या है ? दर्शन सत्य का विज्ञान है। Philosophy is the Science of reality जीव, जगत्, तथा जगदीश इनके सत्य का आकलन कराने का काम दर्शन कराता है। तत् + त्व + ज्ञान । तत् अर्थात् अंतिम सत्य शास्त्रीय भाषा में परब्रह्म (The Ultimate Reality) अथवा पूर्णत्त्व, त्त्व अर्थात् तुम हो का बोध-ज्ञान। इस दृष्य सृष्टि को कुछ तो बुनियादी दर्शन है। उस तत यह वाचक शब्द है (तत्त्वज्ञान)।

दर्शन किस लिए? जीवन जीते समय हम कुछ जीवन विषयक दृष्टि को अपनाते ही है। हमारे आँखों के सामने ध्येय रहता ही है। यह भी एक प्रकार का दर्शन है। कभी-कभी जीवन में असफलता के कारण हताशा आती है तथा यश से हम इतराते है। कभी निराशा, चिन्ता अथवा अनुत्साह के कारण व्यथित रहते है। ऐसे समय हर व्यक्ति कुछ न कुछ चिंतन करता ही है, तथा उससे प्राप्त अनुभव से एकाध विचार हम स्वीकारते हैं। इससे व्यक्ति को एक राह मिलती है। आगे का अंधकारमय रास्ता प्रकाशित होता हैं। वह पलायनवादी नहीं बनता। इस प्रकार की घटनाएं जब हमारे जीवन में घटित होना ही दर्शन है। दर्शन कोई जीवन से अलग मात्र सैद्धान्तिक नहीं है। हम उसे मात्र सैद्धान्तिक मानते है। ऐसा नहीं मानना चाहिए। दर्शन जीवनोपयोगी तथा हमारे विचारों

को अनुशासित करने का शास्त्र है।

दर्शन का स्वरूप क्या है? दर्शन में प्रमुखता से जीव, जगत्, जगदीश का विचार किया जाता है। हर चिंतनशील व्यक्ति वे पास बुद्धि, विचार, अनुभव, संस्कार आदि की कम अधिक मात्रा रहती है। इसलिए वह अर्थात् जीव, जगत्, जगदीश्वर, इन तीनों को हम अलग-अलग दृष्टि से देखते है तथा उसके स्वरूप को जानकर हम उसे अपने आचरण में उस स्वरूप को उतारने का प्रयास करते है। इसलिए भारतीय लोगों ने इन विचारों को तत्त्व ज्ञान न कहकर दर्शन शब्द का प्रयोग किया है तथा तत्त्वज्ञानी को दार्शनिक कहते है। इसी से छह आस्तिक तथा छह नास्तिक ऐसे दर्शन का उद्गम हुआ है। इसकी विस्तार से चर्चा दूसरे खण्ड में आने वाली है। इन दर्शनों में से अपने दर्शन की विशेष वैचारिकता का जो विशेष उल्लेखनीय विचार व्यक्त किया जाता है उसे 'वाद' इस प्रकार शास्त्रीय नाम दिया जाता है। इन में से प्रमुख वाद इस प्रकार है।

(१) अजातवाद
(२) परिणामवाद
(३) सांख्ययोग
(४) वैशेषिक नित्यात्मवाद
(५) अविकृत परिणामवाद
(६) शून्यात्मवाद
(७) दुःखविज्ञानात्मवाद
(८) क्षणिकात्मवाद
(९) स्यादवाद
(१०) सत्कार्यवाद
(११) आरंभवाद
(१२) मायावाद
(१३) प्रतिबिंबवाद आदि। (पूर्णवाद ग्रंथ पृ. ९)

(१) अजातवाद

श्रीमान गौडपादाचार्य यह इसके प्रवर्तक है और योगवसिष्ठ में वसिष्ठजी ने इसी वाद से प्रभु रामचन्द्र जी को उपदेश दिया है। जगत् जो मूलतः हुआ ही नहीं। अतः उसके संदर्भ का कोई भी विचार अप्रस्तुत होता है। संक्षेप में इनका यह दर्शन है।

(२) परिणामवाद

यह वेदान्तियों ने स्वीकार किया गया वाद है। ब्रह्म का आश्रय कर शेष जो माया है उसका जगत् परिणाम है ऐसा मानना परिणामवाद का है।

(३) सांख्ययोग

सत्कार्यवाद यह सांख्य तथा पातंजल योग में स्वीकार किया हुआ योग है। इसमें

प्रकृति नित्य है तथा जगत् उत्पन्न न होते भी जगत् की अभिव्यक्ति होती है। यह उसका संक्षेप में अर्थ है। (सत्कार्यवाद पृ. १० देखें)

(४) वैशेषिक नित्यात्मवाद

चार्वाक, जैन, बौद्ध मतों का खंडन कर आत्मा का नित्यत्त्व इसमें सिद्ध किया। आरंभवाद इसी का है। वस्तु उत्पन्न होने के पहले वह नहीं रहती है और वह उत्पन्न होती है तभी उसका प्रारंभ होता है उसी को नित्यात्मवाद कहा जाता है।

(५) अविकृत परिणामवाद

इसे वल्लभाचार्य ने स्वीकार किया है। इसमें आत्मा विकृत न होते हुए आत्मा ही जगत्‌रूप से सजता है।

(६) शून्यात्मवाद

माध्यमिक बौद्धों का यह भाव है कि रज्जू - रस्सी पर दिखने वाला सांप यह यदि शून्य है तो उसके 'प्रमिति, प्रमाता, प्रमाण' यह शून्य ही हो सकते है।

(७) दुःखविज्ञानात्मवाद

दु:ख के साधन तथा दु:ख यह दु:खरूप होने के कारण आत्मा भी दु:ख:रूप है। 'सर्व दुःखं दुःखम' यह बौद्ध भाव है।

(८) क्षणिकात्मवाद

हर क्षण सभी पदार्थ परिवर्तनीय होने के कारण विज्ञान रूप आत्मा भी क्षणिक है। ऐसी बौद्ध मत प्रणाली है।

(९) स्यादवाद

यह जैनमतवाद है अनेकान्तवाद इस मत की बुनियाद है। और इस अनेकान्तवाद की नयवाद तथा स्यादवाद यह दो रूप है।

यहां 'अंत' का अर्थ है निर्णय, एकान्त अर्थात् एक ही एक निर्णय। इसके विरुद्ध अनेकान्तवाद अर्थात् किसी भी बात पर एकान्तिक मत न बनाना। इसलिए कि हर बात तथा सिद्धान्त के अनेक पंहलू होते हैं। हर पदार्थ अनेक धर्मात्मक होता है। फिर भी उसका ज्ञान एक ही रहता है। जिसे एकात्म कहते है। अतः इस दृष्टिकोण को अनेकान्तवाद कहा जाता है। इस अनेकान्तवाद के दो रूप है उसमें से एक स्यादवाद है।

स्यादवाद का अर्थ है कदाचित संभवतः (Some how, Probably, May be) ऐसा है। एकाध वस्तु अथवा उसका धर्म, उसके संबंध में यदि हम कुछ बोलते हैं तो वह विशिष्ट संदर्भ में सही भी रहता है। संदर्भ बदलने के बाद उसके एकदम विपरीत बात भी कही जा सकती है। वह भी यथार्थ ही होगी। यह स्यादवाद का तात्पर्य सारांश है।

(१०) सत्कार्यवाद

यह सांख्यशास्त्र द्वारा स्वीकृत वाद है। कोई भी कार्य जिस समय उत्पन्न होता है, तो उस समय प्रत्यक्ष उत्पत्ति के पहले भी कार्य रहता ही है (शक्यता में) वह कोई नया उत्पन्न नहीं होता। जो मूलतः है ही नहीं वह कितने ही प्रयत्न करने पर भी उत्पन्न नहीं होता। वह अस्तित्व में आता ही नहीं। कार्यकारण भाव में कार्य ही कारण में अप्रत्यक्ष भाव से विद्यमान होता है। इतना ही है कि वह और किसी रूप में रहता है। 'सत्' अर्थात् है अस्तित्व में है (प्रत्यक्ष उत्पत्ति होने के पूर्व) यह कहने वाला वाद वह सत्कार्यवाद है। (अतः संत ज्ञानेश्वर ने 'मग सहजे सत्कारवादु। तो पद्मकस वरदु।।' कहा है। यह पूर्णवाद के स्वरूप सिद्धान्त के करीब लगता है।)

(११) आरंभवाद

यह नैय्यायिकों का वाद है। उनके मत से 'कारण' व्यापार के बाद कार्य यह नये सिरे से उत्पन्न होता है। वह पहले नहीं रहता। उसका अस्तित्व सही अर्थ से शुरू होता है। अतः नैय्यायिक के इस मत को 'आरंभवाद' कहते है। प्रत्यक्ष उत्पन्न होने से पूर्व कार्य किसी भी तरह से अस्तित्व में नहीं रहता यही इनका मत है।

(१२) मायावाद

जगत् का आधार अथवा प्रतिष्ठा ब्रह्म ही है। यदि ब्रह्म न होता तो जगत् का अनुभव ही नहीं होता। परंतु इस जगत् में विविधता है। वैसे ही प्रत्यक्ष अनेक घटनाएं घटित होती रहती हैं। उसके लिए ब्रह्म में कुछ भी फर्क पड़ता नहीं। वह वैसे ही निश्चल निरयन रहना चाहिए। इसके लिए वेदान्त में ब्रह्म पर जगत् का अध्यास (विवर्त) किया जाता है। जगत् यह अध्यस्त है। अतः ब्रह्म यह अधिष्ठान दूषित नहीं होता। जगत् यह अध्यारोपित है। विवर्त है। वेदान्त दर्शन जगत् को मिथ्या तथा माया मानता है। मिथ्या का अर्थ 'झूठ' नहीं है, तो जो प्रतियमान होता है तथा जिसका बाध होता है वह ऐसा है। माया परमेश्वर की शक्ति नहीं है। जिसके कारण विश्व निर्मिती होती है तथा वह खुद ब्रह्म मात्र दूषित होता नहीं, उसका अविचलत्त्व कायम रहता है। इस को विवर्तवाद भी कहा जाता है। (इसकी पूर्ण चर्चा अगले 'माया' अध्याय में है)

(१३) प्रतिबिंबवाद

श्रीमद् आद्य शंकराचार्य का शिष्य पद्मपादाचार्य इस मत के वाद के प्रवर्तक है। प्रतिबिंबवाद एक संप्रदाय है। इस संप्रदाय का मत है कि जीव तथा ईश्वर यह दोनों ही शुद्ध चैतन्य की प्रतिबिंब है। दर्पण में मुख का प्रतिबिंब होता है। उसमें यदि दर्पण उपाधि टूट जाती है तो मुख का प्रतिबिंब नष्ट होता है। वह मुख में आकर समा जाता ऐसा नहीं है। ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद भी ऐसा ही होता है। अविद्याकृत उपाधियां गल जाती है और रहता है शुद्ध चैतन्य। जीव यह ईश्वर का प्रतिबिंब है।

परिशिष्ट - २

पूर्णपुरुष अध्याय का सारांश

प.पू. रामचन्द्र महाराज पारनेरकर के वेद, उपनिषद् साहित्य चिंतन का जो निचोड़ तथा प्रतिफल अर्थात् पूर्णवाद यह ग्रंथराज है। इस ग्रंथ में किसी भी पंथ, मत तथा धर्म का आग्रह नहीं है। विवेचक तथा विश्लेषणात्मक पद्धति का स्वीकार कर उसमें तर्कनिष्ठ, पूर्वग्रहविरहितता, इनके अधिष्ठान पर पूर्ण सत्य का बोध करा देने का प्रामाणिक प्रयत्न है। पूर्णवाद में जो सभी समाविष्ठ है। जिस प्रकार पूर्ण के बाहर कुछ भी नहीं है, वैसे ही पूर्ण में अर्थात् उसके रूप में पूर्ण के अन्य रूप प्रकट रूप से दिखाई नहीं देते यह भी सही है।

ईश्वर के अनुग्रह के बिना अर्थात् पूर्ण के प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष कृपा के बिना माया में उलझे जीव को मोक्ष प्राप्ति के लिए लगने वाला ज्ञान, भक्ति, योगादि की प्राप्ति संभव नहीं है। जगत् के सभी पदार्थों तथा ज्ञानादि को व्याप्त कर दशांगुल जो शेष रहता है, ऐसा पुरुष ईश्वर है। ईश्वर को शंकर, विष्णु, आदि अनेक नाम होकर भी तो भी 'पूर्ण' यही एक नाम उसे देना उचित लगता है। इसे ही (विशेषतः दशांगुल शेष रहने वाला) श्रीमद् आद्यशंकराचार्य ने 'परब्रह्म' कहा है। इस परब्रह्म की अनुभूति लेते समय उस पूर्ण पुरूष रूप ईश्वर की, विश्वादि रूपों को ढ़कना पड़ता है। इस अवस्था में उस विश्वादि अन्य रूपों का जरा भी विचार मन में रखना उचित नहीं होता।

'अर्जुन को पक्षी की मात्र आँख दिखाई देती थी' ऐसा कहकर भी उस पक्षी के अन्य अवयवों के अस्तित्व को जैसे नकार नहीं सकते। उतना ही विश्व सत्य है, तथा वह पूर्ण पुरूष का ही एक रूप है। 'यदन्नेनाति रोहति' इस श्रुति वचन में 'अन्न' यह जगत् का सामर्थ्य तथा महिमा है। अतः जगत् ही इस पूर्णपुरुष का स्वरूप है तथा वह सत्य है। ऐसा श्रुति वाक्य का निश्चय दिखता है।

पूर्णवाद को जगत् का मात्र अस्तित्व तथा सत्यत्त्व प्रतिपादन करना ही नहीं अपितु उस पूर्णपुरुष का कार्यकारण संबंध न होकर 'स्वरूप' संबंध है, यह कहना है। पूर्णपुरुष

रूपी इस जगत् में नानात्त्व तथा विविधत्त्व है तो भी पूर्णपुरुष तथा ईश्वर एक ही है। विश्व का स्वरूप ही मूलतः पूर्ण पुरूष होने के कारण ही हर जगह इस गोलाकार (वर्तुळ) का, पूर्ण का साक्षात्कार होता है। उदाहरण आकाश से होने वाली पर्जन्यवृष्टि।

इस पूर्णपुरुष की कालसापेक्ष पहचान के लिए भूत, वर्तमान तथा भविष्य ऐसे काल के तीन खण्ड जैसे हुए, वैसे ही इन तीन खण्डों के सापेक्षता में पूर्णपुरुष के यह तीन रूपों – शिव, विष्णु, ब्रह्मदेव की कल्पना की लेकिन इन तीन देवताओं को मिलाकर एक ही 'पूर्णपुरुष' बनता है। इसका कभी विस्मरण नहीं होना चाहिए।

'ईश्वर तथा ॐकार संबंध' इस अध्याय में – इस जगत् में जो कुछ भी दिखाई देता है वह ॐकार स्वरूप है ऐसा कहकर 'पूर्णमदः पूर्णममिदम्' इस श्रुति का उल्लेख कर द्विविध जगत् का श्रुति पूर्ण ऐसा ही उल्लेख करती है। ऐसा प्रतिपादन किया गया है। यह प्रतिपादन करते समय 'जगत्निर्मिति के पहले शून्य रूप का विचार कर उसे सम्पर्क उत्तर से निरुत्तर किया।'

'ईश्वर तथा ब्रह्मसंबंध' इस अध्याय में आत्मा स्वयंसिद्ध है तथा वह आनंदस्वरूप है। इसलिए वह जड़ तथा चेतन में व्याप्त आनंद का ही अनुभव हमें आता है। ईश्वर का तथा जगत् संबंध का ज्ञान, कर्म, योग आदि के माध्यम से विचार किया तो भी स्वरूप संबंध ही है – कार्यकारण संबंध नहीं – यह स्वीकार करना चाहिए।

इसके बाद पूर्णवाद ग्रंथ में क्रमशः उद्धृत किये हुए वचनों के परिप्रेक्ष्य में सिंहावलोकन किया गया है। यह सिंहावलोकन करते समय संभाव्य शंका को भी यथोचित उत्तर देकर उसका निराकरण किया गया है।

यदि हमें अपनी शुद्ध आत्मा की अनुभूति चाहिए तो वह ज्ञान तथा ध्यान से प्राप्त हो सकती है। वह कैसे प्राप्त हो सकती है, उसमें कौन-कौन सी प्रमुख दिक्कते हैं इसका अति सुंदर विश्लेषण हुआ है। यह विषय अच्छी तरह से सुस्पष्ट हुआ है।

'ईश्वर तथा सत्य संबंध' इस अध्याय में 'आत्मा, जीव, ईश्वर आदि पूर्ण के ही रूप है, तो भेद की अनुभूति क्यों और कैसे हुई यह कहकर, अभ्यास से अभेदानुभूति कैसे आती है इसका हमें दर्शन कराया है।'

'जगत् कार्य है कि स्वरूप' इस अध्याय में भगवान ने तप कर यह विश्व निर्माण किया है। इसलिए जगत् का मिथ्यात्त्व अथवा उसका मायोत्पन्न होना संभव ही नहीं है। तप से यह जगत् निर्माण किया ऐसा कहने में जगत् यह कार्य तथा ईश्वर कर्ता होता है, ऐसे में विश्व का ईश्वर से स्वरूप संबंध कैसे? तो जगत् यह कार्य किसी और का न होकर मात्र ईश्वर का ही है। वह उसी का साक्षी – केवल साक्षी न होकर, उस पर

प्रभुसत्ता करने वाला भी है। अतः यहां माया, अज्ञान आदि को स्थान नहीं है। यह विषय प्रमाण वचन से सिद्ध किया है।

'विश्वनिर्मिति का हेतु' ईश्वर यह संकल्प-वासना-कामनारहित होने के कारण कुछ हेतु मन में रखकर उसने सृष्टि का निर्माण किया होगा यह कुछ युक्ति संगत नहीं लगता। दूसरी बात - ज्ञान-बल-क्रिया यह उसकी स्वाभाविक शक्ति अर्थात् स्वरूप हैं। अतः ईश्वर तथा ईश्वरी शक्ति में भेद नहीं है।

'पूर्णपुरुष की व्यापकता' - पूर्णपुरुष संकल्पना ही व्यापक है इसमें ॐकार, क्षर, अक्षर, आदिं का समावेश है।

'पूर्णपुरुष वर्णन' पूर्णपुरुष में जड़, चेतन, परा-अपरा Mine & Matter का समन्वय न होकर यह सब उसके रूप है। वह संपूर्ण विश्व को व्याप्त कर शेष दशांगुल है। पूर्णत्त्व विविध रूपों से परिपूर्ण है। अतः उसकी अनुभूति प्राप्त होना आवश्यक है।

'पूर्णपुरुष की अनुभूति' - पूर्णपुरुष की अनुभूति होने के लिए प्रयत्न, तप आदि की आवश्यकता है। इससे साधक को पूर्णपुरुष की अनुभूति की पात्रता प्राप्त होती है। यह पात्रता संपादन करते समय 'असंभावना' आदि बाधाओं का निराकरण भी आवश्यक बनता है।

तत्पश्चात् श्रुति प्रतिपादित ज्ञान से पूर्णपुरुष की अनुभूति प्राप्त होती है। इसके लिए आवश्यक है कि बुद्धि पर हुए पुराने संस्कार हम मिटा दें।

'पूर्णपुरुष की उपासना' अनुभूति के लिए पूर्णपुरुष की उपासना का सविस्तार तथा साधारण वर्णन किया गया है। उपासना करते समय दृढ़ निश्चय का अभाव, गुरु तथा श्रेष्ठ पुरुषों की निंदा, भयग्रस्तता आदि दोषों का परिहार करना आवश्यक है यह बताया गया है।

'पूर्णपुरुष की सिद्धि' - शक्ति पूर्णपुरुष की उपासना सिद्ध होने पर क्या-क्या परिवर्तन साधक में होता है तथा वह किन बातों का अभ्यास करे इसका सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

इस प्रकार 'सुबोध पूर्णवाद' यह इस ग्रंथ को सम्पर्क नाम दिया है। इस ग्रंथ में आये हुए विषय का विश्लेषण तर्कसंगत है। श्रुति वचनों का आधार लेते समय उन वचनों का पारंपरिक अर्थ से अपने मतभेद को अतिशय विनम्र भाव से सूचित किया है।

वस्तुतः यह विषय अत्यंत कठिन है और उसका वैसे होना स्वाभाविक है। परंतु उसका सरलीकरण तथा सुबोध बनाते समय व्यवहार में हमेशा अनुभव में आने वाले

मार्मिक दृष्टांत यह इस ग्रंथ की विशेषता है। इस ग्रंथ के अध्ययन से अध्ययन करने वाले को विचारों को नई दिशा, तथा नया अनुभव प्राप्त होगा। जीवन का नया आयाम तथा अर्थ उसे प्राप्त होगा।

स्वर्गीय पूज्यपाद रामचन्द्र महाराज के सुपुत्र पूज्यपाद विष्णु महाराज इस संदर्भ में कार्यशालाओं का आयोजन कर लोगों को यह तथा अन्य विषय का प्रतिपादन सुलभ करते हैं। इस विषय का जीवन में जो महत्त्व है तथा उपयोगिता है यह समझाने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। इसलिए इस ग्रंथ के कठिन विषय पर और प्रकाश डाला जाता है, तथा उसे अधिक स्पष्ट किया जाता है।

इस ग्रंथ के अध्ययन से, अध्येताओं को पहले न स्पष्ट हुए कई संकल्पनायें अधिक स्पष्ट होती है। विचार तथा विषय करतलामलकवत होंगे इसमें कोई संदेह नहीं हैं। अन्य मतावलंबी अथवा अन्य संप्रदाय के लोगों के विचारों में यह ग्रंथ मौलिक योगदान दे सकता हैं। यही अनुभव सबको प्राप्त होगा यह विश्वास है।

* * * * * *
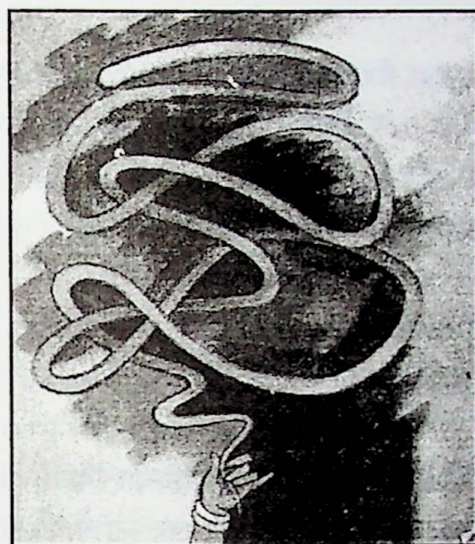
तृतीय अध्याय

माया

माया शब्द उच्चारण के साथ ही मन में एक प्रकार का रहस्य, गूढ़ थोड़ी उलझन में रखने वाली, थोड़ा छल, थोड़ा कपट, थोडी नाट्यमयता, मोह, संशय, कुछ सुलझ, थोड़ी गुप्तता, थोड़ा रहस्य भेद आदि अनेक भाव मन में आने लगते है फिर भी सत्य क्या है इसका पता लगना मुश्किल बनता है। और यह सब उलझन बनी रहें यही तो परमेश्वर की योजना रहती है। इसलिए उसने माया का पाश अपने हाथ में रखा है। अपने को ढ़कने के लिए बनाया गया जाल है। जो इस जाल तथा मायापाश को समझ कर मार्ग क्रमण करेगा वही तर सकता है।

३.

माया

(अब तक के) हमने पूर्णपुरुष के संदर्भ में विचार किया। परंतु पूर्णपुरुष के स्वरूप का निश्चय माया सम्बन्धी निश्चित ज्ञान तथा कल्पना के बिना असंभव है। माया के संबंध में यदि हमारे मन में स्पष्ट कल्पना नहीं है तो परब्रह्म के पूर्णता के संबंध में अपना पुराना (पूर्वग्रह) ग्रह दूर नहीं होगा। क्योंकि केवलाद्वैत के सीख के कारण विश्व मायोद्भव है यह अध्यास अथवा विवर्त है – यह हमारा यदि पूर्वग्रह बना हुआ होगा तो भी वेदों में माया किसे कहते हैं यह हम इस अध्याय में देखेंगे।

यदि माया तथा परब्रह्म अध्याय पहले लिया जाता तो संभवतः वह आसान बन जाता। लेकिन यदि वैसे किया गया होता तो माया तथा परब्रह्म के अध्याय में पूर्णपुरुष का बिना उल्लेख किये वह पूर्ण नहीं होता। लेकिन पाठक पूर्णपुरुष को पूर्णतया शायद ही समझ सकते। इसलिए पूर्णवादाचार्य ने अपना सिद्धान्त पहले रखा तथा वह इन अध्यायों के संदर्भ में उसका विश्लेषण भी श्रुति वचनों के संदर्भ में दिया। हम भी पूर्णवाद सिद्धान्त गीता तथा ज्ञानेश्वरी में किस संदर्भ में आता है यह कहते आये है। लेकिन पूर्णवाद सिद्धान्त गीता तथा ज्ञानेश्वरी में कैसे प्रतिपादित किया ऐसा कहना चाहिए। सिद्धान्त से उसके विश्लेषण से उप सिद्धान्त तक आना यह भूमिका, तथा विश्लेषण से उपसिद्धान्त से सिद्धान्त तक आने की भूमिका इन दोनों में बहुत अंतर है यह पाठक कृपया ध्यान में रखें।

वेद तथा उपनिषद् में जिसे माया कहते हैं वह पूर्णपुरुष अथवा ईश्वर के विश्वरूप के कारण निर्माण होती है। तो अद्वैत माया के कारण विश्व निर्माण होता है। विश्व की उत्पत्ति होती हैं। अद्वैत माया विश्व को जन्म देती है – यह कितना बड़ा अंतर है।

वेदों में अध्यास अथवा विवर्त कहीं नजर नहीं आते। फिर भी यदि हम बारीकी से ढूँढ़े तो श्रीमद्शंकराचार्य ने जिस श्रुति वचन के आधार पर विवर्त की संकल्पना का विस्तार किया ऐसे एक या अधिक से अधिक दो ही वचन आप श्रुति में देख सकते हैं

उनमें से एक यह –

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।।१।।

अर्थात् – जिस प्रकार एक हीरा जो मिट्टी से सना हुआ है, जिसे धोने पर वह चमकता है वैसे ही वह आत्मा अपने को देह से अलग देखकर कृतकृत्य होकर शोक शून्य होता है।

यहाँ चमकने के वर्णन से शुक्ति के चमकने के गुण अथवा लक्षण से उस पर रजत का भास होने की स्वाभाविक कल्पना आचार्य जी को स्मरण आयी होगी। लेकिन यह कितनी दूर की तथा कल्पना की संकल्पना है इस पर पाठक ही निर्णय करें। इतना करके भी श्रुति जगत् को मिथ्या तथा मायोद्भव मानती नहीं। अतः इस संकल्पना का विरोध ही है कि विश्व मायोद्भव है।

बल्कि जिस विश्व अथवा जगद् रूप के कारण माया संभव है इसका वेदों में वर्णन मिलता है। उसका विश्लेषण उपनिषद् के इस वचन से करेंगे –

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो
देव एकः स्वमावृणोत्। स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम्।।२।।

अर्थात् – ''वह एक ईश्वर ही है जो मकड़ी जैसे संभवतः विश्व के विविध रूपी तांत्रिकाओं से सप्त व्याहृति रूपी तांत्रिकाओं का जाल खुद पर ओढ़ लेता है वही हमारे अव्यय ब्रह्म को धारण करें। हमें ब्रह्म साक्षात्कार करा दें।''

इस वचन से एक बात स्पष्ट होती है कि, इस माया अध्याय में शुरू में ही हमें ऐसा बताया गया है कि, ईश्वर ने अर्थात् पूर्णपुरुष ने अपने आप को ढ़क लिया है। जगद् रूप से अपने आपको ढ़क लेने का कार्य ईश्वर सतत् करते आया है। यह पहले ही इसलिए कहा है कि माया अध्याय का उद्देश्य ही यह है कि उसे खोल कर देखा जाये। माया का अध्ययन ही उसे खुला करना है। जिस रजाई में वह छिपा हुआ है उसे खोल कर खुल कर देखा जाये। उसका ज्ञान-परिचय करा लेना ही तो इस माया का अध्ययन कर लेना है। यहां की पद्धति 'Analytical' है। पिछले अध्याय में हमने पूर्णपुरुष के स्वरूप का अध्ययन किया। क्या किया, तो उसको विश्वरूप, विष्णुरूप तथा शिवरूप सिद्धान्तों से ढ़क लिया। पूर्णपुरुष के सिद्धान्त से हमने सत्य को ढ़क लिया। सारांश, माया का अध्ययन करना उसे खोलना, तभी पूर्णपुरुष का अध्ययन हो सकता हैं।

खोलने के बाद अद्वैति जैसे, वैसे ही छोड़ देना यह बराबर नहीं है। यह आधी क्रिया हुई। हमने चादर खोल कर ईश्वर को, पूर्णपुरुष को जान लिया फिर उसे वैसे ही

खुला न रखकर ढ़ककर रखना अत्यंत आवश्यक है। ऐसा करने से ही क्रिया पूर्ण होती है। एकाध आदमी सिर पर चादर ओढ़ कर सोया हुआ है और वह कौन है पता नहीं। ऐसे में उसकी चादर दूर कर उसे जानना, पहचानना अत्यंत आवश्यक है। वैसे ही उसकी एक बार पहचान होने पर उसे फिर पहले जैसे ही ढ़क कर रखना अपना कर्तव्य बनता है। ऐसा करने पर उस पूर्णपुरुष को अच्छा लगेगा। उसे खुला रखने से – अर्थात् माया को जानकर वहीं क्रिया को रोकने पर उस व्यक्ति पर माया का कोप होता हैं। परंतु माया को जानकर उसे पहचानने पर फिर से उसे पहले जैसा ही ढ़ककर रखने वाले को माया से बिलकुल पीड़ा नहीं होती। जो अपने बालक को आंचल में छिपा लेती है वह माया तथा माँ है अथवा पत्नी होती है। अतः माया ने ईश्वर को ढ़क लिया है।

यहां परमेश्वर ने अपने आप को ढ़क लिया है। अतः वही माया निर्माण करता है यह स्पष्ट होता है। वैसे ही सोये हुए को जगाना आसान है लेकिन सोने का नाटक करने वाले को नहीं जगाया जा सकता है। अतः उसके कृपा के बिना 'माया' को जानना कठिन है, यह भी स्पष्ट होता है। इसलिए ईश्वर को श्रुति ने 'मायिन' कहा है तो अद्वैती ईश्वर को मायोपाधित कहा है। इस पर भी यह माया विश्व के कारण – उसने ओढ़ लिए विश्व रूप चादर के कारण जो चादर उसने माया का कारण विश्व ही है – ''प्रधानजैः स्वभावतः'' (प्रधान अर्थात् क्षर प्रधानम्) ऐसा स्पष्ट कहा है। सारांश, जगत् (अज) स्वाभाविक ऐसे उसी का रूप है। परंतु यहाँ की प्रकृति के कारण तथा विविधता के कारण मनुष्य को रूप का ज्ञान होने की बजाय उसमें कार्यकारण संबंध है यह भ्रमज्ञान होता है, यही वह माया। अतः माया के कारण विविधता नहीं है अपितु विविधता के कारण प्रपंच का बोध होता है और रूप की प्रतिति नहीं, यही है माया।

इससे वेदान्त माया किसे कहते है तथा वह मिथ्या कैसे यह आपने जान ही लिया होगा। अतः माया अर्थात् प्रकृति, इस प्रकार का वचन आपके सम्मुख प्रस्तुत है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के इस वचन में ऋषि कहते हैं –

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मयिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।३।।

अर्थ – जिसे हम माया कहते हैं वह वास्तविक प्रकृति है और ईश्वर ही उसका निर्माणकर्ता है। ईश्वर को यहां महेश्वर कहने के कारण उसे पूर्णपुरुष कहना ही योग्य है। यह विश्व पूर्णपुरुष के अव्यवों से ही व्याप्त है। ''यहां विश्व ही पूर्णपुरुष का अव्यव रूप है, ऐसा कहकर विश्व का पूर्ण से स्वरूपतः अभेद ही बताया है। वैसे ही यह विश्व मायोद्भव न होकर वह विश्व की प्रकृति है। वह सब 'माया' है ऐसा कहा गया है।

इस जगत् में उत्पत्ति, स्थिति, लय, वासना, भोग, तृप्ति, सत्, चित्, आनंद यह जो नौ बातें दिखती हैं वही प्रकृति है। वैसे ही अतीत, भविष्य, वर्तमान आदि काल, आकाश से वायु आदि पंचतत्त्व यह भी प्रकृति ही है। सरसरी तौर पर इन बातों में कार्य कारण संबंध दिखने के कारण, विश्व का, जगत् का तथा ईश्वर का भी कार्यकारण संबंध हो सकता है यह तर्क किया जाता है। यह भ्रम मूलक प्रकृति का परिणाम होने के कारण ही उसे माया कहा जाता है। सारांश, जगत्, प्रकृति और उसकी बातें देखकर जगत् ईश्वर का कार्य है ऐसा सोचने को बाध्य करती है वह माया है। उसे ईश्वर ने निर्माण करने के कारण ईश्वर को मायिन कहा गया है। अतः वह ईश्वरीय होती है। यह मनुष्य का अज्ञान है यह भी नहीं कहा जा सकता।

यह जो जगत् की प्रकृति है उसका अर्थात् जगत् का मूल कारण क्या हो सकता है, ऐसा प्रश्न यहां उपस्थित हो सकता है। काल यह कारण है क्या? अथवा स्वभाव कारण है? क्या और कोई कारण है? अतः उपनिषद्कार इस वचन में यह कहते हैं -

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरूष इति चिन्त्या।
संयोग एषां नत्वात्मभावदात्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।।४।।

अर्थ - ''जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय, सूर्योदय, सूर्यास्त यह कालक्रम के नियमों में बद्ध है तो क्या काल जगत् का कारण हो सकता है? अथवा जैसे बीज वैसे वृक्ष होने के कारण स्वभाव ही प्रत्येक पदार्थ की प्रतिनियत शक्ति यह जगत् का कारण हो सकता है? अथवा पापपुण्य कर्म जगत् का कारण हो सकता है? अथवा एकाध आकस्मिक घटना यदृच्छा इसका कारण है? अथवा पंचतत्त्व अथवा पुरुष, जीवात्मा इसका कारण है? इन सबका विचार करना उचित है। यदि प्रकृति को समझ लेना है तो इन भिन्न भिन्न कारणों का विचार करना आवश्यक है। To Err is Human गलतियाँ करना मनुष्य स्वभाव है वैसे ही Man is Mortal अर्थात् मनुष्य मर्त्य प्राणी है, क्या यह भी मनुष्य का स्वभाव ही है क्या? यह हर एक यदि जगत् का कारण न भी हो, तो भी इनका संयोग कोई जगत् का कारण - प्रकृति कारण हो सकता क्या?''

इसका विचार करते समय जब ऋषि के यह बात समझ में आयी, कि इस प्रकार के प्रश्न मात्र बुद्धि, तर्क तथा विचारों से हल नहीं किये जा सकते तब उन्होंने ध्यान मार्ग का अवलंब किया। ध्यान से जगत् - तथा प्रकृति का मुख्य कारण ढूँढ़ने का प्रयास किया। यहां साधक को एक बात पर ध्यान देना है कि जब विचार तर्क तथा बुद्धि से हम कोई निर्णय नहीं ले सकते तब वहां पर ध्यान का प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार ध्यान से ऋषि को उपर्युक्त किन प्रश्नों के निर्णायक उत्तर प्राप्त हुए यह

बताते हुए ऋषि कहते हैं कि -

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।।५।।

अर्थ - ''उस ध्यान योग में स्थित ऋषियों को, अपने ही गुणों से जो ढ़की हुई है, ऐसी परमात्मा की अर्थात् पूर्णपुरुष की स्वरूप भूत अचिंत्य शक्ति का साक्षात्कार अथवा दर्शन हुए और काल से पुरुष अथवा जीवात्मा तक वैचारिक सभी कारणों की यही शक्ति मुख्य अधिष्ठात्री है, यह उनके समझ में आया।''

यह देवात्त्म शक्ति कैसे दिखी? तो सांख्यकारों के कल्पित प्रधानादिक जैसे पुरुष से स्वतंत्र अलग ऐसी लगी नहीं, तो आत्मभूत अर्थात् उसी के अंगभूत, उसी के अधीन रहने वाली ऐसे दिखी। तब अद्वैती कहते है वह यह माया नहीं है। क्योंकि अपने ही गुणों से ढ़की हुई 'स्वगुणैर्निगूढाम्' ऐसी है। अतः यह देवात्त्म शक्ति 'ईश्वर की ही अचिंत्य गुणरूप शक्ति' है और वही प्रकृति का जगत् का मुख्य कारण है ऐसा कहना क्या तथा जगत् यह उसी का स्वरूप है अथवा वही है कहना क्या, दोनों एक ही है। 'स्वभाविकी, ज्ञान, बल, क्रिया ही' इस दृष्टि से पूर्णपुरुष के पास उसका ज्ञान, बल, क्रिया यह स्वभावतः दिखाई देते है और यहीं उसकी शक्ति है ऐसा कहने पर शक्ति और वह भिन्न नहीं है यह सिद्ध होता है।

सारांश, ध्यान से ऋषि के जगत् तथा प्रकृति का निर्णायक कारण यह ईश्वर की अचिंत्य स्वाभाविक ज्ञान बल क्रिया रूप शक्ति है और यही काल, स्वभाव आदि कारणों की अधिष्ठात्री है, यही समझ में आया। ईश्वर की अंगीकृत स्वाभाविक शक्ति ही प्रकृति है तथा प्रकृति ही माया है। इससे यह बात स्पष्ट होती है।

काल, स्वभाव जिसमें व्यक्त है, ऐसी पूर्णपुरुष ईश्वर की शक्ति ही जगत् की प्रकृति है, तो उसे ही माया कहा जाता है। यही हमने देखा। अष्टधा प्रकृति कहने पर पंचतत्त्व तथा सत्त्व, रज, तम यह तीनों गुण जैसे फट् से याद आते हैं। लेकिन प्रकृति का उतना ही अर्थ लगाना योग्य नहीं है। काल, स्वभाव, यदृच्छा, कर्म की नियती आदि जो जगत् की कारण मीमांसा की जाती है, उन सभी कारणों के कारण ही उनकी अंगीकृत शक्ति अर्थात् प्रकृति ही है। अतः उन सभी कारणों के कारण अथवा यह सभी कारण भी वही एक है यह सिद्ध होता है। यहां काल जड़ है तथा स्वभाव चेतन है, यह बात समझ में आने पर ऋषियों ने ध्यान योग से आखिरकर जड़, चेतन, तथा जगत् का पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध ही है यहीं देखी और समझी गयी बात है यह स्पष्ट होता है। अतः जगत् उत्पन्न हुआ नहीं तथा वह माया का कार्य तो कतई नहीं है। कहने के लिए

ही कार्य कहना हो तो वह ईश्वर अर्थात् पूर्णपुरुष का ही कार्य है यह बात स्पष्ट है।

इससे एक बात स्पष्ट हो रही है कि 'माया' जिसके बारे में भ्रम उत्पन्न होता है ऐसे ईश्वर की शक्ति का विशेषण है, तथा उसका नाम जैसे उपयोग हो रहा है ऐसा कहना अनुचित न होगा। जिन उपनिषदों का विषय ही जगत् व्यापार कौन और कैसे करता है यही देखना है उस केनोपनिषद् के पहले ही श्लोक में उपनिषदकार कहते है-

ॐ केनेषितं पततिं प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।।६।।

अर्थ - किसके कारण मात्र इच्छा से प्रेरित किया हुआ मन अपने विषय की ओर ही जाता है? कहां से अथवा किससे पहला प्राण व्यापार करने लगता है अथवा उत्पन्न होता है? यह शब्द रूप वाणी बोलती है वह किसकी इच्छा से और कैसे निर्माण हुई? कौन सा ईश्वर अपनी आँखों से देखना, कान से सुनना आदि इंद्रियों का व्यापार तथा इंद्रिया नियुक्त करता है?

इसके पहले पूर्णवाद ग्रंथ के पृष्ठ दस पर हमने ऐसा ही विषय देखा था। वहां 'को ददर्श प्रष्टुमेतत' आदि वचन से - ''जो परमेश्वर इस जगत् का पालन करता है, वह उत्पन्न होते किसी ने देखा है क्या? अगर देखा होगा तो ईश्वर उत्पन्न होने के पहले पृथ्वी, उसका रक्त, मांस तथा जीव कहां थे? यह पूछने के लिए कोई विद्वान गया था क्या?'' ऐसा प्रश्न उपस्थित कर विश्व तथा ईश्वर दोनों एक साथ ही हुए, ऐसा समझाया था। वही पद्धति यहां केनोपनिषद् ने अपनायी है।

केनोपनिषद् के प्रथम खण्ड में 'यह लोक व्यवहार' अथवा 'इंद्रिय व्यवहार' कौन निर्माण करता है? किस के कारण होता है? ऐसा प्रश्न उपस्थित कर, ''जो कानों से सुना नहीं जाता, लेकिन जिसके कारण कान सुनने का काम करते है, जो आँखों देखना संभव नहीं, लेकिन जिसके कारण आँखे देखने का काम करती हैं, जो प्राणों से अपना जीवन जी नहीं सकते, जो प्राणों का भी जीवन है, वही ब्रह्म है यह तुम जानों। जिसकी सब उपासना करते हैं अथवा जिसकी सार्वजनिक उपासना होते देखा जाता है वह ब्रह्म नहीं है'' - यह समझाया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सकल जगत् व्यवहार का कारण ब्रह्म ही है। यह स्पष्ट होता है।

इसी उपनिषद् के द्वितीय खण्ड में इस ब्रह्म को पहचान कर ही मनुष्य 'अमृतत्त्व' प्राप्त करता है ऐसी फलश्रुति बतायी है। तीसरे खण्ड में 'ब्रह्महदेवेभ्यो विजिग्ये' - यह ब्रह्म ही सुरासुर युद्ध में देवों (सुरों को) को विजय दिलाता है, ऐसा बताया गया है।

परंतु ब्रह्म का यह महिमा अपना ही है ऐसा देवता भ्रम से मानने लगे। ब्रह्म से प्राप्त

शक्ति अपनी ही है ऐसा देवता मानने लगे। यहां ब्रह्म शब्द का अर्थ शंकराचार्य प्रणित सूर्यावस्था में अनुभव में आने वाला परब्रह्म इतना संकीर्ण न होकर अपर ब्रह्म तथा परब्रह्म, अर्थात् विष्णुरूप अपर तथा शिव रूप परब्रह्म है यह स्पष्ट है। इस ब्रह्म द्वारा विश्व व्यवहार संचलित होता है लेकिन वह केवल अपने ही शक्ति द्वारा वह चल रहा है यह भ्रम देवताओं को हुआ। मनुष्य को भी अपनी शक्ति पर ऐसे ही भ्रम होता है। उसे कभी लगता कि अपनी शक्ति जो है उससे कम लगती है, तो कभी उसे है उससे ज्यादा ही है ऐसा लगता। एकाध काम हम यूं ही बनाएंगे, ऐसे मनुष्य को लगता है लेकिन प्रत्यक्ष वैसे नहीं होता। सारांश, क्या मनुष्य और क्या देवता दोनों को अपनी क्षमता का ठीक अंदाजा नहीं आता। उसकी शक्ति दो प्रकार की होती हैं एक भ्रम रूप शक्ति दूसरी भ्रम रहित शक्ति ऐसे दोनों प्रकार से उसको अनुभव आता है। इस भ्रम रूप शक्ति को ही माया कहा जाता है।

उदारहण-यदि पैर हैं तो चल सकते हैं तथा आँखें हैं तो देख सकते हैं ऐसे मनुष्य को लगता है। पैर होने पर हम चल भी सकते हैं लेकिन पानी पर हम चल नहीं सकते। उसे ठोस पृथ्वी का ही आधार चाहिए और यह आधार विश्व द्वारा ही हमें प्राप्त होता है लेकिन हम यह भूलते हैं। वैसे ही आँखें होने पर भी अंधेरे में हम देख नहीं सकते। सूरज के अथवा दिये के प्रकाश में ही आँखें देख सकती हैं, और यह प्रकाश सूर्य अथवा अग्नि देवता ही दे सकते हैं यह हम भूल जाते हैं। और समझ बैठते हैं कि यह मेरी ही शक्ति है- जो मैं चल सकता हूँ, देख सकता हूँ, और कभी कभी वह फजीहत का कारण भी बनता है। (दूर्योधन-मयसभा-देखिए महाभारत) सारांश, क्या मनुष्य क्या देवता, दोनों को यह शक्ति ब्रह्म द्वारा प्रदत्त है यह वह आसानी से भूल जाते हैं। उन्हें वह अपनी ही निजशक्ति लगती है यह जो भ्रम निर्माण होता है वह उस शक्ति का स्थायी गुण है और उसे ही माया कहते हैं।

ब्रह्म के कारण प्राप्त शक्ति अपनी ही है ऐसी गलत धारणा जब देवताओं की बनी तो यह बात ब्रह्म की समझ में आयी, अतः यथार्थ का उन्हें बोध देने के लिए स्वयं ब्रह्म ही यक्ष रूप से उन देवताओं के सामने प्रकट हुए। लेकिन उनका यक्ष रूप देवताओं की समझ में नहीं आया।

तद्वैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्याजानत किमिदं यक्षमिति।।७।।

अग्नि यक्ष द्वारा रखे गये तृण को जला नहीं सका, वायु उसी तृण को उड़ा नहीं सका, तथा इंद्र के सामने ब्रह्म गुप्त हुए लेकिन इंद्र उन्हें देख नहीं सका। कोई भी देवता जब ब्रह्म को जान नहीं सके तो उमा ने सबसे प्रथम इंद्र से कहा कि यह ब्रह्म है। इसलिए सबसे

पहले इंद्र को जब उमा द्वारा इस ब्रह्म का बोध हुआ। इसलिए इंद्र सभी देवताओं से श्रेष्ठ बना।

इस कथा से यह बोध है कि अग्नि की दहकता, वायु की गति, जिन्हें हम स्वभाव अथवा Nature कहते हैं वह सब ब्रह्म का ही है यह सिद्ध होता है। उस ब्रह्म के आधिदैवत पर तथा आध्यात्मिक बोधन उमा ने इंद्र को कराया और इसलिए केनोपनिषद् में – ''जिनकी उपासना होती है वह अग्नि, वायु, इंद्र आदि ब्रह्म न होकर उन्हें जिनके द्वारा यह शक्ति प्राप्त होती है वह ब्रह्म है यह तुम जानो। – यह कहा।

जिस केनोपनिषद् का 'जगत् व्यवहार' कौन निर्माण करता है यही मुख्य विषय है उस केनोपनिषद् में दवा के लिए भी 'माया' मिलती नहीं। वस्तुतः कार्य जात तथा स्वभाव वैशिष्ट्य इनकी बहुविविधता अगर माया के कारण निर्माण होती है, तो यहां अग्नि की दहकता, वायु की गति, यह माया का कार्य है यह कहना चाहिए था तथा यह माया स्वतंत्र न होकर वह परब्रह्म के अधिष्ठान पर अपना खेल दिखाती है। ऐसा स्पष्ट उल्लेख आवश्यक था। परंतु वैसा न करते, ब्रह्म का ही आधिदैविक का स्पष्ट उल्लेख कर आध्यात्मिकता तथा आधिभौतिक का (इन त्रयी का) ब्रह्मा से स्वरूप संबंध ही केनोपनिषद् में बताया गया है। तब यहां ब्रह्म अर्थात् पूर्णपुरुष ही है यह सिद्ध होता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि अगर पूर्णपुरुष को ही ब्रह्म कहा है यह स्पष्ट हो रहा है तो 'अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा' इस व्यास सूत्र का अर्थ 'पूर्णपुरुष जिज्ञासा' अर्थ क्यों न लगाया जाये? आचार्य ने इस सूत्र पर भाष्य करते हुए 'अभ्युदयार्थ धर्म' तथा 'निःश्रेयस के लिए ब्रह्म जिज्ञासा' ऐसा कह कर ब्रह्म की महती गायी है। परंतु ब्रह्म मात्र परब्रह्म ऐसा समझकर भाष्य करना शुरू किया। परंतु जिस निःश्रेयस के लिए आचार्य ने परब्रह्म का स्वतंत्र ज्ञान कराया है वही निःश्रेयस पूर्णपुरुष के ज्ञान से प्राप्त होता है। ऐसा उपनिषद् में कहा गया है। इस दृष्टि से यह उपनिषद् पूर्णाद्वैत ही है। इंद्रियों द्वारा होने वाला व्यवहार यह मेरा नहीं है, यह ज्ञान होने का मतलब यदि आध्यात्म है, तो वह व्यवहार मुख्यतः पूर्णपुरुष ब्रह्म का ही है। यह ज्ञान होना अर्थात् आधिदैवत ही है।

काल और स्वभाव शक्ति के गुण है। यह ईश्वर की शक्ति अर्थात् प्रकृति तथा प्रकृति मतलब ही माया है यह हमने देखा। परंतु केवलाद्वैती जिसे माया कहते हैं वैसी माया वेदों में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलती। उल्टे वह एक ईश्वर ही यह सब निर्माण करता है। ऐसा बार बार उपनिषद् में कहा गया है। उदारहण-श्वेताश्वतर के एक वचन में उपनिषदकार कहते हैं-

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ्‌ जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः।।८।।

अर्थ - 'एक रुद्र ही दूसरा कोई नहीं कि जो विश्व के सभी जीवों पर अपनी अनेक शक्तियों द्वारा शासन करता है। सभी का अपनी परम शक्ति द्वारा नियमन करता है। यहां शक्ति बहुवचन में है। अतः माया (शक्ति) एक वचनी अर्थ संभव नहीं बनता। वह सभी के अन्तर्यामी बनकर रहता है। और अंतःकाल में जगत् का संकोच करने वाला बनता है। वही विश्व के १४ भुवनों का निर्माण कर उसका पालन करता है' अर्थात् यह सब करने वाला एक रुद्र ही है, अर्थात् दूसरा कोई नहीं और माया भी नहीं। उसका निषेध ही यहां स्पष्ट दिखाया है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जगत् का अंतिम सत्य एक ईश्वर अथवा परमेश्वर ही (जिसे यहां रुद्र कहा है) है। लेकिन उसका और जगत् का संबंध इस श्लोक में जैसे बताया है उसे यदि शब्दशः लिया तो वह सत्य परमेश्वर कार्यकारण शृंखला में आकर सत्य यह जगत् के एक पदार्थ, वस्तु प्रमाणित होने का डर बनता है। सत्य यह किसी चीज का कारण नहीं बन सकता। जो कारण रहता है वह दूसरे किसी कारण का कार्य रहता है, ऐसा सिद्धान्त है। इस प्रकार ईश्वर को यदि जगत् का कारण मानते है (तथा जगत् को कार्य मानने पर) तो ईश्वर किसी अन्य कारण का कार्य मानना पड़ता है। इसलिए शंकराचार्य ने ईश्वर माया का कारण है कहकर ईश्वर ने ही जगत् का निर्माण किया है ऐसा प्रतिपादन किंया है। उन्होंने माया का कारण अज्ञान बताया है। सारांश, अज्ञान का कार्य माया, माया का कार्य ईश्वर, ईश्वर का कार्य जगत् ऐसा कहकर अज्ञान का कारण अध्यास तथा विवर्त और उसका कारण बुद्धि को अगम्य बताया। इस प्रकार जगत् का सत्य से कोई भी संबंध प्रस्थापित न करने के कारण विशेषतः कार्यकारण संबंध को स्पष्ट करते नहीं बना तो जगत् को 'मिथ्या' अथवा पारमार्थिक असत्य कह दिया।

अजातवाद ने मिथ्या शब्द पर जोर देकर, मिथ्या से मिथ्या ही संभव है ऐसा कहकर, जगत् ही नहीं है, कार्य ही नहीं है तो कारण कहां का? ऐसा कहकर कारण - कार्य मीमांसा से खुद को अलग कर दिया।

परंतु सत्य यह किसी भी चीज का कारण नहीं बन सकता इस सिद्धान्त के लिए जगत् को मिथ्या मानना अथवा अजातवाद को स्वीकारना योग्य नहीं है। तब विश्व का परब्रह्म से पूर्ण से स्वरूप संबंध होने के कारण जगत् को मिथ्या मानने की आवश्यकता नहीं तथा सत्य परमेश्वर जगत् का कारण भी मानने की आवश्यकता है। अतः तर्क की बाधा न होकर जगत् का अस्तित्व अबाधित रहता है। तथा अपने नित्य के अनुभव के विरोध में भी नहीं है।

परंतु इस प्रकार स्वरूप संबंध से विचार करते समय दो शंकाए सहज ही मन में आती है कि – उपर्युक्त वचन जैसे श्रुति के अनेक वचन से संसृज्य, जायते, संचुकोच, जनयामास आदि क्रियापद आते हैं, इससे जगत् ईश्वर का ही कार्य है यह सिद्ध होता और दूसरी शंका कि वैष्णवाचार्यों ने जगत् के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो श्रुतिवचन बताये है उससे यह किसी न किसी रूप से ईश्वर का कार्य ही है ऐसा दिखाई देते हुए उससे जो परिणामवाद के बाद निर्माण होते है इनकी व्यवस्था यह नयी विचारधारा किस प्रकार लगाएगी?

इसका यह उत्तर है कि ईश्वर की अंगीकृत शक्ति को हम हमेशा से ही कार्यकारण रूप से ही देखते आये हैं और आज भी वही स्थिति है। उत्पत्ति, स्थिति, लय, यह नित्य ही जगत् व्यापार है परंतु विशिष्ट नियम से चलित है उसमें कर्ता, कारण, कार्य ऐसी त्रिपुटी दिखती है यह सत्य है। और इसलिए श्रुति जगत् चमत्कृति का वर्णन करते समय ईश्वर को कर्ता तथा उसके कर्तव्य का वर्णन करती है। उदारहण–आकाश में चंद्रमा की उपस्थिति सागर में ज्वार का रूप लेती है। यह जब हम देखते हैं तो हम कहते हैं चाँद के कारण ज्वार आता है। चाँद ज्वार लाता है, तथा चाँद को हम कर्ता बना देते है। वास्तव में वह चंद्र उससे बहुत दूर होने से वह समुद्र को कुछ कर नहीं सकता, और यह इस प्रकार होने से जगत् प्रकृति को माया कहा जाता है। ऐसा स्पष्ट कहकर जगत् प्रकृति के कार्यकारण भ्रम से मनुष्य को दूर रहना चाहिए ऐसा श्रुति का कहना है। वैसे ही ईश्वर के शक्ति संबंध में इस प्रकृति के बारे में ऐसा भ्रम होने के लिए, ईश्वर के सिवाय दूसरा कोई जिम्मेदार नहीं है। अतः ईश्वर को ही 'मायिन' कहा है। इसलिए भगवद्गीता में भी ''दैवी ह्येषां गुणमयी मम माया दुरत्यया'' ऐसा कहकर उसे पार करना कठिन है ऐसा प्रतिपादन किया है।

हमारी वैचारिकता जैसे ही काल तथा स्वभाव यह शक्ति के गुण है ऐसा जब हम कहते है तब यह गुण शक्ति के न होकर वह शक्ति के ही स्वरूप है इसे ध्यान में रखना है। जब व्यक्ति की शक्ति कम होने लगती है तब बुढ़ापे में वह चिड़चिड़ा बन जाता है। अतः स्वभाव शक्ति का रूप है, उसकी निर्मित नहीं यह बात समझनी चाहिए। अतः उपासक को चाहिए कि अपने व्यवहार में भी ईश्वर से प्रार्थना करते समय, ''हे ईश्वर, मेरा यह काम करें कहने की अपेक्षा मेरा यह काम सहज सिद्ध होना चाहिए, सहजता से बनें।'' – यह कहना यथार्थ होगा। ऐसी प्रार्थना करने पर उपासक में सामान्यतया निर्माण होने वाला 'अहंकार' तथा 'निष्ठा का अभाव' यह दोष निर्माण नहीं होता। नहीं तो काम बनने पर अहंकार अथवा न होने पर निष्ठा का अभाव ईश्वर ने मेरा इतना सा काम भी नहीं किया यह भाव निश्चित बनता है। अतः अपनी वैचारिकता में भी, प्रकृति ईश्वर का

अंगीकृत स्वरूप है, काल तथा स्वभाव प्रकृति के रूप है तथा जगत् यह काल तथा स्वभाव का स्वरूप है यह बात ध्यान में रखना जरुरी है। यह यदि हमने खास कर ध्यान में नहीं रखा तो हम भी कार्यकारण शृंखला में, कड़ी में अनजाने में अटकते है। इसके साथ ही ईश्वर का रूप विश्व को व्याप्त कर दशांगुल - अर्थात् बहुत शेष है यह भी ध्यान देने की बात है। जगत् यह ईश्वर का अवयव रूप है और अवयव अर्थात् वह पूर्णांग नहीं है यह भी बात ध्यान देने की है। छाती पर हाथ रखकर मैं अमुक (. . .) हूँ ऐसा कहते हुए यह छाती कोई मैं नहीं यह भी उतना ही सही है। वैसे ही ईश्वर के स्वरूप की व्याप्ति मात्र जगत् या विश्व तक ही सीमित नहीं है। बल्कि इस जगत् से भी परे है यह बात याद रखना अत्यंत जरुरी है। यह सावधानी यदि हम नहीं लेंगें तो ईश्वरी माया से आप परे नहीं जा सकते हैं।

इस कार्यकारण के माया के कारण ही अजातवाद और उतना ही तर्क से न स्वीकारने वाला परिणामवाद सतत् विवाद के घेरे में रहते हैं। प्रकृति में दिखाई देने वाला कार्य कारण भाव यही सत्य रूप पूर्णपुरुष तथा विश्व के बीच संबंध न भी हो तो भी वह लगता है यही वह माया है और वह मिथ्या भी है। 'मायान्तु प्रकृतिम विद्यात' इस वचन से ईश्वर तथा विश्व में जो कार्य कारण भाव का आभास होता है वह मिथ्या है भ्रमात्मक है यह सिद्ध होता है, और फिर विश्व तथा पूर्णपुरुष का स्वरूपतः अभेद यही निष्कर्ष सामने आता है तथा सिद्ध होता है। प्रकृति को माया कहे ऐसा यदि श्रुति ने कहा भी हो तो भी सांख्य की प्रकृति तथा वेदान्तियों की माया यह दोनों इनसे भिन्न है। सारांश, १. श्रुति जिसे प्रकृति कहती है वही माया कहकर पहचानने को भी कहती है ऐसी माया। २. सांख्य की प्रकृति तथा माया ३. वेदान्तियों की माया ऐसी तीन बातें माया इस एक नाम से अनेक बार पहचानी जाती है। इन तीनों का हम ठीक से परिचय करा दें यही आवश्यक है।

माया - सांख्य प्रकृति

पहले हम सांख्य की प्रकृति को जानने का प्रयास करेंगे। सांख्य ने विश्व का अध्ययन करते समय एक ही तत्त्व को न मानकर प्रकृति तथा पुरुष ऐसे दो स्वतंत्र तत्त्व माने। उसमें से एक प्रकृति जिससे विश्व की उत्पत्ति हुई। ऐसा कहकर इस व्यक्त जगत् के मूल अव्यक्त कारण को प्रकृति नाम दिया। परंतु यहां एक प्रश्न ऐसा उपस्थित होता है कि प्रकृति यह किसी भी इंद्रिय से बोध न होने वाली, इसलिए अव्यक्त है ऐसा कहते है तो इसके लिए क्या पुष्टि है?

इस पर सांख्य का उत्तर ऐसा है कि, अनेक व्यक्त पदार्थों के परीक्षण से इन सबका मूलरूप यद्यपि इंद्रिय गोचर नहीं है तो भी सूक्ष्म रूप से उसका अस्तित्व है। यह अनुमान से सिद्ध होता। इसलिए कि शून्य से कुछ भी निर्माण नहीं होता। ''नासतो विद्यते भावः'' इस गीता वचन का अर्थ यही है। अतः कारण ज्ञात हो न हो कार्य से कारण का अस्तित्व सिद्ध है। जहां जगत् कार्य दिखता है तो कारण का होना भी स्पष्ट होता है यद्यपि वह कारण अव्यक्त क्यों न हो, उसका अस्तित्व है उसे ही हम प्रकृति कहते है।

नैयायिक परमाणु को कारण मानते है। वह भी इंद्रिय गोचर न होने के कारण अव्यक्त ही कह सकते हैं। परंतु प्रत्येक परमाणु यह स्वतंत्र अवयव न होने के कारण किसी भी दो परमाणुओं में किंचित क्यों न हो अन्तर रहता है। यह अंतर क्या पदार्थ है ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। अतः परमाणु को भी जगत् का कारण नहीं मान सकते। अतः सांख्यशास्त्र का ऐसा सिद्धान्त है कि प्रकृति में परमाणुरूप अवयव भेद न होकर वह एक अखण्ड अनुस्यूत ऐसी निरअवयव रूप से निरंतर सर्वत्र व्याप्त है।

परंतु इस प्रकार के सिद्धान्त से विश्व में दिखाई देने वाले परस्पर विरोधी भिन्न धर्मीय ऐसे पदार्थ एक ही प्रकृति रूप पदार्थ से निर्माण होना कैसे संभव है, यह शंका निर्माण होती हैं। जगत् में दूध का ही दही बनता है, पानी का नहीं। अतः असल में प्रकृति भी एक पदार्थ है कि अनेक ऐसा प्रश्न निर्माण होता है। रसायनशास्त्र विश्व में ९२ से १२० तक के मूल पदार्थ मानते है। इस पर सांख्य का उत्तर है कि, विश्व के हर एक पदार्थ का यदि परीक्षण किया जाये तथा वर्गीकरण किया जाये तो वह सभी त्रिगुण के ही अन्तर्गत ही आते है (सत्त्व, रज, तम) इन तीन गुणों का मेल जब समान रहता है उस समय वह प्रकृति साम्यावस्था में रहती है। यही विश्व के निर्माण के समय की अवस्था है। आगे इन गुणों का मेल कम अधिक होकर उसमें से प्रकृति जन्य रजोगुण के कारण मूल प्रकृति से अनेकानेक पदार्थ उत्पन्न होते है और जगत् (विश्व) निर्माण होता है।

यहां फिर ऐसी शंका आती है कि, प्रथम साम्यावस्था के यह तीन गुण किस कारण से, किस न्यूनाधिक से, कम ज्यादा होते हैं। इसका उत्तर है गुण क्षोभ प्रकृति का धर्म है ऐसा शास्त्रकार कहते हैं। सांख्य प्रकृति को यद्यपि जड़ मानते है तो भी यह जड़ प्रकृति सभी जगत् व्यवहार खुद होकर स्वतंत्र रूप से करती है ऐसा कहा जाता है। विशेष कर पुरुष की उपस्थिती में यह गुणा क्षोभ होता है। ऐसा वे मानते हैं। सत्त्व का लक्षण ज्ञान, तम का लक्षण अज्ञान और रज का लक्षण प्रवृत्ति। ऐसे है यह तीन गुणों के लक्षण। यह

तीन गुण कभी भी एक दूसरे से अलग नहीं होते। विश्व के हर पदार्थ में ज्ञान, अज्ञान तथा प्रवृत्ति का संमिश्रण रहता है ऐसा वह कहते है। इन संमिश्रण के गुणों के कम-अधिक होने से ही जगत् में नानात्त्व, वैचित्र्य-मूल प्रकृति एक होकर भी यह संभव होता है ऐसा उनका कहना है। सांख्य प्रकृति को पुरुष जैसे ही नित्य मानता है। सांख्य शास्त्र प्रथम कपिल मुनि द्वारा प्रतिपादित है। कपिल सांख्य अद्वैती थे। परंतु ईश्वर कृष्णा के सांख्यकारिका द्वैती है ऐसा है (देखें परिशिष्ट)।

सांख्य की प्रकृति को जैसे हमने देखा, अब उसका छोटा भाई सत्कार्यवाद की भी थोड़ी चर्चा आवश्यक है। जो मूलतः है ही नहीं, उससे जो अभी अस्तित्व में है उसकी उत्पत्ति होना संभव नहीं है। अतः कोई भी कार्य लिये तो भी उसके आज के द्रव्यांश गुण मूल के कारणों में किसी न किसी रूप में अथवा सूक्ष्म रूप से रहते ही है ऐसा जो सांख्यशास्त्र का सिद्धांत है उसी को सत्कार्यवाद कहा जाता है। अब इन सबसे सांख्य की त्रिगुणात्मक अखण्ड निर-अवयवी स्वतंत्र प्रकृति पाठक को ठीक से समझने आ सकती है।

अब तक हमने काल तथा स्वभाव जिसमें है ऐसी जो प्रकृति जिसे माया कहते हैं वह देखी। इसमें और सांख्य में क्या अन्तर है उसे अब देखेंगे।

१. सांख्य ने प्रकृति तथा पुरुष ऐसे दो स्वतंत्र तत्त्व माने है तथा प्रकृति को जड़ कहा है। जगत् सत्य समझ कर उसका कारण गुणमयी प्रकृति भी सत्य है ऐसा सांख्य मानते है। अतः उनकी प्रकृति मर्यादित बनकर उसका पुरूष से कोई नाता ही नहीं रहता, तो अपनी प्रकृति काल तथा स्वभाव रूपी (जड़-चेतनरूपी) है। वह ईश्वर की अंगीकृत शक्ति होने के कारण वह पूर्ण शक्ति है और उसका तथा पूर्णपुरुष ईश्वर का स्वरूप संबंध रहता है। अतः सांख्य को उसके प्रकृति पर जैसे पूर्ण का पूर्णत्त्व पर आरोप करना पड़ता है (जगत् निर्मित के लिए) वैसे हमें नहीं करना पड़ता।

२. शुरू में त्रिगुण की साम्यावस्था रहते (सत्त्व, रज, तम) किस कारण से गुण क्षोभ होकर जगदुत्पति होती है यह सांख्य ठीक प्रकार से बता नहीं पाते। लेकिन ईश्वर के साथ उसकी काल स्वभाव रूपी शक्ति अर्थात् प्रकृति सतत् निवास करती है। अतः ईश्वर के साथ ईश्वर का स्वरूप रूपी जगत् भी अस्तित्व में रहता है ऐसे हम सहज ही बता सकते हैं।

३. सांख्य को, ज्ञान, प्रवृत्ति तथा अज्ञान ऐसे तीन गुणों के तीन लक्षणों को मानना पड़ता है और उसके कारण अज्ञान भाव पदार्थ मानना पड़ता है। वैसी दिक्कत हमारी प्रकृति के साथ नहीं रहती है।

४. सांख्य में आत्मतत्त्व तथा परब्रह्म को पुरुष कहते हैं तो हम भी पूर्णपुरुष ही कहते हैं। परंतु सांख्य के पुरुष का जगत् पर कोई भी नियंत्रण नहीं है – क्योंकि उसकी प्रकृति ही सभी जगत् व्यवहार को स्वतंत्रता से करने के कारण सांख्य पुरुष को सर्वशक्तिमान प्रभु, ईश्वर अथवा परमेश्वर कहते नहीं बनता। परंतु पूर्णपुरुष यह प्रभु तथा परमेश्वर है।

इस प्रकार सांख्य प्रकृति तथा काल स्वभाव निहित पूर्णपुरुष की शक्ति अथवा जगत् प्रकृति अथवा माया का फर्क समझ कर अब हम अद्वैति माया की अथवा वेदान्त माया की पहचान कराएंगे।

माया – वेदान्तमाया

सांख्य उनके प्रकृति को उसके कार्य के लिए स्वतंत्र मानते है। वैसे अद्वैतवादी अपनी माया को स्वतंत्रतया कार्यक्षम नहीं मानते। अतः अब हम इस अद्वैत माया को ठीक प्रकार से जानेंगे।

तुच्छाऽ निर्वचनीय च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौत यौक्तिक लौकिकेः।।९।।

अर्थ – श्रुति इसे नगन्य मानती है (तुच्छ) तो युक्ति अर्थात् उत्तर मीमांसा दर्शन तथा अद्वैतशास्त्र इसे अनिर्वचनीय तो लौकिक में इसे वास्तविक कहते हैं। सारांश, इस माया की यह तुच्छ, अनिर्वचनीय, सद्सद् विलक्षण, स्वाश्रया, स्वविषया (''संक्षेप शारीरिक, वेदान्त मुक्तावली, अद्वैत सिद्धी'') ऐसे अनेक नाम है। लेकिन अद्वैतवादी जगत् को मिथ्या मानने वाले होने के कारण मिथ्या वस्तु का कारण सत्य नहीं हो सकता, इस सिद्धान्त के कारण, इस माया को मिथ्या, अज्ञानमूलक, भ्रममूलक मानते है। अतः मिथ्या मतलब क्या है इसे पहले जानने का प्रयास करेंगे।

मिथ्या का अर्थ है झूठ। जगत् मिथ्या है मतलब झूठ है ऐसे अजातवादी तथा अद्वैत मायावादी दोनों ही कहते हैं। लेकिन इनके कहने में भी फर्क है अजातवादी जब जगत् मिथ्या अर्थात् झूठ है कहते हैं उस समय जगत् झूठ मतलब नहीं, हुआ ही नहीं ऐसा मानते है। उदारहण-''अगा जो हुआ ही नहीं (अगा जे झालेचि नाही) उसकी वार्ता क्या पूछते हो'' ऐसा समर्थ रामदास स्वामी ने कहा। लेकिन जगत् का निर्माण हुआ ही नहीं ऐसा कहने की अपेक्षा मिथ्या कहने का कारण जगत् हुआ ही नहीं ऐसा कहने पर जगत् का अभाव बताया है। यह अभाव भी चार प्रकार का है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, स्थानाभाव, अत्यंताभाव। यह चारों अभाव स्थान अथवा देश तथा काल से संबंधित

रहते है। अतः अभाव यह देशकाल से संबंधित है तो 'मिथ्या' कल्पना में भी देशकाल इनका भी लय (संहार) रहता है। अतः अजातवादी जगत् नहीं है यह कहने के लिए 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग करते हैं।

परंतु अद्वैतमायावादी जब जगत् को 'मिथ्या' कहते है तब वह "भ्रममूलम इदं जगत्" इस वचन से लगता है कि वह भ्रम से उत्पन्न हुए है। सही अर्थ में उत्पन्न हुआ नहीं ऐसा कहते हैं। उनकी मिथ्या कल्पना से अभाव को भी मिथ्यात्त्व प्राप्त होता है। वेदान्त शास्त्र में जगत् को 'विषयत्त्वात मिथ्या' कहकर जगत् की सत्ता को ही ठुकरा दिया है। वेदांती मायावादी एक परब्रह्म के सिवाय तथा आत्मा के सिवाय दूसरे किसी की सत्ता को मानते नहीं हैं।

अब सत्ता जैसे 'मैं' में मिलती है वैसे विषयरूपता में नहीं मिलती। कारण विषय उसकी अनुभूति खुद होकर नहीं देती। वैसे ही नामरूप जड़ पदार्थ तथा जगत् की सत्ता स्वतंत्रतया हमें बोध नहीं करती। तो मैं की सत्ता में उन्हें देखता हूँ। मेरा यदि ध्यान नहीं है तो पदार्थ खुद होकर उनके अस्तित्व का बोध मुझे कराने में असमर्थ रहते है। अतः विषय को स्वतंत्र सत्ता अथवा अस्तित्व न होकर वह एक भ्रम है। ऐसे निश्चयात्मक होने वाले भ्रमज्ञान ही माया है। इस माया की सिद्धता अध्यास से अथवा विवर्त से सिद्ध करते हैं।

अद्वैतमायावादी असंग, अक्रिय, अविकारी नित्य शुद्ध बुद्ध परब्रह्म अथवा आत्मतत्त्व को ही सत्य मानते हैं इसलिए उससे जगत् का उत्पन्न होना संभव ही नहीं है। परंतु वह प्रत्यक्ष अनुभव में आने से उसकी व्यवस्था लगाने के लिए इस परब्रह्म में ही कुछ तो 'माया' कहकर पदार्थ मानना पड़ता है। वैसे ही माया को यदि मानना ही है तो जगत् के अच्छे बुरे पदार्थों की तथा बंधमोक्ष की ठीक से व्यवस्था लगेगी ऐसे वह सत्त्व, रज, तम त्रिगुणात्मक मानना आवश्यक बनता है। अतः अद्वैत मायावादी लोगों की माया भी सत्त्व, रज, तम त्रिगुणात्मक ही है। सारांश, जगत् को विषयत्त्व में मिथ्या कहने के कारण जगत् की तथा माया की सत्ता न भी हो तो माया को परब्रह्म की सत्ता है। अतः माया की सत्ता नहीं, लेकिन माया को सत्ता है, इसे ध्यान में रखना जरूरी है।

इस अद्वैत माया के अध्ययन से सांख्य की प्रकृति तथा वेदान्तवादियों की माया में जमीन आसमान का अन्तर है यह पाठक ध्यान में रखें।

१. सांख्य जगत् का अस्तित्व मानते हैं। अतः उनके गुणमय (माया) प्रकृति को अस्तित्व है तो वेदान्तवादियों के माया को वास्तविक अस्तित्व तथा सत्ता दोनों को नहीं मानते हैं।

२. सांख्य पुरुष, प्रकृति को स्वतंत्र मानते हैं इसलिए वह द्वैतवादी है। प्रकृति स्वेच्छा से पुरुष संयोग बनाती है इसलिए उसे वह स्वेच्छा से दूर भी कर सकती है। अतः मोक्ष के लिए मनुष्य स्वतंत्र नहीं। वेदान्ती माया का अधिष्ठान परब्रह्म होने के कारण और वह सत्- असत् विलक्षण है। अतः मनुष्य ज्ञान से मोक्ष पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र है।

३. सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक है वैसी वेदान्तवादियों की माया भी त्रिगुणात्मक है, लेकिन वह भ्रममूलक है।

४. सांख्य प्रकृति की सत्ता माया की व्यावहारिक सत्ता जैसी मानें तो भी प्रकृति स्वतंत्र रहती है तथा माया पराधीन।

इन सभी कारणों से सांख्य की प्रकृति तथा वेदान्त माया एक ही है यह जैसे कहते नहीं बनता वैसे ही इन दोनों को हमने जो देखा 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात' न्याय से काल स्वभाव रूप माया से काफी भिन्न है यह भी पाठक जान ले। यहाँ तीनों माया का परिचय पूर्ण हुआ। जिस विवर्त से वेदान्त मायावाद का मंडन किया जाता है उस विवर्त का अब हम विचार करेंगे।

विवर्त शब्द का शब्दकोषीय अर्थ गड्ढा, (साधना से) चक्राकार घूमना, पानी का भंवर, भ्रमण, नृत्य, रूपांतर, वक्रता, आभास वा भ्रम इस प्रकार है। यहां उसका अर्थ भ्रमरूप आभास ऐसा है। इस संबंध में यहाँ जो वचन दिया जा रहा है उस पर हम विचार करेंगे।

यस्तात्त्विकोऽन्यथा भावः परिणाम उदीरितः।
अतात्त्विकोऽन्यथा भावो विवर्तः स उदीरितः।।१०।।

अर्थात्, "जो सैद्धांतिक अर्थात् वास्तविक अन्यथा दूसरा भाव उत्पन्न होता है उसे परिणाम कहते हैं। परंतु जो असैद्धांतिक अर्थात् झूठ है, भ्रम रूप, अन्यथा दूसरा भाव निर्माण होता है उसे विवर्त कहा जाता है।" एकाध मूल वस्तु से जब वास्तविक दूसरी वस्तु निर्माण होती है तब उसे गुण-परिणाम कहते है। परंतु ऐसा न होकर मूल वस्तु ही जब भ्रमात्मक रीति से अलग ही कुछ भासमान होती है तब उसे विवर्त कहते हैं। रस्सी पर सांप का (रज्जु सर्प) भास होना अथवा सिपी पर चांदी का मतलब शक्ति पर रजत का भास होना ही विवर्त के उदाहरण है। अतः इनका ही उपयोग मायावाद के मंडन का विषय है।

कार्य में जिसका प्रवेश रहता है अथवा जिसके बिना कार्य का अस्तित्व ही रहता नहीं उसे उपादान कारण कहते है। उदाहरण-मिट्टी से जब घट बनता है तब उसे परिणाम कहते है तथा मिट्टी को घट का उपादान कारण माना जाता है तो कुम्हार को निमित्त

कारण। मिट्टी इस उपादान कारण से घट यह अलग रूप का अर्थात् अन्यथा है तथा वह अधिष्ठान से रस्सी पर विपरीत स्वभाव का है। सारांश, सैद्धांतिक समान स्वभाववान मतलब परिणाम, तो अधिष्ठान से विपरीत स्वभाववान अर्थात् विवर्त। सामान्य का ज्ञान (मतलब रस्सी के सामान्य रूप का लंबाई का ज्ञान) तो विशेष - (अर्थात् विशेष गुण का) का अज्ञान ऐसा विवर्त संभव होता है।

विवर्त दो प्रकार का है। एक संवादी विवर्त तथा दूसरा विसंवादी विवर्त। मिट्टी का घट भासमान होना यह संवादी विवर्त, कारण यहां घट से पानी लाकर प्यास बुझाने आती है। इस विवर्त का उपयोग है। परंतु सिपी पर चांदी का भास यह विसंवादी विवर्त, क्योंकि उसका कोई उपयोग नहीं। ''विषयसत्ताक कार्यापत्ति विवर्त इति विवर्तस्य लक्षणम-'' इस प्रकार विवर्त का लक्षण बताया गया है। अतः मूल में निर्गुण निराकार परब्रह्म है तथा माया से अथवा इंद्रिय धर्म के कारण उसी में ''सगुण साकार जगत् का तथा जगत् के विविध चीजों का झूठ दिखावा दिखता है अथवा उत्पन्न होता है।'' ऐसा जो कहते है वही यह विवर्तवाद है।

जगत् व्यवहारिक दृष्टि से सत्य है। अतः जिसे व्यावहारिक सत्ता है ऐसा मानना अथवा जगत् भासमान है यह संवादी विवर्त कहना एक ही है। वेदान्तवादी १. व्यावहारिक, २. प्रातिभासिक, ३. पारमार्थिक ऐसे तीन सत्ता माने जाते हैं।

१. देशकाल की दृष्टि से जिसका अभाव होता नहीं वह व्यावहारिक सत्ता उदाहरण- मिट्टी।

२. देशकाल की दृष्टि से जिसका बोध होता है वह प्रतिभासिक सत्ता उदारहण-घट, घट का आकार यह घट है तब तक वह मिट्टी में दिखाई देता।

३. देशकाल की दृष्टि से कभी भी न आने वाले आत्मस्वरूप वह है पारमार्थिक सत्ता। उदाहरण-मिट्टी के घड़े का अस्तित्व।

अद्वैत वेदान्तवादी एक शुद्ध सत्य आत्मस्वरूप के सिवाय सभी झूठ प्रतिभासात्मक मानने के कारण वह एक पारमार्थिक सत्ता ही सत्य मानते हैं। अन्य दो को प्रतिभासिक सत्ता (झूठ सत्ता) मानते हैं।

जगत् परब्रह्म का विवर्त है - अर्थात् परब्रह्म में झूठ दिखने वाला भास है। सर्वत्र एक सच्चिदानंद परब्रह्म ही व्याप्त रहते वहां जगत् की जो अनुभूति होती है - जो भास निर्माण होता है - विवर्त होता है वही माया अज्ञान है। जगत् रूप का बोध यही अज्ञान है तथा आत्मस्वरूप ज्ञान यही ज्ञान है ऐसा अद्वैतवादियों का मंडन है। अतः जगत् यह माया कार्य कहना ही मायावाद है। लेकिन यह माया यह भ्रम कैसे निर्माण हुआ यह न

बताकर अथवा माया का कारण स्पष्ट करते नहीं बना, ''भ्रम ही नहीं तो जगत् कहां? क्योंकि माया को सत्ता ही नहीं, अस्तित्व नहीं। तो जगत् को सत्ता अथवा अस्तित्व कहां?'' इस न्याय से कल्पना करने को भी जगत् नहीं ऐसा कहना अजातवाद।

यहां ज्ञान तथा अज्ञान अथवा अविद्या (अर्थात् माया) का अर्थ ठीक से समझ लेना आवश्यक है। व्यवहार में यदि ज्ञान नहीं है - ज्ञान का अभाव है तो अज्ञान कहते हैं। परंतु शास्त्र में ज्ञान अज्ञान यह दो स्वतंत्र भाव पदार्थ मानते है। अज्ञान को ज्ञान का अभाव नहीं माना जाता। व्यवहार में विषय वस्तु का बोध होना, ज्ञात होना इसे ज्ञान कहते है, तो शास्त्र में (अद्वैत) विषय का बोध होना यह अज्ञान माना गया। जगत् रूप का कोई भी बोध यह अज्ञान तथा आत्मस्वरूप का बोध ही ज्ञान ऐसा शास्त्रमत है, इसे ध्यान में रखना जरूरी है। यह विषय अब हमें देखना है।

यहां हमने मायावाद तथा अजातवाद क्या है इसे जान लिया। परंतु अजातवादी मायावाद तथा अजातवाद में कुछ भी फर्क नहीं ऐसा बताने के कारण हमारे धार्मिक साहित्य में इन दोनों के एक ही पंक्ति में बिठाया ऐसे लगता है। अजातवादी, मायावादी जगत् मिथ्या अर्थात् भ्रममूलक दिखता है ऐसा कहते हैं। तो भ्रम ही संभव नहीं है अतः उत्पन्न हुआ नहीं यह हमारा मत है। अतः शब्द से भी (नहीं अथवा झूठ है) हमारे सिद्धान्त में मूलतः कुछ फर्क नहीं। अगला वचन इस मत की पुष्टि करता है।

अज्ञानम् तत्कार्यंच कालत्रये विनास्तीति यो निश्चयः स एव तस्य बाधः।
प्रतिपन्ने बाधे निषेधः प्रतियोगित्वनिर्वचनीयत्वम् ।।११।।

अर्थ - ''अज्ञान अथवा उसका कार्य जगत् यह तीनों काल में सही अर्थ में अस्तित्व में रहते ही नहीं। यह जो निश्चय है वहीं 'भ्रम तथा भासमान है' इसका बोध करता है'' तथा ''उत्पन्न हुआ है इसका बोध मतलब वह है ही नहीं। इसके निषेध के (नहीं का निषेध है) प्रतियोगित्त्व के कारण (अर्थात् है के विरोध के कारण) उसे अनिर्वचनीयता आयी है।'' सारांश, वह नहीं है। उसके निषेध का अर्थात् है के प्रतियोग के कारण - विरोध के कारण उसे अनिर्वचनीय कहते है। यहां अद्वैतवादी वह है ही नहीं से ही शुरुवात करने के कारण निषेध अर्थात् भासमान का प्रतियोगी अर्थात् विरोध से अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है।

सारांश, मायावाद तथा अजातवाद यह परस्पर विरोधी भी यद्यपि लगते हैं तो भी वह सिद्धान्ततः एक ही है ऐसा अजातवादी कहते है। अजातवाद यह गौडपादाचार्य का अर्थात् शंकराचार्य के गुरू का है, तो मायावाद यह शंकराचार्य का अर्थात् शंकराचार्य ने ही प्रसारित किया है। परंतु मायावाद श्रुतिप्रणित है - वेदों का है, ऐसे बताने का

प्रयास बहुत किया तथा अनेकों की धारणा भी यहीं है।

परंतु शंकराचार्य ने जिन विवर्त तथा अध्यासों के आधार पर मायावाद का प्रतिपादन किया वे दोनों ही विवर्त तथा अध्यास वेदों में कहीं नजर नहीं आते। वेदों में माया शब्द का भी अधिक प्रयोग नहीं हुआ। 'दृष्टि -सृष्टिवाद' तथा 'सृष्टि-दृष्टिवाद' ऐसे कुछ वाद वेदान्त में (वेदों के अंतिम चरण में) दिखाई देते है। परंतु उनका माया से वैसे कोई संबंध न होने से हमें माया का विचार करना है इसलिए दूसरा विचार हम नहीं करेंगे। अब जिन विवर्त तथा अध्यास के आधार पर शंकराचार्य ने मायावाद का प्रतिपादन किया उसके कुछ अध्यास पर हम विचार करेंगे।

माया-अध्यास

अब हम देखेंगे यह अध्यास क्या है। जब मूल वस्तु भ्रम से कुछ और ही लगती है तब उसे विवर्त कहा जाता है यह हमने अब तक देखा ही है। वैसे ही जब ''एकाध चीज न भी हो तो भी वह चीज है ऐसी बुद्धि होना अध्यास है।'' उदाहरण-मृगजल तथा आइने का प्रतिबिंब। यहां मूल में कुछ न होकर 'पानी' तथा 'अपना प्रतिबिंब' है ऐसी बुद्धि बनती है।

न्यायमत के अनुसार भ्रम की रीति ऐसी है कि रस्सी का जब सदोष आँख से संयोग होता है तब आँखों का रस्सी के गुणधर्म से संयुक्त समवाय अर्थात् प्रत्यक्ष संबंध तो रहता ही है, परंतु उसके अर्थात् आँखों के दोष के कारण रस्सी के स्थान पर रस्सी न दिखकर सांप दिखाई देता है। यहां वास्तविक आँख का सांप से तथा सांप के गुणधर्म से संयुक्त समवाय अर्थात् प्रत्यक्ष संबंध रहता ही नहीं। परंतु इंद्रिय के संबंध के सिवाय अर्थात् आँखों का प्रत्यक्ष सांप से संबंध न आकर भी आँख के दोष के कारण वहां रस्सी के स्थान पर सांप दिखाई देता है। जहां सांप नहीं है वहां वह है ऐसा आभास ही अध्यास है। (सर्पाध्यास)

फिर भी यह जो आभास होता है यह भी मनुष्य को उस समय जिस प्रकार की स्मृति अर्थात् याद होगी उस प्रकार का आभास होता है। जिस व्यक्ति को उस समय लाठी की अर्थात् दंड़ की याद आएगी उसे रस्सी के स्थान पर लाठी का आभास होगा। जिसे सांप की याद आएगी उसे सांप का आभास होगा। न्याय सिद्धान्त के आधार पर आँखें अथवा इंद्रिय यहीं भ्रम का मुख्य कारण माना जाता है। परंतु न्याय की युक्ति प्रयोग करने वाले वेदान्तवादियों को यह मत सर्वथा मान्य नहीं है। उनका कहना है कि ब्रह्म में निर्माण होने वाले अहंकारादि उस भ्रम के अथवा अध्यास के कारण इंद्रिय असंभव लगता है।

अध्यास विषय के संबंध में कवि तार्किक चक्रवर्ती नृसिंहभट्ट उपाध्याय का पूर्ववर्ती आचार्यों से विरोध है तथा धर्मज्ञान तथा उपाध्याय ने पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष रीति से इस पर काफी चर्चा की है। वैसे ही रज्जु सर्प के दृष्टांत में रस्सी के स्थान पर क्यों आभास होता है इसका विचार –

१.. माध्यमिक मतवादी – शून्यवादी – असतख्याती

२. क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध – आत्मख्यात

३. न्याय वैशेषिक मत का अन्यथाख्याती

४. सांख्य प्रभाकर मत का आख्याती

५. जगत् सत्यवादी सत्ख्याती

६. वेदान्ती – अनिर्वचनीय ख्याती

इत्यादि ने भिन्न भिन्न पद्धति से किया है और अंततः उसे अनिर्वचनीय ही माना है।

यह कुछ भी हो, अविद्या, अज्ञान, माया, विवर्त तथा अध्यास यह सभी कल्पना मूल में, सत्य परब्रह्म से जगत् कैसे निर्माण हुआ अथवा सत्य का जगत् से संबंध क्या है यह कहने के लिए – अर्थात् जगत् की उपत्ति लगाने के लिए नहीं आये, वह एक ज्ञान स्वरूप परब्रह्म को केवल साक्षी तथा अत्यंत अलग रखने के लिए, वही पूर्ण है यह समझाने के लिए, प्रतिपादित किये गये है। जगत् अथवा विश्व यह न्यायतः न्याय रीति से अनुत्पन्न (अर्थात् तत्त्वतः उत्पन्न हुए ही नहीं) है। इतना ही समझा देना दार्शनिकों का काम है ऐसा अद्वैतवादियों का मानना है। उदाहरण– प्रत्यक्ष प्रमाणजन्य ज्ञान का विषय – अर्थात् मुझे प्रत्यक्ष दिखने वाले पानी, पानी का पात्र सब मिथ्या है (झूठ है) यह अद्वैतवादी कहते है। कारण वह पात्र स्वतः का निषेध करने के लिए, स्वतः के निषेधत्त्व को (स्वतः के अभाव को, स्वतः नहीं है यह दिखाने के लिए) प्रतियोगी अर्थात् विरोधी है। अतः प्रतीत होने वाले अनुभव आने वाले उपाधि के अर्थात् वस्तु के स्थान के, निषेद प्रतियोगित्त्व (अर्थात् स्वतः के अस्तित्व के निषेध का विरोधत्व – स्वतः के अभाव का विरोधत्त्व) अर्थात् मिथ्यात्त्व ऐसी मिथ्यात्त्व की परिभाषा है। अद्वैत सिद्धान्त के आधार पर जो वस्तु जहां दिखाई देती है वहां उसका मूलतः सैद्धान्तिक अभाव (न होना) रहता है लेकिन उस मूल अभाव के अस्थायी विरोध के कारण (स्वतः के निषेधत्त्व के प्रतियोग के कारण) वह भ्रम से वहां दिखता है – उसका ज्ञान होना – अर्थात् पानी के पात्र का ज्ञान होना – अर्थात् उसके अभाव का (वह सैद्धान्तिक नहीं) ज्ञान होना है। यह पात्र का अभाव ही सत्य होने के कारण तीनों ही काल में वह सत्य ही रहता है। ऐसा वेदान्तियों का कहना है तथा वह पात्र (लोटी) को मिथ्या कहते है।

इसके आगे शास्त्र में मिथ्यात्त्व का मिथ्यात्त्व ही सिद्ध किया है। इन सब का उद्देश्य एक ही है, वह है साक्षी परब्रह्म केवल सत्य है यह सिद्ध करना है - सारांश, यह केवलाद्वैत है।

प्रचलित न्याय प्रणाली में बहुत बार खूनी कानूनन दोष मुक्त होता है तथा निर्दोष को फांसी लगायी जाती है। यह सब कानूनी है। उसे गैर कानूनी कह नहीं सकते वैसे ही न्याय की पद्धति से - न्याय मत से जगत् में रहकर जगत् की भाषा द्वारा ही विचार कर जगत् का मिथ्यात्त्व न्यायतः सिद्ध करते बनता है। जगत् में रहकर जगत् को असत्य प्रमाणित करते बनता है यह बड़े आश्चर्य की बात है। परंतु तर्क से अध्यास सिद्ध नहीं होता।

इसके पहले हमने जिस अज्ञान का विचार कर अध्यास की और मुड़े उस अज्ञान का हम विचार करेंगे। नैयायिक-न्यायमत ज्ञान के अभाव को ही अज्ञान कहते हैं, वैसे वेदान्ति नहीं मानते यह हमने देखा। अज्ञान, अविद्या, प्रकृति, माया और शक्ति यह सब नाम एक ही पदार्थ के है। अद्वैतवादी के मत से ब्रह्म क्या है इस संबंध में कुछ भी पता न होना अज्ञान है। सिद्धान्तमत से अज्ञान के आवरण तथा विक्षेप यह दो शक्ति है तथा अज्ञान यह अनादि भावरूप ऐसा भावपदार्थ माना गया है।

आवरण का सीधा अर्थ आच्छादन है। जीव को ब्रह्म का सच्चिदानंदरूप से बोध न करा न देने का कारण यह आवरण है। एक अभावापादक तथा दूसरी असत्वापादक ऐसे आवरण शक्ति का कार्य है।

विक्षेप अर्थात् कार्य ऐसा शास्त्रीय रूढ़ अर्थ है। अज्ञान का परिणाम स्थूल-सूक्ष्म शरीर, उनका अभिमान तथा उससे उत्पन्न अनंत दुःख आदि सब जगत् इसे विक्षेप तथा शोक कहते हैं। यह बंधरूप है। इस प्रकार के अज्ञान को १. अविद्या, २. प्रकृति, ३. माया, ४. शक्ति ऐसे नाम है।

१. विद्या के योग से जिसका नाश होता है उसे अविद्या कहते हैं।

२. प्रपंच का उपादान कारण होने से उसे प्रकृति कहते हैं।

३. दुर्धर आश्चर्य से अचंबित कर छोड़ती है वह माया है।

४. उसमें स्वतंत्रता का अभाव होने से उसे शक्ति कहते हैं।

ऐसा कहकर अज्ञान इस एक पदार्थ के अनेक नामों की सैद्धान्तिक उपर्युक्त उपत्ति देते है।

वाचस्पति के मत से वृत्ति के योग से नाश होने वाला जो अज्ञान है उसका आश्रय

जीव है तथा विषय ब्रह्म है। इस वाक्य का अर्थ पहले समझेंगे। जीव ईश्वर विभाग रहित शुद्ध ब्रह्म के आश्रित, माया है, वह शुद्ध ब्रह्म को ही आच्छादित करती है। घर का अंधेरा घर को आच्छादित करता है। उसी प्रकार ब्रह्म के आश्रय पर रहने वाली माया ब्रह्म को ही आच्छादित करती है (बादल सूर्य को ढ़कते है) ऐसा मत संक्षेप शारीरिक, वेदान्त मुक्तावली तथा अद्वैत सिद्धी आदि ग्रंथकारों के होने के कारण वह माया को अज्ञान को स्वाश्रया, स्वविषया ऐसा कहते है। परंतु भामती निबंधकार वाचस्पति अलग मत के है। उनका कहना है कि मैं अज्ञानी हूँ ब्रह्म को नहीं जानता। यहां पर मैं शब्द का अर्थ है जीव यह अज्ञानी अर्थात् अज्ञान का आश्रय है तथा ब्रह्म को नहीं जानता इस अनुभव से ब्रह्म को विषय बनाती है। अतः अज्ञान जीवाश्रित है और जीव अनंत है। अतः अज्ञान को अनंत मानना चाहिए। अतः एक को ज्ञान होकर उसका अज्ञान दूर भी हुआ तो भी सभी का नहीं होता।

ज्ञान दो प्रकार का है। स्वरूपज्ञान तथा वृत्तिज्ञान। स्वरूपज्ञान अर्थात् आत्मा या चैतन्य, वृत्तिज्ञान - घट-पट का ज्ञान। जिस अज्ञान की ज्ञान द्वारा निवृत्ति होती है वह घट-पट का वृत्ति अज्ञान है। अतः वृत्ति के योग से नाश होने वाले अज्ञान जिसका आश्रय जीव है तथा विषय ब्रह्म है ऐसा वाचस्पति का कहना है। परंतु विवरणकार का बिंब-प्रतिबिंबवाद जीवात्मा से अभेद सिद्ध करने में बड़ा सफलदायी है।

सिद्धान्ती अज्ञान को भाव पदार्थ तथा अनिर्वचनीय मानते है वह कैसे यह संक्षेप में देखेंगे। उनका कहना है कि अज्ञान यह जैसे सत से सत्य से अलग है, उसी प्रकार सरासर झूठ से अलग विलक्षण है। इसके कारण जिसका बाध होता नहीं (ज्ञान से) ऐसा अबाध्य रूप जो सत्य है, वह अज्ञान के पास नहीं। परंतु तुच्छ रूप अर्थात् सामान्य 'असत' से झूठ से विलक्षण ऐसे रूप का, सत्य का अज्ञान से अंगीकार होने के कारण, सत् असत् से विलक्षण ऐसे अनिर्वचनीय अज्ञान है। पारमार्थिक सत् स्वरूप जो ब्रह्म से भी विलक्षण निराला तथा सत्य स्फूर्ति शून्य ऐसे असत् झूठ पदार्थ से भी अलग ऐसा अनिर्वचनीय शब्द का अर्थ है। सारांश, जो सत्य भी कहते नहीं बनता न झूठ उसे अनिर्वचनीय कहते है।

अज्ञान का 'अ' का अर्थ विरोधी है अ-ज्ञान अर्थात् ज्ञान विरोधी ऐसा अर्थ बनता है। उदाहरण- प्रकाश का न होना ही अंधेरा है लेकिन विवरणकारों ने अंधेरे को भी एक पदार्थ मानकर भावरूपता दी। इस प्रकार ज्ञानविरोधी अज्ञान को भी एक स्वतंत्र पदार्थ मानकर भावरूपता दी। इस प्रकार अज्ञान भावरूप है, वह उत्पत्ति रहित होने से (अंधेरे जैसे) अनादि है वैसे ही अनिर्वचनीय है ऐसा बताया है। ''मायान्तु प्रकृति विद्यात्'' 'मायांय विद्यांच स्वयमेव भवति' आदि श्रुति वचनों का आधार लेकर अद्वैती माया

संबंध में, तत्त्वविवेकादि ग्रंथ से कुछ कुछ विचार (विधान) व्यक्त किये हैं उसका भी विचार करेंगे।

१. माया को ही प्रकृति मानें, ऐसा पहला वचन। यहां प्रकृति का अर्थ सांख्य प्रकृति जैसे किया गया है। (हमने देखी हुई प्रकृति जैसे नहीं)

२. माया तथा अविद्या यह अपने आप निर्माण होने वाली है, ऐसा दूसरा वचन इससे वही जगत् की मूल प्रकृति है ऐसा कहा गया है। इस मूल प्रकृति के दो रूप माने हैं। अज्ञान के विक्षेप शक्ति की जिसमें प्रधानता है वह माया तथा आवरण शक्ति की जिसमें प्रधानता है वह अविद्या।

३. मूल प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। इस वचन के आधार पर उसके दो रूपों में से पहली माया शुद्ध सत्त्व प्रधान तथा दूसरी अविद्या यह मलीनसत्त्व प्रधान है ऐसा कहते है। रजोगुण तथा तमोगुण से अभिभूत ऐसे सत्त्वगुण को मलिन सत्त्वगुण को शुद्ध सत्त्व ऐसा कहते हैं।

अब तक हमने जगत् का कारण माया तथा अज्ञान का जैसे विचार किया वैसे ही वह कारण सिद्ध करने की युक्ति विवर्त तथा अध्यास की भी जानकारी प्राप्त की। अध्यास विषय पर अद्वैत ग्रंथ से बहुत मतमतांतर हुए है। उनके लक्षण हर एक ने अलग अलग की है वैसे ही उनके प्रकार तथा उप प्रकार भी बहुत किये है। उसमें से हम कुछ अब आगे देखने वाले है। इस पर नैय्यायिक की रीति तथा उपाध्याय धर्मज्ञानवादी इनके मतों का कुछ उल्लेख पहले आया है।

अध्यास पर इस प्रकार बीच बीच में छुटपुट लिखने का कारण वह अपना मुख्य विषय नहीं है। अपना विषय माया है। उसकी प्रक्रिया तथा युक्ति ही अध्यास है तथा विवर्त है। पहले माया तथा बाद में अध्यास अथवा पहले अध्यास बाद में माया बतायी, तो माया का हेतु तथा माया की युक्ति का अन्योन्य संबंध लगता नहीं ऐसा अनुभव है। यह दोनों विषय बीच बीच में बनाने के कारण वह समझ में आना अधिक संभव लगता है। अतः यहां प्रयास किया है। अंतिम लक्ष्य 'पूर्णपुरुष' है वह सिद्धान्त ठीक से समझना चाहिए इसलिए हम माया का अध्ययन कर रहे है यह साधक ध्यान में रखे।

इस प्रकार के विश्लेषण से एकाध को शंका हो सकती है ''जगत् की वार्ता न रखने वाले एकरस, एक जिन सी, ज्ञानस्वरूप, अत्यंत अलिप्त साक्षी परब्रह्म उतना ही सत्य तथा विश्व न्यायतः उत्पन्न हुआ ही नहीं अथवा मिथ्या है।'' इतना कहने के लिए इतनी सारी उठापटक, मतमतांतर, तथा वाद विद्वानों ने क्यों निर्माण किये? और आज हम उनका अध्ययन क्यों करे?

तो इसका उत्तर यह है कि यह सब विश्लेषण, वेदान्ति अंतिम सत्य के तथा उसके दर्शन का बालरूप है। उसका दूसरा रूप इंद्रियातीत तथा बुद्धि को अगम्य है, वह अनुभूति तथा साधना से ही समझने वाला है। लेकिन इस साधना में अनेक बाधायें आती है, जो प्रश्न उपस्थित होते है उनका निराकरण करने के लिए इस विश्लेषण का बहुत उपयोग होता है, इसी पूर्णवाद ग्रंथ के पृष्ठ २२ पर आत्मानुभूति के लिए जिस ॐकार की ध्यानयुक्त उपासना बतायी है, वह करते समय ध्यान में जब विश्व छूटते जाता है (जैसे नींद में छूटता है) तब साधक को अंधेरे खड्डे में गहरे अथवा किसी अंधेरे सुरंग में अंदर ही अंदर विवर्त में जा रहे है ऐसी अनुभूति आती है। यहां जगत् की कुछ स्मृतियां अगर शेष है तो उस अंधेरे में आकस्मिक कुछ भिन्न भिन्न दृश्य दिखाई देते है और जो हम ध्यान से जानने का प्रयत्न करते रहते है (उदारहण-'अ', 'ऊ', मात्रा) उस पर स्मृति के कारण दूसरे ही रूप का अध्यास निर्माण होते रहता है तथा सही ज्ञान व ध्यान होने की अपेक्षा अवंछित ज्ञान अथवा ध्यान होता है। ऐसी जगह साधक को अध्यास तथा विवर्त और उनकी प्रक्रिया का यदि ज्ञान होगा तो वहां जो दिखाई देता है, वह मनुष्य आदि को सही न मानते हुए अपना ध्यान चालु रखता है तथा पूर्ण सही ज्ञान होने तक अपने प्रयत्न चालु रखता है। वैसे ही अंतिम सत्य कैसे अनिर्वचनीय है यह जिसे दर्शन से समझा होगा तो उसे यह भी अनुभूति अपने शब्दों में बताना असंभव है और वैसे उसे बताने नहीं आया तो उसे अनिर्वचनीय सत्य की अनुभूति नहीं हुई यह आरोप यदि कोई लगाए तो वह सरासर झूठ है।

इस प्रकार ज्ञान तथा अज्ञान क्या है, उसके लक्षण क्या है यह जिसे पता होता है उसे ध्यान में होने वाले अनुभूतिजन्य ज्ञान सही या गलत इस का विश्लेषण करते बनता है। ज्ञान स्वतंत्र रीति से अनुभूति से जिसका है उसे ही प्राप्त करने की बात है। लेकिन हुआ वह ज्ञान ही है या और कुछ है, यह गुरु बता सकते हैं, वैसे ही वह कुछ प्रमाण में स्वतः का स्वतः ही समझे यही इस सविस्तार विश्लेषण का उद्देश्य है।

उपर्युक्त ध्यान विषयक विश्लेषण में अनुभूति का एक सक्षम पक्ष है इसे सूज्ञ पाठक ध्यान रखे। जब तक हम साधना की शुरूवात करते नहीं तब तक आत्मा का अद्वैत मार्ग से ज्ञान हो अथवा पूर्णपुरुष की पूर्णवाद साधना से अनुभूति आनी चाहिए इसलिए प्रामाणिकता से नियमित साधना यदि हम नहीं करेंगे तो तब तक अध्यास विवर्त, अज्ञान, अविद्या, माया आदि के विश्लेषण का कैसे तथा कितना उपयोग है यह हमारे ध्यान में कभी भी नहीं आ सकता। अविद्या, माया, अध्यास, विवर्त, अज्ञान इन सब कल्पनाओं का उपयोग आत्मानुभूति के लिए अद्वैत मार्ग से ध्यान करने वाले को निश्चित ही होता है। कारण कि मूल में यह सब कल्पना ध्यान में आने वाली विभिन्न

बाधाओं से ही उत्पन्न हुई है। इसे साधक ध्यान में रखे।

इन सबसे पूर्णवाद ग्रंथ समझने के लिए जैसे उसका विश्लेषण समझ लेना जरुरी है। वैसे ही पूर्णपुरुष की साधना भी नितांत आवश्यक है। उसे अपने अन्दर प्रवाहित-प्रेरित करना भी उतना ही आवश्यक है। जबतक पूर्णवाद की वैचारिक रीति तथा पूर्णपुरुष की साधना अपने तथा समाज की व्यवस्था का अंग नहीं बनती तब तक पूर्णवाद ग्रंथ का विश्लेषण तथा उसकी सामयिकता (औचित्य) हमारे समझ में नहीं आ सकती । अतः यह दो बातें जब तक पूरी नहीं होती तब तक डॉ. रामचन्द्र महाराज ने पूर्णवाद ग्रंथ प्रकाशित भी होने नहीं दिया, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

अध्यास का मतलब क्या? इसकी जानकारी लेते समय हमने देखा कि, अध्यास विषय पर अद्वैत ग्रंथ से अनेक मतमतांतर सामने आये है। वैसे ही उसके लक्षण भी हर एक ने अलग अलग बताये हैं, तथा उनके प्रकार तथा उप प्रकार भी है। यहां हम उनमें से कुछ लक्षण तथा प्रकार की चर्चा करेंगे। यह चर्चा हमें अद्वैत माया समझने में बहुत उपयोगी होगी।

कुछ ग्रंथकार अध्यास के लक्षण इस प्रकार करते हैं: ''अपने अभाव के अधिकरण का जो आभास है वह अध्यास है'' अब इस वाक्य का अर्थ ठीक से समझ लेंगे - रस्सी पर जब सांप दिखता है, अथवा सिपी पर जब चांदी दिखती है, तब सबसे पहले अपनी अंतःकरण वृत्ति उस रस्सी तक जाती है। लेकिन अंधेरे के कारण वहां उसे रस्सी न दिखते हुए कुछ तो है ऐसा प्रथम ज्ञान होता है। रस्सी न दिखने के कारण अर्थात् रस्सी - रज्जु का अभाव होने से, यह अथवा जिस वस्तु पर तथा अधिकरण पर हुआ उस अधिकरण पर जो कुछ दूसरा आभास होता है - फिर वह सांप का हो या लाठी का - उसे अध्यास कहा जाता है।

अब शास्त्र में रस्सी के स्थान पर कुछ तो है ऐसा जो प्रथम ज्ञान होता है उसे 'सामान्यरूप ज्ञान' कहते हैं। आगे साफ प्रकाश में यह रस्सी है ऐसा जब स्पष्ट दिखता है तब उसे रस्सी का 'विशेष रूप ज्ञान' अथवा विशिष्ट ज्ञान कहते हैं। सामान्य का ज्ञान तथा विशेष का अज्ञान होने के कारण अध्यास संभव होता है। इसी प्रकार वेदान्ती आत्मा का सत्रूप भाव है, इसे सामान्य रूप तथा चित् आनंद रूप को विशेष रूप मानने के कारण इस सत् पर अर्थात् सामान्य रूप पर जगत् का अध्यास होता है ऐसा कहते हैं। सामान्य रूप को आधार और विशेष रूप को अधिकरण अथवा अधिष्ठान कहना चाहिए ऐसा सूक्ष्म भेद संक्षेप शारीरिक करने के कारण हमारे अीव के अधिकरण के स्थान पर अर्थात् विशेष ज्ञान के अभाव के स्थान पर जो आभास होता है उसे

अध्यास कहना चाहिए, ऐसा अध्यास का लक्षण शास्त्रकारों ने किया है।

अब विशेष रूप का अज्ञान यह जड़ रस्सी के स्थान पर अपेक्षित है ऐसा कहते नहीं बनता। कारण वेदान्त मत से सभी को चैतन्य का अधिष्ठान है। ऐसे वस्तु में दिखने वाले चैतन्य को 'घटोपटित' चैतन्य (घट का चैतन्य) 'पटोपटित' चैतन्य (पट का चैतन्य) ऐसा कहने की शास्त्रकारों की रीति है, इस वस्तु को घटपटों को उपाधि, चैतन्य की उपाधि, ऐसा कहने की रीति है। तब अज्ञान रस्सी में नहीं है रस्सी तथा रस्सी का चैतन्य एक ही स्थान में होने के कारण, अज्ञान रज्जूपटित चैतन्य में है। यह स्पष्ट है। परंतु व्यवहार में इसे रज्जु के स्थान का अज्ञान, रज्जू का अज्ञान कहा जाता है।

अब सिपी के स्थान पर – शक्ति के स्थान पर – रजत का – चांदी का – पारमार्थिक – (अर्थात् सही अर्थ में) तथा व्यावहारिक – (अर्थात् उपयोग की दृष्टि से) अभाव रहता है। सिवाय यह रजत सत् अथवा असत ऐसा कुछ भी कहते नहीं बनता इसलिए वह अनिर्वचनीय है। सिवाय यह भास जिस स्थान पर होता है तो शक्ति अथवा सिपी यह भी वहां कुछ है इस भाव से कल्पित ऐसे ही भासमान होता है। इस प्रकार कल्पित ऐसे अधिकरण के स्थान पर कल्पित रजत का अवभास होने से सभी अध्यास में यह लक्षण – अर्थात् अपने अभाव के अधिकरण के स्थान पर आभास संभव है।

इन शास्त्रज्ञों के अध्यास लक्षण से तुलना करते श्री भगवान शंकराचार्य के अध्यास लक्षण असाधारण है। वही मायावाद के प्रवर्तक होने के कारण, उन्हें यह लक्षण ज्ञात होना सहज संभव है। "अधिष्ठान से विषय सत्तावान जो अवभास" उसे अध्यास कहना चाहिए ऐसे शंकराचार्य अध्यास के लक्षण मानते है। यहां सिपी के स्थान पर रजत की उत्पत्ति होती है ऐसे वह कहते है ऐसा वह मानते है। अतः उस स्थान पर होने वाले रजत के ज्ञान और उस रजत के पास रहने वाले तत्कालिक रजत और उसकी सत्ता यह दोनों ही सिद्धान्त मत से अवभास वा अध्यास है ऐसा शंकराचार्य कहते हैं। अन्य शास्त्रज्ञों के मत में सिपी के स्थान पर रजत की उत्पत्ति नहीं मानते। आचार्य वह मानते है और यही उनका वैलक्षण तथा असाधारणत्त्व है। मात्र एक सत्ख्यतिवाद में रजत की इस प्रकार उत्पत्ति मानी जाती है। परंतु उस सत्ख्यतिवाद में शुक्ति देश में सिपी के स्थान पर चांदी के कुछ गुण निरंतर रहते है (चमकना) यह जैसे माना जाता है। वैसे ही शंकराचार्य की अनिर्वचनीय ख्यात में मानी नहीं जाती। इस अंतर के कारण सत्ख्यतिमत तथा शंकराचार्य मत एक ही है ऐसे मानने में नहीं आता। शंकराचार्य के उपर्युक्त अध्यास लक्षण का मर्म समझ़ में आने पर मायावाद तथा अजातवाद यह सिद्धान्ततः एक नहीं है यह स्पष्ट होता है। जब शंकराचार्य रजत की अथवा सर्प की उत्पत्ति मानते है, उसी समय अजातवाद शंकराचार्य को अपेक्षित नहीं है यह स्पष्ट होता है।

अब तक हमने अध्यास के लक्षणों का विचार किया। अब उनके अनेक प्रकार तथा उप प्रकार में से १. अन्योन्याध्यास, २. स्वरूपाध्यास, ३. संसर्गाध्यास, इन तीन प्रकारों की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

एक वस्तु पर दूसरी वस्तु दिखना तथा भासमान होना, इस प्रकार के अध्यास को अन्यान्याध्यास कहते हैं। इस अन्योन्याध्यास के कारण अनुभूति के समय अनात्मा के स्थान पर आत्मा का अध्यास हुआ ऐसा कहा जाता है। परंतु यहाँ एक शंका उत्पन्न होती कि आत्मा का अधिष्ठान अनात्मा है अथवा होता है, ऐसा कहने पर आत्मा आरोपित है यह सिद्ध होता है। जो अरोपित है वह कल्पित रहता है। इस नियम से (शुक्ति के स्थान पर रजत का अध्यास होता है - आरोप होता है तब रजत कल्पित रहता है) आत्मा भी कल्पित है ऐसा ही कहना पड़ता है अथवा वैसे ही निश्चित होता है। अतः यहां अन्योन्याध्यास लक्षण लगता नहीं।

परंतु शंकराचार्य ने शारीर भाष्य के भूमिका में आत्मा तथा अनात्मा का अन्योन्याध्यास होता है ऐसे दृढ़तापूर्वक कहा है (अर्थात् आत्मा के स्थान पर अनात्मा तथा अनात्मा के स्थान पर आत्मा ऐसा अध्यास) अनात्मा के स्थान पर आत्मा का अध्यास होता है यह स्पष्ट होता है। कारण ऐसे परस्पर पर होने वाले अध्यास को ही अन्योन्याध्यास कहते हैं। परंतु शंकराचार्य के इस भाष्य ने उपर्युक्त शंका का पूर्ण समाधान होता नहीं। वह कर लेने की दृष्टि से अध्यास के अन्य दो प्रकार देखते हैं।

अब स्वरूपाध्यास की प्रथम जानकारी लेंगे। जिस पदार्थ के स्वरूप अनिर्वचनीय ऐसे उत्पन्न होते रहता है वह स्वरूपाध्यास है ऐसे स्वरूपाध्यास का लक्षण बताया है। उदाहरण-शक्ति के स्थान पर होने वाला रजत का अध्यास यह स्वरूपाध्यास है कारण रजत यह अनिर्वचनीय है। यह अध्यास तथा इसी पद्धति से आत्मा के स्थान पर अनात्मा का अध्यास यह दोनों स्वरूपाध्यास है। और उसके कारण अनात्मा यह अनिर्वचनीय है ऐसा सिद्ध हो रहा है। उसके स्थान पर आत्मा का अध्यास संभव होता है। पिछली शंका का यह समाधान है।

अब संसर्गाध्यास के लक्षण देखेंगे। जिस पदार्थ का स्वरूप फिर वह व्यावहारिक रहे अथवा पारमार्थिक, वह प्रथमतया सिद्ध ही है उसका जो अनिर्वचनीय संबंध उत्पन्न होता है उसे संसर्गाध्यास ऐसा कहते हैं। उदाहरण-अपने चेहरे का तथा मुख का, आइना अथवा दर्पण से कुछ संबंध रहता नहीं यह दोनों पदार्थ व्यावहारिक तथा अलग हैं। लेकिन ऐसा होकर भी आइने का मुख तथा चेहरे का प्रतिबिंबरूप से संबंध रहने के कारण आइने पर मुख का अध्यास होता है। आइने के स्थान पर मुख अथवा चेहरा

प्रकट होता है। आइना ही मुख है ऐसा क्षण भर के लिए लगता है। इस अध्यास को संसर्गाध्यास कहते हैं। वैसे ही यदि कपड़े को लाल रंग देने पर, कपड़ा लाल है, हम लाल रंग का कपड़ा न देखकर लाल कपड़ा ही देख रहे हैं ऐसा आभास होता है। यह संसर्गाध्यास। वैसे ही लाल फूल में स्फटिक रखने पर स्फटिक ही लाल है ऐसा जो लगता है वह भी संसर्गाध्यास ही है। यहां पर १. मुख और आइना, २. लाल रंग तथा लाल कपड़ा, ३. सफेद स्फटिक तथा लाल फूल – इनके तादाम्य को अनिर्वचनीय संबंध कहते हैं। इसी प्रकार से चैतन्य का अहंकार के कारण – शुक्ति के स्थान पर रजत – इस प्रकार का अध्यास नहीं होता, तो चैतन्य ही पारमार्थिक होने के कारण उसके संबंध का अध्यास – संसर्गाध्यास – अहंकार के कारण होता है। आत्मा चैतन्य में रहती है। उसकी प्रतीति अहंकार के कारण होती है। अतः आत्मा के अहंकार के स्थान पर तादात्म्य रूप अनिर्वचनीय संबंध स्थापित होता है, इतना ही नहीं तो वह अनिर्वचनीय संबंध रहता है। अतः अनात्मा में आत्मा का अध्यास संसर्गाध्यास भी यदि होता है तो भी आत्मा आरोपित अथवा कल्पित रहता नहीं। यह इस शंका का दूसरा निराकरण है।

क्या अध्यास और क्या विवर्त दोनों ही भ्रमज्ञान के ही अन्तर्गत आते हैं। इन दोनों के लक्षण से इनका अंतर सहज ही समझ में आ सकता है। लेकिन सरसरी तौर पर सोचने वाला दोनों एक ही है ऐसा विपरीत लगने की संभाजना लेकिन उसमें अंतर है यह हमने देखा है। अध्यास के किसी भी प्रकार से अद्वैत सिद्धि हम जैसा चाहते हैं वैसे नहीं होती। परंतु विवर्त से वह निश्चित होती है। कारण कि मूल वस्तु के वास्तविक स्वरूप को न पलटते अथवा दूसरे किसी के जैसे न भी होने पर भी यथार्थ से भिन्न विचित्र रूप की प्रतीत होना अर्थात् भ्रम होना यही विवर्त है। वैसे अध्यास में नहीं कह सकते। यही इन दोनों का अंतर है।

ब्रह्म का विवर्त जगत् है ऐसा कहने पर ब्रह्म के निरूपाधिकत्त्व तथा निरामयत्त्व को बाधा नहीं आती। लेकिन अध्यास से मात्र शबलत्त्व आता है अथवा मानना पड़ता है। यहां एक बात ध्यान में रखने की है कि आचार्य शुक्ति में रजत की उत्पत्ति मानते हैं यही उनकी विशेषता है। परंतु अजातवादी यह जगत् भ्रममूलक है यह मानते नहीं है। भ्रम से भी उन्हें अजातवादियों को जगत् भ्रममय है यह कल्पना ही मान्य नहीं है। अतः जिस भ्रम से आचार्य रजत की अथवा जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, उस भ्रम के ज्ञान को जानना अपना कर्तव्य बनता है। इस भ्रम संबंधित ज्ञान से हमें अद्वैतिमाया की आद्योपान्त जानकारी प्राप्त करें जैसा ही है। अतः अब भ्रम पर विचार करेंगे।

माया - भ्रमज्ञान

अयथार्थ अनुभव का जो अनुभव यथार्थ ही नहीं, योग्य नहीं है उसे भ्रम कहते हैं। यह भ्रम दो प्रकार का होता है - एक संशय रूप भ्रम तथा दूसरा निश्चय रूप भ्रम। स्वभाव-गुणादि कारणों से होने वाले अयथार्थ आभास को भ्रम कहते हैं। वैसे भ्रम यह व्यावहारिक है और अधिकतर इंद्रिय दोष के कारण होता है। एक ही वस्तु में परस्पर भिन्न ऐसे दो विशेषणों का जो ज्ञान एक ही समय होना, इसे संशयभ्रम कहते हैं। उदाहरण-यह जो दूर से सफेद दिखता है वह पत्थर है अथवा आदमी है ऐसा एक ही समय लगना संशय रूप भ्रम कहते हैं। खेत के बनावटी हुलिया को देख कर यह आदमी है या बनावटी हुलिया। ऐसा लगना संशय भ्रम है।

साधक की दृष्टि से देखते हुए इस भ्रम का ज्ञान करा लेना आवश्यक है। क्योंकि साधक को संशय भ्रम का यह संत्रास आम बात है। वैसे निश्चय रूप भ्रम का नहीं है। ईश्वर है कि नहीं यह संशय होना संशय भ्रम है। यह हानिकारक भ्रम है, इसके बारे में अधिक जानकारी लेगें।

न्यायशास्त्र की दृष्टि से संशय ज्ञान यह भाव अभाव (अर्थात् है अथवा नहीं) यह भावाभाव विषय रहता है। अध्यास के जो लक्षण रहते है वैसे भ्रम का ज्ञान रहता है। अतः संशयभ्रम से संशय ज्ञान होता है। मात्र भाव विषय का मतलब है विषय संशय संभव रहता नहीं। जब यह पत्थर है या आदमी ऐसा संशय होता है तब पत्थर है कि पत्थर नहीं, पुरुष है कि पुरुष नहीं ऐसी चार कल्पनायें अथवा कोटी रहती है। तब संशय भी द्विकोटिक अथवा चतुष्कोटिक रहता है। कोटी अर्थात् एक धर्मी के स्थान पर प्रतीत होने वाला धर्म ऐसा पारिभाषिक अर्थ है। ईश्वर है कि नहीं इस संशय में ईश्वर यह धर्मी है अथवा नहीं, यह धर्म है, यह कोटी है। सारांश, मात्र भाव विषयक अथवा है विषयक संशय सुनने में नहीं है। वह है अथवा नहीं मतलब भाव तथा अभाव रूप ही भावाभाव रूप ही रहता है। प्रकार कुछ भी हों तो भी संशय से प्राप्त होने वाला ज्ञान संशय ज्ञान है।

संशय रूप अथवा निश्चय रूप 'भ्रम' यह दोनों भ्रम मात्र होने के कारण अंततः अनर्थ का कारण होने से उसका निराकारण होना जरूरी है। उनमें भी संशय रूप भ्रम यह अधिक नुकसानदेह है। अतः उसके प्रकार की भी चर्चा करेंगे।

संशय रूप भ्रम

प्रमाण संशय	प्रमेय संशय
	१. अनात्मसंशय
	२. आत्मसंशय
	३. साधन संशय
	४. स्वरूप मोक्ष वा पुण्यपुरुष संशय

संशय रूप भ्रम के दो प्रकार हैं -

१. प्रमाण संशय तथा प्रमेय संशय। प्रमाण के संबंध में अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलिब्ध, प्रयोग आदि प्रमाण विषयक जो संदेह अथवा संशय वह प्रमाण संशय। उदाहरण- वेदांत में अद्वितीय ऐसे ब्रह्म वस्तु संबंध के प्रमाण है कि नहीं ऐसा संशय प्रमाण संशय है।

प्रमेय संशय चार प्रकार के हैं। वह उपरनिर्दिष्ट है, उसमें से आत्मसंशय तथा अनात्मसंशय मुख्य है। आत्मसंशय के पुनः भिन्न भिन्न प्रकार हैं। जैसे त्वं पदार्थ विषयक, उदाहरण-ईश्वर सर्वव्यापी अर्थात् विभु है तो भी वह कर्ता है अथवा अकर्ता है। दूसरा तत्पदार्थ विषयक आत्मसंशय। उदाहरण-यदि वह निर्गुण निराकार है, तो वह सगुण साकार ऐसे सापेक्ष जगत् का कर्ता कैसे? यह सब प्रमेय संशय है। अनात्म संशय का उदाहरण- सूर्य से जो गर्मी उत्पन्न होती है वह क्या उसके ज्वलन क्रिया के कारण उत्पन्न होती है क्या? यहां तक हम संशय रूप भ्रम की जानकारी प्राप्त की। अब हम निश्चय रूप भ्रम की जानकारी प्राप्त करेंगे।

संशय से भिन्न ऐसा जो (भ्रमज्ञान) उसे निश्चय ऐसे कहते हैं। सीपी का सीपी कहकर यथार्थ ज्ञान तथा रजत (चांदी) रूप से होने वाला भ्रमज्ञान यह दोनों ज्ञान संशय से भिन्न होने के कारण निश्चय स्वरूप है। संशय से भिन्न ऐसा जो बाधित अर्थ विषयक ज्ञान वह निश्चय है।

बाधित अर्थात् जिसे बोध होता है। ब्रह्मज्ञान के सिवाय दूसरे किसी से जिसका बोध नहीं होता, उसे अबाधित कहा जाता है, और ब्रह्मज्ञान से शुक्ति दिकों के ज्ञान से जिसका बाध होता है। बाधित विषय यह दो प्रकार का है। एक व्यावहारिक पदार्थवछिन्न चैतन्य का विवर्त तथा दूसरा प्रातिभासिक पदार्थावछिन्न चैतन्य का विवर्त। शुक्ति में रजत का भ्रम यह व्यावहारिक पदार्थावछिन्न चैतन्य का विवर्त है। कारण शुक्ति रजत का अधिष्ठान शुक्ति से अविछिन्न चैतन्य है तथा शुक्ति व्यावहारिक है। स्वप्न में यदि सीपी के ऐवज में चांदी दिखाई दी तो स्वप्न के सीपी ज्ञान से उसके

चांदी का बोध होता है। परंतु स्वप्न का सीपी प्रातिभासिक है। अतः स्वप्न की सीपी पर दिखने वाली चांदी प्रातिभासिक पदार्थ विछिन्न चैतन्य का विवर्त है। इस प्रकार दो बाधित पदार्थों का जो निश्चय है वह निश्चय रूप भ्रम है और उसे भ्रम निश्चय कहते हैं।

क्या व्यवहार में और क्या परमार्थ में, निश्चय रूप भ्रम यह अनेक बार आदमी का मददगार बनता है। वैसे संशय रूप भ्रम का नहीं है। उदाहरण-ईश्वर है, वह हम पर कृपा करता है, ऐसा यदि निश्चय है तो वह अनेक बार आदमी को उबारता है। अगर यह भ्रम भी वेदांतियों ने सिद्ध किया तो भी कुछ फर्क पड़ता नहीं।

हमारे माँ-बाप तथा पत्नी गुणवान हैं, बहुत अच्छे हैं ऐसा यदि हमारा निश्चय है तो वह भी हमारा जीवन सुखी करने के काम आता है। यदि वास्तव में वह उतने गुणवान न भी हो और भ्रम से वैसे निश्चित तौर पर यदि लगता है तो भी यह भ्रम उपयुक्त सिद्ध होता है। हमारा गुरू सर्वशक्ति संपन्न है यह भ्रम भी अनेक बार उपयोगी सिद्ध हुआ है। ऐसे समय यदि साधक ने यह भ्रम पाला भी है तो उसे वैसे ही बनाये रखने में उसका हित है। बहुत हुआ तो विवाह के समय यह भ्रम है यह मुझे पता है, परंतु यह निश्चय रूप भ्रम होने से मुझे उससे कोई नुकसान नहीं होता न कोई फर्क पड़ता है। बल्कि वह मुझे उपकारक ही है। ऐसा साधक स्वीकार करेगा। निश्चय रूप भ्रम का ज्ञान कर लेना चाहिए। लेकिन वह नष्ट होना चाहिए यह जिद् उसे नहीं करनी चाहिए। कारण अनेक बार वह उपयुक्त होता है। फिर भी यहां अपना विवेक जागृत रखना हित में होगा। परंतु संशयात्मक भ्रम को कभी भी पालना नहीं। इसलिए कि वह विनाशकारी होता है। यहां हमारा भ्रम विषयक अध्ययन पूरा हुआ। अद्वैति माया का ज्ञान करा लेने के लिए जिन साधनों की तथा ज्ञान की आवश्यकता है वह पूर्ण होती है। वह ज्ञान हमने प्राप्त किया है। अतः अब हम अद्वैति माया को देखेंगे।

अद्वैत वेदान्त यह क्या चीज है, इसे एक वाक्य में दर्शाने वाली पंक्तियां देखिये -

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या । जीवो ब्रह्मैव नापरः।।१२।।

अर्थ - ''जो करोड़ों ग्रंथ कहते हैं वह तुम्हें आधे श्लोक में बताता हूँ। ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। जीव भी ब्रह्म ही है दूसरा कुछ नहीं है।''

अतः वेदान्तियों को जगत् मिथ्या है यह कल्पना क्यों सूझी? वह क्यों और कैसे सूझी, इस पर विचार करेंगे। कारण इस प्रकार हो सकते हैं -

१. जो दिखता है वह नश्वर है (यद् दृष्टं तद् नष्टम्) इस जगत् में उत्पत्ति-स्थित लय

यह निरंतर की प्रक्रिया को देखते यह सब एक दिन नष्ट होने वाला है इस प्रकार कल्पना बनती है।

२. ''तसाद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः।'' अर्थात् आत्मा से आकाश, आकाश से वायु जिस प्रकार से वेदों में पंचतत्त्व की उत्पत्ति, कार्य कारण संबंध बताकर अनेक स्थान पर बताई गई है। अतः जगत् यह कार्य रूप है, बाद में उत्पन्न हुआ है तथा उसका प्रारंभ आत्मा से होता है ऐसी कल्पना बनीं। आत्मा तथा परब्रह्म यही इसका कारण हो सकता है ऐसा लगता है।

३. सत्य की अर्थात् मात्र सत्य की शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परिस्थिति, ब्रह्म में स्थित है। ऐसा वेदों ने कहा है और ऐसा ही (समाधि में) अनुभूति होने के कारण, अंतिम सत्य एक ही है और वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है यह सिद्धान्त गृहित किया गया।

४. इस सिद्धान्त के कारण अर्थात् निर्गुण निराकार ब्रह्म यही एकमात्र सत्य, इस सिद्धान्त के कारण इस परब्रह्म से सगुण साकार विश्व उत्पन्न हुआ ऐसा कहना तर्कसंगत नहीं है। वैसे ही ''असद्वा इदं अग्रे आसीत'' इस श्रुति वचन से इस दृश्य विश्व के पहले अव्यक्त तथा उससे व्यक्त विश्व हुआ ऐसा कहना असंभव बनने लगा।

५. एक कार्य का कारण दूसरे कारण का कार्य बनने के कारण एक का कारण ब्रह्म कहने पर ब्रह्म का कारण क्या यह प्रश्न निर्माण होकर उसके अंतिम तथा केवल सत्य पर आपत्ति आती है। वैसे ही निर्गुण निराकार से, सगुण-साकार की उत्पत्ति न्यायतः असंभव है।

६. इन सभी कारणों से जगत् यह कार्य तथा परब्रह्म यह केवल इन दो गृहित तत्त्वों का कार्यकारण संबंध बताना न्यायतः असंभव है तथा परब्रह्म को जगत् का प्रत्यक्ष कारण कहते बनता नहीं है।

इन सब दिक्कतों के कारण जगत् का कारण जगत् तथा परब्रह्म इन दोनों अनुभूति में माया उपस्थित करना वेदान्तियों को आवश्यक बन पड़ा।

अर्थात् इतना करके भी स्वयं ज्योति, ज्ञान धन, परब्रह्म की अज्ञान रूपी माया कैसे उत्पन्न हुआ ? इस प्रश्न पर मानवी बुद्धि को एक कदम पीछे हटकर कहना पड़ा कि वह अनिर्वचनीय है। फिर भी निर्मित भ्रममूलक माया के कारण जगत् को मिथ्या बताकर जगत् के माथे पर मिथ्यात्त्व थोप दिया। परंतु उसके इस माया को भी अजातवादियों ने नष्ट कर कल्पित ऐसे उसकी संतान अर्थात् जगत् का ही सिर काट दिया। अंततः मिथ्या भी जगत् नहीं है ऐसा विद्वानों ने सिद्ध किया।

सारांश, केवल सत्यत्त्व तथा विश्व की कार्यरूपता इन दो गृहित तत्त्वों का कार्य कारण संबंध नहीं लगने के कारण परब्रह्म का केवलत्त्व बनाये रखने के लिये विश्व को मिथ्या अथवा सशश्रंग (खरगोश के सिंग) बताना पड़ा। जब जगत् तथा ब्रह्म का कार्य कारण संबंध नहीं लग रहा था तब शंकराचार्य ने कपोकल्पित माया जगत कारण कहकर निर्माण की। परंतु यह श्रुतिप्रणित है ऐसी आम धारणा बन गयी ऐसा लगता है। लेकिन यह श्रुतिप्रणित माया निश्चित ही नहीं है। उसका स्वरूप हम अब जान लेंगे तभी हमें केवल सत्य की पहचान होगी।

१. केवलाद्वैति माया जगत्कारण, अर्थात् जगत् माया का कार्य मानते हैं। लेकिन श्रुति में ऐसा कोई वचन मिलता नहीं है।

(अ) ''द्यावा पृथिवी जनयन देव एकः''

(आ) ''विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता''

(इ) ''धाता यथा पूर्वम कल्पयात''

इस प्रकार के श्रुति वचन, जगत् ईश्वर तथा पूर्णपुरुष का कार्य है अथवा ईश्वर का ही कर्तव्य है, ऐसा कहते हैं। अतः जगत् को श्रुति कार्य मानती आयी है फिर भी वह माया का कार्य नहीं है, वह ईश्वर का ही कार्य है ऐसा मानती आयी है।

२. जब श्रुति ''मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'' कहती है तब वहां बतायी गयी माया जगत्कारण सांख्य प्रकृति भी नहीं रहती।

(अ) ''विश्वस्य भुवनानि वेश्म''

(आ) ''एको हि रूद्रो न द्वितीयाय''

(इ) ''यदन्नेनातिराहति''

आदि वचनों से श्रुति ईश्वर के सिवाय दूसरा जगत्कारण नहीं मानती, तो ईश्वर ही निमित्त तथा उपादान कारण मानती आयी है। परंतु सांख्य की प्रकृति का गुणक्षोभ यह जगत् का निमित्त कारण बनता है तो प्रकृति उपादान कारण बनती है, तो अद्वैति विचार में माया निमित्त कारण तथा अज्ञान उपादान कारण बनता है। लेकिन श्रुति मात्र सांख्य जैसे तथा अद्वैति जैसे कभी भी नहीं कहती है, तो वह ईश्वर को ही निमित्त तथा उपादान कारण मानती है। इतना ही नहीं तो सांख्य तथा केवलाद्वैतवादी के युक्तिवाद को नकारने वाले अनेक श्रुतिवचन उपलब्ध है। सारांश, वेदांत ने प्रकृति को जगत्कारण कहा नहीं है, विश्वमाया, विश्व की माया, विश्व से निर्माण होने वाली माया, ऐसा वर्णन मिलता है। लेकिन इस प्रकार के वचनों का अर्थ आचार्य भाष्य से 'विश्वरूपमाया' ऐसा किया है।

सारांश, माया तथा प्रकृति विश्व का कारण न होकर कार्य है, विश्व से निर्माण होने वाली है। बहुत हुआ तो नित्य विश्व व्यवहार के कारण, यह वेद की प्रकृति तथा माया है ऐसा कह सकते हैं। उदाहरण–एकाध प्राणी जन्म लिया, कुछ समय जिया और मर गया, तो 'ऐसा क्यों हुआ?' ऐसा यदि किसी ने कहा तो, 'यह तो जगत् की प्रकृति ही है' ऐसा कहने आता है। सारांश उत्पत्ति, स्थिति आदि व्यवहार का कारण जगत् प्रकृति कहकर वेद की माया बताना अच्छा होगा।

माया- वेदमाया १

परंतु इसी नियम से वेद तथा श्रुति जगत् उत्पन्न हुआ ऐसा नहीं कहते एकाध व्यक्ति को यदि हमेशा सर्दी–जुकाम रहता हो, तो उसका कारण उसकी प्रकृति ही सर्द है (शीत) ऐसा कहने पर भी वह सर्द प्रकृति के कारण (शीत प्रकृति) उसका जन्म हुआ ऐसा कहने नहीं आता। उसी प्रकार जगत् व्यवहार यदि श्रुति माया के कारण हो रहे है, तो भी उससे जगत् की उत्पत्ति हुई ऐसा श्रुति सांख्य जैसे अथवा वेदांतवादियों जैसे नहीं कहते, उल्टे, ''को ददर्श प्रथमं जायमानः'' आदि वचन से जगत् कब उत्पन्न हुआ और उसके पहले परमेश्वर था यह कौन देखने गया था। ऐसा कहकर, कोई भी नहीं गया था ऐसा सूचित होता है। सारांश, जगत् बाद में उत्पन्न हुआ, वह कार्य है, यह कहना श्रुति को मान्य नहीं है। इतना ही नहीं, तो उस विश्वाध्यक्ष को भी वह कैसे और कब हुआ, हुआ या नहीं यह कहना आएगा अथवा नहीं इस पर साशंक होते दिखाई देता है।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त का यह वचन देखिए -

इर्य विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ।।१३।।

अर्थात्, ''जो इस अखिल विश्व का अध्यक्ष अत्यंत व्यापक आकाशवत सभी को अपने में समाने वाला पूर्णपुरुष ईश्वर भी यह प्रकृति अर्थात् विश्व रूप की व्यापकता जहां से (जब से) तथा जिस कारण से निर्माण हुआ यह वह जानता होगा अथवा नहीं क्या कहें।''

इससे परमेश्वर को भी जगत् का कारण अथवा उसका उत्पत्तिकाल ज्ञात है अथवा नहीं ऐसी जहां शंका है, वहा परमेश्वर का श्वासरूप वेद जगत् का कारण तथा कालखण्ड कैसे बता पायेंगे? अतः एक परमेश्वर के सिवाय वेदों में जगत् के उत्पत्ति का दूसरा कोई कारण बताया नहीं। इस नासदीय वचन से भी ईश्वर का पूर्णपुरुष का स्वरूप संबंध प्रकट होता है।

वैसे ही 'नमो विरूपेभ्या विश्वरूपेभ्यः' विरूप को, विश्व रूप ईश्वर को नमस्कार हो, ऐसा उसका वेदों में अनेक स्थान पर वर्णन तथा स्तवन प्राप्त होता है। वेदों में अनेक बार आने वाला 'विश्व रूप' यह शब्द प्रयोग ही वास्तविक पूर्ण का तथा विश्व का स्वरूप संबंध दर्शाता है। परंतु ऐसे बार बार आने वाले शब्द प्रयोग का अर्थ मात्र प्रसंगोपात कभी हिरण्यगर्भ, कभी मायोपाधित ईश्वर, कभी परब्रह्म स्वरूप ऐसे वर्णन शंकराचार्य के उपनिषद् भाष्य में प्राप्त होता है। तो द्वैताद्वैति निंबाकाचार्य के उपनिषद् भाष्य में सर्वत्र ईश्वरवाचक ही मिलता है। वहां भी यह उल्लेख संबंध दर्शक अर्थ में न भी किया हो तो भी दर्शक अर्थ से निश्चित किया गया है तथा नाम रूप के साथ अभेद ऐसा ही किया है।

उपर्युक्त नासदीय सूक्त का 'अस्याध्यक्षः' इस पद का अर्थ हिरण्य गर्भ किया गया है। लेकिन हमने उसे पूर्णपुरुष किया है कारण इसके आगे आया हुआ शब्द 'परमेव्योमन' - सभी को अपने में समाने वाला आकाश तत्त्व यह विशेषण है। आचार्य की दृष्टि से वह अर्थ सर्वव्यापक ऐसा पूर्णपुरुष है। हमारा बल भी सर्वव्यापकत्व पर ही है।

परमेव्योमन इस सर्वव्यापकदर्शी विशेषण का उपयोग किया हुआ एक और उदाहरण देखेंगे।

तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यम् ज्ञानमनन्तम्। यो वेद निहितम्
गुहायाम् परमेव्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह। ब्रह्मणा निश्चितेति।।१४।।

सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप, ब्रह्म, परम, विशुद्ध, आकाश में रहकर अर्थात् आकाश व्याप्त रहकर भी प्राणीमात्र के हृदय में छिपा रहता है, उसे वह जानता है, वह ब्रह्म के साथ रहकर भी सभी भोगों का अनुभव करता है, आदि।

इस उपर्युक्त वचन में ब्रह्म को सत्य, ज्ञान, अनन्त ऐसे अनेक विशेषण देकर फिर परमेव्योमन ऐसे फिर सर्वव्यापकदर्शी विशेषण दिया है और केवलाद्वैति परब्रह्म केवल सत्य मानते आये हैं। अतः इन सभी के साथ ब्रह्म का अर्थ परब्रह्म पर लगाते हैं। परंतु इस वचन में ब्रह्म शब्द का अर्थ परब्रह्म ऐसा न होकर पूर्णपुरुष है। यहां ब्रह्म शब्द ने पूर्णपुरुष का ही निदेश किया है। यह इस तैत्तिरीय उपनिषद् के ब्रह्मवल्ली के इस वचन से सिद्ध होता है।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः।
आकाशाद्वायुः। वायोगरग्निः। अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी।
पृथिव्या औषधयः । औषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात् पुरुषः।
स वा एषः पुरुषोऽन्नरसमयः।।१५।।

अर्थात्, 'उससे मतलब ब्रह्म से (पूर्णपुरुष से, परब्रह्म से नहीं) अर्थात् इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आप और आप से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न, अन्न से पुरुष ऐसा यह अन्न समय पुरुष मनुष्य प्राणी है।

यहां ध्यान में लेने की एक बात है कि आत्मा अर्थात् ब्रह्म से (वह ब्रह्म, यह आत्मा) एकदम आकाश उत्पन्न हुआ ऐसे बताया गया है। वास्तविक केवलाद्वैति मत से देखते हुए पहले ब्रह्म फिर माया फिर आकाशादि पंचतत्त्व इस प्रकार का क्रम चाहिए था। परंतु सिर्फ यहीं नहीं, तो वेदों में पहले ब्रह्म फिर माया, और फिर आकाशादि तत्त्व ऐसा क्रम मिलता नहीं। अतः इससे स्पष्ट होता है कि जगत् माया से उत्पन्न नहीं है। जगत्कारण माया नहीं है। ऐसा वेदों तथा उपनिषदों का मत है। जगत्कारण माया यह अद्वैति मत वेद तथा उपनिषद् सम्मत नहीं है। इस वचन का तस्मात पद का तथा पिछले वचन सत्यंज्ञानन्तम् पद का अर्थ केवल परब्रह्म करने पर परब्रह्म से जगत् हुआ पंचतत्त्व हुए ऐसा कहना पड़ेगा और इस प्रकार कहना न्यायतः गलत है, और इसलिए यहां इस वचन का परब्रह्म पर करने वाले केवलाद्वैतवादियों को जगत् कारण माया बीच में उपस्थित करनी पड़ी। अतः ब्रह्म शब्द का अर्थ पूर्णपुरुष ही है।

उपर्युक्त वचन में ब्रह्म अथवा आत्मा से अथवा क्रम से आकाश से लेकर सीधे पुरुष तक जो प्रत्येक की कार्य परंपरा बतायी है, उस परंपरा को प्रकृति कहते हैं, और इस सरसरी तौर पर (उपरी तौर पर) दिखने वाले कार्यकारण परंपरा के कारण ही विश्व पूर्णपुरुष से मूलतः अभेद ही है फिर भी 'जगत' यह कार्य तथा परमेश्वर इससे अलग है ऐसा क्रम बनता है। परमेश्वर ही इस क्रम से अपना स्वरूप बदलता गया, प्रकट होता गया, यह बात गले उतरती नहीं है। इसलिए प्रकृति को माया श्रुति में कहा गया है।

ऐतरेयोपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड के पहले वचन में श्रुति का कथन है,

''ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत'' अर्थात् ''पूर्ण ऐसा आत्मा ॐ (अथवा परमात्मा) तथा जगत् यहीं प्रारंभ में 'एक एव' अर्थात् एकजीव एक जैसे ही था। दूसरा कोई भी, उनके सिवाय अथवा उसके सिवाय (कार्य करने वाला) वहां नहीं था। उस समय लोगों की रचना करेंगे ऐसा उसने विचार किया।

इस वचन से विश्व तथा पूर्णपुरुष एकजीव थे। विश्व का मूलतः पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध था। जगत् के उत्पत्ति का अन्य कोई दूसरा कारण संभव ही नहीं। यह स्पष्ट होता है। यहां यह आलंबन पूर्ण का परिचायक है और आत्मा तथा विश्व का विस्तार उसमें

बताया है। यहां वेदान्ति कहते हैं उस प्रकार आत्मा से जगत् अथवा आधुनिक जड़वादी कहते हैं उस प्रकार जड़ से आत्मा (Thought is supreme state of matter) ऐसे उभयतः भिन्न-भिन्न कार्यकारण संबंध श्रुति को सम्मत नहीं है तथा वह ॐ में ही दोनों का स्वरूप संबंध एकरूपता दर्शाती है। वैसे ही 'न अन्य किंचत मिषत'- दूसरा कार्य करने वाला वहां कुछ भी नहीं था यह पद कार्य कारण भाव का स्पष्ट निषेध करता है। अच्छा, आत्मा से जड़ हुआ, जड़ से पंचतत्त्व हुए ऐसा मानने पर, जड़ से क्या हुआ यह बताना पड़ेगा। जो जड़ भी नहीं और चेतन भी नहीं ऐसा जड़ ने क्या निर्माण किया? अतः जड़ यह मूल में कोई कार्य नहीं है यह सिद्ध होता है।

इन सब बातों से जगत् कारण सांख्य प्रकृति तथा अद्वैति माया, इन दोनों को वेदों में कोई स्थान ही नहीं है। ऐसे में ''मायां तु प्रकृति विद्यात्'' इस स्मृति वचन का अर्थ प्रकृति अर्थात् जगत् का मूल कारण और वह माया इस प्रकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः अब तक हमने जो अर्थ लगाया है वह श्रुति संमत है।

इसी उपनिषद् का अगला वचन इस प्रकार है-

स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमांल्लोकानसृजत।।१६।।

कहता है कि, ''मै भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग उत्पन्न कर सकता हूँ ऐसा उसने विचार किया अथवा जान लिया और फिर भी लोगों को उत्पन्न करता है अथवा किया है ऐसा वह देखता है।''

यहां ''मै लोगों को उत्पन्न करता हूँ'' ऐसा जब उसने जान लिया है तब वह आत्मा केवल साक्षी ब्रह्म है यह मानना असंभव है। यह स्पष्ट है अतः 'ब्रह्म' सः तस्मात आदि वचनों का अर्थ हमने पूर्णपुरुष ऐसा किया है। कोई भी बात एकाध व्यक्ति जब तक उसे करता नहीं है तब तक वह कैसे जान सकता है कि मैं यह कर सकता हूँ अथवा करता हूँ। अतः ब्रह्म ने जगत् निर्माण कर दिखाया और वह निर्माण हुआ देख हम उसे निर्माण कर सकते हैं इस बात का यकीन जब उसे हुआ तब कहीं जाकर उसने जगत् निर्मित का विचार किया, ऐसा हम माने क्या? अथवा अद्वैति कहते हैं उस प्रकार उसने माया के अधिष्ठान पर जगत् निर्माण किया और उसके ब्रह्म सर्व साक्षित्व के कारण उसे यह समझ में आया ऐसा कहने पर इस वचन में उसने जगत् निर्माण किया ऐसा जो कहा गया है उसका कैसा अर्थ लगाये? सारांश, सांख्यमत अथवा अद्वैति मत से इसका अर्थ लगता नहीं।

उल्टे, पूर्णपुरुष ने अपना पूर्ण स्वरूप जान लिया और स्वरूपतः अपने से अभेदत्त्व से रहने वाले विश्व पर उसे गर्व हुआ-अभिमान हुआ, और फिर विश्वेत्तर बातों में लगा। यह अर्थ लगाना ही तर्कसंगत है। इस प्रकार ही उस वचन का ठीक अर्थ लगता

है। इसके बाद का वचन 'अंभोमरीचि' से शुरू होकर वहां क्रम से विश्वोत्पत्ति किस प्रकार बनती गयी इस बात का वर्णन है। अर्थात् वह विश्वमाया तथा प्रकृति का कथन है अथवा वर्णन है, कारण इसके आगे उपनिषद् में वह इस जगत् का रक्षणकर्ता है ऐसा बार-बार कहा गया है। सारांश, ब्रह्मा ने विश्व की निर्मित तथा नियंत्रण विचारपूर्वक किया है ऐसा ऐतरेयोपनिषद् का स्पष्ट मत है। यहां भी सृष्टि का कारण अद्वैति माया तथा प्रकृति अथवा इनका पर्यायी शब्द क्यों न हो लेकिन शक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया। अतः ब्रह्म यह अर्थ नहीं हो सकता यह स्पष्ट है। वैसे ही विश्वोत्पत्ति के क्रम को अथवा जगत् व्यवहार के कारण को माया तथा प्रकृति कहे ऐसा अपना माया तथा प्रकृति का अर्थ श्रुति सम्मत है, यह सिद्ध है। अतः अद्वैतिमाया, सांख्य की प्रकृति तथा श्रुतिमान्य माया यह अलग-अलग है। अतः श्रुतिमान्य माया यद्यपि वेदों को मान्य है, अथवा वेदों में है, तो भी दूसरे दो वेदों में निश्चित ही नहीं है यह पाठक ध्यान में रखें।

जिस मूल उद्देश्य से हम इस पूर्णवाद ग्रंथ का अध्ययन कर रहे हैं, उस मूल उद्देश्य का यहां फिर से स्मरण करना आवश्यक है। पूर्ण सिद्धांत का बुनियादि परिचय बढ़ना तथा पूर्णपुरुष परमेश्वर से उपासना मार्ग से संपर्क स्थापित करते बनना यह इस अध्ययन का मूल उद्देश्य है। यह उद्दिष्ट व्यक्ति को जिस प्रकार से साध्य हो, उस प्रमाण में उसे उसका ऐहिक (अभ्युदय) तथा पारमार्थिक (निःश्रेयस) जीवन सुखचैन से तथा प्रभुता से जी सके यह बात प्रयोग सिद्ध है और इसलिए पूर्णपुरुष के स्वरूप का निःश्रेयस ज्ञान प्राप्त करना तथा उससे संपर्क साधने वाले उपासना मार्ग की जानकारी प्राप्त करना यह इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है। हम जिससे संपर्क साधना चाहते है उसके परिसर का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक बनता है, और इसी हेतु से हम 'माया' अध्याय पर अध्ययन कर रहे हैं। अतः अब तक हमने 'मायाविषयक' जो चिंतन किया उसका सिंहावलोकन और अपने मुख्य उद्देश्य का स्मरण कर आगे बढ़ना श्रेयस है।

पूर्व संस्कार के कारण हम जिसे अब तक माया समझते आये हैं उस अद्वैति वेदांतिमाया को श्रुति में तथा वेदों में कहीं भी संदर्भ नहीं है यह हमने सबसे पहले देखा। वेदान्ती माया के कारण ईश्वर तथा जगत् निर्माण होता है तो वेदों की माया ईश्वर के विश्व रूप के कारण जगत् के कारण जन्म लेती है। सारांश, वेदों की माया शंकराचार्य की अद्वैति माया तथा सांख्य की प्रकृति जिसे माया कहते हैं वह यह तीनों अलग-अलग तथा स्वतंत्र बातें हैं। तथा पूर्णपुरुष के स्वरूप निश्चय के लिए इन तीनों की जानकारी होना आवश्यक है।

दूसरा ऐसा कि, पूर्णपुरुष अथवा परमेश्वर एकाध मकड़ी जैसे अपने आप को

विश्व के नाना स्वरूप तांत्रिकाओं तथा आवरणों से ढ़क लेने के कारण माया का अध्ययन करना है तो ईश्वर के इस आवरण को दूर कर उसका सही रूप देखना तथा जानना है। अतः उसके सही स्वरूप को जानने पर फिर पहले जैसे उसे ढ़क कर रखना हमारा कर्तव्य बनता है। अद्वैति वेदांति उसे इस प्रकार खुला रख देते हैं वह योग्य नहीं है।

उत्पत्ति, स्थिति, लय जो नौ बातें इस जगत् में दिखाई देते हैं, उसे देख कर यह ईश्वर का कार्य है ऐसे लगने लगता है, और यहीं प्रकृति है और वह ईश्वर की ही है। अतः ईश्वर को मायिन कहा गया है।

केनोपनिषद् में इस जगत् व्यवहार के तथा प्रकृति का मूल कारण क्या हो सकता है ऐसा प्रश्न निर्माण कर जो मीमांसा की है इससे इस जगत् प्रकृति का मूल कारण ब्रह्म ही है ऐसा दिखाया है। यह अद्वैतियों का साक्षी ब्रह्म असंभव है। अतः यहां ब्रह्म का अर्थ पूर्णपुरुष ही है यह हमने देखा। इस प्रकार काल तथा स्वभाव यह शक्ति के गुण है तथा यह ईश्वर तथा पूर्णपुरुष की स्वाभाविक शक्ति ही जगत् प्रकृति और यह जगत् प्रकृति अर्थात् श्रुति को मान्य माया है यह हमने देखा।

केवलाद्वैति जिसे माया कहते हैं वैसी माया वेदों में ढूँढ़ने पर मिलती नहीं। उल्टे, एक ईश्वर ही इस जगत् का कारण है, इस प्रकार के वचन वेदों में मिलते हैं। परंतु इस ईश्वर को ही वहां एकमात्र सत्य बताया है। अतः अद्वैति विचारों से उससे जगत् का होना न्यायतः असंभव है। इसलिए केवलाद्वैतियों ने बीच में माया को खड़ा किया तथा अजातवादियों ने जगत् हुआ ही नहीं यह कहा। इसे हमने देखा है।

इसके बाद हमने सांख्य की प्रकृति का अध्ययन किया उसमें और श्रुति में बताये माया में क्या अंतर है। इसका भी हमने विचार किया। तद्नंतर अद्वैति माया पर भी हमने विचार किया, उसके तथा सांख्य के प्रकृति के भिन्न-भिन्न भेदों पर भी विचार किया। जिस विवर्त ने तथा अध्यास ने अद्वैति मायावादी अपना मायावाद सिद्धान्ततः कहते हैं उस विवर्त तथा अध्यास पर भी हमने संपूर्ण अध्ययन किया। जिस भ्रम के कारण विवर्त तथा अध्यास जन्म लेते हैं उस भ्रम के ज्ञान का भी हमने विचार किया।

इस प्रकार से सभी अध्ययनों के बाद अद्वैति वेदांतवादियों को ''जगत् मिथ्या है'' यह कल्पना कैसे सूझी होगी इसका भी हमने विचार किया और उसके सभी कारणों का ब्योरा प्रस्तुत किया। केवलसत्यत्त्व तथा विश्व की कार्यरूपता यह दो परस्पर भिन्न गृहित कृत्यों को साधने के लिए अद्वैति माया शंकराचार्य को किस प्रकार उत्पन्न करनी पड़ी। इसका भी हमने अध्ययन किया। अतः वेदों में प्रतिपादित माया, अद्वैति माया तथा

सांख्य प्रकृति में स्वरूपतः कौन से फर्क पड़े। इसका भी हमने अध्ययन किया।

इसके बाद जगदोत्पत्ति के संबंध में श्रुति को मान्य माया का क्या कहना है यह हमने देखा। वहां परमेश्वर को भी यह विश्व रूप विस्तार कब से और कैसे निर्माण हुआ यह उन्हें पता है कि नहीं ऐसी शंका हमने देखी। वैसे ही यह विश्व तथा आत्म रूप परमेश्वर प्रथम एकजीव थे यह हमने श्रुति वचनों के आधार पर देखा। वैसे ही ब्रह्म ने विश्व की निर्मित तथा नियंत्रण विचार पूर्वक किया है यह भी हमारे निदर्शन में आया है। अब इसके आगे हम श्रुतिसम्मत माया के बारे में और सूक्ष्म जानकारी लेंगे और वह अपने पूर्णपुरुष के स्वरूप निश्चय को कितनी उपयुक्त है यह भी देखेंगे।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्ग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।१७।।

अर्थात्, जिस प्रकार हृदयस्थ आत्मा मनुष्य के अत्यंत निकट होकर भी उसे अनुभूति नहीं होती, उस प्रकार आत्म रूप पूर्णपुरुष सभी जगह, पंच तत्त्वों में होकर भी लोग उसे पहचानते नहीं। परंतु ऐसा अग्रणी पूर्णपुरुष अपने सूक्ष्म बुद्धि से अत्यंत गहराई से विचार करने पर मनुष्य को अनुभूत होता है।

सारांश, सभी जगह-सर्वत्र यत्र-तत्र प्रकट पूर्णपुरुष अपने बहुविध नाना रूपों के कारण पहचाना नहीं जाता। विश्व वैचित्र्य के कारण मनुष्य की बुद्धि को अनुभव होने वाली हर चीज में ईश्वर होकर भी परमेश्वर कुछ अलग हो सकता है ऐसा भ्रम होते रहता है। यह जो भ्रम विश्व वैचित्र्य के कारण निर्माण होता है, वही इस पूणंपुरुष की अथवा महेश्वर की माया है - श्रुतिमान्य माया है, अर्थात् यह विश्व वैचित्र्य तथा कार्य कारण भाव निर्माण करने वाला वही होने के कारण उसे मायिन कहते हैं। यह मायिन जिसे सूक्ष्म दृष्टि देकर उस पर कृपा करता है उसी को वह पहचाना जाता है। ''मामेव ये प्रपद्यन्ते माया एताम तरन्ति ते'' इस गीता वचन से जो मुझे शरण आते है वहीं माया को पार पाते है यह भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं। इसी वचन को 'मम माया' ऐसा कहकर माया का उत्पादक निर्माणकर्ता मैं ही हूँ, यह स्पष्ट संकेत भगवान श्रीकृष्ण देते है।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पाद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति।।१८।।

इस वचन में श्रुति कहती है, ''हर एक से एकदम भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न होते देखकर वैसे ही एक ही शरीर की असाधारण धर्मी अथवा परस्पर विधर्मी ऐसे भिन्न-भिन्न इंद्रियों तथा उसके विषय देख कर बुद्धिमान मनुष्य शोक नहीं करता।''

आकाश स्थिर तो उससे उत्पन्न वायु चंचल, तो उससे उत्पन्न अग्नि गरम तो उससे

उत्पन्न जल शीतल (ठंड़ा) पानी द्रव रूप तो उससे उत्पन्न पृथ्वी घन अथवा खट्टे कैरी (कच्चा आम) से बनने वाला पका आम मीठा, मीठे दूध से खट्टा दही ऐसे परस्पर भिन्न तथा विधर्मी चीजें निर्माण होते देख बुद्धिमान व्यक्ति जैसे हक्का-बक्का नहीं होता न ही हड़बड़ा जाता है न शोक करता है। वैसे ही इसमें कार्य कारण भाव देखता नहीं। इंद्रिय तथा इंद्रियों का विषय, उत्पत्ति, स्थिति, लय, तथा जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति ऐसी कार्यकारण भाव से युक्त वैचित्र्यपूर्ण विश्व विक्रम देखकर भी बुद्धिमान व्यक्ति कार्य कारण के जाल में अटकता नहीं। यहां बुद्धिमान का अर्थ पूर्णपुरुष को पहचानने वाला ऐसा ही करना श्रेयस है अन्यथा यहां का अनित्यत्त्व तथा नश्वरत्त्व देखकर बुद्धिवाद से घबराकर मनुष्य नित्यत्त्व तथा अमृतत्त्व के शोध में मग्न होना चाहिए। सारांश, वैचित्र्य पूर्ण कार्य कारण भाव युक्त विश्व घटना देखकर पूर्णपुरुष को जानने वाला बुद्धिमान मनुष्य उसमें उलझकर शोक तो करता ही नहीं, लेकिन उसका उपयोग जीवन में प्रभुता प्राप्त करने के लिए करता है, वह भी अनित्यत्त्व तथा नश्वरता पर शोक नहीं करता। सारांश, पूर्णपुरुष को जानने वाला मनुष्य माया को गिनता ही नहीं, तो वह पूर्णपुरुष के ज्ञान से माया से पार होता है। विश्व का वैचित्र्य तथा कार्य कारण परंपरा देखकर उसके बुद्धि को यह सब परमेश्वर से अलग है ऐसा भ्रम नहीं होता। लेकिन इस प्रकार का भ्रम होना यह कोई मनुष्य के बुद्धि का दोष नहीं है। क्योंकि वह विश्व रूप का धर्म है और इसलिए इसे विश्व रूप की माया ऐसा कहते हैं। माया शब्द का मूल अर्थ है कपट अथवा नाटकीय अतः एक ईश्वर के सिवाय हमारे सामने दूसरे ऐसे यत्किंचित भी कुछ भी न होकर भी हम उसे पहचानते नहीं है। यह जो उसने अपने पर जादू चलायी है यह उसकी नाटकीयता अथवा कपट नहीं है क्या? और इसलिए यह उसकी माया है ऐसा वेद कहते हैं तथा 'मम माया' ऐसा स्वीकार करते हैं। 'न येषु जिलमनृतम न माया चेति।' अर्थात् ''जिस में कुटिलता अथवा नाटकीयता नहीं, उन्हें ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।'' इस अर्थ का प्रश्नोपनिषद् का वचन है उसमें माया शब्द नाटकीय भाव, दंभ इस अर्थ में आया है।

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्।।१९।।

अर्थ - वह पूर्ण पुरुष जो चक्र की आरि (नेमि) जैसे तथा अखिल चराचर का अद्वितीय अधिष्ठाता तथा सर्वाधार है। वह पंचतत्त्व, ग्यारह इंद्रियों अथवा सोलह टुकड़ों से तथा उत्पत्ति, स्थिति तथा लय अथवा सत्व, रज, तम इन गुणों से अथवा घेरों से वह नेमि रूप बना है। वैसे ही सांख्य शास्त्र में वर्णन किये जैसे पचास विषयादि आरे तथा षट्इंद्रिये, दस विषय ऐसा कुल बीस प्रत्येक तथा छः अष्टके मिलकर वह चक्र रूप हुआ

है। इस प्रकार यह उसका विश्व रूप, एक चक्र रूप जो पाश जो आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक ऐसे तीन प्रकार से अलग-अलग कहने आता है। अतः मैं और ईश्वर अथवा विश्व तथा विश्वंभर ऐसे द्वैत के कारण होने वाला, माया का जैसे वह कार्य है ऐसा मोह, वह सर्व रूप पूर्णपुरुष में ऋषियों ने देखा।''

इन सब का सारांश यह है कि उस पूर्णपुरुष को पहचानने के बीच में आने वाला ऐसा यह विश्व रूप ऐसा एक ही पाश है। अर्थात् यही उसकी माया है कि, जिसके कारण विश्व रूप मोह उत्पन्न होता है। अतः १. कार्यकारणभाव, २. वैचित्र्यपूर्णता, ३. उत्पत्ति, स्थिति, लय यह जगत् की दृश्य प्रकृति है यह तू पहचान यह श्रुति कथन है।

ज्ञात्वा देवं सर्व पाशापहानिः क्षीणै क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः।।२०।।

अर्थ - पूर्णपुरुष को पहचान कर मनुष्य के सभी पाश तथा बंधनों की हानि होती है। ऐसे पाशविनिर्मुक्त हुए मनुष्य के सभी क्लेष क्षीण होते हैं, और उसे जन्म-मरणादि दुःख रहते नहीं है। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इस त्रिविध रूप से उसका चिंतन-ध्यान करना चाहिए। देह भेद, अलगता अथवा वैचित्र्य पूर्णता यह जो विश्व का ऐश्वर्य है वहीं पूर्णपुरुष है ऐसा जानकर उसके स्वरूप में लीन होना चाहिए।

संक्षेप में, पूर्ण का स्वरूप जानने पर उसका तथा अपना अभेद सिद्ध है ही। द्वैतरूप मोह का कारण जो माया है वह दूर होती है। यहां 'तृतीयं देहभेदे' अलग अर्थ कर शरीर का नाश होने पर परम पुरुष को जानने वाला ब्रह्मलोक तक सभी ऐश्वर्य का उपभोग लेता है ऐसा कुछ भाष्यकार ने अर्थ किया है। फिर भी पूर्णपुरुष को पहचान कर मनुष्य माया को पार कर विश्व का ऐश्वर्य भोगता है यह स्पष्ट है।

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स ना बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।।२१।।

अर्थ - ''जो एक वर्ण से अर्थात् ॐकार से पहचाना जाता है वह पूर्णपुरुष निरपेक्ष रीति से अर्थात् सहज स्वाभाविक रीति से अपने बहुविध शक्ति से विश्व की विचित्रता धारण करता है। विश्व के आदि से अंत तक सर्व व्याप्त ऐसा वही एक पूर्ण है। वह देव हमें, हम उसके पूर्ण स्वरूप को पहचान सके ऐसी बुद्धि प्रदान करे।''

इस विश्व में दिखने वाली बहुविध शक्ति परमेश्वर के ही तथा उसी के नाम को वह धारण करता है ऐसा कहा गया है। विश्व के आदि से अंत तक वही है ऐसा कहकर विश्व के सभी घटनाओं का कारण भी वही है ऐसा बताया गया। अर्थात् माया तथा प्रकृति यह जगत् का कारण है ही नहीं। वैसे ही वह प्रकृति अथवा शक्ति यह विश्व

धारण करती है ऐसा न कहकर वही धारण करता है ऐसा कहा गया है। उससे विश्व का और उसका अभेद सिद्ध है। लेकिन जब ऋषियों ने उससे बुद्धि मांगी, इसका अर्थ है कि पूर्ण के स्वरूप की पहचान ज्ञान द्वारा ही होती है यह स्पष्ट है। बुद्धि से मोह का नाश होता है तथा मोह ही माया का मूल कारण है। अतः वेदों में बताई माया यह जगत् का कारण नहीं बतायी गयी, तो विश्व तथा परमेश्वर ऐसा भेद निर्माण करने वाले द्वैत मोह की जननी विश्व प्रकृति रूप माया बतायी है।

श्वेताश्वतर के इन वचनों में श्रुति कहती है -

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।।२२।।

अर्थ - जो एक ब्रह्म रूप परमेश्वर अर्थात् पूर्णपुरुष अखिल विश्व की योनी अर्थात् विश्व के सभी कारणों का कारण है। वैसे ही जो योनि में धारण करने वाला गर्भ अथवा जगत्कार्य भी है। अर्थात् जगत् का कारण तथा कार्य यह दोनों स्वभावतः एक ही है तथा उसके एक रूप जो है। जिसमें विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, लय संभव है। वह सर्व नियन्ता वरदायक देव स्तुति करने योग्य है तथा उस श्रेष्ठ भक्त का कल्याण करने वाले, परमेश्वर के स्वरूप को जानने पर अर्थात् उसके स्वरूप का निश्चय होने पर मनुष्य को परा शान्ति की प्राप्ति होती है।

'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात' इस प्रसिद्ध वचन के आगे ऐसा यह श्वेताश्वतर उपनिषद् का ११ वां वचन है। यहा 'यो योनिम्' अर्थात् जो विश्व का कारण है, ऐसा स्पष्ट कहा गया है। अतः पिछले १० वें 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्' वचन की माया अथवा प्रकृति यह जगत् का कारण नहीं है यह स्पष्ट है, अर्थात् योनी भी वही और उसमें रहने वाला भी वहीं, ऐसा कहा गया है अतः कारण रूप से तथा कार्य रूप से अर्थात् इन दोनों रूपों से दिखने वाला वह एक ही है, यह सिद्ध है। इससे विश्व का कारण भी वही तथा विश्व रूप भी वही है। यह सिद्ध होने से जगत् का कारण प्रकृति अथवा माया नहीं है यह सिद्ध है।

छन्दासि यज्ञाः ऋतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्चवेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायाया संनिरुद्धः।।२३।।

अर्थ - चार वेद, यज्ञ, दान तप, व्रत आदि क्रिया तथा यच्चयावत होने वाली विश्व घटनाए संक्षेप में, वेदों में जो कुछ कहा गया है वह सभी यह 'मायिन' निर्माण करता है। वह यह विश्व और उसका निर्माता ईश्वर यह दोनों भिन्न है ऐसा उसकी माया में उलझे हुए लोग कहते हैं। 'मायान्तु प्रकृति विद्यात्' इस १०वें वचन के पहले का ९ वां वचन है।

संक्षेप में, छह श्लोकों में वह ईश्वर ही विश्व उत्पन्न करता है ऐसा कहा गया है। अतः उससे भिन्न ऐसा दूसरा कुछ भी विश्व का कारण नहीं है यह स्पष्ट है। अतः इसके अगले वचन में ''माया तु प्रकृति विद्यात्'' ऐसा जो कहा है जो विश्व कारण कहकर माया तथा प्रकृति ऐसा न होकर जिस कारण वह इस विश्व से अलग ऐसे लगता है वह जिस कारण से लगता है, वह कारण उसकी माया और वही जगत् की प्रकृति है यह स्पष्ट है।

यहां 'अस्मान्मायी सृजते' इतने ही वचन से 'इस अक्षर ब्रह्म से मायिन ईश्वर विश्व उत्पन्न करता है' इस प्रकार अर्थ करने पर 'मायिन' अर्थात् जिसे माया उपाधि है ऐसा ईश्वर इस प्रकार अर्थ होता है। वह उस प्रकार करने से अगले श्लोक के महेश्वर तथा ग्यारहवें श्लोक के 'जिसके निश्चय से परमशांति मिलती है वह ईश्वर' मायावी ईश्वर ही है ऐसा करना ही पड़ेगा। कहीं पर भी पर ब्रह्म पर करने नहीं आता। कारण इस उपनिषद् के इन तीन वचनों से प्रतिपाद्य विषय एक ही है। प्रत्येक वचन से वह जगत् कारण ऐसा प्रतिपादित किया है। अतः 'मायिन' शब्द का अर्थ – वेदान्ति जैसे मायोपाधित ईश्वर मानते हैं वैसा यहां कर ग्यारहवें श्लोक में 'अहं ब्रह्मास्मि' इस निश्चय से परम शान्ति प्राप्त होती है ऐसा कहना सयुक्तिक नहीं है (तर्कसंगत) अतः 'मायिन' अर्थात् मायाधिष्ठित ईश्वर निश्चित नहीं है।

श्वेताश्वतरउपनिषद् के ४ अध्याय के ९, १०, ११ श्लोक योग्य रीति से अध्ययन करने पर हम इसी उपनिषद् के ५ वें अध्याय का दूसरा वचन देखेंगे।

यो योनिम् योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनिश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्र ज्ञानैर्बिभर्ति ज्यायमानं च पश्येत्।।२४।।

अर्थ – वह सभी कारणों का कारण तथा कारण के स्थान पर कार्य ऐसा दोनों भी वह अकेला ही है, जिसने प्रथम उत्पन्न होने वाले कपिल ऋषि को अर्थात् हिरण्य गर्भ को सभी प्रकार के ज्ञान से संपन्न किया है तथा उसे उत्पन्न होते देखा है, वह सर्वशक्तिमान सर्वाधार, सभी का स्वामी, परब्रह्म पुरुषोत्तम अर्थात् पूर्णपुरुष है।

प्रत्येक कार्य अलग तथा उन सबके कारण भी भिन्न। लेकिन भिन्न-भिन्न रूप से यही सबकी योनि है। यहां जैसे बहुवचन होने से यह अकेला ही जगत् का कारण बनता है। उल्टे (जगत् का कारण) माया मूल में ब्रह्म की है तथा जगत् का प्रत्येक कार्य कारण भाव यह माया का, ऐसा मायावादी कहते हैं। लेकिन यह सही नहीं है, यही विश्व का कारण तथा यही विश्व रूप कार्य है। वैसे ही यह विश्व के प्रत्येक कार्य का कारण तथा कार्य भी यही है ऐसा इस वचन में कहा है।

अतः विश्व तथा पर ब्रह्म इसमें तीसरी कारण रूप माया जो वेदान्तियों ने खड़ी की

है, उसका इस वचन से निषेध होता है। ''इंद्र अपनी माया से अनेक रूप धारण करता है'' इस अर्थ का एक वचन ऋग्वेद में है। उदाहरण- ''इन्द्रो मायाविः पुरुरूप ईयते'' यहां माया के कारण उत्पत्ति बतायी है।

परंतु परब्रह्म का वर्णन जैसे, आत्मा, पुरुष, साक्षी, सत्य, शिव, वस्तु आदि नाम से किये हुए मिलते है, फिर भी इंद्र इस नाम से किये हुए नहीं मिलते है। जैसे ब्रह्म की माया नानारूप तथा जगत् निर्माण करती है, लेकिन ब्रह्म निर्माण नहीं करती। यहां इंद्र स्वयं अनेक रूप धारण करता है। अतः यहाँ इंद्र का है माया का नहीं। अतः यह ऋग्वेद का वचन अद्वैत सिद्धान्त के विरोधी है। यहां माया इंद्र का साधन है। कार्य का कारण नहीं। करण तथा कारण इसका फर्क ज्ञानीजन जानते हैं। परंतु सिद्धांती अद्वैत माया यह जगतकार्य का साधन न होकर कार्य है। वह साधन है ऐसा कहने पर, कारणत्व ब्रह्म की ओर जाता है और उससे ब्रह्म की साक्षित्व को बोध आता है। अनेक रूप का कारण इंद्र ही है, लेकिन उसके कारण उसके प्रत्येक रूप को 'यह इंद्र' ऐसा पहचानने नहीं आता अतः 'मायाभिः' माया का ऐसा कहा है।

ऋग्वेद में अस्यवामीय सूक्त में यह ऋचा है-

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन प्रथमजा ऋतस्या दिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः।।२५।।

इसका हम विचार करेंगे -

अर्थ - यह सब मै ही हूँ यह मैं जानता नहीं हूँ। इसलिए भ्रम होकर मैं, मन मुझे जहां लेकर जाता है वहाँ गुलाम बनकर जाता हूँ। विश्व निर्मिति के पहले वेद जिसके श्वास से निर्माण हुए वह वेद मंत्रयमय अर्थात् वाणी रूप में है।

अतः, ईश्वर से प्रथम वाणी तथा जिव्हा (वाचा) निर्माण हुई और तब से वह मुझ में स्थित है। सारांश, पहले से मैं तथा परमेश्वर अभेद है, लेकिन मैं यह ईश्वरीय माया के कारण जानता नहीं हूँ। इन सब से ऋग्वेद को ईश्वर का तथा जीव का, वैसे ही 'इदं' से जीव तथा जड़ में अभेद अभिप्रेत (अपेक्षित) है। वह पूर्ण अभेद न पहचानने पर जीव अज्ञान में उलझ जाता है। अतः जिस कारण से मूल में अभेद सिद्ध है तथा जीव खुद का ही भेद करता है वह कारण है ईश्वरीय माया अर्थात् विश्व प्रकृति अर्थात् वेदमाया। विश्व प्रकृति अर्थात् विश्व में दिखने वाला कार्य कारण संबंध तथा उत्पत्ति, स्थिति, लय आदि नौ बातें हैं।

यस्य निःश्वसितम् वेदा यो वेदेभ्योऽखिलम् जगत्।
निर्गमे तमहम् वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्।।२६।।

अर्थ – जिसके श्वास द्वारा वेदों का निर्माण हुआ तथा वेद से यह अखिल चराचर जगत् निर्माण हुआ है उस विद्यातीर्थ महेश्वर को मैं नमन करता हूँ। यह संक्षेप में विश्व प्रकृति का वर्णन है। 'ऋग्भिः स्तुवन्ति, यजुर्भिर्यजन्ती, सामभिर्गायन्ती, ऐसे वेदों का ध्येय है।' अर्थात् ऋग्वेद से स्तवन करना, यजुर्वेद से हवन अथवा यज्ञ करना, तथा सामवेद से गायन कर ईश्वर को प्रसन्न करना ऐसा ऋग्वेद का हृदय है।

यजुर्वेद के कुल ४० अध्याय हैं, 'रुद्राध्याय' यह उसका पांचवा अध्याय है। इसके पूर्वाध को नमक कहा जाता है और उसमें ११ अनुवाक है। उत्तरार्ध को चमक कहा जाता है तथा उसमें भी ११ अनुवाक रहते हैं। ऐसे कुल २२ अनुवाक रहते हैं। इनका विशेष यह है कि नमक के प्रत्येक अनुवाक में ऋषि ने विश्व के प्रत्येक रुद्र से अभेद कल्पित कर उस हर एक रुद्र को नमन किया है।

'नमो भवाय च रुद्राय च' पर सायनभाष्य इस प्रकार हैः 'भवन्ति प्राणिना अस्मात् इति भवः।' उससे प्राणी उत्पन्न होते है इसलिए वह 'भवरूप' है 'सत रोदन हेतुभूतं दुःखंः द्रावमतीति रुद्रः' मतलब सत रोदन अर्थात् रोने के कारण होने वाला दुःख पिघलाने वाला अर्थात् द्रवीभूत करने वाला वह रुद्र है। परंतु इससे यदि रुद्र को आधि दैवत पक्ष में डालकर सत्य से अलग करने पर श्रुति उसका वर्णन केवल सत्यत्व से करता है और ऐसा करने नहीं आता। आगे 'नमो अग्रियायच प्रथमायच नमः' इस पर सायण भाष्य में 'जगत् उत्पत्तेः पूर्वभव स्थितोऽग्रियः। सभायां मुख्य प्रथमः।' अर्थात् जगत् के उत्पत्ति के पहले भी यह था। अतः 'अग्रियः' तथा सभा प्रमुख होने के कारण प्रथमः ऐसा वर्णन है। यह उसी नमक के पांचवें अनुवाक में होने के कारण यहां वह 'पर ब्रह्म रूप' अर्थात् पहले के 'नमो भवायच' में मायोपाधित ईश्वर कहना – मतलब केवल आधिदैविक ईश्वर कहना योग्य नहीं है।

वेदान्ति अद्वैत विचार से विशेषत्त्व का वाद होने पर फिर सकल पदार्थ का सामान्यतया परब्रह्म से अभेद सिद्ध होता है। मैं अमुक-अमुक हूँ (मैं फलां हूँ) इसमें अमुक मतलब सद्गुणी, गोरा वगैरा विशेष नष्ट होने पर केवल 'है' रूप से परब्रह्म से अभेदत्त्व से मैं एकरूप हूँ ऐसा कहा जाता है, तो वेद प्रतिपाद्य पूर्णपुरुष से वस्तुमात्र से उसके विशेष गुणों से मैं अमुक हूँ इस भाव से तथा विचारों से अभेद सिद्ध होता है। अर्थात् अद्वैतवाद में मेरा है अस्तित्त्व परब्रह्म में विलीन होता है अथवा अभेद से रहता है, तो पूर्णवाद में मैं मेरे नामरूपोसह तथा गुणों सह पूर्णपुरुष से अभेदत्त्व से जी रहा हूँ। अर्थात् अद्वैतवाद तथा पूर्णवाद इन दोनों के अभेद सिद्धि में बहुत अंतर है।

मात्र एक दो वचन ही नहीं है। संपूर्ण रुद्राध्याय में पूर्णवाद ही है। नमक के मंत्र से

पदार्थ मात्रों का रुद्र से कल्पित अभेद यह पूर्व पक्ष मानने पर उत्तरार्ध के चमकों से 'अग्निश्चमें, इन्द्रश्चमें, पूर्णम् च मे, पूर्णतरम च मे, अश्माश्चमे, मृत्तिकाश्चमे', आदि से प्रत्यक्ष रुद्र ने आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक इन त्रिविधों से अपना अभेद सिद्धान्त पक्ष अथवा उत्तर पक्ष बताया है। अर्थात् भक्त ने जो स्तवन किया, वह यथार्थ होने की स्वीकारोक्ति रुद्र ने अपने मुख से दी।

इस पर शायद कोई शंका कर सकता है कि कार्यजात उतना माया का, तब रूद्र ने सकल वस्तु जात से स्वरूपतः आत्म रूप से अपना अभेद बताया है परंतु जिस आत्मरूप को हम मात्र सत्य स्वरूप मानते है वह भी इसी ईश्वर का ही कार्य है। ऐसा भी यहाँ कहा है। जैसे मनोयज्ञेन कल्पताम्, वाग्यज्ञेन कल्पताम्, आत्मयज्ञेन कल्पताम् आदि। यहाँ आत्मपद का अर्थ यद्यपि जीव ऐसा किया है तो भी चमक के ग्यारहवें अनुवाक की समाप्ति 'भौवनश्च भुवनाश्चाधिपतिश्च' इस प्रकार करने से साक्षी परब्रह्म की केवलता संभव नहीं। अतः आत्मा इस पद का अर्थ जीव अथवा तुरीय किया तो भी कुछ फर्क पड़ता नहीं।

रूद्राध्याय के शेष भाग में अनुवाक् तथा मंत्र विनियोग बताया है। सारांश, रुद्राध्याय के गठन से सकल पदार्थ का पूर्णपुरुष से यहां रुद्र से अपने नाम रूप धर्मादि विशेषणों के साथ अभेद बताया है। यदि ऐसा न होता तो माया के कर्म जात से अभेद बताने वाले रुद्र को माया से भी अपना स्वरूप संबंध बताने आता। परंतु पत्थर-मिट्टी से अपना अभेद बताने वाला रुद्र विश्व कारण ऐसे परब्रह्म शक्ति से माया से संबंध होने का इस संपूर्ण अध्याय में कहीं कोई नामनिर्देश नहीं है। ऐसा क्यों?

पुराणों में शिव-पार्वती का झगड़ा होने का वर्णन मिलता है। उस प्रसंग में यह रुद्राध्याय बताया गया ऐसा लगता है। उस समय पार्वती से झगड़ा होने के कारण शिव ने कहीं भी उनका उल्लेख नहीं किया। पत्नी का नाम लेना नहीं चाहिए इसलिए कि रुद्राध्याय में पत्नी का कहीं भी नाम नहीं है ऐसा कहने वाले लोग मिलते हैं।

तात्पर्य, वेदों की श्रुतिमयमाया यह अद्वैति माया जैसे जगत् के कारण रूप तथा सत् असत् विलक्षण न होकर वह निराली ही है। वह यदि वेदान्ति माया जैसे रहती तो उसका नाम इस रुद्राध्याय में कहीं न कहीं आना जरूरी बनता। जैसे मिथ्या नाम स्वरूप पदार्थ से उपाधि रहित ऐसे स्वरूप संबंध का तथा अभेद का स्पष्ट उल्लेख चाहिए था। लेकिन वह कहीं भी नहीं है। वैसे देखा जाये तो रुद्राध्याय का मूल हेतु अभेद सिद्धि ही है। यह सहज ही ध्यान में आता है, और यदि यह सच है तो माया का तथा आत्म रूप का यहां स्पष्ट उल्लेख करना, वैसे ही यहां मायोपाधि रहित स्वरूप अभेद है ऐसा कहना आवश्यक

है। परंतु वह कहीं न होने के कारण रूद्र द्वारा प्रतिपादित अभेद यह नामरूप के साथ है यह कहना आवश्यक है। अर्थात् इससे अजातवादी तथा मायावादी जिस अर्थ से जगत् को मिथ्या कहते है वैसे वेदों का मत कहीं दिखता नहीं। नामरूप के साथ एक बार जगत् से संबंध है कहने पर जगत् को सत् ही कहना पड़ता है तथा वेदों ने जगत् को सत् ही कहा है ''असद् वा इदं अग्रे आसीत ततो वै सत् जायत'' (पहले अव्यक्त असत् था तथा आगे उसी से सत् हुआ) यहां इस असत् तथा सत् का अर्थ सायनाचार्य ने अव्याकृत तथा व्याकृत ऐसा किया है। तात्पर्य, वेदान्ति माया यह वेद माया नहीं है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।

अर्थ – उसी विश्व वृक्ष पर रहने वाला और अपने को कः पदार्थ शूद्र जीव समझ कर इस कल्पना में व्यग्र व्यक्ति असमर्थ आत्मविश्वास रहित ऐसा उदास निरुत्साहित होकर दुःख करने लगता है। लेकिन 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्' ऐसा ईश्वर तथा यह जीव 'मैं' एक ही है यह जानने पर वह शोकरहित बनता है।

अतः पूर्ण का विश्व से स्वरूपतः अभेद है, ऐसा होकर भी जीव अपना भेद कल्पित कर दुःखी बनता है। ऐसा भेद समझने का कारण वेदमाया है। मनुष्य अपनी जन्मतिथि तो जानता ही है तथा मृत्यु भी निश्चित है ऐसा उसे अनुमान रहता है। अर्थात् यह जगत् प्रकृति देखकर नित्य अज इश ऐसा ईश्वर मुझसे अलग नहीं ऐसा वह कैसा समझे? अतः जगत् प्रकृति देखकर मनुष्य अपने भेद की कल्पना करता है। इसलिए वेद में 'मायां तु प्रकृति विद्यात' ऐसा कहा गया है, यह जगत् प्रकृति ही वेदमाया है।

माया–वेदमाया २

'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्न' इस पिछले वचन में हमने वृक्ष शब्द का अर्थ विश्व वृक्ष ऐसा किया है। परंतु शरीर को वृक्ष कहने की पुरानी परंपरा होने के कारण यदि हमने वृक्ष का अर्थ शरीर किया तो जीव 'अनिशया शोचति' अर्थात् जीव असमर्थ होने से दीनता पूर्वक आत्मविश्वास रहित शोक करता है, ऐसा कैसे कह सकते है? शरीर पर अर्थात् वृक्ष पर जीव की पूर्ण सत्ता हमेशा से चलती आयी है। इसलिए देहात्म भाव संभव होता है। परंतु जगत् व्यवहार में किंकर्तव्यमूढ़ता-हताशा होने की घटनाएँ हर आदमी के जीवन में कम अधिक आती रहती है। अपने अपंगत्व-बहिरेपन तथा अर्धांग होने पर किसी की आत्महत्या की ऐसी घटनाएं सुनने में नहीं आती। लेकिन नापास होना, धंधे

में नुकसान, प्रेमभंग आदि से होने वाली आत्महत्यायें सुनने में आती हैं।

शंकाः पूर्णवाद विचार पद्धति में वेद प्रतिपाद्य पूर्णपुरुष से वस्तु मात्र का उसके विशेषता के साथ अभेद सिद्ध है। अतः मनुष्य का उसके शरीर के साथ पूर्णपुरुष से अभेद है। मनुष्य ने अपने जन्म की वार्ता सुनी हुई रहती है तथा मृत्यु भी अटल है यह उसे पता रहता है। यह जगत् प्रकृति देख नित्य, अज, ईश ऐसा ईश्वर मुझसे अलग है ऐसा भ्रम से वह मानता है। और यही वह वेदमाया है ऐसा पूर्णवादाचार्य का कहना है। फिर पूर्ण से अपने नामरूप से तथा शरीरादि विशेषत्व से अभेद कहने पर मृत्यु क्यों आये? अथवा परीक्षा में नापास होने पर तथा धंधे में आयी चोट पर आत्महत्या करें ऐसा क्यों लगता है ?

उत्तर : यहां ऐसा प्रश्न निर्माण होना सहज है। पूर्णपुरुष से स्वरूपतः अभेद सिद्ध होने से शरीर का नाश अथवा मृत्यु नहीं होनी चाहिए, परंतु इस अभेद का ज्ञान मनुष्य के दिलो-दिमाग में ठीक से उतरता नहीं, दूसरा उत्पत्ति, स्थिति, लय यह जगत् प्रकृति होने के कारण उसका निर्माता भी जिससे हमारा अभेद है वह पूर्णपुरुष (अर्थात् खुद ही) होने के कारण- प्रकृति से मृत्यु आती है। परंतु देह यदि नष्ट भी हुआ तो भी वेदान्ति कहते है वैसा देहभाव नष्ट होता नहीं। मनुष्य अपने देह के भाव तथा प्रेम पूर्णपुरुष के अभेद में भी कायम रखता है। यह ऐसा होता है इसलिए प्लँचेट सदृश्य साधना तथा तंत्र साधना सिद्ध होती है। आधिदैविक पक्ष में भी श्रीकृष्ण जैसे श्रेष्ठ देवता अथवा जिझज क्राईस्ट जैसे प्रेषित उनको आवाहन करने पर आपकी इच्छा पूरी करते है। यह आवाहन उनका नाम तथा उनका आधिभौतिक रूप स्मरण कर ही पूर्ण होते हैं। रामकृष्णादि देवताओं को ब्रह्म ज्ञान नहीं था अथवा उनकी परब्रह्म से एकरूपता नहीं थी। वे मुक्त नहीं थे ऐसा कौन कहता है? लेकिन वह भी नाम रूप से किये आवाहन को उस रप में ही आपको या तो दर्शन देते है अथवा दर्शन और इच्छित वर प्रदान करते हैं। इसका अर्थ है कि प्राणी मात्र का पूर्णपुरुष से उसके नामरूप के साथ अभेद सिद्ध है इसलिए मनुष्य को निसर्गतः शरीर के प्रति प्रेम है। इस शंका का विश्लेषण और आगे आने वाला है। अतः यहां इतना पर्याप्त है।

बिना शरीर के इस संसार में हम कुछ भी नहीं कर सकते। इस कारण ही उसे बहुत दुःख होता है। इसलिए ही विश्व ही वृक्ष इस प्रकार का अर्थ पिछले वचन में किया गया है। वेदान्ति नामरूप के बिना जीव का शिव से अभेद मानते हैं। शरीर में जीव तथा आत्मा का वास बताकर अविद्या नाश से तथा स्वरूप ज्ञान से जीव का शिव से अभेद सिद्ध करते हैं। परंतु पूर्ण से अपने नामरूपसह अभेद कहने पर कुछ भी करने की

आवश्यकता बनती नहीं। लेकिन ईश्वर से अपना अभेद पहचानकर भी अपना इस संसार में निर्वाह होगा – यह कैसे? अतः आपका यह प्रश्न मार्मिक तथा माननीय है इतना निश्चित।

इस प्रश्न का सविस्तार उत्तर अथवा विश्लेषण यहां करना उचित नहीं। क्योंकि यहां हमें मात्र माया पर ही चिंतन अपेक्षित है। फिर भी यहां पर संक्षेप में इतना उत्तर इस प्रकार दे सकते हैं। हर बात सत्य है ऐसा कहने पर उसकी वास्तविकता समझने पर वह निश्चित चल सकता है, हो सकता है। 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः' (स्वयं के कर्म में आनंद से मग्न होकर ही मनुष्य को सिद्धि प्राप्त हो सकती है।) यहां स्वे स्वे दो बार कहा है। उससे वास्तव का दर्शन कर फिर स्वकर्म फिर स्वकर्म के यश की हामी भरी है। इतना ही नहीं तो सिद्धान्ततः ऐसा कहा है। यहां ऊपरी शंका का समाधान होता है (समाप्त होता है)

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोक येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्।।२८।।

अर्थ – कुछ विद्वान जगत् का कारण वस्तु धर्म है, जैसे अग्नि का मर्म, ऐसा कहते हैं। दूसरे कुछ काल को जगत्कारण बताते हैं। कुछ सम्मोहित हुए अपने अपने युक्तिवाद को प्रमाण मानकर प्रकृति, माया आदि को जगत्कारण मानते है। परंतु विश्व में जो जो जगत् प्रकृति रूप ब्रह्मचक्र सतत चलता है वह उस परमेश्वर की ही महिमा है (दूसरा कुछ भी नहीं)

तात्पर्य, वही ईश्वर विद्वानों को भी सम्मोहित कर उनसे जगत् कारण के संबंध में भिन्न-भिन्न मतवाद को निर्माण करता है। यहां वस्तु स्वभाव, काल, इत्यादि को ब्रह्मचक्र ऐसा कहा है। यह यदि मायोद्भव रहता तो माया चक्र ऐसा कहते। कोई भी जगत् कारण बताना भी सम्मोहन का ही लक्षण है ऐसा 'परिमुह्यमाना' इस मूल पद से स्पष्ट है। इससे यहां भी स्वरूप अभेद ही अपेक्षित है। वैसे ही कालादिक के साथ जगत् प्रकृति को ब्रह्मचक्र इस नाम के कारण प्रकृति से प्रत्यक्ष ब्रह्म का तथा ईश्वर का संबंध सिद्ध होता है। यदि ब्रह्म तथा जगत् में तीसरी माया रहती तो मायाचक्र तथा माया स्वतंत्र नहीं है इसलिए ब्रह्म माया चक्र ऐसा कहा गया होता। अतः वेद की माया जगत् कारण नहीं, यह स्पष्ट है। जगत् प्रकृति ही भेद रूप भ्रम अथवा सम्मोहन का कारण बनने के कारण उसे ही वेद में माया कहते है तथा इसलिए 'मायाम् तु प्रकृतिं विद्यात्' ऐसा कहा गया है।

वेदान्ति माया भ्रम मूलक ही है तथा वेद माया भी भ्रम मूलक। परंतु एक जगत् का

कारण 'भ्रममूलं इदं जगत्' बनता है, तो दूसरे का 'सत् जगत' यही कारण तथा १. ईश्वर स्वरूप से द्वैत, २. भ्रम तथा, ३. मोह रूप भेद यह उसका कार्य। दोनों ही मूलतः सिद्ध होने पर भेद भ्रम का कारण माया ही ऐसा मानते हैं। यह जो दो माया का बेमेल साम्य के कारण वेदान्ति माया ही वेदमाया ऐसा भ्रम होता है। लेकिन इन दोनों में कितना महत् अंतर है इसे हमने देखा ही है। अतः दोनों एक ही है कहना गलत है।

वैदिक वाङ्मय का गठन दार्शनिक स्वरूप से न्याय घटित न होने के कारण वेद में एक ही शब्द अनेक अर्थों से बनाया है ऐसा दिखता है। अतः एकाध शब्द के अर्थ के बारे में अपना अनुमान बराबर है ऐसा निष्कर्ष निकालना कम से कम वैदिक वाङ्मय के संबंध में ठीक नहीं होगा, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। उदाहरण-यह ब्रह्म चक्र शब्द ही देखिए।

परंतु अध्ययनोपरान्त मेरा वैसा मत नहीं रहा, वेद कोई अनियंत्रित, खोखले तथा अनिश्चित तत्त्व के नहीं है ऐसा मेरा मत बना। इसलिए वह (वेद) एक ही शब्द मनमाने अर्थ से प्रयोग नहीं करते यह मैं अपना मत बजा ठोकर कहता हूँ। ऐसा पूर्णवादाचार्य विश्वास पूर्वक कहते हैं। वैदिक वाङ्मय में तर्क की निश्चिति, तर्क प्रचुरता, शब्दों के स्थायी अर्थ अथवा परिभाषा इत्यादि सभी बातें रहते हुए, पूर्वग्रह दूषित होकर हम वेदों में क्या है यह जानने का प्रयास करने के बजाय जिसे हम सत्य समझते है वह वेद में कहां है, यही देखने में हम जिन्दगी गंवाते है। हमारे गृहित सत्य के विरोधी वचन मिलने पर वेद संग्रह ग्रंथ है, वेदों में मत वैचित्र्य है तथा उसमें तत्त्व निश्चित नहीं है। ऐसा कहते हैं।

उदाहरण- अगले वचन के 'तेनेशितम कर्म विवर्ततेह' इसका ऊपरी 'भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम' इसके साथ संपूर्ण मेल बैठता है तथा श्रुति का प्रत्येक शब्द कैसे सामायिक बनाया है इसका अनुमान इन वचनों से आप कर सकते हैं।

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्व ज्ञः कालाकालो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्नेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्।।२९।।

अर्थ - जिस ईश्वर ने संपूर्ण विश्व को आच्छादित किया है, वह ज्ञानरूप काल का काल, गुणी सर्वज्ञ ऐसा है। उसने ही नियमन कर देने से पंच महाभूतात्मक उत्पत्ति, स्थिति, लय रूप कर्म परिणाम रूप चलते रहता है। ऐसे उस पूर्णपुरुष का चिंतन करना चाहिए।

यहां 'नित्यं आवृतं' जिसका वह नित्य अवरण करता है वह नित्य ही होने चाहिए। वैसे ही 'ज्ञः कालः कालः' ज्ञानरूप काल का काल यह यदि पर ब्रह्म कहें तो 'गुणी

सर्वविद्यः' यह विशेषण उसे लगते नहीं। वैसे ही परिणाम रूप जगत् व्यवहार कर्म का ईशनकर्ता ऐसा जिस अर्थ से कहा गया है उस अर्थ से परब्रह्म तो निश्चित कहने नहीं आता। सिवाय जिसे वेदान्ति ईश्वर कहते हैं वह 'मायोपाधिष्ठित' असमर्थ होने के कारण 'ज्ञः कालो कालः' यह दो विशेषण उसे लगाने नहीं आते। अतः यहां यह वर्णन 'ईश्वर ब्रह्म विलक्षण' ऐसा है।

जिसका चिन्तन करना चाहिए ऐसे ऊपर के वचन में आखिर में कहा गया है उसका वर्णन उसी एक श्लोक में कुछ ईश्वर पर तथा कुछ परब्रह्म पर ऐसा क्यों? श्रुति में तत्त्व निश्चय न होने के कारण यह भी एक उदाहरण कहें क्या? लेकिन ऐसा नहीं है। यहां 'ईश्वर ब्रह्म विलक्षण' ऐसा जो वर्णन है वह पूर्णपुरुष का है, और वही विश्व का नित्य आवरण करता है। इसका अर्थ विश्व का तथा पूर्ण का स्वरूप भेद है। वैसे ही 'तेनेशितम' जगत् प्रकृति की घटना भी उसी ने घटित करायी। अतः पिछले 'प्रकृति रूप ब्रह्म चक्रपरे' हमने जो विचार किया है वह कैसे योग्य है, तथा वैदिक वाङ्मय में शब्द को कैसे स्थायी अर्थ है यह आपको ज्ञात होगा। सारांश, विश्व का पूर्ण से स्वरूप भेद है तथा जिस विश्व प्रकृति का हमें नित्य अनुभव आता है, वह भी उसी के कारण है। इस प्रकृति के कारण ही अभेद सिद्ध होकर भी जो भेद का भ्रम होता है, इसी कारण उसे वेद में माया कहा है। विश्व की प्रत्येक बात मनुष्य के बुद्धि को भेद रूप भ्रम अथवा मोह उत्पन्न कराने वाली। अतः एक जाल से दूसरे जाल ऐसे अनेक प्रकार की जालों को रचने का काम एक परमेश्वर का ही है। अतः श्रुति उसे 'मायिन', 'जालवान' ऐसा कहती है।

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रं संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्टवा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा।।३०।।

अर्थ – इस विश्व रूप क्षेत्र में भिन्न-भिन्न लोग उनके अभिभावक इंद्र, वरुण, मरीचादि, निर्माण करता है, वैसे उनका संहार भी करता है। यह परमेश्वर एक एक नया जाल जो बुद्धि का भेद रूप भ्रम (संमोह) उत्पन्न करता है। वह निर्माण करने वाला महात्मा इश, पूर्णपुरुष, उन सभी का आधिपत्य पालन तथा नियंत्रण वह स्वयं करता है।

यहां प्रत्येक जाल का कर्तव्य प्रत्यक्ष परमेश्वर को ही दिया है। यहां विश्व रूप यह भी एक जाल ही है ऐसा कहा गया है। उसका कर्तव्य माया को न देकर ईश्वर को दिया है। अर्थात् महात्मा पद का अर्थ वेदान्ति ईश्वर ऐसा करने नहीं आता। जीवात्मा, महात्मा, परमात्मा (जीव, ईश्वर, तथा परब्रह्म) ऐसा तीनों का अर्थ करने पर मायोपाधित ईश्वर यह खुद ही एक जाल है। परंतु यहां ईश्वर को 'जाल' नहीं कहा गया है अपितु

उसको जाल का कर्तव्य दिया है। वह भूयः 'सृष्टवा' यह स्वयं निर्मिति है ऐसा कहा गया। वेदान्ति ईश्वर यह निर्मिति ऐसा कहने पर वह अपने 'मायोपाधी' के कारण निर्माण करता है ऐसा कहना आवश्यक है। कारण ईश्वर का ईश्वरत्व अद्वैत मत में माया के बिना संभव ही नहीं है। वैसे ही यहा 'महात्मा' शब्द का परब्रह्म पर अर्थ ही लगता नहीं। अतः यह मायोपाधित ईश्वर का वर्णन नहीं है, बल्कि उस पूर्णपुरुष का ही है यह सिद्ध होता है। महात्मा विशेषण उसी को लगाया है। इन सब बातों को जाल कहने का कारण यह सब बातें मायावी तथा मिथ्या है, ऐसा न होकर उस प्रत्येक बात से ईश्वर तथा विश्वेश्वर अथवा जीव तथा ईश्वर का वस्तुतः अभेद सिद्ध होते हुए भेद रूप संमोह ही बढ़ते जाता है तथा उसके लिए प्रत्येक को जाल विशेषण दिया है।

लेकिन इन सबसे यह सिद्ध होता है कि जाल भी कहा जाये तो माया का नहीं जगत् का कर्तव्य एक पूर्णपुरुष के सिवाय और किसी का नहीं। सारांश, विश्व को यदि कार्य कहें, जाल कहें तो भी कारण ईश्वर ही है। पूर्णपुरुष ही माया नहीं। अतः बताने को भी वैदिक वाङ्मय में माया कहीं मिलती नहीं है।

वेदमाया तथा वेदान्ति माया दोनों भी यदि भ्रम मूलक है तो भी भिन्न भिन्न है। तथा ईश्वर ही सबका कारण है। यह बताने वाला श्वेताश्वतरपनिषद् का एक और वचन देखेंगे।

यच्चस्वभावं पचति विश्वयोनिः पच्यांश्च सर्वान्परिणामवेद्यः।
सर्वमेतद् विश्वमोधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।।३१।।

अर्थ – जो संपूर्ण विश्व का कारण है। जो सभी तत्त्वों का शक्ति रूप स्वभाव जैसे अग्नि की गर्मी, वायु की गति आदि – अपने संकल्प से सिद्ध करता है – निर्माण करता है। वैसे ही जो इन सभी सिद्ध निर्मित पदार्थ का परिणाम रूप कार्य उत्पन्न करता है, जो एकमात्र सभी गुणों के जीव से विनियोज़न (संयोग) करता है, वह समस्त विश्व का शासन करने वाला परमात्मा ही है।

सारांश, इस अखिल विश्व में वहीं एक परमात्मा ही सर्वव्याप्त है तथा सुखेनैव है। विश्व में उसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है, अर्थात् विश्व उसी के स्वरूप के अन्तर्गत आता है वही स्वरूपतः विश्व है तो सत्व, रज, तमादि गुणों का कार्य भी निश्चित करता है। व्यास महर्षि गुणों को प्रकृति का कार्य मानते हैं, यह मत यहां दिखाई देता है। प्रकृति अथवा माया के गुण प्रकृति के स्वभाव धर्म नहीं है। वह कार्य है, ऐसा कहने पर सांख्य की प्रकृति गुणाक्षोभ के कारण जैसे जगत् कार्य में सक्षम है वैसे वह नहीं हो सकते। वैसे ही प्रकृति अर्थात् वेदान्ति माया तथा गुण यह उस वेदान्ति माया का कार्य है कहने पर

वह भी जगत् कार्य को सक्षम नहीं है। प्रकृति के बारे में व्यास सूत्र में कुछ सूत्र है लेकिन माया पर स्वतंत्र अथवा गर्भित ऐसा एक भी सूत्र नहीं है। एकमात्र व्यास सूत्र पढ़कर वेदान्त में एकाध माया शब्द है ऐसा भी नहीं लगता। वैसे ही 'उसके गुण प्रकृति का कार्य है' यह मत देखकर जगत् कारण सांख्य प्रकृति है ऐसा व्यास मत दिखता नहीं है। तीनों वेदों में जिस प्रकृति का उल्लेख है वही उसे अपेक्षित है, मान्य है, ऐसा है।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणास्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः।।३२।।

अर्थ - गुणों से संबंधित, गुणों से बंधा, जो फलस्वरूप, कर्मरूप तथा कर्तारूप रहता है, वही उसने स्वतः संपादित कर्मों का उपभोग लेने वाला रहता है। वही विश्व रूप गुण श्रयवान उत्पत्ति-स्थिति-लय रूप और ऐसा ही आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन विविध मार्गों से जाने वाला सभी कर्मों से संचार करता है। ''गुणत्रयो'' ''फल कर्म कर्ता'' इनका संबंध जीवात्मा से लगा कर, गुणों से बंधा हुआ तथा फल के उद्देश्य से कर्म करने वाला जीव, विश्व रूप बनकर विश्व में विविध मार्गों से प्रकट होने वाला तथा कर्म से देवयान, पितृयान अथवा तीसरे सर्व शुद्ध योनी से भटकने के मार्ग से गमन करने वाला होता है।'' इस प्रकार कुछ भाष्यकार अर्थ करते हैं। परंतु जीव तथा पूर्णपुरुष परमेश्वर का स्वरूप संबंध होने के कारण उपर्युक्त दिया हुआ अर्थ यथार्थ है। उल्टे विश्व रूप का तथा विविध मार्ग का भाष्यकारों ने किया हुआ अर्थ तर्कसंगत नहीं लगता।

यहां भी तथा अन्यत्र ही विश्व का वर्णन विश्व रूप ऐसा ही मिलता है। यदि यह उसका कार्य है तो विश्वकार्य ऐसा उल्लेख चाहिए था। परंतु १. यश्च्छन्दसामृषभो विश्वरूपः २. स एव वैश्वानरो विश्वरूपः ३. विश्वरूपं हरिणं जातवेदसम ४. नमो विरपेभ्यो विश्वरूपेभ्यः ऐसा ही वेदों में विश्व रूप शब्द का अनेक स्थान पर उल्लेख मिलता है। अतः विश्व यह परमेश्वर का कार्य न होकर रूप है यह बार-बार विश्व रूप इस शब्द से श्रुति सूचित करती है। वैसे ही इस विश्व में जो अनंत घटनाएं होती रहती हैं उसका वर्णन कर उसका कर्तव्य मात्र ईश्वर का ही है ऐसा श्रुति कहती है। यहां कहीं भी श्रुति माया उपस्थित नहीं करती।

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपराऽ दृष्टः।।३३।।

अर्थ - स्थूल सूक्ष्म ऐसे नाना देह तथा अनेक रूप वह पुरुष स्वयं स्वगुणों से स्वीकारता है। वैसे ही क्रिया गुण सत्व, रज, तम तथा आत्मगुण, जागृति, स्वप्न,

सुषुप्ति आदि इन सब का संयोग हेतु, कार्यकारण भाव तथा दूसरे जड़ों का भी यही कारण दिखता है।

यहां भी देही का अर्थ जीव कर, यह जीवात्मा अपने मन, बुद्धि, इंद्रियादि धर्मों से, अहंता, ममता आदि स्वगुणों से नाना प्रकार के स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों का स्वीकार करता है अथवा भिन्न-भिन्न योनी में जन्म लेता है। परंतु उनका इन योनियों से संयोग करने वाला दूसरा कोई अर्थात् परमेश्वर ही रहता है ऐसा भाष्यकार कहते हैं। लेकिन जीवों का तथा पूर्णपुरुष का स्वरूप संबंध होने के कारण यह वचन पूर्णपुरुष पर लगाना ही श्रेयस है। संक्षेप में, भाष्यकारों का भी यदि अर्थ लिया तो भी उससे ''कुछ बातें मनुष्य अथवा पुरुष सोच कर खुद ही करता है, तो कुछ सहज होते रहते हैं अथवा दूसरा कोई करता है।'' यही पूर्णवाद का तत्त्व इस वचन से सिद्ध होता है। परंतु यहां पूर्णवादाचार्य ने किया हुआ अर्थ ही उचित लगता है तथा योग्य है।

यहां अद्वैति प्रत्येक शब्द को लंबीचौड़ी प्रस्तावना जोड़कर अपने को चाहिए वह 'इष्ट' अर्थ लगाते हैं। लेकिन 'विश्वस्य सृष्टारमनेकरूपम्'- अनेक रूपों से इस विश्व का निर्माता ईश्वर ही है, यह अगले वचन से स्पष्ट होता है तथा - 'देवं मुच्यते सर्वपाशैः' - जिस ईश्वर को जानकर मनुष्य सभी पाशों से मुक्त होता है - ऐसा फलश्रुति रूप से बताया है। इसलिए यदि अद्वैति इस प्रकार कुछ न करते तो उनके गृहित कृत्यों पर आपत्ति आती है। अतः खींचातानी कर वह देही, पुरुष, उपभोक्ता का अर्थ जीव पर लगाते हैं।

परंतु हमें ऐसा कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। मूल संस्कृत शब्द को कोई प्रादेशिक प्रतिशब्द की योजना कर काम हो सकता है। इतने पर भी वेद में मात्र किस सत्य की मूर्ति अधिष्ठित है इसका अनुमान पाठक को सहज होने वाला है। हमने आधार के तौर पर बताये हुए श्रुति वचन ही मात्र अपने सिद्धान्त की प्रतिवादक है, ऐसा न होकर सभी वेदवाङ्मय इसका कोई भी और कहीं का भी वचन पूर्णवाद का ही उद्‌बोधन करता है।

इसका अर्थ मात्र ऐसा नहीं कि आचार्य ने जो केवल साक्षी तुरीय ब्रह्म का दिग्दर्शन किया है वह वेदों में कहीं नहीं है। जो त्रिवर्त्मा, त्रिधातु, कहकर वेदों में पूर्णपुरुष का जो वर्णन आता है, उसके आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक ऐसे विविध स्वरूपों में से आध्यात्मिक में उसका अंतर्भाव है। उसका आचार्य के बताये स्वरूप जैसा ही प्रतिपादन है। उसका अन्तर्भाव आध्यात्मिक में है इस कथन का आशय उसकी उतनी ही व्याप्ति है ऐसा न होकर जिसका वर्णन श्रुति पूर्णपद ऐसा करती है वह

सर्वव्याप्त है। अतः अद्वैतिमाया वेदों में नहीं, इसलिए अद्वैत दर्शन वा सिद्धान्त वेदों में नहीं, अथवा वेद सम्मत नहीं ऐसा नहीं है। यह पाठक ध्यान में रखे। अतः उसको एक ही आध्यात्मिक में समाविष्ट करने का कारण, उसका साक्षात्कार किसी भी देवता के दर्शन से अथवा पदार्थ विज्ञान, शास्त्र द्वारा अथवा मंत्र से न होकर मात्र अन्तर्मुख होकर अपनी आत्मा में ही संभव है। परंतु इसके साथ एक परब्रह्म ज्ञान से, विश्व का संपूर्ण ज्ञान (सभी चीजों का ज्ञान) होता है यह कहना उचित नहीं है, बहुत ही हुआ तो विश्व का संपूर्ण ज्ञान कर लेने का मार्ग खुला होता है। यह कहना अधिक योग्य है। विश्व के अनंत घटना क्रम जो भिन्न भिन्न इंद्र, वरुण, प्रजापति आदि देवताओं द्वारा घटित होते रहता है। उस आधिदैवत रूप से ही ज्ञान मात्र परब्रह्म ज्ञान से होना असंभव है।

माया : वैदिकर्कोका ईश्वर साक्षात्कार – पूर्णपुरुष

आज तक हमारे पुर्खों ने जिन 'संहिता' ग्रंथों को प्रति ईश्वर कहकर उनका अर्चन किया, वह जिस आधिदैविक ज्ञान से किया, उसकी हमें कल्पना न होने के कारण मात्र आध्यात्मिक ज्ञान के संस्कार तथा उसकी प्रतिष्ठा के कारण हम उसकी ओर उपेक्षा बुद्धि से देखते हैं। परंपरा तथा वर्तमान लोकमत इनमें ऐसा विरोध क्यों हो यह प्रथम दृष्टि से अगम्य बात लगती है। परंतु विचार करने पर ऐसा लगता है कि आधिदैविक अज्ञान के कारण ऐसा होना सहज संभव है ऐसा लगता है। सारांश, 'एकस्मिन विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम् भवति' अर्थात् जिस एक को जानने पर सब कुछ जाना जाता है ऐसा श्रुति जिसके बारे में कहती है, वह एक पूर्णपुरुष ही है जो आधिदैविक, आध्यात्मिक, तथा आधिभौतिक इस प्रकार कहने आता है। श्रुति कहती है वही एक है जो जानने पर सब कुछ जाना जाता है, तथा दीर्घतमा ऋषि ने इस प्रकार आश्वस्त भी किया है।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुः तस्य भ्राता मध्यमोअस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपुष्टो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्।।३४।।

अर्थ – यह कांतिमान बाएँ तरफ बैठा हुआ दाढ़ी-जटाधारी (बूढ़ा) बढ़ने वाला (सतत् वृद्धि वाला) होता – अर्थात् लीजिए-लीजिए कहने वाला बंधु-आधिभौतिक सृष्टि आदि – उसका मझला भाई सर्वभोक्ता- सब कुछ खाने वाला लेकिन न बढ़ने वाला आध्यात्मिक जीवसृष्टिरूप – तीसरा बंधु घृत से पुष्ट (घी से) हुआ अर्थात् आधिदैविक सृष्टि रूप, उनके सात पुत्रों के साथ उस विश्वपति का मुझे दर्शन हुआ।

यह वैदिकों का ईश्वर साक्षात्कार है। इस ऋचा में पूर्णपुरुष ईश्वर का दर्शन होने की बता रहा है। उस दर्शन का वर्णन तीनों बंधुओं के रूपक से किया है तो भी वह एक पूर्णपुरुष का ही है। होता यह आधिभौतिक है तथा उसमें सभी जड़ पदार्थ समाये है।

अश्नः खाने वाला यह जीव सृष्टि रूपी बंधु है, तो घृतपुपटः घी से पुष्ट हुआ यह आधिदैविक देवलोक है। यह तीनों पूर्णपुरुष के ही स्वरूप है। फिर यह वर्णन सप्त व्याहृति पिता तथा पुत्र इस रूपक से किया है। जीव ही विश्व के विषयों का उपभोग ले रहा है, अतः उसे पेटू बंधु (ज्यादा खाने वाला) विषय रूपी आहुति (समिधा) जीव को मिलती है। वैसे ही जिस यज्ञ में घी की आहूति दी जाती है। ऐसे यज्ञ अतीत में बहुत हुआ करते थे। अतः आधिदैविक को धृतपुष्ट कहा गया है।

इन्हीं आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक इन तीनों का अधिक विश्लेषण करने पर वह सप्त व्याहृति से होती है। उसमें तीन मातृ रूप और तीन पितृ रूप इस प्रकार है। वह दो-दो लेने पर तीन होते हैं यह वर्णन पूर्णपुरुष के दर्शन का ऋषि ने किया है। यही उस पूर्णपुरुष का वेद वर्णित स्वरूप है (भूः, भुवः, सुवः, महः, जनः, तपः, सत्यम् - यह सात व्याहृति है) इन व्याहृति में से भूः भुवः यह आधिभौतिक में आती है और उसके लिए निपुणता तथा योजकता यह साधन है यह पूर्णवाद कथन करता है, सुझाता है। सुवः, महः आधिदैविक में आते है उसके लिए लोक संग्रह तथा लोकमत यह पूर्णवाद के साधन है। जनः, तपः, यह आध्यात्मिक के अन्तर्गत आते हैं और इसके पूर्णवाद साधन काल तथा उपासना बताये है। इस प्रकार वैदिकों को जो ईश्वर साक्षात्कार हुआ है वह प्रचलित वर्तमान में भी नैपुण्य, योजकता, लोकसंग्रह, लोकमत, काल तथा उपासना इन षड्ांगों से (छह साधन) मतलब ऊपर बताये छह साधनों द्वारा भी सामान्य व्यक्ति को हो सकता है। इन सभी छह व्याहृति को व्याप्त कर सत्य (पूर्णपुरुष) यह व्याहृति रहती है।

अतः वेदवर्णित वेदमाया वेदान्तियों ने निर्माण किये हुए माया से कैसे भिन्न है यह हमने देखा। वेदान्तियों ने केवल सत्य होने के कारण साक्षी परब्रह्म (पूर्णपुरुष के एक ही रूप का) का स्वीकार करने के कारण जगत् को कार्य माना। उन्होंने वेद के तिनके का आधार लेकर मूल कपोलकल्पित माया कैसे निर्माण की यह हमने देखा। परंतु वेदों का केवल सत्य जो पूर्णपुरुष जिससे विश्व तथा परब्रह्म का स्वरूप-अभेद ध्यान में आने पर (समझने पर) जगत् का कारण ब्रह्म नहीं हो सकता यह समझ में आता, वैसे ही ब्रह्मानुभूति से प्रामःणिक रहने के लिए जगत् को मिथ्या प्रमाणित करने की मजबूरी क्यों उठानी पड़ी यह भी समझ में आता है। वैसे ही आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक पूर्णपुरुष के स्वरूप ज्ञान से वेदों का कर्म, ज्ञान, उपासना इन त्रिकांडात्मक वैदिक धर्म का भी मेल बैठता है। बाद में केवल ज्ञान अथवा भक्ति अथवा जनहित पर कर्म ऐसे जो विश्व में मताभिमान की खींचातानी चल रही है इसका कारण 'मूल में भूल' मूलतः चूक (गलती) ऐसा कहना पड़ता है। (परब्रह्म स्वरूप को ही केवल सत्य मानना

ही भूल है)। जहां एक स्वर की भूल क्षम्य नहीं थी वहां इस प्रकार की भूल, यह परमेश्वर की माया नहीं तो और क्या है?

तात्पर्य, अद्वैति माया से ईश्वर तथा जगत् का निर्माण नहीं हुआ है बल्कि ईश्वर अथवा पूर्णपुरुष अपने ज्ञान बल क्रियायुक्त देवात्म शक्ति से विचार पूर्वक विश्व की निर्मिति तथा नित्य नियंत्रण करता है। परंतु उसने उत्पन्न किये हुए विश्व के कार्य कारण रूप परंपरागत प्रकृति के कारण ईश्वर अलग तथा विश्व अलग ऐसा जो भ्रम होते रहता है वही उसकी वेदमाया है। एकाध मकड़ी जैसे अपने ही द्वारा बुने हुए जाल में वह खुद ही अटक जाता है वैसे ही परमात्मा अपने को हमेशा ढ़क लेता है। अतः उसके असली स्वरूप का निश्चय होने के लिए मनुष्य को सूक्ष्म बुद्धि से गहराई से विचार कर यह मायाजाल दूर कर ही उसे जानना पड़ता है। ऐसे सूक्ष्म बुद्धि से किये हुए विचारों से ही पूर्णपुरुष के स्वरूप संबंधी मनुष्य को आगे का ज्ञान प्राप्त होता है।

१. विश्व वैचित्र्य के कारण मनुष्य के बुद्धि को भासमान प्रत्येक वस्तु ईश्वर होकर भी ईश्वर कुछ भिन्न है ऐसा उसे लगता है।

२. एक दूसरे से एकदम परस्पर विरोधी भिन्न ऐसा भाव (खट्‌टी कैरी-मीठा आम) तथा उत्पत्ति, स्थिति, लयादि वैचित्र्य पूर्ण घटना देखकर यह सब पूर्णपुरुष के ही रूप है, यह जानने वाला बुद्धिमान शोक नहीं करता। वैसे ही यहां का अनित्यत्व तथा नश्वरत्व देखकर घबरा नहीं जाता।

३. पूर्णपुरुष का विश्व रूप एक पाश जो आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक ऐसे तीन पद्धतियों से पृथक-पृथक कहते बनता है, कि जिस कारण विश्व भिन्न तथा विश्वंभर भिन्न ऐसा वेद माया का कार्य द्वैतरूप होने के कारण मनुष्य को मोह होता है। परंतु चक्र के नेमि (आरे) जैसे विश्व का अधिष्ठाता ईश्वर ही है यह जानकर उसके आधिभौतिकवादी विविध रूप का ध्यान करने से मनुष्य सभी पाशों से मुक्त हो सकता है।

४. एक ॐ वर्ण से वह पूर्णपुरुष पहचाना जाता है तथा उसकी ही कृपा से उसका असली स्वरूप जानने की बुद्धि मनुष्य को प्राप्त होती है।

५. विश्व के हर घटनाओं का कारण तथा कार्य वही पूर्णपुरुष है। वैसे ही वेद में जो कुछ कहा गया है वह सब यह 'मायिन' ईश्वर ही निर्माण करता है।

६. ईश्वर से प्रथम जब वाणी उत्पन्न हुई, तब से वह मेरे पास है। अतः यह सब कुछ मैं होकर भी मैं इसे जानता नहीं तथा भ्रम में रहता हूँ। ईश्वर से सिर्फ मेरा ही नहीं अपितु विश्व की प्रत्येक वस्तु का नाम रूप के साथ अर्थात् उसके विशेषत्व के

साथ अभेद है, जीव भ्रम मूलक वेद माया के कारण भेद की कल्पना कर दुःखी होता है। परंतु जब उसे अभेद का ज्ञान होता है, तब वह सभी शोक से मुक्त होता है।

७. एक पूर्णपुरुष के कारण ही यह ब्रह्मचक्र गतिमान है फिर भी विद्वान (Radical Thinker) जगत् का कारण वस्तु धर्म (जैसे अग्नि की गर्मी) मानते है। परंतु एक पूर्णपुरुष ईश्वर के सिवाय जगत् का कोई भी अन्य कारण बताना ही संमोहावस्था है।

८. ईश्वर ने ही संपूर्ण विश्व आच्छादित किया है तथा उसने ही नियमन कर दिये जैसा पंचतत्त्व कर्म परिणाम रूप व्यवहार रूप जगत् प्रकृति कार्य करती है। ऐसा उसका चिंतन करने पर ही वह प्राप्त होता है। विश्व का (माया) जाल से आच्छादन करने वाला ईश्वर, बुद्धि को द्वैत रूप संमोह उत्पन्न करने वाले नये नये जाल वह नित्य निर्माण करते रहता है। उससे वह अपने को ढ़क लेता है।

९. त्रिगुणों का ईश्वर से प्रत्यक्ष संबंध होने के कारण वही कर्मरूप, फलरूप, तथा कर्तारूप रहता है तथा वह खुद ही संपादित किये चीज़ों का स्वयं ही उपभोग लेते रहता है। स्थूल, सूक्ष्म, नानादेह यह जैसे स्वगुणों से स्वतः ही निर्माण करता है। वैसे ही उसके स्वाभाविक शक्ति से यह सब का संयोग हेतु बनकर जड़ का भी कारण बनता है।

इस प्रकार पूर्णपुरुष स्वतः ही कर्ता तथा भोक्ता होने के कारण सूक्ष्म बुद्धि से इसका विचार करने पर इसका आधिभौतिक होता, आध्यात्मिक अश्नजीव तथा घृतपुष्ट आधिदैविक तीन बंधुओं के रूप में दर्शन होता है। वैसे ही उसके छटे व्याहृति रूप पितापुत्र नाते से भी दर्शन होता है। अस्यवामीय सूक्त में इन रूपों का अर्थात् पूर्णपुरुष के रूप का ही वर्णन किया है तथा उसका संपूर्ण साक्षात्कार होने से पहले, उसकी किस प्रकार अनुभूति आती है इसका भी सुंदर वर्णन किया है। यह इस पूर्णपुरुष का सही रूप जानने पर वेदमाया से उसे फिर से ढ़ककर रखना साधक का कर्तव्य बनता है। ऐसा करने पर ही (वेद) माया का अध्ययन पूर्ण होता है।

* * * * * *

चतुर्थ अध्याय

विद्या-अविद्या

'विद्या' जो तप से, महत्प्रयास से ही प्राप्त होती है तथा 'अविद्या' जो सहज अपनी ओर आती है, जिसमें हमारा नित्य व्यवहार होता है वह चित्र में बताये व्यक्ति के हृदय से ऊपर उसके शरीर का तथा उसके आसपास का भाग तेजस्वी, शुभ्र, दिव्य, ऐसा बताया है। उसमें प्रकट ॐ बताया है। ॐ यह उस पूर्ण का नाम है, तथा उसके तप से, कष्ट साध्य प्रयत्नों से ज्ञान प्राप्त होता है वह मन तथा बुद्धि को। लेकिन हमारे शरीर को मात्र इस विश्व में नित्य रहना पड़ता है, वह सहज रहता है। जो सरलता से सहज साध्य है वह अविद्या। अतः उस व्यक्ति के हृदय के नीचे का भाग सामान्य बताया है तथा उसके आसपास पृथ्वी का हरा, लाल रंग बतायें है। वह अविद्या है, लेकिन विद्या-अविद्या दोनों ही उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। वह दोनों मिलकर पूर्ण है इसलिए उन दोनों को जोड़कर ही पूर्ण व्यक्तित्त्व बताया है।

४.

विद्या-अविद्या

अब तक हमने 'पूर्णपुरुष' तथा 'माया' इन दो महत्त्वपूर्ण अध्यायों का विचार किया। यद्यपि यह विचार हमने त्रिकांडात्मक अर्थात् ज्ञान-कर्म उपासना पद्धति से करने का प्रयास किया तो भी, प्रमुखतया वह ज्ञान तर्क से ही किया है। पूर्णत्त्व ही शुद्ध सत्य परमेश्वर है। यह सिद्धान्त वेदों को किस प्रकार से मान्य है यह जैसे हमने तर्क से तथा ज्ञान से जाना, वैसे ही जगत् को यदि कार्य माने तो भी उसका कारण स्वयं ईश्वर ही है, दूसरा-तीसरा कोई नहीं है यह भी हमने वेद तथा उपनिषदों के आधार पर देखा। जगत् को यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाए तो भी वह एक पूर्णपुरुष का ही है। उसी का रूप है तथा वेद में जिसे माया कहा है वह वेदमाया जगत् कारण न होकर सत् ऐसी जगत् की प्रकृति रूप है यह भी हमने अध्ययन में देखा।

इस प्रकार के अध्ययन का मूल उद्देश्य पूर्णपुरुष के पूर्णत्त्व की अनुभूति लेना यह न होकर, यदि एक बार भी यह अनुभूति प्राप्त हुई तो हमें किसी प्रकार की शंका नहीं रहती और हमारे सभी शंकाओं का समाधान होता है। लेकिन जब तक यह अनुभूति आती नहीं तब तक यह अध्ययन जारी रखना तथा जैसी शंका उत्पन्न होगी वैसे उसका समाधान त्रिकांडात्मक पद्धति से करते रहना अपना कर्तव्य बनता है। ऐसे ही अध्ययन से हम पूर्णपुरुष की अनुभूति का पात्र बनते हैं तथा हमें पूर्ण की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त हो सकती है।

जगत् कार्य का ईश्वर यह एक ही कारण रहते हुए वेदान्तियों को माया कैसी सूझी इस शंका का निराकरण करने वाले कुछ कारण हमने 'माया' प्रकरण में बताए है। परंतु इनमें से प्रमुख कारण यह है कि, 'जगत् यह कार्य है, स्वरूप नहीं' ऐसा गृहित पक्ष लेकर ही शंकराचार्य ने तथा उनके बाद रामानुजाचार्यादि सभी आचार्यों ने विचार करने के कारण उन्हें जगत् कार्य का कुछ न कुछ कारण बताना ही पड़ा तथा उसी से और भिन्न भिन्न वाद खड़े हुए।

अब 'जगत् यह कार्य है स्वरूप नहीं' ऐसा गलत गृहित सिद्धान्त सभी ने क्यों लिया ऐसा पूछने पर उसका उत्तर ऐसा है कि वेद का 'धाता यथा पूर्वम् अकल्पयत्' 'दिवंच पृथिवी चांतरिक्षमथो स्वः' आदि अनेक श्रुति वचन के कारण वेदों ने बताया सत्य एक तरफ ही रहा तथा 'जगत् यह कार्य है स्वरूप नहीं' ऐसी गलत धारणा कालांतर से दृढ़ होती गयी, वैसे ही पूर्ण का पूर्ण स्वरूप जिसे समझा उसके सामने जगत् यह कार्य है कि स्वरूप यह विवाद ही नहीं रहा। वेद प्रतिपाद्य पूर्णपुरुष की जिसे पूर्ण अनुभूति प्राप्त हुई, उसे सब समझा तथा सुलझा। वह इस विवाद में फंसा ही नहीं। परमेश्वर सत्य है तथा पूर्ण है, उसे अनुभूति से जाना, समझा तथा तृप्त हुआ।

परंतु एकाध श्रेष्ठ, अत्यंत श्रेष्ठ ऐसी पूर्ण पुरूष के रूप की अनुभूति आने पर अपनी चिकित्सक बुद्धि पर निर्भर न रहकर हमें ठीक लगा और प्रत्यक्ष अनुभूति हुई उतना ही पूर्णपुरुष का रूप सत्य तथा पूर्ण है ऐसा यदि कुछ श्रेष्ठ लोग समझने लगे उसमें वेदों का तथा उस श्रेष्ठ पुरुष का क्या दोष?

मूल सत्य मात्र एक पूर्णपुरुष परमेश्वर है तथा उन श्रेष्ठ लोगों को जो दिव्य अनुभूति हुई - यदि वह सगुण ईश्वर का दर्शन रहें अथवा आत्मानुभूति अथवा ब्रह्मानुभूति - वह पूर्णपुरुष की न होकर अन्य किसी की थी ऐसा कहने नहीं आता। क्योंकि पूर्णपुरुष के सिवाय दूसरा कोई अस्तित्व में नहीं है। अर्थात् उन्हें जो अनुभूति आयी वह पूर्णपुरुष के एकाध रूप की अर्थात् पूर्णपुरुष की ही यह निश्चित, अतः उन्होंने एक दृष्टि से पूर्ण को ही देखा यह निश्चित। परंतु उन्होंने जो देखा, अनुभव किया, उतना ही पूर्ण का सत्य है क्या? उतना ही वेद प्रतिपाद्य पूर्ण है क्या? अथवा वेद प्रतिपाद्य पूर्ण के कुछ रूप है क्या? इतना ही प्रश्न यहां है।

वेद में तथा शास्त्र में ईश्वर को पूर्ण माना जाता है इतना ही संस्कार सिद्ध तथा साधकों पर दृढ़ होने के कारण एकाध दिव्य अनुभूति आने पर हमने देखा उतना ही पूर्ण और उतना ही मात्र सत्य ऐसा यदि वह समझने लगा तो इसमें कौन सा आश्चर्य है? उसने समझे हुए सत्य की सापेक्षता में पूर्णपुरुष के अन्य रूप को वह मिथ्या तथा अर्थहीन कहने लगता है। अतः गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने कहा - 'यततामपि सिद्धानाम् कश्चित माम् वेति तत्त्वतः' अर्थात् श्रेष्ठ अनुभूति होने वाले अनेक सिद्ध पुरुषों में से एकाध सिद्ध ही मेरा सही स्वरूप जानता है। ऐसा कहा है। सिद्ध मतलब जिसे ईश्वर समझा है, जिसने उसे देखा है तथा उस पर ईश्वर की कृपा है वह, ऐसे सिद्ध भी बहुत होते है। वह जो अनुभव लेते हैं वह पूर्ण का एकाध दिव्य तथा सत्य रूप रहता है यह भी सत्य है। परंतु इस एक सत्य रूप को अर्थात् सत्यांग को ही पूर्ण सत्य समझने की शुरु में क्यों न हो हम गलती कर बैठते हैं। पूर्ण यह सत्य रहता है, लेकिन सत्य यह

पूर्ण रहता ही है ऐसा नहीं। वह पूर्ण सत्य का एक अंग हो सकता है। जिसे पांडुरंग का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ, उसे पूर्णसत्य के एक अंग का दर्शन हुआ अतः वह भी सही है, तो जिसे ब्रह्मानुभूति प्राप्त हुई उसे पूर्ण सत्य के दूसरे अंग का दर्शन हुआ अतः वह भी सही, तो जिसे ब्रह्मानुभूति प्राप्त हुई है उसे पूर्ण सत्य के दूसरे अंग का दर्शन हुआ अतः वह भी सही। परंतु ईश्वर के पूर्णसत्य के रूप एक साथ जानने वाला, उसे पूर्ण के सभी रूपों का दर्शन उसे तत्त्वतः जानने वाला बहुत बिरला ही है। वास्तविक पूर्णसत्य परमेश्वर रूप वही होता है कि जिसको बाहर कुछ भी नहीं होता कोई अनुभूति बाकी नहीं रहती है। इतनी पूर्ण की कल्पना जिसके मन में पक्की बैठ गयी वह एक पूर्णपुरुष के सिवाय किसी से भी फिर वह अनुभूति कितनी ही श्रेष्ठ सामर्थ्यशाली तथा दिव्य क्यों न हो – पूर्णसत्य ऐसे नहीं मानेगा। यह अनुभूति मूल में पूर्ण से ही आयी है। परंतु वह पूर्णसत्य नहीं है, परिपूर्ण नहीं यह उसके तुरंत ध्यान में आ सकता है। इसी कारण 'ब्रह्मसत्यं जगत् मिथ्या' कहने वाले शंकराचार्य ने आगे चलकर अनेक देवताओं के स्तोत्र भक्तिरस पूर्ण लिखे तथा संत तुकाराम ने मात्र विठ्ठल का ही अपने अभंगों में वर्णन कर निर्गुण निराकार ब्रह्मानुभूति का भी बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। यह जो समझ सके तो वह यह भी समझ सकेगा कि अजातवादियों ने ब्रह्मानुभूति को अर्थात् सत्य के एक ही अंग को ही सत्य मानने के कारण उसके बाहर कुछ भी होना असंभव है इस भूमिका से, जगत् है ही नहीं अतः जगत् की अनुभूति भी नहीं तथा जगत् न होने के कारण भ्रममूलक माया भी नहीं ऐसा प्रतिपादन किया। शंकराचार्य ने भ्रममूलक उत्पत्ति स्वीकार की, भ्रमरूप जगत् को भी माना तथा उसका कारण अद्वैति माया भी स्वीकार की। वेदों ने तथा रामानुजाचार्यादि अन्य वैष्णव आचार्यो ने जगत् को सत्य माना तथा वेदों ने जगत् से उत्पन्न होने वाले जगत् प्रकृति को माया (वेदमाया) माना।

सारांश, हमें जो जगत् की अनुभूति आती है उससे और जड़वादी तथा रामानुजाचार्य आदि वैष्णवाचार्य ने सिद्ध करने पर जगत् सत्य है। लेकिन ब्रह्मानुभूति के लिए जगदानुभूति को छोड़ना पड़ता है, जगदानुभूति के समय ब्रह्म के लिए मनुष्य को ब्रह्मानुभूति को छोड़ना पड़ता है। एक समय जगत् अथवा ब्रह्म इनमें से एकाध ही अनुभूति आती है, उस समय उतना ही सही, और अन्य झूठ ऐसा स्वाभाविक तौर पर लगता है। मनुष्य दो कमरों वाले घर में एक नंबर के कमरे में आने पर दो नंबर का कमरा दिखता नहीं, उसका अस्तित्व न दिखे, सर्वत्र एक नंबर का ही कमरा दिखे, और दो नंबर के कमरे में आने पर एक नंबर का कमरा न दिखे, उसका अस्तित्व न दिखे ऐसा कुछ यह है, जिसकी संशयातीत अनुभूति आती है इतना निश्चित।

Perception is the cause (a proff) of Existance इस नियम से यदि

जाये तो उसमें से एक सही - अर्थात् पूर्ण सत्य है ऐसा कहने पर दूसरा झूठ है ऐसा कहने को बाध्य होना पड़ता है और वह झूठ क्यों और कैसे इसकी कारण मीमांसा माया, भ्रम, अज्ञान, अविज्ञा आदि मार्ग से देनी पड़ती हैं। जड़ को सत्य मानने पर चैतन्य को जड़ का ही एक अविष्कार मानना पड़ता है। और उसके लिए कुछ न कुछ कारण तो देने ही पड़ते है। संक्षेप में किसी भी एक सत्य को अथवा सत्यांग को पूर्ण सत्य मानने पर अर्थात् उसे पूर्ण विशेषण लगाने पर माया, भ्रम, अज्ञान, अविद्या आदि कारण मीमांसा देनी पड़ती है।

परंतु पूर्णवाद का कहना है कि, 'पूर्ण' अथवा 'पूर्णत्व' यह जगत् अथवा ब्रह्म इनमें से किसी एक सत्य का विशेषण न होकर वह सामान्य वर्तमानवाचक नाम होने के कारण पूर्ण की अनुभूति के लिए कुछ छोड़ने का काम न पड़े तथा प्रत्यक्ष वैसे लगता भी नहीं। जब तक एकाध अनुभूति के लिए तुम्हें कुछ छोड़ना पड़ता है तब तक वह अनुभूति पूर्ण अनुभूति, पूर्ण की अनुभूति नहीं हो सकती है। क्योंकि तुम जो छोड़ोगे - जगत्, ब्रह्म, देव देवता, ईश्वर अतिरिक्त - वह पूर्ण के बाहर ही होगा। अतः तुम्हारी अनुभूति अपूर्ण ही होगी। अतः पूर्ण की अनुभूति के लिए कुछ भी छोड़ने की आवश्यकता न पड़े। और इसलिए परमार्थ के लिए प्रपंच छोड़ना तथा प्रपंच के लिए परमार्थ छोड़ना पूर्णवाद को मान्य नहीं है। दोनों की सह उपासना से पूर्ण की अनुभूति हो सकती है। तथा प्रत्यक्ष आती भी है। ऐसा पूर्णवाद का वेदों के आधार पर निश्चित कहना है। कोई भी एक छोड़कर आने वाली अनुभूति अपूर्ण ही रहती है। ब्रह्म अथवा जगत् इनमें से एक सत्यांग को पूर्ण सत्य प्रमाणित करने के लिए अद्वैतियों ने जिस विद्या-अविद्या का उपयोग किया है, उन दोनों की सह उपासना से ही पूर्ण की अनुभूति आ सकती है। और यदि वेद प्रतिपाद्य मार्ग कैसे है यह हम इस प्रकरण में न्याय की दृष्टि से देखने वाले है। ज्ञान का जैसे तर्क से संबंध है वैसे कर्म का न्याय से संबंध है। अतः विद्या-अविद्या का संबंध कर्म से है यह यहां ध्यान देना आवश्यक है। अद्वैति कहते हैं उस प्रकार विद्या से अविद्या का नाश कैसे होता नहीं तथा अविद्या में भी विद्या कैसे समायी रहती है यह हम वेद के आधार पर इस प्रकरण में देखने वाले है। अतः हम विद्या तथा अविद्या इस मुख्य विषय की ओर बढ़ेंगे।

परब्रह्म यही सत्यांग केवल तथा पूर्ण सत्य है यह बताने के लिए अद्वैतियों ने जिस अज्ञान, माया, भ्रम, अविद्या, विद्या आदि कारणों का अंबार खड़ा किया उसमें से विद्या तथा अविद्या का विचार अब हम वेद तथा उपनिषदों के आधार पर इस प्रकरण में करने वाले है। उस दृष्टि से कठोपनिषद् में आये हुए अगले वचन पर हम विचार करेंगे।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या याच विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त।।१।।

अर्थ : "परस्पर अत्यंत विपरीत (दूरमेते विपरीते) तथा भिन्न भिन्न फल देने वाले अविद्या तथा विद्या नाम से प्रसिद्ध, पहचाने जाने वाली दो विद्या हैं। परंतु तुम्हें नचिकेता, मैं विद्या का अभिलाषी, विद्या की ही इच्छा करने वाला मानता हूँ। क्योंकि तुम्हें अनेक विषयों का प्रलोभन मोहित न कर सका।"

नचिकेता को उसका पिता वाजश्रव ने क्रोध युक्त होकर यम की ओर भेजा था, यम को दिया था। नचिकेता यम के घर पहुंचने पर यात्रा पर गया यम तीन दिनों बाद घर वापस आया। तब तक नचिकेता को स्वर्ग में तीन दिन यम की प्रतीक्षा में बिताने पड़े। यम आने पर जब नचिकेता को वरदान मांगने के लिए कहा - तब नचिकेता ने तीसरे वर में ब्रह्म विद्या मांगी। तब वह बहुत कठिन है, तुम्हारी उम्र कम है अतः ब्रह्म विद्या की अपेक्षा और कुछ मांग लो" कहकर यम ने उसे धन, स्त्री, स्वर्गादि सभी सुख आदि का प्रलोभन दिया। परंतु नचिकेता अपने निश्चय पर अटल रहा और उसने विद्या को ही मांग लिया। उस समय यम ने उसे विद्या-अविद्या विषय समझा दिया। यह संदर्भ उपर्युक्त श्लोक में है तथा यम ने प्रथम अविद्या का व्याख्यान इस उपनिषद् में किया तथा बाद में विद्या का प्रबोधन।

इन सब बातों में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यम ने नचिकेता को प्रथम तीन दिन स्वर्ग में रहने को बाध्य किया और उसे धन, दारा, स्वर्गीय उपभोग इनमें से कुछ मांगने को कहा, "ब्रह्म विद्या कठिन है" ऐसा कहा। यहां इसलिए यह संदर्भ लिया जा रहा है कि, अविद्या समझे बिना, अविद्या का योग्य ज्ञान के बिना विद्या का ज्ञान हितकर नहीं होता। नचिकेता को अविद्या का कितना ज्ञान है यह जानने के लिए यम ने उसे यह प्रलोभन बताये तथा स्वर्ग में तीन दिन बिताने पर इन प्रलोभनों का ज्ञान नचिकेता को हुआ था। परंतु इन बातों का जनमानस पर जो परिणाम हुआ वह यह कि, "अविद्या सर्वथा त्याज्य होने के कारण नचिकेता ने विद्या मांग ली।" परंतु यथार्थ इसके उल्टे हैं। जब तक अविद्या का ज्ञान पूर्ण नहीं होता तब तक विद्या प्राप्त करने में धोखा होने का संभव रहता है। जिसे अविद्या समझी नहीं उसे विद्या क्या समझेगी? अविद्या यह विद्या का नाश करने वाली तथा त्याज्य न होकर वह समझे बिना विद्या के पीछे जाना धोखा खाने जैसा है। अविद्या के ज्ञान के सिवाय विद्या का ज्ञान भी पूरा नहीं होता यह बात आद्य शंकराचार्य के चरित्र से भी स्पष्ट है। अविद्या का अर्थात् प्रपंच का (गृहस्थी जीवन) अनुभव लिये बिना शंकराचार्य ने संन्यास लेकर 'ब्रह्मविद्या' प्राप्त कर ली। परंतु

मंडन मिश्र से वाद-विवाद के समय अपनी अविद्या को पूरा करा लेने के लिए उन्हें राजा के शरीर में प्रवेश कर अविद्या का भी पूर्णज्ञान प्राप्त करना पड़ा है और इसलिए यम ने भी नचिकेता को विद्या के प्रबोधन के पहले अविद्या का प्रबोधन किया।

पहले अविद्या तथा बाद में विद्या ऐसा कठोपनिषद् का जैसा क्रम है वैसा ही वह ईशावास्य उपनिषद् में भी है। वहां अविद्या तथा विद्या के भिन्न भिन्न फल है ऐसा ही बताया है। परंतु ईशावास्य का विशेष ऐसा है कि,

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।।२।।

अर्थात्- ''अविद्या को छोड़कर जो लोग मात्र विद्या की उपासना करते हैं वह भी घोर अंधेरे में जाते है'' - ऐसा यहां स्पष्ट कहा है। ईशावास्य उपनिषद् के इस नौ वे मंत्र में ऋषि कहते हैं कि, ''जो मात्र अविद्या की उपासना करते हैं वह अंधेरे में जाते हैं, लेकिन अविद्या को छोड़कर (सर्वस्व त्यागकर) जो विद्या की उपासना करते हैं वह उससे भी घोर अंधेरे में जाते हैं।'' ऐसा होने के कारण ईशावास्य उपनिषद् के ग्यारहवें मंत्र में कहते हैं कि -

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं स ह
अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते ।।३।।

अर्थ - ''जो मनुष्य इन दोनों का अर्थात् अविद्या तथा विद्या की साथ साथ उपासना करता है वह अविद्या से मृत्युलोक पार कर विद्या से अमृतत्त्व तथा अमरत्त्व को प्राप्त होता है।'' अविद्या का फल मृत्युलोक पार करना, तो विद्या का फल अमृतत्त्व प्राप्त करना, ऐसे दोनों के भिन्न भिन्न फल बताकर दोनों की सह उपासना ही ईशावास्य उपनिषद् ने बतायी है। अविद्या से मृत्युलोक पार करना है, अर्थात् प्रपंच में (अविद्या) में ही उलझे न रहते हुए उसका ज्ञान लेकर उसे पूर्ण करना है। जिस प्रकार पानी में बिना कूदे आप उसे पार नहीं लग सकते। उसी प्रकार से प्रपंच में पड़े बिना अविद्या से मृत्युलोक पार नहीं कर सकते। अतः अविद्या से विद्या का नाश नहीं उल्टे अविद्या से ही विद्या को पूर्णत्त्व प्राप्त होता है। यह बात निर्विवाद है। प्रपंच सुखेनैव कर मृत्यु तक आये बिना अमरत्व का महत्त्व समझ में नहीं आता।

सारांश, परमेश्वर के अर्थात् पूर्णपुरुष के आधिभौतिक के विश्व रूप के ज्ञान को अविद्या कहते हैं। परंतु इस नाम से आधिभौतिक के ज्ञान को कम आंकना वेदों का उद्देश्य नहीं है। मात्र आधिभौतिक का ज्ञान सहज तथा आसान होने के कारण उसे अविद्या कहा है परंतु ऐहिक का ज्ञान उम्र के साथ सहज होता है वैसे ईश्वर रूप का तथा ब्रह्म रूप का नहीं होने के कारण तथा तप से, निश्चय से, प्रयत्न पूर्वक कर लेना पड़ता

है इसलिए उसे विद्या कहा गया है तथा वहां भी जिस पर ईश्वर कृपा होती है उसे ही वह ज्ञान प्राप्त होता है। अतः वह कठिन होने के कारण उसे विद्या कहा है। तो आधिभौतिक तथा सांसारिक ज्ञान आसान होने के कारण उसे वेद ने अविद्या कहा है इतना ही। तात्पर्य, उपनिषदादि ग्रंथ से अविद्या तथा विद्या यह शब्द गौण तथा श्रेष्ठ अथवा त्याज्य, ग्राह्य इस अर्थ से बनाया है यह अध्ययनकर्ता ठीक से समझे।

अद्वैति संस्कार के कारण जगत् भ्रमरूप माया का कार्य बनने के कारण पारमार्थिक ज्ञान को महत्त्व प्राप्त होकर ऐहिक ज्ञान को जैसे तिरस्कृत समझा जाने लगा वैसे वेदों का मत नहीं था यह उपनिषदों से स्पष्ट होता है। वेदों ने एकांगी ऐहिक ज्ञान का निषेध कर दोनों ज्ञान की जानकारी मनुष्य को एकसाथ होनी चाहिए ऐसे सिद्धान्तवत प्रतिपादन किया। इसके पहले ईशावास्य उपनिषद् में जैसे मात्र पारमार्थिक ज्ञान का निषेध किया हुआ हमने देखा वैसे ही मात्र ऐहिक ज्ञान का भी निषेध कठोपनिषद् में किया हुआ है। कठोपनिषद् में यम नचिकेता से कहता है,

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः।।४।।

अर्थ - ''एकांगी ऐहिक ज्ञान में रहकर अपने सभी व्यवहार करने वाले तथा ऐहिक समृद्धि प्राप्त करने वाले लोग अपने को बुद्धिमान, शास्त्र पंडित तथा सकल ज्ञाता समझते हैं। परंतु यह मूर्ख लोग प्रत्यक्ष में, एक अंधे पर विश्वास रखकर उसके पीछे जाने वाले अंधे लोगों जैसे, हर स्थान पर जैसे ठोकर खाकर दुःखमय ऐसे भिन्न-भिन्न योनि में भटकते रहते हैं। मात्र कुटिल व्यवहार कर अपने व्यवहार चार्तुय के धुंध में रहने वाले लोग आगे चलकर अनेक संकटों में फंसकर दुखी बनते हैं यह निश्चित समझो।

यहां बुरे मार्ग से जाने वाले लोग, अपने को यद्यपि ऐहिक वैभव के धुंध में सयाने समझते होंगे तो भी निचली योनी में जाकर अंती दुःख के भागी बनते है। ऐसा बताया गया है। यह जैसे सत्य है वैसे ही जो लोग अच्छे मार्ग का अनुसरण करते हैं, सत्कर्म करते हैं वह सदैव उच्च लोक में जाते हैं अथवा मुक्त होते हैं ऐसा एक गलत विचार जनमानस में अद्वैति विचारों के कारण दृढ़ हुआ है। वास्तव में जो लोग मानवी जीवन में सद्व्यवहार करते हैं, विश्व कल्याण का कार्य करते हैं, उन्हें ईश्वर फिर से मानवी जीवन में अधिक सामर्थ्य, ज्यादा ज्ञान तथा अधिक आनंद देकर जन्म देता है। सत्कर्म करने वाले सभी लोग यदि मुक्त हुए तो जगत् का विकास कैसे संभव है? पुण्यवान लोग उच्च लोक में जाते हैं इसका अर्थ वह उच्च लोक का सामर्थ्य प्राप्त कर पुनः इच्छानुरूप जन्म लेते हैं ऐसा ही अर्थ करना योग्य है। पापी नर्क में जाते है इसका अर्थ

उन्हें फिर से मानवी जीवन में जन्म लेने का अवसर प्राप्त नहीं होता ऐसा करना श्रेयस है। अतः अच्छे लोग, देवता समान अवतार लेते दिखाई देते हैं। भस्मासूर जैसे दैत्य अवतार नहीं लेते यह समझदार लोग ध्यान में रखें।

मात्र एकांगी व्यवहार ज्ञान में कुशल लोगों का वर्णन श्रुति में इस प्रकार है-

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।।५।।

अर्थ – ''व्यवहार कुशल प्रमादशील मात्र संपत्ति के मोह से मोहित हुए मूढ़ लोगों को, परलोक का शास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण अर्थात् नहीं होता। अतः मात्र इस लोक से दूसरा लोक नहीं है ऐसा लगता है। वैसे ही इसका शास्ता परमेश्वर नाम का कोई है ऐसा मानते नहीं। इस प्रकार के अभिमानी लोग बार बार मेरे (यम) दरबार में हाजिर होते है और मैं उन्हें उनके कर्म के आधार पर भिन्न भिन्न योनी में ढकेलता हूँ।''

चार्वाक जैसे ''ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत'' कर्ज उठाकर घी पीना चाहिए कहने वाले एकांगी आधिभौतिक, व्यवहार कुशल, संसारी, मात्र अविद्या का ही अध्ययन करने वाले लोगों को बार बार मेरे मृत्यु द्वार पर आना पड़ता है ऐसा यहां यमराज नचिकेता से कहते हैं। वर्तमान में पदार्थ विज्ञानशास्त्र के अध्ययन से तथा शास्त्रीय चमत्कृति के कारण सभी जगतवासियों का परलोक तथा ईश्वर के प्रति विश्वास कम होते जाने के कारण मात्र जो भी कुछ है वह मृत्यु लोग ही है और वही मात्र सत्य है यह वृत्ति बलवती बनती जा रही है। पारत्रिकों का (वर्तमान) की शास्त्रीय शिक्षा कहीं भी शाला अथवा घर न देने के कारण ईश्वर तथा परलोक मात्र अर्थहीन कल्पना है ऐसा ही मत जनमानस में बनता जा रहा है। अतः वर्तमान जीवन अपना तथा औरों का सुखी किया, मानवतावादी दृष्टिकोण से योग्य पद्धति से आचरण से चाहे जो कर विश्व का कल्याण किया कि बस। यही पुण्य है ऐसा भ्रम बड़े बड़े विद्वानों को भी होता है। परंतु वह यह भूलते हैं कि, ऐसे मानवतावादी पुण्य पुरूषों को भी यम दरबार में हाजिर होना पड़ता है, इसका अर्थ उसकी आगे की गति निश्चित करने की स्वतंत्रता उन्हें नहीं रहती है। उन्हें अपनी इच्छानुरूप ऐसा कुछ भी करने नहीं आता। मृत्यु जैसे तय करता है अर्थात् मृत्यु लोक के अन्यानेक घटक तथा घटनायें जैसे बनती जाएगी वैसे उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा। संक्षेप में, वह प्रवाह पतित बनते जाते है। यहां एक ओर बात ध्यान में रखनी है कि जो लोग विश्व कल्याण के लिए जगत् को ही सत्य मानकर विज्ञानवादी भिन्न भिन्न शोध कार्य में तपस्वी जैसे जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वह मात्र अविद्या के उपासक नहीं रहते, तो तप से प्राप्त अपराविद्या के उपासक बनते हैं। विद्या दो प्रकार की हैं। एक अपरा

और एक परा। जगत् के ज्ञान के अध्येताओं को वेदों ने अपरा विद्या कहकर विद्या में ही उसको समाहित किया। अतः ऐसे लोग विद्या तथा अविद्या की एकसाथ उपासना करेंगे तो वे भी उनकी इच्छा जैसे अपनी तथा विश्व की आगे की गति निश्चित कर सकेंगे ऐसा उपनिषदकार का मत दिखता है।

जिस समय पहले पराविद्या की अर्थात् ईश्वर तथा परलोक की शिक्षा सार्वत्रिक ही दी जाती थी, उस समय भी उसके ग्राहक अल्प ही थे। आज भी वही स्थिति है परा तथा अपरा विद्या के अध्येता बहुत कम है। विद्या के सही जिज्ञासु आज भी कम मात्रा में है। लेकिन विज्ञान का मिथ्या अहंकार रखने वाले विज्ञान के नाम पर मनमाने ढंग के आचरण में लगे हैं। इस पर कठोपनिषद् का कथन है -

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो -ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।।६।।

अर्थ - ''जिसे विद्या कहते हैं, विशेषतया पराविद्या, उसका जो विषय वह अनेकों को सुनने में नहीं मिलता। जिस किसी को वह सुनने में आता है उनमें से अनेकों को वह समझता नहीं। प्रथम इस विषय का वक्ता मिलना ही कठिन तथा वह विषय जिसे आचार्यों ने बड़ी कुशलता से समझा दिया उसे वह विषय यथार्थ समझ में आया ऐसे श्रोता मिलना कठिन है।'' सीधे वेदकाल से लेकर आज तक यही स्थिति है।

सारांश, जो न सीखने पर आना संभव है वह अविद्या, तो बड़े प्रयास से भी प्राप्त होगी ऐसे निश्चित जिसके बारे में बताना कठिन है वह विद्या। इसमें ईश्वर रूप ज्ञान पराविद्या यह तो और कठिन है। इसका कारण ईश्वर यह सामान्य वर्तमान है। (Present Continuous), अतः उसका अतीत, भविष्य ऐसा कोई विषय रहता नहीं, वह सर्वज्ञ है, तो मनुष्य अल्पज्ञ है, वैसे ही वह ईश्वर अथवा पूर्णपुरुष विश्व व्याप्त होने के कारण वह जैसे जड़ और चेतन दोनों है, वैसे ही वह विश्व व्याप्त कर दस अंगुल शेष होने के कारण हम समझते उस जड़ चेतन कल्पना के भी पार है। अतः उस पूर्णपुरुष के बारे में कुछ सुनने में मिलना भी यहां बहुत दुष्कर है। वहाँ वह समझना भी बहुत कठिन है।

उसमें भी ईश्वर ने एक और करामात की वह यह कि, जड़ तथा चेतन यह दोनों बातें मनुष्य में एकत्रित कर भर दिये हैं। लेकिन जैसे वह मनुष्य में एकत्रित कार्यरत है वैसे ही अध्ययन के लिए वह अलग भी हो सकते है। लेकिन वह अलग रहते हैं तब वह सामर्थ्य रहित रहते है। उदाहरण-मृत्यु के समय शरीर जीर्ण होने के कारण वह आत्मा को छोड़ता है, तो समाधि में योगी अपनी आत्मा शरीर से अलग कर अंतरिक्ष में संचरित कर सकता है। अर्थात् आत्मा तथा शरीर अलग हो सकते है। अर्थात् जड़

अथवा चेतन अध्ययन के लिए अलग कर उसका अध्ययन करने आता है। परंतु अशरीरी आत्मा अथवा आत्मारहित शरीर सामर्थ्यहीन रहते है। मात्र आत्मा इस विश्व में कुछ नहीं कर सकता। लेकिन वह जब एकत्रित आते हैं, एकत्र रहते हैं, तब वह सामर्थ्यशाली रहते हैं। लेकिन वह इतने एक रूप रहते हैं कि वह स्वतंत्र हो सकते हैं यह कल्पना भी मनुष्य कर नहीं पाता। स्वतंत्ररीति से होने वाला आत्मा तथा शरीर का अध्ययन यह यद्यपि अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो भी तो भी जब वह एकत्रित रहते हैं उस समय उनके रूप का पूर्ण ज्ञान उस स्वतंत्र रीति से किये हुए अध्ययन से नहीं हो सकता। लाल अथवा पीला रंग स्वतंत्र रीति से जो अनुभूति देते हैं उससे कुछ अलग अनुभूति जब वह एक ही चित्र में रहते है उस समय देते है। यह अनुभूति सुखमय होने अथवा दुःखमय होना यह उस चित्रकार के चित्रकारिता के कुशलता पर निर्भर रहता है। रंग के भिन्न-भिन्न अनुभूति की, छटाओं का मेल सुखदायक रीति से करना यह कला है वैसे ही शरीर तथा आत्मा का सहजीवन अपना ऐहिक जीवन सुखमय करना, यह कला है। अतः जीवन यह कला है ऐसा पूर्णवाद का उद्घोष वाक्य है। चित्रकला में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार रंग की स्वतंत्र पहचान तथा जानकारी होना जरुरी है उसी प्रकार पूर्णवादी जीवन जीने के लिए आत्मा की, शरीर की, दैवत रूप ईश्वर की अध्ययन तक की स्वतंत्र अनुभूति लेना पूर्णवादी व्यक्ति को भी आवश्यक है। परंतु उतने को ही अथवा उसमें से एकाध अनुभूति को ही पूर्ण न समझकर इन तीनों का जीवन में उपयोग कर जीवन प्रभूता से, आनंद से बिताना यह पूर्णवाद का प्रमुख ध्येय है। यही पूर्णत्त्व की अनुभूति है।

ऐसे पूर्णत्त्व की अनुभूति लेने वाले व्यक्ति को यम दरबार में हाजिरी नहीं लगानी पड़ती। वह अपनी इच्छानुरूप अपने अगले स्थान तथा गति को निश्चित कर सकता है। उसका अपने ऐहिक जीवन पर ही नहीं तो संपूर्ण जीवन पर ही नियंत्रण रहता है। एकाध कुशल कार ड्रायवर जैसे वह अपना जीवन रथ चाहे जिस गति से तथा चाहे जिस दिशा में चला सकता है। (योगी अरविंद जैसे) पूर्णवाद मरण निवृत्ति, मृत्यु की आवश्यकता नहीं ऐसे नहीं कहता तो पूर्णवाद मरणभय निवृत्ति अर्थात् मरण भय से मुक्ति बताता है। गाड़ी जैसे चलानी है वैसे ही वह योग्य स्थान पर उसे रोकना भी आना चाहिए। जो गाड़ी कहीं रुकती ही नहीं, हमेशा चलती ही रहती है वह किसी के उपयोग की नहीं रहती। अमृतत्त्व का अर्थ मृत्यु न आना नहीं है, तो मृत्यु के बाद भी जीवन को अमर रखना, कायम रखना है। इसे ही पूर्णवाद कहते हैं। यह सुनने में आना, समझना तथा जीवन में उसे थोड़ा बहुत, जितना संभव हो उतारना बहुत कठिन लेकिन उतनी ही भाग्य की बात है।

सारांश, आधि दैविक ईश्वर ज्ञान को तथा आध्यात्मिक आत्म तथा ब्रह्म ज्ञान को

उसके कठिनता के कारण वेदविद्या (पराविद्या) कहते हैं तो आधिभौतिक ऐहिक ज्ञान को उसके आसानी के कारण अविद्या कहते हैं। संक्षेप में वेद मत ऐसा है : जैसे सरल सहज प्राप्त होने वाली वह अविद्या तथा तप से, कष्ट से साध्य होने वाली वह विद्या – जैसे वारुणी विद्या, गणेश विद्या आदि। इस न्याय से वर्तमान आधिभौतिक पदार्थ विज्ञान शास्त्र की अणुविद्या (Automic Physics) अंतरिक्ष विद्या (Space Science) अथवा अतीत के विषय धनुर्विद्या, राजविद्या, अस्त्र विद्या आदि, यद्यपि मूल में आधिभौतिक तथा ऐहिक होने पर भी फिर भी वह विद्या अपरा विद्या के अन्तर्गत आते है। वह सरल न होकर कष्ट साध्य होने के कारण वेदमत से वह विद्या ही प्रमाणित होती है। परंतु वह पराविद्या के अन्तर्गत आते हैं,–अर्थात् वह आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक से प्रत्यक्ष संबंधित नहीं रहते। अतः मुंडकोपनिषद् में वेद ने अविद्या तथा विद्या यह दो विद्या बताई है, उन्हें अपराविद्या तथा पराविद्या नाम दिया। यह हम आगे देखने वाले हैं।

इससे अविद्या का अर्थ जैसे केवलाद्वैति मात्र केवल अज्ञान तथा विपरीत ज्ञान ऐसा करते है वैसा वह वास्तव में नहीं है वेद भी ऐसा नहीं कहते अर्थात् अविद्या को वेद से लेकर समर्थ के दासबोध तक किसी ने भी त्याज्य नहीं माना ।

प्रपंच सांडूनी परमार्थ केला । अन्न मिळेना खायाला।
ऐशा या करंट्याला। परमार्थ कैचा ।।७।। – मराठी, समर्थ रामदास

ऐसा कहकर अविद्या तथा अपराविद्या न जानने वाले व्यक्ति को समर्थ ने करंटा (बुध्धु) कहा है (कोई काम का नहीं)। संक्षेप में वेद से लेकर संतों तक तथा आज के विज्ञानवादी, बुद्धिवादी विद्वान तक किसी ने भी आधिभौतिक अविद्या तथा अपरा विद्या की उपेक्षा नहीं की। ग्रहस्थाश्रम की महती गा कर शंकराचार्य ने भी उसका महत्त्व विशद् किया है।

परंतु एकांगी आधिभौतिक ज्ञान से तथा अपरा विद्या से परा के अर्थात् आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में जो दुष्परिणाम दिखाई देते हैं उसे ही अविद्या कहा जाता है, अहंता, अहंकर्तव्य, असंभावना, षड्विकारों का उद्रेक कहकर जो अविद्या आज बतायी जाती है वह वास्तव में अविद्या न होकर पराविद्या के अभाव में होने वाला परिणाम है। वह आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ज्ञान से, पराविद्या से नष्ट होता है। अद्वैती कहते हैं उस प्रकार से विद्या से यदि अविद्या का (अथवा परा से अपरा का) नाश होता तो विदेह जनक राजा को ब्रह्मानुभूति के बाद राज्य शासन, आधिभौतिक ज्ञान शेष रहता ही नहीं। उस ज्ञान का नाश ही होता। परंतु स्वरूप ज्ञान के बाद ब्रह्मानुभूति के बाद भी जनक राजा, राज्य कारोबार देखते थे। इसका अर्थ ही विद्या से

(परा विद्या) अविद्या (अपरा विद्या) नाश होता नहीं। वसिष्ठादि ऋषि के संदर्भ में भी यही बात है।

वेदों ने विद्या (पराविद्या) तथा अविद्या (अपरा विद्या) की सह उपासना बतायी है। अतः विद्या से अविद्या का नाश होता है यह वेदों का कथन है, कहना ही उचित नहीं है । अतः आत्मज्ञान से अथवा ब्रह्म ज्ञान से ऐहिक ज्ञान नष्ट न होकर उसके अभाव में होने वाले दोषों का नाश होता है तथा ऐहिक ज्ञान उल्टे पूर्ण होता है। एकाध बात नष्ट कर उसे खत्म कर देना अलग तथा समूल जड़ समेत नष्ट करना अलग। भूख लगने पर रोटी खाने पर पेट दुखता नहीं, लेकिन पेट भरा हुआ होने पर खाये हुए खाने से पेट दुखता है। अतः पेट दुखना रोटी का (अन्न) दोष न होकर भूख के अभाव का दोष है। तथा वह भूख से ही, अर्थात् कुछ न खाने से ही दूर होता है।

अविद्या विद्या का अभाव नहीं तथा अविद्या विद्या का विरोध नहीं है। अर्थात् आधिभौतिक ज्ञान यह वास्तव में आध्यात्मिक तथा आधिदैविक ज्ञान का अभाव भी नहीं तथा उसका विरोध भी नहीं है। विद्या से-पराविद्या से-पराविद्या के अभाव में उत्पन्न होने वाले दोषों का नाश होता है । आधिभौतिक ज्ञान का नाश नहीं होता। उल्टे वह पूर्ण होने में मदद मिलती है। अध्येताओं के लिए यह बात महत्त्वपूर्ण है।

अविद्या तथा अपरा विद्या को मलीन सत्त्व तथा विद्या पराविद्या को शुद्ध सत्व ऐसा कहना भी गलत है। जगत् पालन का कार्य विष्णु का होने से वह सत्वगुण के ही है यह बात प्रसिद्ध है। वैसे ही महात्मा तथा सच्चे वैज्ञानिक का कार्य भी सत्त्व गुण का ही है। जगत् कल्याण का ही है। अतः विष्णु की माया यदि शुद्ध सत्त्व तो थोर महात्माओं के जीवों की अविद्या, वैसे ही जगत् में जन्म लेकर जग का कुछ न कुछ कार्य करने वाले सामान्य जीवों की अविद्या, मलिन सत्व ऐसा कहना योग्य नहीं है।

अद्वैति अज्ञान के दो शक्ति आवरण तथा विक्षेप मानते हैं। उसमें से विक्षेप शक्ति अर्थात् माया तथा आवरण शक्ति अर्थात् अविद्या ऐसा अद्वैति कहते हैं। परंतु विद्या से जैसे माया का नाश नहीं होता वैसे ही अविद्या का भी नहीं होता यह हमने ऊपर देखा है। परंतु आवरण शक्ति का होता है ऐसा अद्वैति ही सिद्ध करने के कारण अविद्या यह अज्ञान के आवरण शक्ति नहीं है यह सिद्ध है। इस से पाया को जिस रीति से शुद्ध सत्त्व कहते है उस रीति से अविद्या को भी आधिभौतिक ज्ञान को भी शुद्ध सत्त्व कहते है उस रीति से अविद्या को भी, आधिभौतिक ज्ञान को भी शुद्ध सत्त्व कहना चाहिए और वैसे यदि कहना है तो माया तथा अविद्या दोनों भी अज्ञान के विक्षेप रूप शक्ति है ऐसा कहना आवश्यक है।

परंतु जिस अर्थ से केवलाद्वैती मायावाद कहते हैं वैसे वह वास्तव में न होने के कारण ईश्वर के ईशणादि जग चलाने वाले आधिभौतिक कार्य को अविद्या कहने आता। अतः अविद्या जिसे कहते हैं वह ईश्वर की तथा जीव की एक। परंतु विद्या के अर्थात् पराविद्या के अभाव के परिणाम को यदि अविद्या कहा जाये तो ईश्वर की अविद्या ऐसा कहते नहीं बनता। कारण ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण उससे विद्या, पराविद्या का अभाव संभव नहीं है।

अतः अविद्या तथा विद्या इसमें वास्तव में दूसरा कोई फर्क न होकर आधिभौतिक को पूर्णपुरुष के विश्व रूप के ज्ञान को अविद्या, तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक को पूर्णपुरुष के विष्णु तथा शिवरूप के ज्ञान को विद्या कहते हैं। इन दोनों का विरोध न होकर ईशावास्यपनिषद् में बताये जैसे वह दोनों परस्पर पूरक ही है, और वही मनुष्य के लिए श्रेयस है। ईशावास्य तथा कठ उपनिषद् में जिसे अविद्या तथा विद्या कहा है उसे ही मुंडकोंपनिषद् में अपरा तथा परा कहा गया है, अतः मुंडकोपनिषद् अपरा तथा परा के संबंध में क्या कहते हैं वह देखेंगे, कारण हमने अब तक रुढ़ी विपरीत किया हुआ अविद्या विद्या का विश्लेषण कैसे वेद ग्राह्य तथा शास्त्रसंमत है यह पाठक समझ सकेंगे। और फिर उन्हें शंका लेने के लिए कोई जगह नहीं रहेगी।

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह
स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापराच ।।८।।

अर्थ-''उस शौनक मुनि को अंगिरस कहते हैं, ब्रह्म ज्ञानी लोग यह निश्चय पूर्वक कहते आये हैं कि, दो विद्यायें है एक परा तथा दूसरी अपरा। मनुष्य को चाहिए कि वह इनका अध्ययन करें।''

इस पर सहज ऐसा प्रश्न निर्माण होता है कि यह विद्यायें कौन सी है? तो इसका उत्तर इस वचन में दिया है।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिती। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।।९।।

अर्थ - उन दोनों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष, यह सब अपरा विद्या है तथा जिससे वह अविनाशी परब्रह्म तत्त्व से, ज्ञान से जाने जाता है वह परा विद्या है।

संक्षेप में, जिससे अक्षर ब्रह्म का, पूर्णपुरूष का अथवा साक्षी का ज्ञान होता है वह परा अर्थात् विद्या, तथा भौतिक ज्ञान अर्थात् वेदपाठ करना, अर्थ लगाना, ज्योतिष कहना आदि बातें अर्थात् अपरा अथवा अविद्या। वास्तव में जिस ईश्वर का ज्ञान

वेदमंत्रों अनुष्ठान से, उसके दार्शनिक वचनों से तथा सिद्धान्त वचन के श्रवन से होता है वह विद्या ही है तथा उसे विद्या में समाहित करना आवश्यक है। वेद को पराविद्या में समाहित करने के संदर्भ में ज्ञानकोषकार डॉ. श्री. व्यं. केतकर जैसे आधुनिक पंडितों का मतभेद होना संभव है। वेदों का काल, भाषा आदि दृष्टि से बहिरंग परीक्षण कर यह विद्वान वैदिक वाङ्मय तथा उपनिषदादि सूतवाङ्मय ऐसे दो भाग करते दिखाई देते हैं। वैसे ही मंत्रवाङ्मय से श्रेष्ठ थी यह उनका सिद्धान्त निराधार है तथा वेदों के प्रति अनादर करने वाला है। सारांश आधुनिक पंडित वेद को गौण तथा उपनिषद् को श्रेष्ठ ठहराते हुए उपनिषदों को भी गौण मानकर गीता को ही श्रेष्ठ मानने लगे।

वास्तविक मंत्र वाङ्मय वेद संहिता से ही ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषदे, ब्रह्मसूत्र आदि आने के कारण वेद को ही महत्त्व देना आवश्यक है। उपनिषदों में वेदों का एक सत्यांश आत्मज्ञान तथा ब्रह्म ज्ञान आया। उतने को ही महत्त्व देकर आधिभौतिक तथा आधिदैविकों के साथ आध्यात्म कथन करने वाले बुनियादी वेदों को कम आंकना कभी भी समर्थनीय नहीं है। किसी भी बात का विचार करते समय वह वेदों से शुरू करने पर पूर्ण विचार होता है। परंतु उपनिषद् तथा गीता आदि से करने पर वह एकांगी होने की संभावना रहती है। वेदों के महत्त्व के साथ पुराणों का तथा रामायण, महाभारतादि महाकाव्यात्मक इतिहास का (EPICS) महत्त्व कम होने के कारण हिन्दु धर्म को बहुत हानि उठानी पड़ी है यह बात वर्तमान विद्वानों को भी विचार करने के लिए प्रेरित करने वाली है। लेकिन पाश्चात्य पंडितों के विचार करने के पद्धति को हमारे देश के विद्वानों द्वारा अंधानुकरण करने के कारण यह स्थिति उत्पन्न हुई, तथा वेदों की विचार करने की सर्वांगीण पद्धति को हम भूल गये और उससे हमारा बहुत बड़ा नुकसान हुआ है। कल कोई उपनिषदादि सूत वामङ्य अर्थात् पराविद्या तथा मंत्रवाङ्मय ही अपराविद्या है ऐसा भ्रम निर्माण होने का धोखा बनता है। अतः प्रखर राष्ट्रीय भावना से प्रेरित विद्वानों को चाहिए कि वेदों को पराविद्या समझना ही उचित है। अतः सभी भौतिक अपरा, तथा आध्यात्मिक, आधिदैविक जानकारी देने वाली परा है यह अध्येता पक्का समझे। मंत्रवाङ्मय वह अपरा तथा सूतवाङ्मय उपनिषदादि वह परा यह विचार कभी भी मन में नहीं आने देना।

आधिभौतिक का ज्ञान देने वाली-यदि वह कष्ट साध्य विद्या हो अगर सहज उम्र के हिसाब से समझने वाली अविद्या हो - वह अपरा होती है, तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक का ज्ञान देने वाली परा विद्या है यह अध्ययनकर्ता पक्का ध्यान में रखें। उसके साथ इसी ग्रंथ में यत्र-तत्र हुए कठोपनिषद् के अध्याय १ वल्ली २ मंत्र ५ जैसे मुंडकोपनिषद् का मुंडक १ खण्ड २ मंत्र ८ सतत् ध्यान में रखने लायक है। इस मंत्र में ऋषि कहते हैं,

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितंमन्यमानाः ।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ।।१०।।

अर्थ - "अपरा अथवा अविद्या में रहने वाले अपने को बुद्धिमान समझने वाले तथा लोगों द्वारा बुद्धिमान कहलवाने वाले अहंमन्य विद्वान मूढ़ लोग बार-बार भिन्न-भिन्न आघात सहन करते एक अंधे के पीछे जाने वाले अंधे जैसे अपने मुख्य मुकाम को न पहुंचते इधर-उधर भटकते रहते हैं" कठोपनिषद् तथा मुंडकोपनिषद् के इस मंत्र में मात्र एक शब्द का ही फर्क है। कठोपनिषद् का 'दन्द्रम्यमाणाः' इसके बदले मुंडकोपनिषद् का 'जघन्यमानाः' यह शब्द है समर्थ रामदास (महाराष्ट्रीय संत) अपने दासबोध में स्पष्ट कहते हैं -

जे का प्रापंचिक जन। जयासि नहीं आत्मज्ञान।
जे केवळ अज्ञान। त्यांची लक्षणे।।११।। (मराठी दासबोध ग्रंथ)

ऐसा कहकर मात्र ऐहिक अपरा विद्या को जानने वाले "मूर्ख तथा पढ़तमूर्ख" लक्षण के अन्तर्गत रखा है।

मुंडक उपनिषद् के अगले मंत्र में इसी वृत्ति का और एक वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है -

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेना ऽऽ तुराः क्षीणलोकाश्चवन्ते।।१२।।

अर्थ - "उपासनारहित सकाम कर्म में, अनेक प्रकार के लोक व्यवहार में, व्यवहारचातुर्य से हम कृतार्थ है ऐसा अभिमान कर व्यवहार प्रेम में उलझे रहने से परमेश्वर को कल्याण मार्ग को भूलते हैं। जिसके कारण पुण्य क्षीण होकर जब समाप्त होता है तब यह व्यवहार चतुर लोग भी यश के अभाव में दु:खी होकर अपने समाधान से भ्रष्ट होते हैं ताकि नीचे-नीचे आते हैं।"

ईशावास्य में जिस प्रकार अविद्या को, अपरा को छोड़कर मात्र पराविद्या की उपासना करने वाले लोग अति भयंकर अंधेरे में जाते हैं ऐसा कहा गया है वैसे ही मुंडकोपनिषद् के ऊपरी दो वचन विद्या, तथा पराविद्या को छोड़कर, अर्थात् आधिदैविक तथा आध्यात्मिकता को छोड़कर, मात्र अपरा के विज्ञानवादी आधिभौतिक विद्या के पीछे पड़ने वाले लोगों की क्या स्थिति होती है यह बताया है।

यह देखने पर कि अपरा तथा परा दोनों का सह उपार्जन वेद को अपेक्षित है यह स्पष्ट होता है। पराविद्या से अपरा का नाश होता है ऐसा श्रुति का मत नहीं वैसे ही विद्या अविद्या तथा परा-अपरा का हमने बताया अर्थ स्वकपोलकल्पित न होकर साधार है

यह सिद्ध हो रहा है। ''क्षरत्वं अविद्या अमृतंविद्या'' यह संपूर्ण वचन हमने विचारार्थ लिया है तथा क्षरविश्व अर्थात् अविद्या, अमृत अर्थात् विद्या ऐसा यहां स्पष्ट किया। विद्या-पराविद्या में आध्यात्म तथा आधिदैवत दोनों होने के कारण उसमें ज्ञान तथा भक्ति इन दोनों को इसमें लिया है यह स्पष्ट है। तो अविद्या तथा अपरा विद्या में कर्म को प्रधानता है यह भी सिद्ध है। अतः ज्ञान, उपासना कर्म से प्राप्त होने वाले ज्ञान का तथा विद्या का कहीं स्वतंत्र तीन विद्या ऐसा उल्लेख मिलता है।

उदारहण- कौषीतक्युपनिषद् का यह वचन -

अयमुद्गाता स एष सर्वस्यै त्रयी विद्याया आत्मैष उ
एवा स्यात्मैतदात्मा भवति य एवं वेद ।।१३।।

अर्थ - ''जो ब्राह्मण वा ऋत्विक ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद की उत्कृष्ठ श्रृंखला यज्ञ में गूंथता है उसे इन तीनों विद्याओं का आत्मा समझना चाहिए'' ऋग्वेद अर्थात् ज्ञान, यजुर्वेद - कर्म तथा सामवेद - उपासना तथा भक्ति यह प्रसिद्ध ही है। जीवन यह यज्ञ है ऐसा वेदों में अनेक जगह आया है। सारांश जीवन यज्ञ में ज्ञान-कर्म-उपासना इन तीनों विद्याओं का उत्कृष्ट मेल बिठाता है वही सच्चा ज्ञानी तथा सयाना है। अतः वेदों ने मात्र ज्ञान, मात्र कर्म अथवा मात्र उपासना ऐसी एकांगी विद्या का निषेध कर त्रयीविद्या के साथ अनुष्ठान करना चाहिए। यहां तीन विद्याओं का एकत्रीकरण अथवा Synthesis बताया नहीं बल्कि तीनों विद्याओं के साथ अनुष्ठान करना चाहिए ऐसा कहा है। पीला नीला तथा लाल इन तीनों रंगों का चित्र बनाना चाहिए अर्थात् तीन रंग एकत्र कर एक रंग में चित्र नहीं निकालना है, तीन रंगों का उपयोग कर चित्र उतारना है। ऐसे अनुष्ठान से ही पूर्णपुरुष की उपासना होती है। ऐसा वेदों का स्पष्ट मत है।

सारांश, ज्ञान अथवा विद्या यह वास्तव में पूर्णरूप तथा एकरूप है तथा उसके आधिभौतिक और उम्रनुसार सहज साध्य होने वाले रूप को अतीत में अविद्या कहा है तथा कष्टसाध्य प्रयत्न पूर्वक प्राप्त होने वाले आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप को विद्या कहा है। परंतु कालानुरूप आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विषयों का विकास तथा प्रगति होने के कारण यह वर्गीकरण भी अपूर्ण लगने लगा। विशेषतया आधिभौतिक का बहुत विकास होने के कारण आधिभौतिक ज्ञान सहज उम्र के अनुरूप प्राप्त होना कठिन बना। वह भी कष्ट से तथा तप से प्राप्त करना अनिवार्य बना। अतः अविद्या तथा विद्या ज्ञान तथा विद्या के दो शाखा करने की अपेक्षा अपरा विद्या तथा पराविद्या ऐसा वर्गीकरण रूढ़ हुआ, तथा लोकप्रिय भी हुआ। अपरा में उम्र के अनुसार सहज प्राप्त होने वाले तथा तप से, कष्ट से साध्य होने वाले आधिभौतिक ज्ञान समाविष्ट

हुआ और परा विद्या के अन्तर्गत आत्मा तथा ईश्वर का ज्ञान अन्तर्भूत हुआ। सारांश, अपरा विद्या अर्थात् दृश्य विश्व के संबंध का ज्ञान तो पराविद्या अर्थात् अदृश्य तथा अव्यक्त के संबंध का ज्ञान ऐसा नया वर्गीकरण लोकप्रिय हुआ। परंतु आधिदैविक का जैसे विकास होता गया तथा भक्ति मार्ग का तथा भागवत धर्म का प्रसार जैसे-जैसे होता गया वैसे-वैसे अव्यक्त के संबंध का ज्ञान अर्थात् परा विद्या भी दो भाग में विभाजित हुई। ईश्वर की तथा दैवतों की उपासना तथा भक्ति यह आधिदैविक पक्ष स्वतंत्रतया अलग होकर आत्मज्ञान तथा मात्र अनुभूति यह आध्यात्मिक पक्ष भी अलग हुआ। अतः कर्म-उपासना-ज्ञान यह साधन जिसमें उपयोग में लायी जाती है ऐसी तीन विद्याओं की अर्थात् यजु-साम-ऋग्वेद विद्याओं की, त्रयी विद्याओं की कल्पना आगे आयी।

परंतु एक तरफ ज्ञान की तथा पूर्णरूप विद्या की इस प्रकार प्रगति तथा विकास होते समय दूसरी तरफ इस विकास के प्रगति की जैसे प्रतिक्रिया अर्थात् विपरीत ज्ञान तथा भाव का समाज पर घातक परिणाम हुआ। उदाहरण-पूर्णरूप ज्ञान के जिस रूप अथवा विषयों का विशेषतया अध्ययन अथवा प्रगति होने लगी वहीं ज्ञान का रूप पूर्णरूप ज्ञान है। वही संपूर्ण ज्ञान का पूर्ण स्वरूप है। इस भूमिका से मात्र आत्मानुभूति, मात्र ईश्वर दर्शन अथवा मात्र आधिभौतिक विज्ञान अर्थात् संपूर्ण ज्ञान ऐसा मानने लगे। अतः ब्रह्मानुभूति हुई कि संपूर्ण ज्ञान होता है अथवा ईश्वर दर्शन हुअ। कि सब कुछ हुआ अथवा विज्ञान में प्रगति हुई कि मनुष्य सुखी होगा। ऐसी भावनायें जनमानस में कायम होने लगी। अतः मात्र ज्ञान, मात्र भक्ति, मात्र कर्म इस प्रकार एकांगी साधनों पर ही मुक्त कंठ से बल देना शुरू हुआ। लेकिन लोग यह भूल गये कि यह एकांगी ज्ञान संपूर्ण ज्ञान का एक रूप होकर वह एक संपूर्ण ज्ञान नहीं हो सकते। संपूर्ण ज्ञान के लिए ज्ञान की सभी रूपों आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक एक साथ अध्ययन जरुरी है तथा यह किया तो ही इन त्रयी विद्याओं के सह उपासना से पूर्णपुरुष का संपूर्ण विश्व का सही ज्ञान प्राप्त होकर मनुष्य सुखी होगा। वेद संपूर्ण ज्ञान के समर्थक होने के कारण उन्होंने इन त्रयीविद्या के उपासना पर ही पहले से बल दिया है। तथा उसके बिना पूर्णत्त्व का लाभ असंभव बनता है। मात्र अविद्या के उपासना का फल पाश्चात्य राष्ट्र भुगत रहे है। अतः एकांगी ज्ञान तथा एकांगी भक्ति से हिन्दुस्तान किस डगर पहुंचा यह कहना न होगा।

सहज सुलभ वह अविद्या, तथा तप, कष्ट से मिलने वाली वह विद्या इस भूमिका से शुरुवात कर फिर दृश्य विश्व संबंधी के विद्या तथा ज्ञान को अपराविद्या, तथा अदृश्य, अव्यक्त के संबंधी के विद्या को पराविद्या कहना - यहां तक आने पर कर्म-उपासना, ज्ञान इन तीन साधनों को प्रधानता देने वाले आधिभौतिक, आधिदैविक तथा

आध्यात्मिक ऐसी त्रयी विद्या तक ज्ञान के तथा विद्या का वर्गीकरण कैसे विकसित होता गया यह हमने अबतक देखा। यह तीन विद्या तथा गायत्री मंत्र के तीन पाद का परस्पर संबंध बताने वाले ब्रहदारण्य उपनिषद् का एक वचन है उसे देखेंगे।

स य इमांस्त्रींल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृण्हीयात्सोस्या एतत्।
प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावयीतं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रति गृण्हीयात्।।१४।।

अर्थ - जो इन तीन पूर्ण भूः भुवः स्वः इन लोकों का तथा व्याह्रतीं का प्रतिग्रह करेगा वह गायत्री के प्रथम पद को प्राप्त करेगा। वही आगे इन तीनों विद्या का ग्राहक बनेगा।

यहाँ गायत्री का पहला पाद, अर्थात् भूः भुवः स्वः, पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा स्वर्गलोक का ज्ञान जो प्राप्त करेगा उसे ही मिलेगा ऐसा कहा गया है। यही अविद्या है। अतः प्रथम पाद ही अविद्या। अगले विद्या में अगले गायत्री के दो पाद दूसरा तथा तीसरा आते हैं। उनमें से दूसरा आधिदैवत का तथा तीसरे में ''यावदिदं प्राणिः'' ऐसा उल्लेख है, उसमें जीव, मन, बुद्धि आदि लेकर साक्षी परब्रह्म का तुरीय ऐसा स्वतंत्र उल्लेख किया है।

यह साक्षी ब्रह्म इन तीन पाद में से किसी से भी प्राप्त होता नहीं ऐसा वहां ठोक बजाकर कहा। परंतु यहां जैसे प्रत्येक जगह साक्षी ब्रह्म का स्वतंत्र उल्लेख मिलता नहीं, तो उसका अन्तर्भाव आध्यात्मिक में ही किया है। क्योंकि विद्या में आधिदैविक तथा आध्यात्मिक का अन्तर्भाव है। परंतु इस जगह जैसे कहीं कहीं त्रिपदा, त्रयीविद्या ऐसा कहकर आधिदैवत तथा आध्यात्म को अलग किया हुआ स्पष्ट दिखता है।

इस ब्रहदारण्य में भी ईशावास्य उपनिषद् जैसे मात्र विद्या के उपासना का फल अविद्या के उपासना से भी बड़ा रहता है ऐगा ही कहा है। उदाहरण-

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽ विद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रतः।।१५।।

अर्थ - ''जो अविद्या की उपासना करते हैं वह घोर अंधेरे में जाते हैं, वैसे ही जो मात्र विद्या में रत रहते हैं वह उनसे भी घोर अंधेरे में जाते हैं।''

यहां जैसे मात्र विद्या की उपासना का निषेध कर ब्रहदारण्य ने मात्र विद्या की उपासना न करने को कहा है, वैसे ही दूसरे एक वचन में विद्या की प्रशंसा कर उसका अध्ययन करना चाहिए ऐसा कहा है। इससे एकांगी विद्या की उपासना नहीं करनी चाहिए, अविद्या तथा विद्या की सहउपासना करनी चाहिए ऐसा ही ब्रहदारण्य का कहना है।

विद्या का आध्यात्मक ज्ञान से संबंध है यह सभी मानते हैं। परंतु विद्या का

आधिदैवत पक्ष से, देव-देवता से संबंध है, ऐसा स्पष्ट कहने वाला वचन ही ब्रहदारण्य में है उसे देखते हैं।

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति।
सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैत जय्यो न्यायेन कर्मणा
कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानां
श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति।।१६।।

अर्थ - ''मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक ऐसे तीन लोक है। पुत्र से मनुष्य लोक जीतना, कर्म से पितृलोक जीतना तथा विद्या से देवलोक जीतना आता है। इन तीनों लोकों में देवलोक श्रेष्ठ होने के कारण विद्या की सर्वत्र प्रशंसा होती है।'' अर्थात्, यहां मनुष्यलोक तथा पितृलोक की व्याप्ति अविद्या में है तथा कर्म ही अविद्या है ऐसा उल्लेख अनेक स्थान पर आया है। यहां विद्या से देव लोक की प्राप्ति होती है। जीतने आता है ऐसा कहने के कारण यहां विद्या का अर्थ आधिदैविक विद्या है। विद्या की व्याप्ति आधिदैवत तक ही की है। अब हम विद्या का आध्यात्म पर किया हुआ वचन देखेंगे तब विद्या की व्याप्ति आध्यात्म पर की है यह हमारे ध्यान में आयेगा तथा विद्या में आध्यात्म तथा आधिदैवत इन दोनों को समाविष्ठ किया है यह हमें स्पष्ट समझ में आएगा।

मृत्यप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविर्धिंच कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव।।१७।।

अर्थ - ''इस प्रकार उपदेश सुनकर, नचिकेता ने, यमराज ने बतायी विद्या संपूर्ण योग विधी द्वारा प्राप्त की और वह नचिकेता धर्माधर्म रहित, विकार रहित शुद्ध होकर मृत्यु रहित हुआ तथा ब्रह्म रूप हुआ। जो कोई इस प्रकार आध्यात्म विद्या प्राप्त करता है वह भी नचिकेता समान ब्रह्मरूप होता है।'' यह वचन कठोपनिषद् का समापन करने वाला है, उसमें विद्या से ब्रह्मानुभूति प्राप्त होती है। ब्रह्मरूप होते बनता है ऐसा स्पष्ट कहा है।

इस वचन में प्रथम विद्या जो बतायी है उसे ही आगे आध्यात्म कहा है। अतः विद्या वास्तव में दो है वह अविद्या तथा विद्या इस नाम से बहुधा सभी जगह पहचानी जाती है। अविद्या से ऐहिक अथवा आधिभौतिक, तो विद्या से आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अपेक्षित है। अन्यत्र कुछ विशिष्ट स्थान पर ऋक्, यजु, साम ऐसे तीन विद्याओं का उल्लेख मिलता है। परंतु यह सब ठीक से समझा कर न लेते इस विषय का यथार्थ ज्ञान उपनिषद् द्वारा तथा वेद द्वारा प्राप्त न कर मनुष्य अनजाने विपरीत भाव 'विद्या तथा

अविद्या' के बारे में रखता है। नचिकेता के उदाहरण से योग्य बोध न लेते हुए नचिकेता जैसे बालक ने भी अविद्या न मांग कर विद्या मांगी अतः अविद्या त्याज्य है उसे छोड़ना ही चाहिए। आदि बातें करने लगा जिस कारण उससे अविद्या तथा विद्या की सह उपासना कभी नहीं होती और उसे योग्य फल भी प्राप्त होता नहीं।

वेदान्तियों को ब्रह्म ही मात्र पूर्ण सत्य प्रमाणित करना था इसलिए उन्हें विद्या से आधिदैविक पक्ष अर्थात् ईश्वर तथा देवता संबंध का ज्ञान अलग निकालना पड़ा, वैसे ही उन्हें ईश्वर सर्वज्ञ तथा जीव अल्पज्ञ होने के कारण दोनों को अलग रखना पड़ा तथा दोनों को अविद्या में डालने नहीं आया। अतः माया ईश्वर की तथा अविद्या जीव की ऐसा फर्क करना उन्हें आवश्यक लगा। परंतु विद्या तथा अविद्या का उपर्युक्त सही ज्ञान जिसे उपनिषदों द्वारा जिसे प्राप्त होगा उसके यह समझ में आ जाएगा कि माया ईश्वर की तथा अविद्या जीव की ऐसा दोनों में बिल्कुल फर्क न होकर उल्टे अविद्या अति आधिभौतिक विश्व रूप का ज्ञान होने के कारण पिछले माया प्रकरण में हमने देखा कि विश्व से विश्व प्रकृति वेदमाया उत्पन्न होती है यह सिद्ध है। अतः अविद्या से माया होने के कारण माया ईश्वर की तथा अविद्या जीव की इस अद्वैति कथन को वेदों में कहीं भी स्थान नहीं हैं। माया अविद्या में होने के कारण अविद्या केवल जीव की न होकर ईश्वर की भी है ऐसा सिद्ध होता है तथा श्रुति वचन भी उसका समर्थन करता है। देखिए -

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ।।१८।।

अर्थ - ''क्षर यह विद्या तथा अमृत भी विद्या, दोनों अक्षर है तथा असीम ऐसे परब्रह्म से श्रेष्ठ अनंत गूढ़ ऐसे परमात्मा में निहित रहते है। वह इन दोनों का नियमन तथा शासन करता है तथा वह इन दोनों से सर्वथा विलक्षण है।'' यह वचन पहले इसी पूर्णवाद ग्रंथ के ३२ वें पृष्ठ पर आया है।

विद्या तथा अविद्या में जो अनंत ब्रह्म रहता है वह ब्रह्म अर्थात् पूर्णपुरुष ही है। वही इस विद्या तथा अविद्या का दर्शन करता है। इसी का अर्थ अविद्या का नियंतृत्व जीव के पास नहीं है। परंतु अद्वैति कहते है वैसी अविद्या यदि जीवोद्भव अथवा जीव की होती तो उसका नियंत्रण जीव के पास ही आना चाहिए था। वह यदि नहीं आता तो अविद्या का नाश करना, विद्या प्राप्त कर मोक्ष को जाना यह मनुष्य का काम ही नहीं बनता, मोक्ष पुरुषार्थ नहीं बन सकता। यहां तो अविद्या का तथा विद्या का नियमन इन दोनों से अलग ऐसा ईश्वर ही करता है ऐसा कहा गया है। इससे अविद्या भी ईश्वर की ही है तथा मोक्ष पुरुषार्थ साधने के लिए उसका नाश करना अथवा होना आवश्यक नहीं

है। तथा विद्या से अविद्या का नाश होता नहीं यह भी हमने। इससे यह सिद्ध होता है कि अविद्या यह ईश्वर की ही है।

परंतु वैदिकेत्तर वाङ्मय में विद्या के अभाव में विद्या न होने से जो दोष मनुष्य में उत्पन्न होता है उसे अविद्या कहा है। वैसे गृहित करने पर अविद्या यह जीव की है, ईश्वर की नहीं ऐसा कहना पड़ता है। उसी अर्थ से वहां ऐसा कहा जाता है। लेकिन वह वेद प्रतिपादित अविद्या नहीं है यह अध्येता ध्यान में रखे।

अविद्या जैसे ही प्रत्येक शब्द की परिभाषा वेद विपरीत कर मात्र शब्द को प्रमाण मानकर हम श्रुति जैसे व्यवहार करते हैं यह बताना निंदनीय है। अध्ययन से वैदिक तथा अन्य आध्यात्म वाङ्मय में महदंतर है यह समझ में आता है, और फिर यदि हम अपने आप को वैदिक भी कहलाते तो भी हम पर हुए संस्कार कैसे वेद विपरीत है यह देख कर बड़ा आश्चर्य होता है तथा ''कालाय तस्मै नमः'' ऐसा कहना पड़ता है। विद्या इस विषय में वेदों ने दो विषयों को लिया है। आधिभौतिक अविद्या तथा आधिदैविक, आध्यात्मिक विद्या यही वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

पूर्णपुरुष परमेश्वर का आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक अर्थात् विश्व, विष्णु, शिव ऐसा स्वरूप होने के कारण उसके स्वरूप का ज्ञान होने के लिए अविद्या तथा विद्या तो कभी कभी तीनों विद्या का भी निर्देश किया हुआ मिलता है। परंतु अविद्या सहज होने से तथा छोड़ने पर भी न छूटने वाली होने के कारण उसका अधिक उल्लेख वेदों में मिलता नहीं। परंतु जो कष्ट से, तप से प्राप्त करने जैसी है तथा जो ईश्वरी कृपा के बिना प्राप्त होना कठिन है, वह उतनी दुर्बोध न रहे इसलिए विद्या का ही वर्णन वेदों में प्रमुखता से किया है। उसमें भी वेदों का बहुत बड़ा भाग मंत्रमय अर्थात् आधिदैविक रूपों का है तथा आत्म्विद्या का भाग बहुत थोड़ा है। परंतु महत्त्व की दृष्टि से वेदों को तीनों विद्या का समान महत्त्व है। उसमें तरतम भाव नहीं है।

जीवन को कर्म, उपासना, ज्ञान सभी की आवश्यकता है तथा एक के बिना दूसरा फीका है। यद्यपि यह सही है तो भी सामान्य लोगों के जीवन में कर्म का ही योगदान अधिक होता है तथा आध्यात्म और सिद्धान्तवादी ज्ञान का भाग उस अनुपात में कम अर्थात् प्रेष देने तक ही है। ''ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'' यह सिद्धान्त यदि आपने उन्हें बताया तो उसमें से वह कर्म को मिलने वाला प्रेष लेंगे। और ''पूर्णत्त्व यही शुद्ध सत्य परमेश्वर'' यह सिद्धान्त उन्हें समझाया तो वह पूर्णत्त्व का प्रेष लेंगे, अतः सिद्धान्तवादी आध्यात्मवाद का भाग वेदों में भी कम ही है, और वह भी विद्वानों को, किस परिस्थिती में कौन सा सिद्धान्त कर्म प्रेष को विशेषतः योग्य प्रकार के कर्म प्रेष को उपयोगी होगा

यह संशोधन का ही विषय है। वास्तविक सिद्धान्त यदि एक है तो भी वह पूर्ण होने के कारण उसमें अनेक उपसिद्धान्त है। ब्रह्मानुभूति लेकर ब्रह्म में विलीन होना यह साध्य अथवा ईश्वर दर्शन लेकर समर्पण भाव से ईश्वर में समाहित होना यह जीवन का साध्य कहकर आपने लोगों के सामने रखने पर उनके कर्म उस दिशा में ही होते रहते हैं यह निश्चित। परंतु यह दोनों मार्ग पूर्ण न होकर इन दोनों में से किसी से भी आधिभौतिक उन्नति संभव नहीं होती और इसलिए संत तुकाराम ने भी ''तू देवी मी भक्त ऐसे करी'' ऐसी प्रार्थना कर आधिभौतिक कर्म का प्रेष स्वतंत्र बताया है।

मात्र ब्रह्म विद्या से शापादपि-शरादपि यह सामर्थ्य प्राप्त करना संभव नहीं। कारण शाप का सामर्थ्य आधिदैविक का है तो शर का सामर्थ्य आधिभौतिक अर्थात् अविद्या का है। शान्ति तथा आत्मबल यह सामर्थ्य मात्र आध्यात्म का है तथा आत्मबल विरहित अन्य सामर्थ्य व्यर्थ है यह भी उतना ही सत्य है। अतः जीवन यशस्वी जीने के लिए इन तीनों विद्याओं की अर्थात् पूर्णज्ञान की तथा विद्या की आवश्यकता है। अब हम विद्या का आध्यात्म पर तथा आधिदैवत पर एक साथ उल्लेखित वचनों को देखेंगे।

पतिबोधविदितं मतममृतत्त्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।।१९।।

अर्थ - ''आचार्यों से जिन मतों का प्रतिबोध हुआ है उसके वास्तविक ज्ञान से ही अमृतत्त्व अथवा अमरत्व अथवा नित्यत्त्व समझता है। आत्मा को जानकर वीर्यलाभ है और विद्या से अमरत्व का लाभ होता है।'' अमृतत्त्व अर्थात् तीन विद्या-एक अविद्या, दूसरी आत्मविद्या तथा तीसरी वेदविद्या। वचन में आत्मविद्या है, तो ''विद्यया विन्दते अमृतं'' अमृतत्त्व ईश्वर स्वरूप की पहचान कराने वाली वह तीसरी देवविद्या अर्थात् विद्या से अमृतरूप परब्रह्म पूर्णपुरूष का ज्ञान होता है। इस पर हमने किये हुए अर्थ से अलग भाष्य होने के कारण इस अर्थ के संबंध में संदेह नहीं होना चाहिए इसलिए अगले वचन पर विचार करेंगे।

अथोत्तरण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया
विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्ते।।२०।।

अर्थ - ''वैसे ही तप तथा ब्रह्मचर्य से तटस्थ रहकर श्रद्धा तथा विद्या से आत्मा का शोध कर वहां उत्तरायण से सूर्य का ध्यान कर साधक सूर्यलोक को जीतते है अर्थात् सूर्यलोक प्राप्त करते है।'' यहां विद्या से अर्थात् सूर्यमंत्र की विद्या से ऐसा अर्थ होने के कारण विद्या शब्द का अर्थ मंत्र है तथा संपूर्ण वर्णन आधिदैविक उपासना का है। इस वचन के उत्तरार्ध में ''एतद् अमृतप्रभयं'' ऐसा भी उल्लेख है। अतः अमृत इस पद से वेद

आधिदैवतों का भी उच्चार करते है यह सिद्ध है। अतः हमने पिछले वचन का किया हुआ आधिदैवत पर अर्थ कैसा समर्थनीय है यह पाठकों के ध्यान में आएगा। सारांश, श्रुति में आने वाला विद्या शब्द आध्यात्मिकों का आधिदैवतों का ऐसा दोनों का वाचक है। अतः उसका एकांगी अर्थ लेना सर्वथा अनुचित है।

प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद मुनि ने छह ऋषियों को उपदेश किया। वह समाप्त होने पर उन छहों ऋषियों ने पिप्पलाद ऋषि का स्तवन तथा पूजन किया उस समय प्रश्नोपनिषद् के वचन में वह कहते हैं-

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ।।२१।।

अर्थ - उन छहों ऋषियों ने पिप्पलाद मुनि की पूजा की और कहा, "जिस अर्थ में आपने हमें इस विद्या के दूसरे किनारे पर अर्थात् अविद्या के पार इस किनारे पर लाये हो तब आप ही हमारे पिताश्री है। ऐसे परमश्रेष्ठ आप ऋषि को नमस्कार हो।"

यहां इस संसार नदी अथवा समुद्र के दो किनारों एक अविद्या तथा दूसरी विद्या है। ऋषि ने यह संसार नदी पार करा कर उन्हें सहज प्राप्त अविद्या तीर से विद्या के दूसरे किनारे पर लाना स्पष्ट किया है। नदी को जैसे स्वाभाविक दो किनारे रहते हैं उसी प्रकार जीवन को अविद्या तथा विद्या की स्वाभाविक आवश्यकता है। दृश्य अविद्या तथा अदृष्य अव्यक्त और पैलतीर- दूसरे किनारे पर होने के कारण न दिखने वाली विद्या इन के बीच जीवनप्रवाह (नदी) है। अविद्या के सहज प्राप्त तीर से निकलकर यह जीवन नदी पार कर विद्या के किनारे पर जो पहुंचा वहीं पार पाया। उसी का जीवन कृतार्थ हुआ ऐसा भाव इस वचन में है। संसार को ही अविद्या कहने पर उसका एक तीर विद्या तो दूसरा अविद्या यह सहज ही है।

यह वचन लेने का कारण इस वचन में, हमारे अविद्या का नाश कर आपने हमें ज्ञान प्राप्ति, विद्या प्राप्त करा दी ऐसा कहा नहीं अथवा आप हमें विद्या के उपसार दूसरे किनारे पर ले जा रहे हैं ऐसा भी नहीं कहा। अविद्या का दूसरा किनारा विद्या का है। मात्र प्रपंच ज्ञान से ईश्वर स्वरूप का ज्ञान कालत्रयी होना असंभव है। अतः वह ज्ञान पिप्पलाद ऋषि ने करा देने से शिष्यों ने अविद्या का दूसरा किनारा अर्थात् विद्या ऐसा कहा है। अतः विद्या से अविद्या का बोध नहीं होता।

मुंडक उपनिषद् के एक वचन में ऋषि कहते हैं -

तस्मै स विद्वान्नुपसन्नाय सम्यक्प्रशांतचित्ताय शमान्विताय।
योनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ।।२२।।

अर्थ - उस विद्वान ज्ञानी महात्मा ने विनम्रता से करीब आने वाले पूर्णतया शांत तथा गंभीर अंतःकरण वाले यमदम साधन युक्त शिष्यों को उस ब्रह्मविद्या का दार्शनिक भलीभांति ऐसा उपदेश करना कि जिससे अविनाशी नित्य ऐसे परमपुरुष का अर्थात् पूर्णपुरुष का, सत्य का उन्हें ज्ञान हो।

यहां अविद्या का कहीं भी उल्लेख नहीं, वैसे ही विद्या अर्थात् ब्रह्म विद्या पूर्णपुरुष का स्पष्ट बोध करने वाली होने से पूर्णपुरुष के दर्शन को ही यहां ब्रह्म विद्या कहा है। ब्रह्म विद्या अर्थात् पूर्णपुरुष के दर्शन को ही विद्या ऐसे स्पष्ट होते हुए ब्रह्म शब्द से वेद, पूर्णपुरुष पठन करते समय 'अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा' यह व्यास सूत्र में बताया हुआ ब्रह्म जिज्ञासा का अर्थ 'पूर्णपुरुष की जिज्ञासा' ऐसा न करते हुए मर्यादित कर साक्षी पर ब्रह्म की जिज्ञासा, पूर्णपुरुष के एक शिव रूप की जिज्ञासा करने का क्या प्रयोजन था?

''जन्माध्यस्य यतः'' इत्यादि सूत्रों का अर्थ पूर्णपुरुष पर लग सकता है तथा वैसे ब्रह्मशब्द का अर्थ करने पर -

स ब्रह्मविद्याम सर्वविद्या प्रतिष्ठा मथृवाय जेष्ठ पुत्राय प्राह्व ।।२३।।

अर्थ - उसने आपने सबसे जेष्ठ पुत्र को अर्थात् सबसे बड़े लड़के अथर्व को संपूर्ण विद्या जिससे प्रतिष्ठित है ऐसी ब्रह्म विद्या बतायी - इस मुंडकोपनिषद् के वचन का व्यवस्थित अर्थ लगता है। अन्यथा तुरीय परब्रह्म विद्या यह सभी विद्याओं का आश्रय स्थान कैसे बनेगी? साक्षी परब्रह्म के सिवाय अन्य सभी बातों का बोध होने पर फिर अन्य विद्या कैसे रह सकती है और इसलिए पूर्णपुरुष के रूप की पहचान कराने वाली वह ब्रह्मविद्या ऐसा अर्थ करना आवश्यक बनता है और वैसा वह करने से विद्या, अविद्या अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक में आने वाली सभी विद्या ब्रह्म तथा पूर्णपुरुष में प्रतिष्ठित रहती है। ऐसा कह सकते हैं और बाद में ही ब्रह्म जानने पर सर्व ज्ञान हुआ ऐसे होगा। मात्र पर ब्रह्म की अनुभूति से केवल साक्षी ब्रह्म के सिवाय कुछ भी जानना संभव नहीं है।

दूसरे प्रकरण में 'पूर्णपुरुष' में हमने ज्ञान से अर्थात् तर्क से पूर्णपुरुष का स्वरूप जान लिया। उसके बाद तीसरे में 'माया' प्रकरण में 'ब्रह्म सत्यं जगन्नमिथ्या' यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है, जगत् माया का कार्य न होकर जगत् से जो प्रकृति 'जगत् प्रकृति' स्वाभाविक रीति से निर्माण होती है वह वेदमाया है यह हमने देखा। अतः ईश्वर मायोद्भव न होकर ईश्वर ने जगत् का स्वरूप लेने से जगत् से माया वेद माया हुई यह हमने देखा। ईश्वर जैसे मायोद्भव नहीं है वैसे ही ईश्वर की माया रहती है। वैसे ही जीव भी अविद्योभव न होकर जीव के पास अविद्या रहती है। परंतु जीव में अविद्या रहती है वैसे ही विद्या प्राप्त

करने की शक्ति रहती है। जीव, जैसे वेदान्ति कहते हैं वैसे यदि अविद्या से निर्माण हुआ होता तो उसके पास विद्या ग्रहण करने की शक्ति रहती ही नहीं होती। अतः जीव के पास विद्या तथा अविद्या दोनों रहती है ऐसा कहना अधिक उचित है, और ऐसा होने पर जीव के पास जो आविद्या है उससे विद्या का नाश नहीं होता। यह जैसे जीव का है वैसे ही ईश्वर ने जगत् का स्वांग लेने पर अर्थात् जगत् उसका है इसलिए ईश्वर के पास विद्या-अविद्या तथा त्रयी विद्या प्रतिष्ठित रहते हैं यह भी हमने देखा। ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण उसके पास सभी विद्याएं प्रतिष्ठित रहती ही है यह सिद्ध है। एकमात्र परब्रह्मानुभूति के बाबत वैसे कहने नहीं आता पूर्णसत्य यह पूर्णतया शुद्ध अथवा पूर्णतया अशुद्ध ऐसा नहीं हो सकता। वेदान्तियों को परब्रह्म का स्वरूप शुद्ध रखने के लिए तथा वह पूर्ण है यह दिखाने के लिए नबल ब्रह्म तथा शबल ब्रह्म ऐसा जुगाड़ करना पड़ता है तथा शबल ब्रह्म में माया के कारण ब्रह्म का झूठा भ्रम होता है ऐसा कहना पड़ता है। अतः उनके परब्रह्म में कोई भी अशुद्ध न होने के कारण वहां अविद्या को कोई स्थान नहीं है। उसका नाश ही करना अथवा होना आवश्यक बन जाता है। इस विचार प्रणाली के कारण विद्या से यदि परब्रह्म प्राप्ति, साक्षी ब्रह्म की होती है ऐसा यदि कहना है तो विद्या से अविद्या का नाश होता है ऐसा कहना ही पड़ता है। परंतु पीछे जैसा बताया है कि शंकराचार्य ने भी विद्या का, परब्रह्म का ज्ञान होने पर चार मठ स्थापन करने का कार्य अथवा देव-देवताओं के मधूर स्तोत्र रचाने का जो कार्य किया वह आधिभौतिक तथा आधिदैविक विद्या की सहायता से ही होने के कारण विद्या से अविद्या नष्ट नहीं होती यह सिद्ध होता है।

पूर्ण सत्य में कुछ अशुद्ध कुछ शुद्ध हो सकता है और इसलिए पूर्णपुरुष की अनुभूति के लिए विद्या तथा अविद्या की सहउपासना वेदों ने बताई है और यही सही मार्ग है। इससे विद्या से अविद्या का नाश हुआ ऐसी झूठी आत्मवंचना जो वेदान्तियों में रहती है वैसे नहीं होती। ब्रह्म शब्द का अर्थ पूर्णपुरुष ऐसा वेदों को मान्य होने के कारण वह मात्र परब्रह्म पर होने से ब्रह्म तथा परब्रह्म एक होकर ब्रह्म संबंध के वेद तथा उपनिषद् वचन परब्रह्म को लगायी गयी और जहां वह व्यवस्थित नहीं लग रही थी वहां जोड़-तोड़ कर लगायी गयी। उसी से परब्रह्म स्वरूप यह 'पूर्ण का' अर्थात् 'ब्रह्म का' एक रूप होने के कारण यह भूल बहुधा किसी के ध्यान में नहीं आयी। उसमें भी वह बहुत समय (अनेक शताब्दियों तक) होते रहने से इसका दोष मूल परब्रह्म का सिद्धान्त प्रतिपादन करने वाले पर नहीं जाता।

इसके अतिरिक्त ध्यान तथा ज्ञान से अपरोक्षानुभूति का, पूर्ण के एक रूप के परब्रह्म के प्रत्यक्ष अनुभूति का मार्ग अद्वैतियों ने लोकप्रिय करने के कारण ब्रह्म की

अर्थात् पूर्णपुरुष के संपूर्ण रूप की अनुभूति का मार्ग पिछड़ गया तथा ब्रह्म की पूर्णपुरुष की अनुभूति ही परब्रह्म की अनुभूति ऐसी गलत धारण लोकमानस में रूढ़ हुई। लेकिन इस प्रक्रिया में ईश्वरानुभूति, ईश्वर का आधिदैविक रूप छूटने से वैष्णवाचार्यों को क्रोध हुआ तथा उन्होंने अद्वैतियों पर उनके दर्शन पर हल्ला बोल दिया लेकिन उन्होंने भी जगत् तथा ईश्वर का कार्य कारण संबंध मानने की गलती करने के कारण तथा आधिदैविक को ही पूर्णसत्य मानने के कारण पूर्णपुरुष की संपूर्ण अनुभूति का वेदप्रणित मार्ग का प्रचार नहीं किया।

'पूर्णपुरुष' प्रकरण में ॐकार के पाद का ध्यान करने से परब्रह्म की कैसे अनुभूति आती है यह विषय हमने ज्ञान से जाना। वहां जागृति से स्वप्न में, स्वप्न से सुषुप्ति में, सुषुप्ति से तूर्या में कैसे जाने आता है यह हमने शब्द से जान लिया। परंतु ऐसे उल्टे न जाते जागृति से तूर्या में सहजावस्था से जाते बना तो पूर्ण का मनस्वरूप, परब्रह्म स्वरूप आत्मदर्शन ही मात्र न होकर पूर्णपुरुष के संपूर्ण रूप की अर्थात् वेदप्रणित प्राप्त ब्रह्म की अनुभूति आ सकती है। यह पूर्णवाद के अध्येता को ध्यान में रखना जरुरी है। परब्रह्म जगत्-ईश्वर की एकसाथ अनुभूति आती है और यह वर्तुलाकार होने के कारण उल्टे भाग जैसे (Anti Clockwise) न जाते हुए सुल्टे भाग से (Clockwise) जाना आसान है, और उससे गंतव्य तक पहुंचा जा सकता है। परंतु सुल्टे भाग से जाने पर पूर्ण के सभी पहलू से दर्शन होता है। तो उल्टे बाजू से अर्थात् नींद से तूर्या में जाने पर पूर्ण का एक ही पक्ष पहलू परब्रह्म की अनुभूति आती है। यह बात साधक ध्यान में रखें।

सुल्टे (पुल्टे) बाजू से जाते समय मनुष्य जागृति से पूर्णावस्था में जाता है। अतः उसे ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों मार्ग से जाने आता है, तो सुषुप्ति से तूर्या में जाते समय कर्म छोड़ना पड़ता है। उदाहरण-जागृतावस्था में शेर अथवा सांप को देखकर भयभीत होना और स्वप्न में सांप अथवा शेर को देखकर डरना, दोनों की अनुभूति यद्यपि एक ही है तो भी स्वप्न में तथा निद्रा में अकर्म कर्म स्थिति में होता है, तो जागृति में मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतंत्र रहता है। जागृति में अथवा स्वप्न में दिखने वाला सांप तथा शेर भले ही वह थोड़ी देर के लिए क्यों न दिखता हो तो भी जागृति में वह असली रहता है तथा स्वप्न अथवा निद्रा में वह भासमान ही रहता है और वह भासमान है यह समझना ही हितकारी होता है। जागृतावस्था में हम कर्म की सहायता से वह भय निकाल सकते। ज्ञान के लिए भी कर्म लगता ही है तथा उपासना को भी कर्म लगता ही है। अतः जागृति से पूर्णावस्था में जाते समय कुछ छोड़ना नहीं पड़ता। सिवाय पूर्ण की अनुभूति कर्म करते ही आती है ऐसा इतिहास है। अर्जुन को विश्व रूप दर्शन युद्ध जैसे घोर कर्म के कारण ही हुआ। वहां भी भगवान श्रीकृष्ण ने मैं तुम्हें जो विश्व रूप बता रहा हूँ वह महेश को

भी दिखना कठिन है ऐसा कहा। कारण ऐसा रूप समाधि में एक जगह बैठ कर प्राप्त होना ही कठिन है तथा असंभव है। यशोदा को भी बालकृष्ण के मुख में जो विश्व रूप दर्शन हुआ वह भी कर्म में ही लगे रहने पर उसने कहा तुमने क्या खाया मुँह खोल कर बताओ कहने पर ही पूर्ण की अनुभूति जीवन में कर्म से ही आती है तथा उसके लिए मठ, ध्यान कक्ष आदि बनाने की आवश्यकता नहीं। उसके लिए अलग से घर बनाने की आवश्यकता ही नहीं और घर में ही गृहस्थी संसार के सारे उत्तरदायित्व निभाते हुए कर्मरत रहना चाहिए। वही ईश्वर कृपा, ईश्वर अनुभूति आ सकती है, और उसके अन्य रूप भी अनुभूति में आने लगे तो एक दिन पूर्णानुभूति भी प्राप्त होगी। इसके लिए विद्या तथा अविद्या समझ कर उसका साधन के रूप को प्रयोग करना है। इस दृष्टि से उसका अध्ययन होना जरुरी है। अविद्या तथा विद्या का साधन समझ कर उपयोग करने का अर्थ है जीवन अट्टहास से जीते हुए, आधिभौतिक जीवन के सर्वांग की अनुभूति लेते हुए पूर्णपुरुष के स्वरूप संबंधी तथा हमने तर्क से प्राप्त किये हुए ज्ञान के बारे में जो शंकाए मन में निर्माण होते रहेंगें, उसको विद्या द्वारा सुलझा कर उस शंका के निर्मूल करना होता। इस रीति से सभी शंकाओं से मुक्त होकर अपने आप पूर्णपुरुष में श्रद्धा उत्पन्न होकर उसकी अनुभूति सहज आएगी। रास्ता खत्म होते ही जैसे मंजिल - गंतव्य प्राप्त होता है वैसे ही मन की सभी शंकाये दूर होने पर पूर्णपुरुष की अनुभूति होती है। उस अनुभूति से विद्या अविद्या यह फर्क भी नष्ट होता है। संसार ही परमार्थ लगने लगता है, इतना ही नहीं तो प्रत्यक्ष होता भी है और वेद ऐसे ही मनुष्य को ब्रह्म ज्ञान हुआ है ऐसा मानते हैं। क्योंकि वेद पूर्णपुरुष के ज्ञान को ही ब्रह्म ज्ञान समझते हैं।

मुंडक उपनिषद् के एक वचन में श्रुति कहती है,

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।।२४।।

अर्थ - "तप, कर्म, परम अमृत रूप ब्रह्म, विश्व सब कुछ यही एक परम पुरुष पुरुषोत्म पूर्णपुरुष है। इस हृदय की गुफा में रहने वाले अन्तर्यामी परमपुरुष को जो जानता है वह इसी लोक में अविद्या ग्रंथि नष्ट कर देता है।"

यही वचन ग्रंथ में अन्य जगह भी दिया है। यहां ब्रह्म अर्थात् पूर्णपुरुष ऐसा स्पष्ट कहा गया है। जैसे पीछे कहा गया है, विद्या के अभाव में अविद्या में अर्थात् साक्षेपी संसार (गृहस्थ) करते समय जिस ग्रंथि, शंका, दोष निर्माण होते है - उदाहरण-अहंमन्यता, अहंकर्तव्य भाव, दूसरे को कम आंकना, ईश्वर नहीं है कहना, आदि - उसे वह विद्या में सुलझाता है। सच्चिदानंद होना अर्थात् विद्या ऐसा यदि माना भी जाये

तो श्रद्धा, भाव, प्रेम आदि बातों की संसार में आवश्यकता है। परंतु मात्र नास्तिकता आदि दुष्ट भाव को ही अविद्या कहा जाता है। अद्वैति मत जैसे स्वरूप हुए बिना सभी अविद्या है। लेकिन वैसे मनश्रुति का निश्चित ही मन श्रुति नहीं है। वैसे ही श्रुति ब्रह्म विद्या का अर्थ परब्रह्म कहीं भी नहीं करती।

कुछ जगह विद्यानुरूप शब्द यदि आया भी होगा तो भी परब्रह्म जो पूर्णपुरुष का ही है, ब्रह्म का ही एकरूप होने के कारण आया है।

मुंडक उपनिषद् में तो पूर्णपुरुष विद्या को ही ब्रह्म विद्या कहा है तथा ऐसी परंपरा है यह भी बताया है।

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचङ्रिरे ब्रह्मविद्याम।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोङ्गिरसे परावराम।।२५।।

अर्थ - ''ब्रह्मदेव सबसे पहला, उसने अपने जेष्ठ पुत्र अथर्व को जो बतायी वह ब्रह्मविद्या अथर्व ने अंगी ऋषि को बतायी। आगे चलकर उस अंगी ऋषि ने सत्यावह नाम के भारद्वाज को वह बतायी, अर्थात् भारद्वाजगोत्रोत्पन्न सत्य वह नाम के भारद्वाज को वह बतायी। भारद्वाज ने इस प्रकार परंपरा से प्राप्त ब्रह्म विद्या अंगीरा ऋषि को बतायी।''

यह सब जो ठीक से समझ पायेगा उसे पूर्णवाद यह मात्र स्वकपोल कल्पित अर्थात् मात्र कल्पना से उपजा कोई सिद्धान्त न होकर संपूर्ण वैदिक दर्शन ही कैसे पूर्णवादी है यह वह तत्काल समझ पायेगा। एक मुंडक उपनिषद् ही पूर्णवाद का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है, क्योंकि वह पूर्णवाद पोष कहीं है ऐसा न होकर कोई भी उपनिषद् पूर्णवाद प्रतिपादक ही हैं। मात्र संन्यास आश्रम का चिकित्सक जाबालोपनिषद् भी पूर्णवाद पोषक ही है।

हमने अव्यक्त का अर्थ केवलाद्वैति जैसे अव्यक्त ब्रह्म, अव्यक्त माया ऐसा न करते, आत्मवाचक जो किया है वह बराबर है। यह बताने वाला का वचन इस प्रकार है-

अथ हैनमात्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य एषोऽनन्तोऽव्यक्त
आत्मा तं कथमहं विजानीयामिती।।
स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य
एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति ।।२६।।

अर्थ - ''ब्रह्मपुत्र अत्री ऋषि याज्ञवाल्क्य से कहने लगे, ''यह अव्यक्त आत्मा मैं कैसे जान सकुं?'' तब याज्ञवल्क्य ने कहा, अविमुक्त आत्मा अर्थात् जीव का उपास्य

जो अनंत अव्यक्त आत्मा है वह जीव में ही अर्थात् सर्वाधिक अविमुक्त आत्मा में प्रतिष्ठित हैं।''

यहां प्रश्न पूछने वाले अत्री ऋषि ने 'अव्यक्त आत्मा' ऐसा कहा है तथा उत्तर देने वाले भी अव्यक्त आत्मा ऐसा ही कहा है। उसका ज्ञान होने पर ही यह संभव है, इसलिए उसे अव्यक्त कहा है। यहां उस आत्मा को पहचानने को कहने वाली जो विद्या है वह परब्रह्मवाचक ब्रह्मविद्या है, ऐसा अद्वैति कबूल करते है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में भार्गवी तथा वारुणी विद्या के संबंध में यह वचन है,

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमेव्योमन्प्रतिष्ठिता।
सः य एवम् वेद प्रतितिष्ठति ।।२७।।

अर्थ - वही यह भृगु ने जानी हुई तथा वरुण ने उपदेशित की हुई भार्गवी वारुणी विद्या विशुद्ध आकाश स्वरूप पूर्णपुरुष परमात्मा में प्रतिष्ठित है। जो कोई इसे इस प्रकार जानता है वह उसमें अर्थात् आकाश स्वरूप परमानंद अथवा पूर्णपुरुष में प्रतिष्ठित, स्थिर होता है।

भृगु ने तपस्या कर अन्न ही ब्रह्म है यह जाना परंतु अन्न उत्पन्न होता है तब ब्रह्म कैसे, ऐसी शंका उपस्थित की। अतः उसने अपने पिता वरुण से पूछा, वरुण ने कहा यदि तुम ब्रह्म जानना ही चाहते हो तो और तपस्या करो। कारण तपस्या भी ब्रह्म ही है। अतः भृगु ने तपस्या की तथा 'प्राण' ही ब्रह्म है ऐसा जाना। परंतु मृत व्यक्ति के प्राण लीन होते है। ऐसे में प्राण ब्रह्म कैसे, ऐसी शंका व्यक्त की। इस प्रकार बार-बार तपस्या कर भृगु ने मन वै ब्रह्म, विज्ञान वै ब्रह्म तथा आनंद वै ब्रह्म यह जान लिया, परंतु आनंद वै ब्रह्म जानने पर उसे अर्थात् भृगु को फिर से शंका नहीं आयी। आनंद के पास उसकी सभी शंकायें दूर हुई। अतः आनंद ही ब्रह्म है यह उसे उपजा-समझा और उसे आनंद हुआ। भृगु ने तपस्या से प्राप्त की यह विद्या भार्गवी नाम से प्रचलित हुई। तो वरुण ने मार्गदर्शन किया अर्थात् उपदेशित किया अतः उस विद्या को वारुणी विद्या कहा जाता है। यह विद्या पूर्णपुरुष परमात्मा में प्रतिष्ठित है, इसका अर्थ वह उसकी पहचान करा देती है। जो कोई भृगु जैसे उसे जानता है वह उस पूर्णपुरुष में इसके द्वारा प्रतिष्ठित होता है। पूर्णपुरुष का स्वरूप जानकर उससे अपना अभेद है यह जानता है। यहां आनंद ही ब्रह्म समझना चाहिए, इतने तक ही यह विद्या मर्यादित की तो वह मात्र ब्रह्म विद्या न रहकर परब्रह्म विद्या प्रमाणित होती है।

यहां स्मरण रखने जैसी बात है कि भृगु ने तपस्या से जाना 'अन्न ब्रह्म' तब वह गलत है ऐसा वरुण ऋषि ने नहीं कहा। परंतु भृगु को ही शंका आयी कि यह ब्रह्म कैसे?

तब तुम तपस्या करो ऐसा वरुण ऋषि ने कहा। परंतु अन्न ब्रह्म गलत है ऐसा नहीं कहा। इसका ही अर्थ पूर्णपुरुष के एक एक अंग, रूप, भृगु को तप से ज्ञात हुए। लेकिन उसने यह भी जाना कि वह पूर्ण नहीं है। आनंद ब्रह्म तक पहुँचने के बाद उसके मन में शंका नहीं रही। इसका ही अर्थ उसने पूर्ण के सभी रूप पहचाने, अनुभव किये। अतः अपने को पूर्णज्ञान हुआ इसका बोध उसे हुआ और इस उपलब्धि पर उसे आनंद हुआ। आनंद ब्रह्म इस ज्ञान से पहला ज्ञान गलत सिद्ध हुआ ऐसा कहीं पर भी नहीं कहा गया। 'आंनद ब्रह्म' इस ज्ञान से पूर्व ज्ञान पर यदि पानी फेर दिया होता तो वह भी यहां स्पष्ट होता।

परंतु अद्वैति इस बात पर विचार न करते हुए 'आनंद ब्रह्म' इतना ही सत्य मानकर यही एक तथा इसी को परब्रह्म विद्या, ब्रह्म विद्या मानने लगे। यदि ऐसा होता तो 'अन्नवानन्नादो भवति' (अन्नवान आन्नादः) अतः अन्न ब्रह्म की उपासना करने वाला अन्न, पशु, प्रजा आदि से समृद्ध ऐसा बड़ा भाग्यशाली बनता है। ऐसी फलश्रुति इस विद्या की न बतायी होती तथा 'अन्नमुनिंविद्यात्' ऐसे पाठ न दिया होता। तो विद्या पूर्ण का स्वरूप दर्शाने वाली ब्रह्म विद्या है तथा मात्र परब्रह्म विद्या नहीं है यह सिद्ध है।

स याश्चयं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः ।।२८।।

अर्थ - ''वह परमात्मा जो इस पुरुष में अथवा मनुष्य में है वही सूर्य में भी है।'' अर्थात् वह पूर्णपुरुष मनुष्य तथा सूर्य का अन्तर्यामी है। सारांश. मनुष्य तथा सूर्य का पूर्णपुरुष से अभेद है। परंतु केवलाद्वैति मतानुसार इस वचन का अर्थ मनुष्य तथा सूर्य का आत्मा से अभेद है ऐसा कहना पड़ेगा।

पूर्णवाद का अद्वैतवाद से यदि कोई विशेष है तो वह यह मात्र है कि अद्वैतवादि केवल परब्रह्म को केवल पूर्ण सत्य गुण मानते है तथा पूर्णवाद आधिभौतिक तथा आधिदैविक का भी पूर्ण में सहभाग मानते है। केवलाद्वैति ऐसा न करने के कारण जगत् को मिथ्या मानते है। वह मिथ्या है कहना अर्थात् उसका नियंत्रण जिस आधिदैविक के पास तथा ईश्वर के पास है, उसको मिथ्यात्व आता है। तो फिर वेदों के मंत्रवाङ्मय का क्या करे?

पर्वतप्राय: वेदमंत्रों में मात्र संहितोपनिषद् मंत्रमय रहते तो उतना ही विद्या का प्रतिपाद्य विषय है ऐसा मानने पर बाकी सब वेद वाङ्मय अर्थहीन होकर पाश्चात्य पंडितो जैसे वेदों को मात्र खेतिहरो तथा गडरियों का ही वाङ्मय है ऐसा ही कहना क्या उचित होगा?

परब्रह्म को भी वेदों में पूर्ण ही कहा गया है। पूर्णवाद से किसी भी वेद वचन में अर्थवाद का स्वरूप अथवा हीन स्वरूप आता नहीं। उल्टे उसकी यथार्थता ही सिद्ध

होती है। केवलाद्वैत दर्शन से दर्शन तथा वेदों का कोई तालमेल नहीं बैठता। वैसे पूर्णवाद का दर्शन से नहीं होता। इससे भी वेदों को कौन सा पूर्ण सत्य अपेक्षित है यह अध्येताओं के सहज ही समझ में आ सकता है। माया, प्रकृति, विद्या, अविद्या का वैदिक अर्थ तथा केवलाद्वैति अर्थ हमने देखा है। अतः अद्वैति संस्कारों के कारण वेद विषयक हमारा ज्ञान कैसे विपरीत दिशा में चल रहा है यह आप समझ सकेंगे।

वैसे ही भार्गवी-वारुणी विद्या का सही महत्त्व पूर्णवाद से जैसे स्पष्ट होता है वह अद्वैत विचारों से नहीं होता। हम जिस समय तपस्या से, अध्ययन से एकाध ज्ञान प्राप्त करते है तो उसके विपरीत बात देखकर जब हमें शंका उत्पन्न होने लगती है तब वह ज्ञान गलत न होकर अपूर्ण होता है तथा तपस्या से, अध्ययन से पूर्ण होता है। यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पूर्णवाद से जैसे स्पष्ट होता है वैसे वह अद्वैत विचारों से नहीं होता। इसी सिद्धान्त से विज्ञान ने प्रगति की है तथा अध्यात्म भी प्रगति पथ पर है। आधिभौतिक के यच्चयावत ज्ञान से जब संसार में यश नहीं मिलता तब आधिभौतिक ज्ञान गलत नहीं रहता बल्कि अपूर्ण है ऐसा मनुष्य ने पहले से ही जाना और उसी से आधिदैविक तथा आध्यात्मिक का विकास हुआ यह बात स्मरण में रखने की है। वैसे ही विद्या तथा अविद्या, ब्रह्मविद्या का वेद प्रणित अर्थ तथा अद्वैति संस्कार से हुआ विपरीत अर्थ इनका फर्क ठीक से समझ कर वेद प्रणित विद्या तथा अविद्या की सहउपासना करनी चाहिए। तब कहीं जाकर पूर्ण की अनुभूति आएगी और यही इस प्रकरण का मूल उद्देश्य है।

तरति शोकं तरति पाप्मानं
गुहाग्रंथिभ्यो विमुक्तो अमृतो भवति ।।२९।।

अर्थ - ''वह शोक तथा पाप समुदाय को पार कर लेता है तथा हृदय ग्रंथि अर्थात् बुद्धि में उत्पन्न असंभावना तथा विपरीत भाव की ग्रंथियां सुलझने से परब्रह्म की अनुभूति प्राप्त होकर अमर होता है।'' ऐसा एक वचन मुंडकोपनिषद् में है वैसे ही,

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।३०।।

ऐसा ही दूसरा वचन मुंडकोपनिषद् में है उसका विचार करें।

इस दूसरे वचन का अर्थ, ''उस पूर्णपुरुष के परमात्मा के ज्ञान से या जीवात्मा की हृदय ग्रंथि अहंकर्तत्वादि ग्रंथियाँ टूटती है तथा सब संशय नष्ट होते है। तथा उसके सभी कर्म क्षीण होते हैं।'' यहां सब कर्म क्षीण होते है अर्थात् उसका अहं कर्तव्य भाव नष्ट होने से वह ईश्वरार्थी सिद्ध होने से उसके संबंध का अहं भाव तथा आग्रह नष्ट होता है।

उदाहरण-मै कमाता हूँ इस अहं भाव से इसका अधिक उपयोग मुझे ही मिलना चाहिए। यह अहं भावना, सभी को उसके भाग्य से मिलता है। ईश्वर देता है इस भाव से नष्ट होते है।

यहां ह्रदय की भावना तथा बुद्धि का संशय ऐसा अलग अलग कहा है। तो भाव अविद्या है या संशय अविद्या है? ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। यह दोनों अविद्या में आते है ऐसा कहने पर ''विद्या से अविद्या नष्ट नहीं होती।'' इस सिद्धान्त जैसे - फलां समय पर संशय रहना हित का अथवा फलां असद्भावना अच्छी। ऐसा श्रुति कहती की क्या? ऐसा लगने की संभावना है। परंतु वेद का ऐसा मत नहीं है। संशय तथा असंभावना रहना कभी भी अच्छा नहीं है, यह वेद ही क्या, सभी कहते है। यदि ऐसा है तथा भाव और बुद्धि का संशयादि कार्य यदि अविद्या है, तो ईशावास्य में बतायी अविद्या की उपासना कैसी करेंगे? ऐसी शंका आती है।

दूसरी शंका यह कि, आत्मस्वरूप के ज्ञान से, पूर्ण के ज्ञान से कर्म नष्ट नहीं होता कहने की बजाय वह क्षीण होता है ऐसा कहने के पीछे क्या कारण है? प्रारब्ध क्रिया क्रियमान आत्मा को नहीं। अतः 'उसका ज्ञान होने पर' (तस्मिन दृष्टे परावरे) का अर्थ ''तुरीय ब्रह्म उगम किया।'' तो उसका ज्ञान लेने वाला उसे देखने वाला वहीं होता है, और वैसे है तो उसे कर्म रहना ही संभव नहीं है। लेकिन ऐसा होने पर भी वह क्षीण होता है। लेकिन रहता है ऐसा श्रुति क्यों कहती है? स्वरूप ज्ञान ही विद्या है कहने पर सभी तरह के भाव तथा बुद्धि के संशय निश्चयादि कार्य अविद्या ही बनती है। कर्म भी अविद्या ही बनती।

इन दो शंकाओं में से पहली शंका का उत्तर यह है कि, असद्भाव तथा संशय यह नष्ट भी हुए और विद्या से पूर्ण को जानने पर नष्ट होते है तो भी सद्भाव तथा निश्चय यह ह्रदय तथा बुद्धि की बात शेष रहती है और वह भी अविद्या में ही आती है। अतः अविद्या की उपासना करनी है अर्थात् भाव तथा असद्भाव नष्ट कर सद्भाव रखना तथा संशयादि बुद्धि के दोष नष्ट कर निश्चयादि बुद्धि का कार्य चालू रखना ह्रदय के ग्रंथि तथा बुद्धि का संशय नष्ट करना अर्थात् भाव अथवा संशय निश्चयात्मक क्रिया ही नष्ट करना नहीं है। अतः पूर्ण को जानने पर असद् भाव तथा संशय नष्ट होते है तो भी सद्भाव तथा निश्चय रहते है। विद्या के अभाव में उत्पन्न होने वाले दोष नष्ट होते है। लेकिन अविद्या नष्ट नहीं होती।

दूसरी शंका का उत्तर ऐसा है कि, असद् भाव तथा संशय नष्ट हुए तो भी सद्भाव तथा निश्चय रहते ही है। तथा ह्रदय, बुद्धि का कार्य चालू रहता है। अतः कर्म चालू

रहता है, नष्ट नहीं होता। लेकिन वह शुद्ध स्वरूप का होने से बंधन कारक रहता नहीं। क्षीण रहता है। वशिष्ठादि ऋषि का त्रिकालदर्शी के रूप में जो वर्णन है वह बुद्धि का कर्म रुकने का तथा बुद्धि शून्यता का लक्षण नहीं है। तो बुद्धि प्रकर्ष का लक्षण है। अतः विद्या से अविद्या का नाश नहीं होता, तो सद्भाव तथा संशयादि अंग का नाश होता है। अतः विद्या से अविद्या का नाश नहीं होता, यह सिद्धान्त योग्य है तथा इस वचन से वह नकारा नहीं जाता। वैसा ही अविद्या के उपासना के संदर्भ में उसके किस अंग की उपासना करनी चाहिए, किसकी करूं किसकी न करूं ऐसा कोई नियम नहीं। अतः जग में व्यवहार करते समय फलां करना फलां नहीं करना ऐसा भी करते नहीं बनता। परंतु वह व्यवहार करते समय जिस असद्भाव तथा संशय हृदय शून्यता विद्या के अभाव में निर्माण होती है उसका नाश विद्या से कराना आवश्यक है तथा वह होता भी है यह सिद्धान्त है। अतः सभी हृदय ग्रंथी अथवा गुफा अर्थात् बुद्धि ग्रंथि अविद्या होती है ऐसा वेद कहते नहीं, तो विद्या के अभाव में अविद्या से निर्माण होने वाले जो दोष है उसे मुख्यतया इस वचन में हृदय ग्रंथि तथा गुफा ग्रंथि कहा है तथा वह अविद्या न होकर विद्या के अभाव से उत्पन्न ग्रंथि है और उनका नाश उस एक पूर्ण को जानने पर होता है। ऐसा ही इस वचन का अर्थ है। इस विद्या के अभाव में निर्माण होने वाली ग्रंथियां अविद्या तो है ही नहीं, परंतु अविद्या को भी हित में नहीं है तथा वह विद्या से नष्ट होने के कारण अविद्या को भी विद्या की जरुरी है ऐसा कहना पड़ता है। इसलिए प्रपंच में परमार्थ भी आवश्यक है, तथा विद्या-अविद्या की सहउपासना ही मनुष्य के लिए हितावह है।

अविद्या-विद्या, हृदय तथा गुफा ग्रंथि इसका सूक्ष्म भेद जानना बहुत जरुरी है। आधिभौतिक सब ज्ञान अविद्या तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तपस्या से प्राप्त होने वाला ज्ञान ही विद्या है। अविद्या तथा विद्या की सहउपासना से पूर्ण का स्वरूप प्रत्यक्ष जानने आता है, अनुभव किया जा सकता है, यह विषय हमने देखा। परंतु इस स्वरूप ज्ञान के आड़े आने वाली एक बात है वह हृदय ग्रंथि तथा गुफा ग्रंथि इसका अर्थ ही असंभावना तथा संशय। इस दृष्टि से यह गुफा ग्रंथि विषय विद्या तथा अविद्या के बीच का विषय है तथा सँड़विच जैसे विद्या तथा अविद्या को दूर रखता है। एक नहीं होने देता। हम यदि विद्या-अविद्या सहउपासना करें भी तो इस गुफा ग्रंथि के कारण वह एकरूप होती नहीं तथा पूर्ण का स्वरूप जानने नहीं आता।

जागृति में हमें विश्व की अनुभूति इंद्रियों द्वारा ही आती है। भाव भक्ति से ईश्वर की अनुभूति आना संभव है। अपरोक्षानुभूति से आत्म ज्ञान ब्रह्म ज्ञान अर्थात् परब्रह्म की अनुभूति ज्ञान से आती है। परंतु पूर्ण की अनुभूति विद्या तथा अविद्या के सह उपासना

से, कर्म, उपासना, ज्ञान इन तीनों एक साथ को एक साथ किये हुए साधना से आ सकती है। लेकिन यदि ऐसी विद्या तथा अविद्या की सहउपासना भी की तो भी उन दोनों को एक रूप होने न देने वाली तथा पूर्ण के स्वरूप को आड़े आने वाली ग्रंथि, हृदय ग्रंथि, गुफा ग्रंथि है।

यह हृदय ग्रंथि असंभावना विद्या के अभाव से आती है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

विद्या तथा तप से प्राप्त ज्ञान के बारे में बाद में अपना ही मन शंका उत्पन्न करते दिखता है। उदाहरण- हमने आधिदैविक तपस्या की तथा हमें दिव्य अनुभूति भी हुई, आनंद भी हुआ। परंतु आगे चलकर सहज हमें लगता है कि, हमें जो हुआ वह भास या भ्रम तो नहीं? एकाध ने हमें कोई हितकर सलाह दी, सभी प्रकार से समझाया, हमें तर्क से वह ठीक भी लगा, लेकिन घर आने पर जिसने समझाया उसका कोई स्वार्थ तो नहीं था? उसने अपने स्वार्थ के कारण तो नहीं पटाया न, ऐसा हमें लगता है, ऐसा हमें अपने आप लगता है? वैसे यह शंका विद्या के अभाव में हुई ऐसा भी कहने नहीं आता? तो यह अविद्या भी नहीं अथवा अविद्या के अभाव में निर्माण हुए ऐसा भी नहीं। अतः ऐसी शंकाएं गुफा ग्रंथि यह प्रत्येक को अपने तप द्वारा सुलझाने चाहिए? उसे सुलझाने के लिए उसे कर्म, उपासना, ज्ञान तीनों की जैसी आवश्यकता होती है, वैसे ही सबसे महत्त्वपूर्ण बात अथवा असंभावना अपने आप नष्ट करते है। हमें वह नष्ट करते बनना चाहिए, यह दृढ़ संकल्प मन में धारण करना चाहिए? जब तक मनुष्य स्वयं को समझदार होना है यह निश्चित नहीं करता तब तक उसे दूसरा कोई सयाना समझदार नहीं बना सकता। पढ़कर वही समझदार हो सकता है जो वास्तव में समझदार बनना चाहता है, वैसी उसकी इच्छा भी हो। जिसका वैसा संकल्प रहता है। इस सिद्धान्त जैसे जो असंभव को मिटाने का संकल्प करता है वही ज्ञान से, भक्ति से अथवा कर्म से असंभव को दूर कर सकता है। यह काम जिसका है उसी को करना पड़ता है। उसे चाहे तो हिम्मत अथवा मार्गदर्शन गुरु तथा ईश्वर दे सकता है। लेकिन असंभव को दूर करना उसी को है।

यहां ऐसा एक प्रश्न निर्माण होता है कि, एक बार ज्ञान होने पर तथा थोड़ी बहुत अनुभूति आने पर ऐसे असंभव निर्माण होते ही क्यों? एक बार ज्ञान होने पर शंका ही क्यों आये? उस पर उत्तर यह है कि, यह शंकायें आती है उसका कारण यह है कि प्राप्त ज्ञान पूर्ण नहीं होता। वह पूर्ण होने पर असंभाव आता ही नहीं। असंभाव आते हैं, संशय आते हैं, इसका अर्थ ही है कि ज्ञान पूर्ण हुआ ही नहीं। अतः वही दृढ़ संकल्प से उसे पूरा कर सकता है। एक बार वह पूर्णत्त्व को प्राप्त करें तो फिर असंभाव तथा शंका

आना ही बंद होता है और यही पूर्णावस्था अथवा सिद्धावस्था है। यही भार्गवी तथा वारुणी विद्या से सिद्ध होता है।

एक बार भी यदि विद्या-अविद्या की सहउपासना प्रक्रिया में असंभाव तथा शंका आना नष्ट हुए कि विद्या-अविद्या एकरूप होकर मनुष्य को पूर्ण की अर्थात् पूर्ण के स्वरूप की प्रत्यक्ष अनुभूति आकर वह पूर्णावस्था में स्थिर होता है और इसलिए 'तस्मिन दृष्टे परावरे' अर्थात् पूर्णपुरुष की अनुभूति से स्थिर मनुष्य की सभी गुफा ग्रंथि हृदय ग्रंथि नष्ट होती है ऐसा मुंडकोपनिषद् मत है। यहां पर विद्या तथा अविद्या एकरूप होते है। आधिभौतिक के उस पार के लोगों को आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विद्या के तीर पर रहने वाले आधिभौतिक अविद्या पैल किनारे लगती है। परंतु दोनों तीर के कारण बने नदी में जिसे किसी भी किनारे से तैरना आता है। उसे ऐलतीर का पानी अथवा पैलतीर का पानी ऐसा फर्क रहता नहीं और इसलिए जो संसार (प्रपंच) में रहकर प्रपंच से सहज तैर जाता है अर्थात् सहज आनंदित होकर यश प्राप्त करता है। जैसे वह आधिभौतिक में तैरता है वैसे ही आधिदैविक, आध्यात्मिक में भी तैरता है। संपूर्ण नदी के पात्र में जिसे तैरने आता है उसके लिए ऐलतीर अथवा पैलतीर कुछ भी नहीं। उसी प्रकार जो पूर्ण में स्थिर होता है, पूर्णपुरुष के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानता है, उसे आधिभौतिक में रहना क्या अथवा पारलौकिक में रहना क्या एक ही है। क्योंकि वह कहीं भी आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् में होने पर पूर्ण में ही होने के कारण आनंदित रहता है। उसे यह भेद भी आगे चलकर बाधा नहीं बनता।

इसी विचार से हमने आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक में कहीं भी जो संकल्प करेंगे ऐसा पूर्ण विश्वास उसे प्राप्त होता है। इसी को -

मनी धरावे ते ते होते। विघ्न अवघेचि नासूनि जाते ।।३१।।

समर्थ रामदास (मराठी)

अर्थ - हम जो मन में संकल्प करते हैं वह पूर्ण होता है, विघ्न दूर होकर नष्ट होते हैं। इसका ही अर्थ हम पूर्ण में रहने के कारण हमारे संकल्प सत्य संकल्प ही बनते है। इस भूमिका से 'Reality' सत्य समझने के लिए प्रथम 'सापेक्षता' 'Relativity' समझना जरुरी है। सापेक्षता सिद्धान्त का महत्त्व इसी कारण है। आधिभौतिकता की सापेक्षता में आधिदैविक श्रेष्ठ है। परंतु तीनों स्थिर रहते हैं। 'अन्न ब्रह्म'से प्राण ब्रह्म यह प्रगति है। प्राण ब्रह्म की सापेक्षता में मन ब्रह्म सिद्धान्त श्रेष्ठ है। लेकिन यह सिद्धान्त एक एक कर भृगु ने पूर्ण में समाहित करने के बाद तथा पूर्ण का ज्ञान होने पर फिर उसे तम भाव नहीं रहा। संसार की अपेक्षा परमार्थ अच्छा है अथवा परमार्थ से संसार अच्छा है

ऐसा कोई भेद पूर्ण में रहता नहीं। कारण उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ है। अतः वह किसी को भी गलत न कहते हुए सभी को बराबर ही कहता है।

यह जिसे ठीक से समझा है उसके यह भी समझ में आयेगा कि अविद्या (आधिभौतिक) यह जैसे टालते नहीं टलता, संसार जैसे छोड़ने पर नहीं छूटता वैसे मोक्ष नहीं कहने पर भी विद्या छूटती नहीं। मनुष्य मरने के लिए जन्म नहीं लेता बल्कि जन्म लेने के कारण वह मरता है। मृत्यु का भय लगता है इसलिए अमरत्त्व तथा अमृतत्त्व को महत्त्व है। किसी को भी अपने अत्यंतिक अभाव की कल्पना ही सहन नहीं होती। मैं नहीं रहूँगा यह कल्पना किसी को भी प्रिय नहीं है अर्थात् हर किसी को मुझे नित्य रहना है, जीना है ऐसा ही लगता है। इसलिए ही अमरद्धव तथा मोक्ष यह छूटते छूटते नहीं। वह हर किसी को चाहिए। फिर भी मनुष्य मोक्ष के लिए नहीं जीता, तो उसे जीने के लिए मोक्ष तथा अमृतत्त्व चाहिए रहता है। मनुष्य को मरने की इच्छा कभी नहीं होती। इसलिए आत्मा अमर है, तुम वास्तव में कभी मरते नहीं हो कहने का महत्त्व है।

अतः परमार्थ यह परमार्थ न होकर वह प्रपंच के लिए है। इतना ही नहीं तो प्रपंच तथा परमार्थ एक ही है। लेकिन वह वैसे न समझकर उसे समझ लेना पड़ता है। वही विद्या है। प्रपंच अथवा परमार्थ अथवा विद्या-अविद्या को स्वतंत्रता तथा स्वतंत्र अस्तित्व न होने के कारण अर्थात् वह एक दूसरे की सापेक्षता में 'Relativity' रहने के कारण उसे स्वतंत्र क़रते नहीं बनता और इसलिए उनकी सहउपासना बता कर श्रुति ने एकांगी उपासना का फल घोर तथा गूढ़मय ऐसा बताया है। सहउपासना का अर्थ भी विद्या अविद्या में समन्वय भी न होकर दोनों की उपासना एक साथ करना, पूर्ण के ही वह रूप है ऐसा समझकर करना।

मनुष्य का जन्म यदि मोक्ष के लिए ही होता तो मात्र विद्या की उपासना का फल मात्र अविद्या की उपासना से भी अधिक बुरा ऐसा श्रुति ने कभी कहा न होता। इससे मनुष्य मात्र मोक्ष के लिए जन्मा है, उसने सब छोड़-छाड़ कर मुख्यतया मोक्ष के लिए ही प्रयत्न करें ऐसा वेदों का मत निश्चित ही कहीं दिखता नहीं। मोक्ष भी सापेक्ष शब्द है। बंध के बिना मोक्ष संभव ही नहीं। बंध तथा मोक्ष यह दोनों शब्द वेदों में कहीं दिखते नहीं। वेदों में अमृत्त्व का वर्णन बहुत है। लेकिन अमृत्त्व यह शब्द बंध के सापेक्षता में न होकर मृत्यु के सापेक्ष है। वेदों में स्वर्ग तथा अमृत्त्व की महती गायी है। जीव दशा यह बंध तथा स्वरूप स्थिति यह मोक्ष है ऐसा स्पष्ट कहीं भी कहा नहीं।

इन सब का विचार करने पर बंध यह वेदों का हेतु न होकर उत्कर्ष तथा अमरत्व यही वेदों का उद्देश्य है। यह अध्येताओं के सहज ही समझ में आता है। जीव दशा यह

दुःख पूर्ण है ऐसा भी वर्णन वेदों में कहीं मिलता नहीं। उल्टे ''पश्येम शरदः शतम, जीवेम शरद शतमः'' मै सौ साल देखूंगा, सौ साल जियूंगा, ऐसे जीवन लालसा के प्रति वचन है। ऐहिक के नश्वरता संबंधी पुराण भी वेदों में नहीं है, तो 'सोमातम स्वरणम् कुणुहि' इस प्रकार अभ्युदय की ईर्ष्या ही बतायी है। नचिकेता जैसे नश्वरता का के प्रति इन्कार के कुछ उदाहरण मिलते है। लेकिन इसलिए वेदों में प्रपंच का अनादर है ऐसा नहीं है। वेदकालीन संस्कृति आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विविधता से चरमोत्कर्ष पर पहुँची थी। वैसे वह पुराण इतिहास कालखण्ड में पूर्णत्त्व को नहीं पहुंची। इतिहास को देखने पर सभी जगह केवलाद्वैतवादियों का ही बोलबाला दिखता है। अजातवादियों ने जो माया तथा अज्ञान की छुट्टी कर दी अर्थात् वह है ही नहीं, गलत है ऐसा प्रतिपादन किया, वही दशा अविद्या की होने के कारण अविद्या के सह।उपासना का मार्ग बंद हुआ। अविद्या का अभ्यास ही समाज से गायब हुआ।

माया तथा अज्ञान जैसे ही अविद्या का भी अभाव बताने से अविद्या तथा विद्या की सह उपासना पीछे पड़ने से समाज में अविद्या का सोद्देश्य अभ्यास भी नहीं रहा यह हमने देखा। संत ज्ञानेश्वर ने अनुभवामृत प्रकरण ६ में २० से २७ ओवी तक -

म्हणोनि नाशापुरती। अविद्या नाही निरुति।।३२।।
साहे बोलाची वळधी। ऐसी अविद्या असे जगी
तरी जाळू ना कां आगी। गंधर्व नगरें।।३३।।

आदि वचनों से अविद्या का अभाव बांझ के लड़के जैसा बताया है।

इससे मायावादी शंकराचार्य तथा मुख्यतया उनका दर्शन बताने वाले अन्य दार्शनिकों में भी एकमत नहीं। उनमें भी बहुत बड़ा अंतर पड़ा यह स्पष्ट है। जिस अविद्या का कार्य अभ्यास कहकर शंकराचार्य कहते हैं और अभ्यास में सीपी में रजत की उत्पत्ति मानते, उस अविद्या का अभाव बताने पर फिर रजत की तथा जगत् की वार्ता कैसे होगी?

अतः ज्ञानेश्वर ने यह जो अविद्या का अभाव बताया है यह अजातवाद का सिद्धान्त है तथा वेदों के ग्रंथ में मायावाद तथा अजातवाद की कैसे खिचड़ी हुई उसका यह अच्छा उदाहरण है। यह ऐसा होने का कारण अजातवाद-जग हुआ ही नहीं- यह सिद्धान्त वास्तव में सदोष है तथा उसे कोई मान्यता भी नहीं। उसकी स्थिति 'न घर का न घाट का' कहावत जैसे हुई। शंकराचार्य के अद्वैति दर्शन से मनुष्य को तथा जगत् को आत्मानुभूति का परब्रह्म के अपरोक्षानुभूति लाभ तो हुआ। वैष्णवाचार्यों के कारण सत्त्वगुण को प्रधानता आकर ईश्वर दर्शन का मार्ग जनसामान्य को प्राप्त हुआ। पूर्वमीमांसावादी कर्मकांड़ी वेदों ने तथा विज्ञानवादी शास्त्रज्ञ के कारण आधिभौतिक

उन्नति का मार्ग तो प्रशस्त हुआ। परंतु अजातवाद से समाज को फायदा तो दूर नुकसान ही अधिक हुआ। ऐसा कहना पड़ता है। इस प्रकार अजातवाद को कुछ भी महत्त्व न मिलने के कारण वह अपने आप को ''शंकराचार्य से अलग न होकर आचार्य के सिद्धान्त को हमने प्रतिष्ठा दी।'' ऐसा कहकर अद्वैति दर्शन के गले में पड़ने का प्रयत्न करते दिखते है। वास्तविक शंकराचार्य का दर्शन तथा अजातवादी दर्शन में बहुत अंतर है यह भी अध्येता ठीक से समझे।

इसी प्रकरण में ३८, ४७, ७४ ओवी (मुक्तक) से ज्ञानेश्वर ने अविद्या का बोध किया है, अभाव बताया है, यह साफ है। परंतु आचार्य का ऐसा मत नहीं यदि वैसा होता तो उन्होंने अविद्या का कार्य अध्यास बताकर आगे रजत की उत्पत्ति कैसे मानते?

सारांश, वेद की अविद्या तथा शंकराचार्य की अविद्या में महतअंतर है (शंकराचार्य विद्या के अभाव से आने वाले दुर्गुनों को अविद्या कहते हैं) वैसे ही शंकराचार्य के मायावादी अविद्या में तथा अजातवादी अविद्या में है। अजातवादी अविद्या का बाध ही करते है। भाष्य के वचन में शंकराचार्य कहते है,

तमेवम् लक्षणमध्यासम् पंडिता अविद्येति
मन्यन्ते तद्विवेकेनच वस्तुस्वरूपावधारणम् विद्यामाहुः ।।३४।।

इस पर भामतीकार का मत :-

तत्त्वपरिच्छेदोहि प्रभाविद्या तत्स्तधनानि प्रमाणानि कथमविद्यावद्विषयाणि।
न विद्यावन्तम् प्रमाणभ्यः श्रयन्ति,
तत्कार्यस्य विद्याया अविद्या विरोधित्वादिति भावः ।।३५।।

जिसका अर्थ आगे परिशिष्ट में दिया है। इससे विद्या विरोधी अविद्या ऐसा यद्यपि आचार्य मानते है तो भी उससे प्रत्यक्ष पदार्थ ही अविद्या है ऐसा सिद्ध होता है। अतः भावरूप पदार्थ अविद्या तथा अभावरूप अजातवादी एक कैसे? वह एक नहीं है। वैसे ही विरोध और सहकार्य एक नहीं है। यदि विद्या तथा अविद्या यह आचार्य कहते है उस प्रकार विरोध्धी रहते तो उनकी सहउपासना करने के लिए श्रुति को कभी संभव होता ही नहीं। परंतु वेद जब विद्या-अविद्या की सहउपासना करने को कहते हैं तो वह निश्चित है कि वेदों की अविद्या तथा शंकराचार्य की अविद्या यह भी एक न होकर उनमें अंतर है।

यहां अध्येताओं को एक शंका उपस्थित हो सकती कि ज्ञानेश्वर जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति ने अजातवादी अविद्यामत गलत रहते 'अनुभवामृत' में कैसे बताया? तो उसका उत्तर है -

भगवद्गीता, ज्ञानेश्वरी, अनुभवामृत आदि ग्रंथ यह अनुभूति देने वाले ग्रंथ है, शास्त्रीय सिद्धान्त ग्रंथ नहीं है यह ग्रंथ के प्रारंभ में ही सूचित किया है। मंत्र की अनुभूति लेने वाले को मंत्र का अर्थ अपेक्षित नहीं होता, अनुभूति - ज्यादा से ज्यादा भाव अपेक्षित रहता है, वैसे ही यह है। संत ज्ञानेश्वर अत्यंत श्रेष्ठ योगी तथा श्रेष्ठ साहित्यिक होने के कारण तथा 'अनुभवामृत' उद्देश्य शिष्यों को साहित्यिक भाषा के प्रभुत्त्व से 'अजातवादी अविद्यामत' ऐसा कुछ प्रासादिक रीति से व्यक्त किया है कि शिष्यों में परब्रह्म की अनुभूति के लिए लगने वाली तीव्र प्रज्ञा अथवा तीव्र प्रज्ञाभाव सहज उत्पन्न हो... ''तेणे साली काढावी आकाशाची'' (आकाश की खाल निकालना) यह कल्पना ही मनुष्य को इतने ऊँचे भाव में ले जाती है कि, उसके शब्द अपना अर्थ भूलकर भावरूप बन जाते हैं। यही बात बहुतांशी ज्ञानेश्वर की अर्थात् उनके शब्दों में 'भावार्थ दीपिका' की होने के कारण वामन पंडित और उनका वाद प्रसिद्ध है। इसी प्रकार गीता कर्मयोगी है, कि ज्ञानयोगी है, कि भक्तियोगी है यह चर्चा ही निरर्थक हैं। गीता यह पूर्णावतार पूर्णपुरुषरूपी श्रीकृष्ण की बतायी हुई होने के कारण वह पूर्णयोगी अथवा पूर्णवादी है ऐसा कहना अधिक उपयुक्त है।

'युद्ध च' युद्ध करो ऐसा कहने के कारण तथा समझाने के कारण वह जैसे कर्मयोगी है वैसे ही 'माम् अनुस्मर युद्ध च' 'मुझे स्मरण कर युद्ध करो' ऐसा कहने से वह भक्ति योगी भी है। ''नाय हन्ति न हन्यते'' 'यह आत्मा न किसी को मारता है न मरता है' ऐसा कहने से वह ज्ञानमार्गी भी है। सारांश, कर्म, उपासना तथा ज्ञान कहने वाली तथा आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विद्याओं का ज्ञान देने वाली वह पूर्णवादी गीता है। अतः ज्ञानेश्वर यह 'ज्ञानेश्वरी' 'अमृतानुभव' इन ग्रंथों से भी ऊँचे श्रेणी के श्रेष्ठ पुरुष है तथा अनुभूति यह उनका ध्येय होने के कारण वह जिस पद्धति से देना है उसी से उन्होंने उनके ग्रंथ में दी है। लेकिन सिद्धान्त दृष्टि से अजातवादी अविद्या का है तथा वेदप्रणित अविद्या से भिन्न है। यह अध्येता ध्यान में रखें। मेरा कोई विशिष्ट सिद्धान्त है तथा वह बराबर है ऐसी जिद्द ज्ञानेश्वर, श्रीकृष्णादि पूर्णत्त्व प्राप्त महानुभाव कभी करते नहीं। कर्म, उपासना, ज्ञानादि विद्या तथा उसकी सहउपासना कहकर भी पूर्णावतार श्रीकृष्ण ने आखिर में ''यथेच्छसि तया कुरु'' इसका विचार तथा उस पर आने वाले असंभाव, संशय जो तुम्हारा है उसे तुम खुद ही दूर करो तथा तुम चाहे जो करो, ऐसा ही अन्त में बताया है। मैने जो कहा वह त्रिकाल सत्य है। वैसे ही तुम्हें रहना है, ऐसा नहीं कहा।

सारांश, वेद की अविद्या विद्या को पुष्टि देने वाली है तथा उनकी सहउपासना श्रुति

जब-

विद्यां चाविद्यां च यत्सद्वेदोभयं स ह
अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृत्तमश्नुते।।३६।।

ईशावास्यपनिषद् वचन में कहती है तब अविद्या संबंध का श्रुतिमत आचार्यमत के विपरीत है यह स्पष्ट है। (यह श्लोक पृष्ठ १०१ पर आया है, उसका अर्थ वहां पृष्ठ ३४ पर स्पष्ट किया है।)

कठोपनिषद् में अध्याय २ वल्ली ३ में १४ वें मंत्र में -

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।३७।।

साधक के हृदय स्थित सभी कामना, सभी हेतु, समूल नष्ट होते हैं। उस समय यह मर्त्य अमृत बनता है। वह इस शरीर में ही ब्रह्म होता है। यहां जो काम वासना आदि साधक के मन में होती है उसे अविद्या नहीं कहा जाता। वह आधिभौतिक विद्या भी नहीं है, विद्या के अभाव में निर्माण होने वाली वासनायें है। कठपनिषद् को काठक ऐसा भी कहते है। अतः इस संदर्भ में कठक उपनिषद् में ऐसा कहा है।''

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अर्थ मत्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम्।।३८।।

अर्थ - जब इसी लोक में हृदय के सभी ग्रंथि भेद होती है, अर्थात् छूटती है। तब वह मर्त्य मरणधर्म मनुष्य इसी शरीर में अमर बन जाता है। बस, यही वह सनातन उपदेश है, अर्थात् वेद का ज्ञान अथवा उपदेश है। यहां जो हृदय ग्रंथि है उन्हें ही यदि अविद्या माना जाये तो अविद्या की उपासना करने को वेद क्यों कहे? अतः जिस हृदयग्रंथि की अथवा कामादि वासना के निराश से अमृत्त्व प्राप्त होता है, उस वासनादि ग्रंथियों को तथा संशय को अविद्या नहीं कहा जा सकता। लेकिन यह अविद्या है कहना रूढ़ हुआ। उसी प्रकार किसी भी दर्शन तथा विद्या के आद्य ग्रंथ में अद्वैति मत तथा ब्रह्मनिरूपन आना ऐसी परंपरा इसके पहले भी होने के कारण दासबोध जैसे, आधिभौतिक का ही विशेष ज्ञान देने वाले ग्रंथ में माया, ब्रह्म तथा अजातवाद का दर्शन विस्तार से बताया है।

अविद्या का कार्य अध्यास ऐसा कहने पर हृदय, मन, बुद्धि यह अविद्या का कार्य बनता है, लेकिन हृदयग्रंथि तथा गुहाग्रंथि यह शब्द प्रयोग हृदय तथा बुद्धि ऐसा सामान्यतया दर्शाते नहीं है अपितु उनके विशिष्ट परिस्थिति का तथा अवस्था का वह परिचायक है। अतः इससे हृदय अथवा बुद्धि यह पदार्थ अमृत्त्व के आड़े न आकर उनके होने वाले विशिष्ट संस्कार आड़े आते हैं। वह जो संस्कार तथा ग्रंथि यह अविद्या न होकर

विद्या-अविद्या को एक रूप होने न देने वाली अथवा उन्हें अलग रखने वाली वस्तु है।

मुंडकपनिषद् में एक वचन है -

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्-क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः
स्वयं जुहवत एकर्षि श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्।।३९।।

अर्थ - जिस ब्रह्मविद्या के संबंध में यह बात बतायी कि जो कर्म करने वाले हो, वेदों का अर्थ जानने वाले हो, ब्रह्म के उपासक हो, श्रद्धावान, अपने को एकर्षी नामके प्रज्वलित अग्नि में हवन करने वाले, वैसे ही जिन्होंने विधिपूर्वक सर्वश्रेष्ठ व्रतों का पालन किया हो, उन्हीं को यह ब्रह्म विद्या बतानी चाहिए।

सारांश, जो क्रियावान वेदाध्ययनशील वैसे हा ब्रह्मनिष्ठ, श्रद्धावान, निश्चयी, ऐसे ही लोगों को ब्रह्मविद्या बतानी चाहिए। जो एक कान से सुनकर दूसरे कान से छोड़ने वाले न हो वही इस विद्यादान के पात्र हैं।

यहां यह वेदप्रणित ब्रह्मविद्या क्रियावान श्रद्धावान लोगों को बतानी चाहिए ऐसा कहा गया है। इसका कारण है कि विद्या तथा अविद्या की सहउपासना करना कर्म करने वाले को ही संभव है। कर्म का रूप अविद्या में कैसे है यह जानकर पूर्णत्त्व की अपेक्षा से पूर्ण के भूमिका से जिस समय कर्म का जो रूप निहित है वह करना ही विद्या तथा अविद्या की सहउपासना करना है।

उदारहण- छोटे बालक का लालन-पालन सर्वांग परिपूर्ण करने के लिए उसका अविद्या का रूप अर्थात् उसका लाड़-प्यार से खान-पान, कपड़ा-लत्ता करना, उसे दुलारना, तो विद्या का रूप अर्थात् थोड़ा सा कठोर होकर प्रसंगोपात दंड कर सन्मार्ग को, सद्गुण तथा स्वावलंबन अर्थात् नीति तथा अनुशासन की व्यवस्था करना अधिक लाड-प्यार से जैसे लड़के बिगड़ जाते है अर्थात् मात्र अविद्या से अंधःकार में जाते है वैसे ही अधिक कठोर तथा प्रेमभाव से मात्र कड़क अनुशासन में रखकर भी वह घोर अंधेरे में जाते है। वह अच्छे पढ़े लिखे, ओहदेदार बनने पर भी निष्ठुर, निष्प्रेम बनते है, तथा जीवन में दुखी बनते है तो यहां कर्म का यह विद्या का निःश्रेयस वा श्रेयस अविद्या का प्रेयस दोनों रूप जानकर सहउपासना करने पर ही लड़कों को पूर्णत्त्व तक हम ले जा सकेंगे। अतः प्रत्येक कर्म का विद्या अविद्या का रूप जानकर कर्म करना उसी को संभव है जो वेदाध्ययनशील ब्रह्मनिष्ठ परंतु क्रियावान है। जिसने कर्म छोड़कर संन्यास लिया है वह विद्या तथा अविद्या की सहउपासना व्यवस्थित नहीं कर पाता।

जीवन यह प्रयास है अर्थात् कष्ट साध्य कर्म ही है। पालने का शिशु भी हाथपैर

हिलाकर कर्म करने लगता है। जीवन में कर्म आवश्यक है। लेकिन पूर्णत्त्व के लिए अविद्या-विद्या की सहउपासना जो कर्म से ही संभव है वह करनी है, पीछे बतायें जैसे कर्म में रहकर ही पूर्ण का दर्शन, पूर्ण की अनुभूति आती है। वहां सभी हृदयग्रंथियां नष्ट होती है। प्रत्येक कर्म का विद्या तथा अविद्या का रूप पहचानकर व्यवहार करना ही अविद्या-विद्या की सहउपासना हैं।

उपर्युक्त वचन में ब्रह्म विद्या की पात्रता के लिए, १. कार्यक्षमता, २. निष्ठा, ३. श्रद्धा, ४. निश्चय, ५. आदर इन गुणों की आवश्यकता बतायी गयी है। यह सभी गुण हृदय तथा बुद्धि के है तथा वह विद्या के साधक है, विरोधी नहीं। अतः विद्या विरोधी अविद्या कहने पर हृदय तथा बुद्धि का वैसे ही उनके गुणों से अविद्या कहते नहीं बनता। कारण उनका विद्या से करीबी नाता है। विरोध नहीं। यदि स्वरूप ज्ञान को ही विद्या कहें तो इन गुणों के कारण अर्थात् अविद्या के साधनों से विद्या की प्राप्ति होती है ऐसा कहना पड़ता है और वह तर्कसंगत नहीं है। सारांश, मात्र वेद तथा वेदांत में अविद्या संबंधी मतभेद है ऐसा नहीं है, तो मात्र वेद के अविद्या संबंधी बहुत से मत-मतांतर है। कहीं ईश्वर की माया तथा जीव की अविद्या ऐसा पृथक बताया है। तो कहीं माया तथा जीव की अविद्या ऐसा पृथक बताया है, तो कहीं माया को अविद्या अथवा विपरीत ज्ञान को अविद्या कहा है। परंतु आधिभौतिक प्रेयस विद्या को अविद्या तथा श्रेयस आधिदैविक, आध्यात्मिक विद्या अर्थात् योग्य है ऐसा वेदमत है।

वेदों में बतायी अविद्या माया नहीं है, वैसी ही वह जीव की भी नहीं। कारण विद्या-अविद्या का ईशन ईश्वर करता है, ऐसा कहने वाली श्रुति वचनों को हमने देखा। वैसे ही अविद्या अर्थात् विपरीत ज्ञान तथा अज्ञान ऐसा भी वेदमत नहीं है। उसकी सहउपासना बतायी है। अतः वह अमृत्त्व के आड़े आने वाली नहीं है। तो उसकी साधक है।

श्री ज्ञानेश्वर ने जैसे कहा है कि उसे बाध अथवा अभाव न होकर वह भाव पदार्थ ही है। ज्ञानेश्वर ने अजातवादी अविद्या के संबंध में लिखा है इसलिए अजातवादी तथा ज्ञानेश्वर के अविद्या संबंधी मत में कुछ भी फर्क नहीं है।

सारांश, माया जैसे ही अविद्या विद्या के संबंध में वेदों के तथा अद्वैतिवेदान्तियों के मत में भिन्नता है। यह माया तथा अविद्या दोनों ही वेदों के तथा वेदान्तियों के एकदम भिन्न है। वेदान्ति जैसे आत्मज्ञान को ही विद्या कहते हैं वैसे वेद नहीं कहते। वह ईश्वरज्ञान को भी विद्या के अंतर्गत मानते हैं। वेद विद्या तथा अविद्या यह दोनों अनेक है ऐसा मानते है और उन सबकी उत्पत्ति ॐ अक्षर से अर्थात् पूर्ण से ही होती है ऐसा मानते है।

छांदोग्यपनिषद् के दो वचन इसके लिए अर्थात् वेद विद्या तथा अविद्या अनेक हैं ऐसा कहते हैं, इसके लिए यह वचन देखिए –

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्या श्रावयत्योमिति।
शंसत्योमित्युद्गायत्येत्तस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन।।४०।।

उस ॐ से ही ऋग्वेदादि तीन अथवा आधिभौतिकवादी तीन विद्या रहती है। ॐ ऐसा प्रारभ कर अध्वर्यु उसकी प्रशंसा करते है, सुनाते है तथा ॐ कहकर उसका उच्चार करते हैं।

अक्षर पूर्णपुरुष के पूजन के लिए यह सब है। इसी की महत्ता से निर्माण होने वाली सामग्री से रस से उसका हवन होता है। तात्पर्य ॐ से ही सभी अध्ययन तथा जप-तपादि कार्य को प्रारंभ किया जाता है। इसका उद्देश्य ही वास्तव में ऐसा है किसी की व्याप्ति तथा सभी विद्याओं की व्याप्ति उसमें है तथा सब कुछ उसके लिए है। महिम्नारसेन यह पद जिससे सब कुछ है अथवा सब कुछ होते जाता है यह सूचित करता है।

गायत्री के व्याहृती के पहले ॐ लगाने की आवश्यकता है। ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः यह तीन व्याप्ति जैसे बताया है, प्रथम अविद्या का पाद बताते है, तो ॐ मः ॐ जनः ॐ तपः यह विद्या का बोध करते है, उसमें आधिदैविक का दूसरा तथा आध्यात्म का तीसरा इन दो पादों को समाया जाता है। इस प्रत्येक व्यहृती के पीछे ॐ लगाने से उस संबंध के सभी विद्याओं का बोध होता है। ॐ सत्य की अनुभूति किसी भी व्याहृति पर लेते बनती है। जिस समय हम ''भूः'' लोक में पृथ्वितल पर है, उस समय हमें 'सत्य' की सत्य रूप पूर्ण की अनुभूति यहां लेती बनना चाहिए और हम 'भूतलोक' में हो तो भी वहां भी सत्य की अनुभूति हमें आनी चाहिए। सत्य पूर्ण की अनुभूति कहीं भी लेने आती है का अर्थ है पूर्ण का पूर्ण स्वरूप जानना।

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद।
नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा
तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति।।४१।।

उसने इस ॐ अथवा ॐकार इस मंत्र से जो उसे अर्थात् पूर्णपुरुष को पहचानते और जो उसे पहचानते नहीं ऐसे दोनों भी उसे पूजते है। कारण विद्या अनेक है तथा अविद्या भी अनेक है। परंतु उस पूर्णपुरुष का स्वरूप जानकर उसे श्रद्धा से जो पूजता है उसे पूर्ण को जानकर उसकी उपासना से जो युक्त होते है यही और ऐसा ही सही तो उस अक्षर का अर्थात् ॐ का उपाख्यान है।

इस वचन में 'विद्या' अनेक है। आत्मविद्या मात्र विद्या नहीं है, वैसे ही अविद्या भी अनेक है ऐसा कहा गया है। यहीं उस पूर्ण को न पहचानने का कारण हो सकता है। अविद्या भी अनेक है ऐसा कहने के कारण अद्वैति वेदान्तियों ने अध्यास का कारण जो अविद्या, जो जीव का बंध है ऐसा कहा, वह इस वचन में उल्लिखित अविद्या निश्चित ही नहीं है। वैसे ही अविद्या अनेक है ऐसा कहने के कारण अजातवादियों ने अविद्या विद्यमान नहीं है। उसका जो बोध है ऐसा जो कहा गया है वह उपनिषद् को तथा वेदों को मान्य नहीं यह स्पष्ट ही है।

मात्र उपासना की दृष्टि से विचार किया तो भी विद्या तथा अविद्या अनेक है यह सिद्ध होता है। गणपति, शंकर, विष्णु, देवी, इंद्र, वरुण आदि सभी देवताओं के स्वरूप वेदों में भिन्न भिन्न बतायी है। अतः स्वरूपज्ञान, स्वरूप का ज्ञान अर्थात् विद्या ऐसी यदि शंकराचार्य की मान्य परिभाषा है तो भी प्रत्येक देवता का स्वरूप ज्ञान भिन्न भिन्न होने के कारण विद्या तथा अविद्या अनेक है यह सिद्ध होता है।

ऐसा होने के कारण पूर्णपुरुष को अथवा पूर्ण को जानना अथवा पहचानना कहने पर उनमें समाहित सभी स्वरूप का ज्ञान अथवा पहचान होना जरुरी है। सिर्फ पूर्ण शब्द से अथवा पूर्ण कहने पर पूर्ण का ज्ञान होता नहीं। उस पूर्ण से आज तक जो भिन्न भिन्न रूप मुख्यतया धारण किये है, उसका ज्ञान होना जैसा आवश्यक है वैसे ही आगे जिस रूप से वह भविष्य में भी प्रकट होगा उस रूप में भी ऐसा ही उसका रूप है ऐसी पहचान बनना आवश्यक है। पूर्ण को जानने के लिए अब तक अतीत में उसने जो जो रूप धारण किये है उस स्वरूप का ज्ञान होना, उस स्वरूप में उसको पहचानना आवश्यक है वैसा ही आगे आने वाले भविष्य में भी वह जो जो नये रूप, नये नये आविष्कार धारण करने पर भी उसे पहचानना, यह उसी के स्वरूप है यह पहचानना ही पूर्ण को पूर्णत्त्व से जानना है। अतः विद्या अनेक है यह सिद्ध होता है।

ऐहिक आधिभौतिक ज्ञान को अविद्या कहा तो भी वह भी अनेक है। देवताओं के स्वरूप जैसे भिन्न भिन्न है वैसे ही उनके उपासना में साधन भिन्नता भी है जैसे गणपति को दूब (दूर्वा), शंकर को बेल, विष्णु को तुलसी प्रिय है यह जानना जरुरी है। वैसे ही पंचोपचार, षोडशोपचार तथा राजोपचार क्या है यह जानना भी आवश्यक है और ऐसे उपचार को अविद्या कहते है तथा वह भी अनेक है यह सिद्ध है। इन सभी देवताओं की स्वरूप विद्या तथा अविद्या जानकर आधि दैवत पर कलात्मक उपासना करने पर वह फलित होती है। लेकिन यह पूर्णपुरुष का एक स्वरूप है यह पहचानकर उस पूर्णपुरुष को पहचान कर यदि उपासना की जाए तो वह अधिक फलदायी होती है, मनुष्य को

विर्यवान करती है ऐसा इस उपर्युक्त छान्दोग्यपनिषद् वचन का सीधा सा अर्थ है। परंतु इस वचन पर अद्वैत भाष्य देखे तो वहां इस वचन की खींचतान कैसी की इसका पता चलता है।

इस वचन के 'अक्षर' शब्द का अर्थ पूर्णपुरुष ॐ अक्षर न करते 'प्राकृत' ऐसा अद्वैति करते है। वैसे भी किये तो 'विद्या' शब्द का अर्थ वह जैसा करते है वैसा वह कायम नहीं रहता। द्वै विद्ये वेदितव्ये इस श्रुति ने विद्या विरोधी अविद्या ऐसा सिद्ध न होते दोनों भी विद्या ही है ऐसा सिद्ध होता है। हमने विद्या अविद्या संबंधी वचन अनेक उपनिषदों से लिए है। अतः दोनों विद्या ही है यह संशय की बात नहीं है। एकाध उपनिषद् का ऐसा निराला मत है इसलिए वह उपनिषद् बाद में लिया है। अतः वह अस्वीकृत है ऐसा तर्क यहां काम नहीं आता। अतः वेदों की एकमत से विद्या-अविद्या संबंध की कल्पना अद्वैति वेदान्तियों से भिन्न है ऐसा निश्चित सिद्ध होता है।

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते
छंदोभिरच्छादयन्यदेभिराच्छादयंस्तच्छंदसां छन्दस्त्वम्।।४२।।

मृत्यु से भयभीत ईश्वर शुरू से मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए त्रयी विद्या में प्रवेशित हुए। उन्होनें छन्दों से अपने आप को ढ़क लिया। अतः उन्हीं छन्दों को मंत्रत्व तथा छन्दत्व प्राप्त हुआ।

इसी पूर्णवाद ग्रंथ के पृष्ठ १० पर अन्तिम वचन में तथा पृष्ठ १२ पर शुरु के परिच्छेद में एक वर्ष के बालक ने अर्थात् परमेश्वर ने अपने को ढ़क लेने के लिए अपने उपर भूः भूवः स्वः आदि व्याहृतिरूपी सात धागों को खोलकर रखा है ऐसा वर्णन आया है। वैसे ही 'माया' प्रकरण के पृष्ठ ७८ पर 'यस्तूर्णमाभ इव तन्तुभि स्वमावृणोत' अर्थात् 'वह एक ही देव है कि जिसने अपने आप को भिन्न भिन्न तन्तुओं के धागों से ढ़क लिया है।' ऐसा वर्णन है। यहां उपर्युक्त वचन में भी मृत्यु को टालने के लिए ईश्वर ने तीन विद्याओं में प्रवेश किया और अपने को ढ़क लिया, छुपाया ऐसा वर्णन है। इन तीन विद्याओं का वर्णन अगले ग्रंथों - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद - ऐसा कर वह स्वतंत्र ऐसे प्रत्येक विद्या का आश्रय कर भी जब मृत्यु ने ईश्वर को ढूंढ़ लिया और देखा, उस समय आखिर में उन्होंने अपने आप को ॐ इस शब्द में ढ़क लिया ऐसा कहा है। इससे प्रत्येक विद्या के एकांगी स्वतंत्र उपासना से मृत्यु से छुटकारा नहीं होता। पूर्णपुरुष के स्वरूप ज्ञान से ही अमृत्त्व का लाभ होता है यह जानकर ईश्वर ने इन सभी विद्याओं के साथ ही सहउपासना ही आवश्यक है यह जानकर आखिर में ॐकार में ढ़क लिया (छुपा लिया) तथा मृत्यु को टाल दिया। यह स्पष्ट है।

ॐकार के अ, उ, म यह तीन मात्रा, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद यह तीन विद्या, तथा भूः भूवः स्वः यह तीन व्याहृति में एक प्रकार का साम्य है तथा इन्हें 'अविद्या' कहा है अतः वह अनेक है यह सिद्ध है। ॐकार का मात्र अध्यात्मवाचक अर्थ करने पर अ, उ, म तीन मात्राओं से जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति यह तीन अवस्था बतायी हैं यह हमने देखा वैसे ही ॐकार पूर्णपुरुषवाचक करने पर, ॐकार पूर्णपुरुष दर्शाता है। यह पूर्ण है यह समझाता है। परंतु मात्र उसे 'पूर्ण' कहने पर उसकी सही कल्पना हम नहीं कर पाते, तो उसका विस्तार कितना है, उसमें क्या क्या आता है, क्या समाहित है इसका ज्ञान भी होना आवश्यक है।

उसमें वह सात व्याहृतियाँ एक साथ आती है इसका ज्ञान होना चाहिए वामनीय सूक्त में इन सात व्याहृतियों के तीन भूः, भुवः स्वः यह मातृरूप व्याहृति तथा तीन महः जनः तपः यह पितृ रूप व्याहृति ऐसे दो गुट तैयार किये तथा सत्य की अनुभूति प्रत्येक व्याहृति पर लेते बनती है। मातृ रूपी व्याहृति अविद्या में तथा पितृ रूपी व्याहृति विद्या के अन्तर्गत आते है। अतः विद्या-और अविद्या अनेक है ऐसा वेदमत है।

इस अविद्या की अर्थात् मातृ रूप तीन व्याहृति तथा पितृरूपी तीन व्याहृति अर्थात् विद्या की सहउपासना ही अर्थात् पूर्ण की उपासना है तथा इन दोनों के बीच की श्रृंखला अथवा सलगता, अनुभूति की प्रगतता (Continuty) कायम रखना, इसका संबंध जोड़ना आवश्यक है। भूः भुवः स्वः यह तीन मातृरूपी पर विश्व रूप ज्ञान समाप्त होता है, तथा व्यक्ति महः व्याहृति पर आता है। परंतु यहां विश्वरूप ज्ञान की अनुभूति पूर्णतया छोड़ना अथवा संपूर्णतया भूल जाना हित में नहीं है। पूर्णपुरुष के ज्ञान की दृष्टि से तो कदापि हित में नहीं है। अतः मातृरूपी व्याहृति अथवा अविद्या तथा महः से शुरू होने वाली पितृरूप व्याहृतियां अर्थात् विद्या इनमें समुचित समन्वय रखना हित में है और इसीलिए उसकी सहउपासना वेदों ने बतायी है।

भूः अर्थात् पृथ्वी। सबसे पहले व्यक्ति को अपने आसपास के जगत् का ज्ञान होता है। व्यक्ति पहले अपनी मां का चेहरा ही देखता है और पहचानता है। आइने में देखकर अपने चेहरे का ज्ञान कुछ साल बाद उसे होता है। तब कहीं वह इस जगत् को प्रथम पहचानता है।

बाद में उसे जगत् की सापेक्षता में 'मैं' का ज्ञान होता है। मुझे यह चाहिए यह उसके समझ में आता है उसे अपना हिस्सा चाहिए होता है तथा अनुभूति में आने वाली सभी बातें समझ में आने लगती है। यह है भुवः अथवा पितृलोक, अंतरिक्ष लोक, इस भूः तथा भुव में जो ातें अनुभव में आती है उसमें से कुछ अपनी इच्छानुरूप लगने

वाली तथा सुख देने वाली बातें रहती हैं। तो कुछ अवांछित, दुखदायक भी रहती है। छोटा लड़का हर चीज को हाथ लगाता है तथा हर चीज मुँह में डालता है। लेकिन आगे चलकर उसे ज्ञान होता है कि गरम चीज को हाथ लगने पर दुःख होता है तथा हाथ जल जाता है, तथा गलत-सलत चीज मुख में डालने पर हानि होती है। यहां उसे कर्म स्वतंत्रता प्राप्त होती है। जिस कर्म से पहले पहल और आगे तक सुख ही सुख लगता है और आगे चलकर दुःख होता है तथा ऐसे कर्म करने पर हानि होती है यह उसे अनुभव से समझ में आता है। यहाँ कर्ममार्ग का अभ्यास करना पड़ता है। एक बार यदि कर्म की आदत पड़ी तो वह पूर्णत्व में जाकर सुख की अनुभूति प्राप्त होती है। ''जो जे़ वांछील तो ते लाहो प्राणीजात'' (जो जिस प्रकार की इच्छा करता है वह उसे प्राप्त हो) इस अवस्था में आदमी आता है। यह स्वर्ग की तथा स्व की कल्पना है। यहां व्यक्ति को इच्छानुरूप उपलब्धियां प्राप्त होने पर भिन्न भिन्न व्यक्ति को होने वाला आनंद तथा सुख सबका एक जैसे एक रूप ही रहता है। यहां सुख तथा आनंद की सभी की अनुभूति एकरूप है। वह मेरी मात्र व्यक्तिगत मर्यादित न होकर सर्वत्र एक जैसी है इस भाव से मनुष्य महः इस चौथे व्याहृति पर आता है। यहां उसे आत्मा का बोध होता है तथा वह व्यापक सच्चिदानंद रूप है यह समझ में आता है।

इच्छानुरूप मुराद पूरी होने पर जो आनंद होता है वह किसे होता है इसका जब आदमी शोध लेता है तब उसे इस महान आत्मा का दर्शन होता है। यह आत्मा अमर है तथा बचपन से बुढ़ापे तक इच्छा पूर्ति का आनंद कायम एकरस, एक जैसा ही है यह उसके समझ में आता है। इससे आत्मा अविकारी है, सर्वसाक्षी है आदि बातें उसकी समझ में आने लगती है। लेकिन यहां रुकना तथा आत्मज्ञान ही सर्वस्व है यह समझना एक बड़ी भूल है। जीवन की तथा अनुभूति ज्ञान की परिसमाप्ति आत्मज्ञान के पास अथवा ब्रह्म ज्ञान के साथ करना अर्थात् पूर्णपुरुष के ज्ञान से वंचित रहना है। इस आत्मज्ञान के पास अथवा फिर उस व्याह्यति के पास न रुकते आगे की व्याहृति जनः तथा तपः समझ लेने से ही सत्य इस अंतिम व्याहृति का सही ज्ञान प्राप्त होकर अंतिम सत्य मनुष्य की समझ में आने वाला है। यह अंतिम सत्य समझ कर फिर भूः पर जब मनुष्य आता है तब वह पूर्ण होता है। तब उसे पूर्णपुरुष का सही ज्ञान प्राप्त हुआ ऐसा कहने आता है।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्तवन्तामभ्यतपतस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्त्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ।।४३।।

लोकज्ञान हो इस उद्देश्य से ध्यान लगा कर प्रजापति ने तप किया तब तीन

विद्याओं का ज्ञान प्रजापति को हुआ। उस विद्या का ध्यान कर तप होने पर भूः भुवः स्वः ॐ अक्षर प्रकट हुए। इससे यह तीन मातृ रूप व्याह्वति के लिए विद्या कहना ही चाहिए। संक्षेप में, भूः, भुवः, स्वः त्रयी विद्याओं को अविद्या कहा है। अतः यह दोनों परस्पर विरोधी बातें संभव ही नहीं है। अतः विद्या यह वास्तव में एक ही पदार्थ है तथा वह विश्व से संबंधित है तब उसे अविद्या कहें तथा आत्मा संबंधी अथवा पितृरूप व्याह्वति संबंधी होती है तब उसे विद्या कहा जाए। ऐसा वेदों का स्पष्ट मत है।

विश्व तथा जगत् संबंधित ज्ञान देने वाले भूः भुवः स्वः यह तीन मातृ रूप व्याह्वति को उस क्षर का ज्ञान रहने से वह त्रयी विद्या होकर भी उनकी व्याह्वति अथवा जाति समझ में आये इसलिए उन्हें अविद्या कहा जाता है यह अब तक हमने देखा है। यह तीन व्याह्वति अथवा तीन विद्या तथा तीन वेद एक ही हैं। यह बताने वाला वचन छान्दोग्य-पनिषद् में है वह हम देखेंगे। यह विद्या ही है यह इससे सिद्ध होगा।

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्य
मानाया रसान् प्रावृहद् भूरित्यृग्भ्यो
भूवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः।।४४।।

अर्थ - ''वह प्रजापति इन त्रयी विद्याओं की ज्ञान प्राप्ति के लिए उनका ध्यान लगा कर बैठा। बाद में उसे उन विद्याओं से ऋग्वेद रस तथा सार के रूप में भूः की यजुर्वेद का सार भुवः तथा सामवेद का बीज रूप स्वः की प्राप्ति हुई।''

इससे इन त्रयी विद्याओं से अथवा व्याह्वतियों से तीन वेद, मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक यह तीन लोक, पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा आकाश तक इनकी व्याप्ति है यह स्पष्ट है। इन व्याह्वतियों की विस्तार से चर्चा तैत्तिरीय उपनिषद् शिक्षा वल्ली पांच में है। उसे देखेंगे तब हमें अविद्या की संपूर्ण कल्पना क्या है यह हमारे ठीक से समझ में आ सकता है।

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्त्रो व्याह्वतयः
तमासु ह स्मैतां चतुर्थी माहाचमस्यः प्रवेदयते।
मह इति। तद् ब्रह्म। स आत्मा।
अंगान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः।
भुव इत्यंतरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः।।४५।।

भूः भुवः स्वः यह तीन व्याह्वतियां प्रसिद्ध है। इन तीनों से जो चौथी व्याह्वति महः नाम से प्रसिद्ध है उसे महचमस के पुत्र ने सबसे पहले जाना। वह महः चौथी व्याह्वति है। वह चतुर्थी ब्रह्म है। वही आत्मा है (अथवा ऊपर वर्णित तीन व्याह्वतियों का आत्मा है)

अन्य देवता अर्थात् अन्य सभी देवता महः के अंग अथवा अवयव है। अर्थात् जनः, तपः तथा सत्यः इनके देवता महः के अन्तर्गत है (महः अर्थात् आत्मा भी कहा गया होता तो भी आत्मा के जैसे जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तूर्या यह चार अवस्थाएं होती हैं, वैसे ही जनः, तपः, सत्यः यह महः के अन्तर्गत होती है, ऐसा यहां कहा गया है।) भूः अर्थात् पृथ्विलोक, भुवः अर्थात् अंतरिक्ष लोक तथा स्वः अर्थात् प्रसिद्ध स्वर्गलोक है।

इस प्रकार पिछले महः से आगे की व्याहृतियों का श्रुति ने संक्षेप में महः में ही समापन कर फिर से पहले भूः इस व्याहृति से जानकारी देना, व्याख्यान देना शुरु किया जाता है। इस वर्णन से इसी ग्रंथ के पृष्ठ १२ और उसके आगे -

तिस्त्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक
अउर्ध्व स्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।।४६।।

वचन से उत्कृष्ठ खुलासा, विश्लेषण होता है। तीन मातृरूपी तथा तीन पितृरूपी ऐसे छह भुवनों को यह अकेला पुरुष ॐ डटकर खड़ा होकर भी वह क्यों थकता नहीं यह चट् से ध्यान में आता है। कारण की तीन भुवन उसी के अंग है, ऐसा यहां भी स्पष्ट उल्लेख है।

यहां हम यह ध्यान रखें कि पूर्णपुरुष का उत्कृष्ठ संशयातीत ज्ञान प्राप्त हो इसलिए हम इन विद्या तथा अविद्या का अभ्यास करते हैं। इस अभ्यास से हमें प्रमुखतया दो बातें सिद्ध करनी है। पहली यह कि -

१. विद्या के (अभ्यास के) अभाव से जो दोष हम में आते हैं, उनका नाश कर पूर्णपुरुष के ज्ञान के लिए अपना अधिकार बढ़ाना। इन दोषों की चर्चा हमने की है फिर भी उसका मनन फिर से करना जरुरी है।

२. पूर्णपुरुष का ज्ञान - विशेषतः उत्तम प्रकार का ज्ञान शब्दातीत तथा तर्क से परे होने के कारण तर्क तथा शब्द से हम जिस मर्यादा तक जा सकते है उस मर्यादा तक जाना। इस दृष्टि से दो बातें आवश्यक है - पहली यह कि पूर्णपुरुष सर्वज्ञ है, तो हम अल्पज्ञ है, तथा दूसरी यह कि पूर्णपुरुष तथा अपना जीवन वास्तव में अनंत है। परंतु हमें वह 'सान्त' मृत्यु से नष्ट होने वाला है ऐसा लगता है।

इन दो बातों पर विचार करने वाले के यह सहज ही समझ में आ सकता है कि, व्याहृति यह संदर्भ है। वह अंतिम सत्य के तथा पूर्णपुरुष के संदर्भ है। भूः भुवः स्वः इन तीनों संदर्भ तक मनुष्य का तर्क तथा संवेदना जा सकती है। महः इस व्याहृति में यह सब विचार तर्क स्थिर होते है। क्षण भर स्तब्ध रहते है। एकदम शांत होते है। मनुष्य के सत्य शोध के बौद्धिक प्रयास को यहां विराम लेते है। इसीलिए मनुष्य को यहां शांति का

आनंद का एक प्रकार के प्रदीर्घ विश्राम की अनुभूति प्राप्त होती है और इसलिए गायत्री मंत्र में ''भूः भुवः स्वः'' इन तीनों व्याहृतियों को ही लगाने की परंपरा है। वास्तव में व्याहृतियां सात है।

लेकिन तीन शेष व्याहृति के आगे ॐ लगाने की तथा उससे सात की पूर्ति करने की परंपरा है। इसी कारण इन तीन व्याहृतियों के पहले और बाद में ॐ लगाकर ही गायत्री मंत्र उच्चांरण की परंपरा है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी देखने पर, यह विश्व चार संदर्भो से (Dimentions) युक्त है ऐसा ही माना जाता है। लंबाई–चौड़ाई–उँचाई तथा काल इन चारों के संदर्भ में ही विश्व का विचार किया जाता है। पहले तीन स्थान अथवा (Space) बताते है, तो चौथा कालदर्शाता है। विश्व यह अंतरिक्ष (Space) तथा काल (Time) का विस्तार पूर्ण बनाया हुआ (Space - Time-continnum) एक चित्र है। ऐसी ही विज्ञान की भूमिका है। परंतु पूर्ण के ज्ञान के लिए इन चार संदर्भो तक सीमित न रहते हुए संपूर्ण सत्य संदर्भ (Dimensions) पर विचार करना चाहिए। परंतु इन चार के पास रुकने की परंपरा विज्ञान में तथा दर्शनशास्त्र में होने के कारण उतने से ही पूर्ण का संज्ञान होना असंभव है।

पूर्ण के उत्तम ज्ञान के लिए जो विद्या–अविद्या का स्वरूप ठीक से समझ लेना जरुरी है यह तैतिरीय उपनिषद् के इस वचन से समझ में आ सकता है।

मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते।
भूरिति वा अग्निः भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः।
मह इति चंद्रमाः। चंद्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीषि महियन्ते।
भूः इति वा ऋचः। भुव इति समानि। सुवरिति यजूंषि।।४७।।

महः यह आदित्य है (सूर्य है) आदित्य के कारण सभी लोक महिमा मंडित होते है, प्रकाशित होते है। भूः यह अग्नि है भुवः वायु है, स्व यह आदित्य है (सूर्यप्रकाश) महः चंद्रमा है, कारण चंद्र के कारण ही सब ज्योति जगमगाहट होती है। भूः यह ऋचा है, भुवः यह साम है, स्वः यह यजु से है आदि।

यहां कुछ वचनों पर विचार करना जरुरी है। जैसे महः यह भी आदित्य तथा स्वः यह भी आदित्य। मह अर्थात् आत्मा अर्थात् साक्षी ऐसा कहने पर उसी को आदित्य कहा गया है। ''जगत् मिथ्या'' ऐसा यदि वेद का मत होता तो उस साक्षी आत्मा को कभी भी आदित्य न कहा होता। जब इस प्रकार से स्पष्ट कहा गया है तब वह ''ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'' ऐसा नहीं मानते होंगे, यह तो स्पष्ट हो रहा है। नहीं तो सच्चिदानन्द आत्मा तथा असत आदित्य ऐसे दो भिन्न परस्पर विरोधी पदार्थ को महः यह एक ही

नाम श्रुति ने दिया न होता। स्वः अर्थात् आदित्य। इसका अर्थ प.वि. वर्तक के ग्रंथ में इस प्रकार है – वातावरण में जब सूर्य प्रकाश पड़ता है तथा पृथ्वी के आसपास का वातावरण का सबसे ऊपर का भाग सूर्य जैसे चमकने लगता है तथा यहीं स्वर्ग स्वः है ऐसा बताया है। महः यह सही आदित्य, पर उससे निकलने वाले किरण बीच में पृथ्वी पर आने तक किसी भी तरह से परावर्तित न होने के कारण वहां अंधेरा रहता है इसलिए वह समझ में नहीं आता। मनुष्य सूर्य के पास (आदित्य) पहुंचने पर ही उसे वह समझ में आ सकता है। इसी दृष्टि से मन के परे आत्मा तक पहुंचा जाता है। बीच में कुछ भी न होने के कारण मनुष्य को शून्य की अनुभूति आती है। लेकिन अनुभूति आत्मा तक पहुंचने के बाद उसे आदित्य अथवा महः की अनुभूति होती है, ऐसा वर्तक का सूचनात्मक संकेत है।

इस प्रकार के विश्लेषण से ''नाना तू विद्या अविद्याच'' – अनेक विद्या तथा अविद्या है, यही वचन फिर से सिद्ध होता है।

''नाना का अर्थ भिन्न-भिन्न ऐसा कर विद्या तथा अविद्या परस्पर एकदम भिन्न है, ऐसा अर्थ किया हुआ कहीं दिखाई देता है, परंतु वह कैसे गलत है यह उपर्युक्त वचन से सिद्ध होता है।''

अब तैत्तिरीय उपनिषद् के और एक वचन पर विचार करेंगे तथा इस पद्धति से विचार पूर्ण करेंगे।

मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राणः।
भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे।
प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्त्रश्चतुर्धा। चतस्त्रश्चतस्त्रो व्याहृतयः।
ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति।।४८।।

मह यह ब्रह्म है। ब्रह्म के कारण सभी वेद महिमा संपन्न होते है। भूः यह व्याहृति प्राण है। भुव यह अपान है। स्वः यह व्यान है। महः यह अन्न है। कारण अन्न से ही सभी प्राणों को महिमा प्राप्त होता है। यह चारों व्याहृति प्रत्येक के चार चार प्रकार है। यह सब प्रकार देखते हुए 'सोलह' व्याहृति अथवा व्याहृति के प्रकार बनते है। इन सबको जो सिद्धान्ततः जानता है वह ब्रह्म को भी जानता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता को सभी देव बली अथवा भेंट समर्पित करते हैं।

यह चार व्याहृतियाँ प्रत्येक के चार-चार कैसे होते हैं यह स्पष्ट करने के लिए- भूः भुवः स्वः इस क्रम से महः की अनुभूति तक पहुँचने पर उसकी चतुर्थी की अनुभूति फिर भूः पर लेने आती है, अर्थात् प्रथमा अथवा प्रतिपदा भूः ही चतुर्थी बनती है। ऐसे क्रम

से भुवः के पास महः की अनुभूति आती है। भुवः चतुर्थी बनती है। इस दृष्टि से ४-४-ऐसे १६ होते है। सारांश, महः की अनुभूति चारों व्याहृतियों पर लेने से १६ बनते हैं। परब्रह्म के लिए यह १६ प्रकार के अनुभव पर्याप्त होते हैं।

इस वचन में ब्रह्म शब्द का अर्थ शब्द ब्रह्म ॐकार अथवा वेद बीज ऐसा है। परंतु ब्रह्म का अर्थ पूर्णपुरुष करने पर भी वेद अथवा उपनिषद् भी उसी की सांस होने से और यहां प्राण से संबंध होने के कारण वैसे भी लेने आता। अंत से ही सभी प्राण वृद्धिंगत होने के कारण प्राण का यान वाहन ऐसे अंत का वर्णन हो सकता है। अंत से होने वाला यह सामर्थ्य पूर्णपुरुष का ही है। अतः इन्हीं शब्दों से श्रुति पूर्णपुरुष का भी काम करते है। यहां ब्रह्म का अर्थ परब्रह्म अथवा तुरीय ब्रह्म ऐसा करने से उसे पहचानने को अविद्याभूत विश्व ज्ञान में आने वाली १६ व्याहृति के प्रकारों की अविद्याओं की और उससे आगे होने वाले ६४ कलाओं की आवश्यकता ही क्या? अतः महः का अर्थ यहां परब्रह्म ऐसा करना कभी भी हितकर नहीं है। उसका अर्थ शब्द ब्रह्म ॐकार अथवा पूर्णपुरुष ऐसा करना ही योग्य है।

परंतु पूर्णपुरुष के लिए महः के पास प्राप्त होने वाले १६ प्रकार जनः के पास भी अनुभव करने आते है। उसके पास तथा सत्य के साथ भी अनुभव करने आते है। १६ x ४ = ६४ प्रकार ही होते है। इन्हीं को ६४ कला कहा जाता है।

यहां पूर्णपुरुष के ज्ञान के दृष्टि से विशेष बात यह है कि महः का चतुर्थ व्याहृति के पास यदि आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता हो अथवा ब्रह्मानुभूति भी आती होगी तो भी यहीं रुकना अथवा इसी स्थिति में कायम रहना कभी भी हितावह नहीं है। कारण आगे की जनः तथा तपः इस व्याहृति के ज्ञान को अथवा उसके कारण पूर्ण के ज्ञान को मनुष्य वंचित रहता है। यहां सभी बौद्धिक विचार तथा तर्क यद्यपि समाप्त होते हो तो भी मनुष्य को अपनी अनुभूति यहीं रोकना, अनुभूति की इतिश्री यहीं करना कभी भी हितावह नहीं है। इच्छानुरूप सभी बातें मिलने पर होने वाला आनंद यह सभी का एक जैसे, एकरस होता है तो भी अथवा वह सर्वत्र ब्रह्मांड़ को भी व्याप्त करने वाला हो तो भी इस महः के आत्मतत्त्व की अनुभूति के लिए रूपांतर जन में भिन्न भिन्न रूप व्यक्ति में होता है तथा इन जनों को मिलने वाला आनंद आत्मसाक्षात्कार हुए व्यक्ति को मिलते रहता है यह ध्यान में रखना जरुरी है। इस रीति से जनता जनार्दन रहता है इसका अनुभव आत्मसाक्षात्कारी व्यक्ति को तभी आता है जब इस जन में जनार्दन है यह उसके अनुभूति में प्रत्यक्षतया आने लगता है। ऐसी अनुभूति न आकर भी, व्यक्ति का जनार्दन अनुभव न आने पर जन ही जनार्दन है यह समझना घातक है। अतः पूर्णवादाचार्य अपने अभिनव अभंग में कहते है -

जनी जनार्दन सांगता ते लोका। (मराठी अभिनव अभंग)
अर्थ का ठाऊका याचा तुम्हा ।।४९।। – अर्थ उपर्युक्त

सारांश, महः के पास आने वाले आत्मत्तत्व जनों के व्यक्ति के रूप से प्रकट होने पर भी अनुभव आने पर ही फिर ''जनी जनार्दन'' का अर्थ मनुष्य को स्पष्ट होता है। अपने आत्मतत्त्व फिर जनरूप से व्यक्तिगत रूप से प्रकट हो सकता है इसका बोध उसे होता है। हम यदि अनुभूति से ब्रह्मांड़ जैसे व्यापक हुए हो, संत तुकाराम के शब्द में ''तुका आकाशा एवढा'' होने पर भी यह अनुभूति कायम रखकर उसे व्यक्तिगत रूप से जन्म लेता है इसका बोध अथवा अनुभूति मनुष्य को जनः इस व्याहृति पर आता है। यह आने पर इसे शक्य बनाने के लिए तपः इस व्याहृति पर मनुष्य की अनुभूति सहज आती है। क्या करने पर अपने को अपनी अनुभूति कायम कर अपने काम तथा काल अनुभव में आकर भी फिर व्यक्तिगत रूप से जन्म लेते बनेगा। यह विषय तपः इस व्याहृति पर मनुष्य को अनुभव में आता है। यह तप आत्मसात करने पर फिर मनुष्य को मात्र सत्य का पूर्ण ज्ञान होकर जब वह फिर से पृथ्वी पर अपने आत्मतत्त्व की अनुभूति के साथ जन्म लेता है तब वह पूर्ण होता है। परंतु जनः तपः इस व्याहृति पर न जाते महः के पास ही रुकने से और वही सत्य इस अन्तिम व्याहृति का अनुभव लेने पर यदि मनुष्य मुक्त भी हुआ, मोक्ष प्राप्त किया, साक्षीभूत होकर रहा तो भी पूर्णत्त्व का अनुभव नहीं प्राप्त होता। पूर्णपुरुष का रूप तथा ज्ञान जनता नहीं। अतः पूर्ण की अनुभूति के लिए वासनाओं का त्याग अथवा अनुभूति की समाप्ति महः के पास न करते पूर्णपुरुष के ज्ञान की इच्छा अथवा वासना कायम रखकर तपः तक जाकर पुनः भूः पर आना आवश्यक है। यही वेदप्रणित मार्ग है। अतः ''अगले जन्म में मुझे यही पत्नी मिले'' ''इसी देवता की उपासना मुझसे हो'' आदि संकल्पना वेदों में दिखाई देती है। उसके लिए उपाय भी वेदों में बताये है। सारांश, महः से लेकर जनः तपः सत्य तक यह यात्रा मात्र आध्यात्मिक स्वरूप की न होकर उसमें आधिदैविक का भी योगदान रहता है तथा आधिदैविक और आध्यात्मिक की सहउपासना वहां आवश्यक है यह स्पष्ट है। संक्षेप में, जीवन की इतिश्री महः के पास न होकर वह तपः सत्यं के बाद फिर से आधिभौतिक जीवन के शुरुवात तक है अर्थात् अनंत है, शान्त नहीं है यह सिद्ध है। एकदम सादा उदाहरण लिया तो भी गेहूं का बोया हुआ एक बीज भी अथवा बिन बीज के अंगूर महः अर्थात् अनंत गुना उगने पर जब फिर से बोया जाता है तथा उगाता है तब जाकर कहीं उसका एक वर्तुल पूर्ण होता है, वह पूर्ण है ऐसा कहा जाता है परंतु महः के पास ही रुककर परब्रह्म का तथा मोक्ष का अट्टहास करने के कारण भारत इस पूर्णपुरुष के ज्ञान से वंचित ही रहा ऐसा बड़े खेद से कहना पड़ता है।

विज्ञान का विकास अधिक से अधिक कितना होना चाहिए ऐसा पूछने पर, जबतक मनुष्य को अपनी इच्छा से मरण नहीं आता तथा अपनी इच्छा से ही चाहे जिस समय, चाहे जिस स्थान संपूर्ण विश्व का बोध रखकर जन्म लेते बनेगा। वेदों ने एक समय यही सिद्ध भी किया था।

आत्मसाक्षात्कार व्यक्ति आत्मतत्त्व की अनुभूति के साथ पुनः जन्म ले सकता है। इच्छानुरूप चाहे तब, चाहे जिस स्थान पर जन्म लेता है। इसलिए ही सत्य को पूर्णपुरुष कहा गया है। अंतिम सत्य निर्गुण निराकार व्यापक अनंत होते हुए इस अनुभूति सह मनुष्य व्यक्ति के रूप में जन्म ले सकने के कारण ही उसे पूर्णपुरुष कहा जाता है और इसलिए ही इस सप्त व्याहृति के और उसमें से भी इन पहले चार व्याहृतियों के (जिसमें यह सातों व्याहृतियां जुड़ी हुई है) पूर्णपुरुष का वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् में आया है। उसे अब देखेंगे और अपने सिद्धान्त को और मजबूत करेंगे।

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर
एकं शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वै बाहू द्वै एते
अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे
तस्योपनिषद्हरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद।।५०।।

अर्थ – ''यह जो आदित्य मंडल में पुरुष है उसका भूः यह व्याहृति सिर है। सिर एक ही होता है। भूः यह अक्षर भी एक ही है। भुवः यह बाहू है। बाहू दो रहते हैं (भुजाएं) यह अक्षर भी दो ही हैं। स्वः यह प्रतिष्ठा आधार अथवा पैर है। पैर दो रहते हैं। यह अक्षर भी दो ही हैं। उनका उपनिषद् अहर है। यह जो जानता हो और उसकी उपासना करता है वह पाप को मारता है तथा उसका त्याग करता है।''

इसके आगे दक्षिण नेत्र के पुरुष का भी उपर्युक्त व्याहृतात्मक वर्णन है तथा उसका उपनिषद् अहं है। तात्पर्य, व्याहृति के वेदों में विविध अर्थ दिये है तथा उनका उपयोग भी भिन्न भिन्न स्थान पर विशेष तौर से किया है।

उपर्युक्त बृहदारण्यकपनिषद् में आदित्य मंडल में पुरुष है। ऐसा कहने का कारण महः से पहले तीन व्याहृतियों को महिमा प्राप्त होने के कारण मनुष्य को अपनी आत्मा का दर्शन यदि लेना है तो वह आदित्य के आधार पर नीचे बताये जैसे लेने आता है। सूर्य की तरफ देखकर फिर आंखें मूंद कर उसका मन में ध्यान करने पर उस आत्मा का दर्शन हो सकता है। आत्मा का ज्ञान यद्यपि कठिन है तो भी उसका दर्शन मनुष्य को हो सकता है। कोई भी व्यक्ति सूर्य की ओर ठीक से देखकर तथा आँखें मूंद कर उसका स्वरूप हृदय में स्मरण करने पर उसे उसकी आत्मा का अलग अलग रंगों के साथ दर्शन

होगा। अभ्यास से यह बात सहज बनती है। सारांश, आत्म दर्शन सूर्य के कारण होने से आदित्य को महः ऐसा कहा है।

अविद्यायाम् मृत्यूं तीर्त्वा। विद्यायाऽमृत मश्नुते।।५१।।

इस वचन से जब कि श्रुति विद्या तथा अविद्या की सहउपासना कहती है तब अविद्या का बाध श्रुति करती नहीं अथवा उसे सद्सद् विलक्षण भी नहीं कहती तो विद्या ही कहती है यह सिद्ध है। इससे ऐसा सप्रमाण सिद्ध होता है कि अद्वैति विद्या तथा अविद्या इससे अत्यंत भिन्न ऐसे वैदिक वेदों की विद्या तथा अविद्या है तथा उसकी सहउपासना जब श्रुति ने बतायी है तब वेदों का केवल सत्य पूर्णपुरुष यही है।

* * * * * *

परिशिष्ट - १

माया प्रकरण का अध्ययन कब और कैसे करना?

प्रतिपदा को अनभ्यास तो द्वितिया को अभ्यास ऐसी अभ्यास (अध्ययन) की पुरानी परंपरा बतायी जाती है। इसके साथ ही किसी भी सिद्धान्त विषयक ग्रंथ की रचना में प्रथम प्रकरण में सिद्धान्त तथा दूसरे प्रकरण से उसकी मीमांसा प्रक्रिया को रखने की परंपरा है। इन दोनों दृष्टियों से पूर्णवाद ग्रंथ के 'माया' प्रकरण का अध्ययन करना मनुष्य के हित की बात है।

माया शब्द का अर्थ व्यवहार में अद्भुत शक्ति तथा विशिष्ट सामर्थ्य ऐसा किया जाता है। जैसे घटोत्कच की माया, श्रीकृष्ण की 'माया' इत्यादि। परंतु सैद्धान्तिक चर्चा में अथवा वेदान्त में माया अर्थात् बहुतांश जगत् निर्माण करने वाली अथवा भासमान ईश्वर की शक्ति किया जाता है। डॉ. रामचन्द्र पारनेरकर ने मात्र अपने सभी वाङ्मय (साहित्य) में शब्दों को यथार्थत्व दिया है तथा किसी भी शब्द का, दर्शन का अर्थ तथा व्यावहारिक अर्थ (लौकिक) इसमें संतुलन बनाये रखने की सावधानी ली है। इस दृष्टि से उनका प्रतिपादित स्वरूप सिद्धान्त अत्यंत महत्त्वपूर्ण है तथा उसके कारण तर्क तथा व्यवहार में अच्छा संतुलन बिठाने आता है, तथा मनुष्य को दर्शन शास्त्र प्रत्यक्ष व्यावहारिक जीवन में उतारने की कला प्राप्त करने आती है।

इसलिए 'माया' प्रकरण की भूमिका में शुरुवात में ही पूर्णवादाचार्य कहते है, पूर्णपुरुष के स्वरूप का निश्चय होने के लिए माया का निश्चित ज्ञान होना चाहिए। उसके सिवाय पूर्वसंस्कार से हुआ हमारा परब्रह्म के पूर्णत्त्व का (अथवा केवलत्त्व का) ग्रह दूर होना असंभव है, और यदि वह दूर नहीं हुआ तो पूर्णपुरुष के स्वरूप का निश्चय होना भी कठिन ही है।

इसका ही अर्थ यह है कि, जब तक केवलाद्वैत के लगभग ६०० वर्ष के संस्कारों ने विश्व तथा जगत् यह मायोत्पन्न है, मिथ्या है, भास है ऐसी हमारी दार्शनिक मान्यता

कायम है, परंतु सभी जीवन व्यवहार 'जगत् सत्य है' इस आधार पर ही चल रहा है, तब तक हमें 'पूर्णपुरुष' यह प्रकरण व्यवस्थित समझना मात्र असंभव तथा कठिन है और इसलिए 'माया' इस दूसरे प्रकरण का द्वितीया का अध्ययन पहले कर फिर बाद में पहले अर्थात् 'पूर्णपुरुष' प्रकरण से, ग्रंथाभ्यास करना उचित होगा। ऐसा करने पर पहले प्रकरण में वर्णित पूर्णपुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हमें होगा और वही 'माया' प्रकरण की फलश्रुति है।

इस दृष्टि से वास्तव में 'माया' प्रकरण पहले लेकर बाद में 'पूर्णपुरुष' यह प्रकरण प्रतिपादित किया जाना चाहिए था। परंतु यदि वैसे किया होता तो 'माया' इस अध्ययन से 'पूर्णपुरुष' सिद्धान्त आया है, माया के अध्ययन का वह परिणाम है ऐसा लगने की संभावना होती। अतः 'पूर्णवाद' इस नवीनतम मौलिक सिद्धान्त ग्रंथ में पूर्णवादाचार्य ने अपना 'पूर्णपुरुष सिद्धान्त' पहले स्पष्ट किया। बाद में फिर 'माया' यह आद्य शंकराचार्य के उपसिद्धान्त की सापेक्षता में, जो सिद्धान्त, वेद द्वारा खरा (सही) उतरता है यह अपने 'माया' इस दूसरे प्रकरण में स्पष्ट किया है।

यहां इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि आद्य शंकराचार्य का मूल सिद्धान्त 'ब्रह्म सत्यं' इतना ही है 'माया' यह युक्ति अथवा उपसिद्धान्त है। तर्क से ब्रह्म तथा जगत् का संबंध अर्थात् दर्शन तथा व्यवहार का संबंध स्थापित न कर सकने के कारण शंकराचार्य को 'माया' यह उपसिद्धान्त उस समय के संदर्भ में बताना आवश्यक लगा। सारांश, उपसिद्धान्त से सिद्धान्त तक आना यह विषय के समझने की दृष्टि से यद्यपि आवश्यक हो तो भी सिद्धान्त से उपसिद्धान्त तक जाना यह नया सिद्धान्त प्रस्थापित करने की दृष्टि से आवश्यक होने के कारण, पूर्णवाद ग्रंथ में 'पूर्णपुरुष' प्रकरण पहले तथा बाद में 'माया' तथा विद्या-अविद्या प्रकरण की योजना बनायी।

परिशिष्ट – २

वेदमाया, वेदान्ति माया तथा सांख्य प्रकृति

'संतकृपा' मासिक पत्रिका के जुलाई अंक में कु. अंजली पवते का लेख 'माया शक्ति ईश्वराची' प्रकाशित हुआ। इसमें कु. पर्वते ने 'माया' इस गहन विषय को दास बोध के माध्यम से व्यक्त किया है। उनके मत में समर्थ रामदास स्वामी ने दासबोध में वर्णित माया यह वसिष्ठ की माया संबंध के कल्पना से साम्य रखती है। वह आद्यशंकराचार्य के वेदान्ति माया से यद्यपि समीप है फिर भी उससे अलग है। 'विश्व हाच हरिसंकल्प' तथा 'हरिसंकल्प ही माया' ऐसी समर्थ के मूल माया की संकल्पना लेखिका ने व्यक्त की।

परंतु यह करते समय–

१. मूल वेदों ने तथा उपनिषद् दृष्टि से मुनि ने उपनिषद् में 'सगुणविश्व' तथा निर्गुण ब्रह्म इनके परस्पर संबंध का विश्लेषण नहीं किया।

२. उनके बीच कार्यकारण संबंध के योग्यायोग्यता का विचार भी नहीं किया– ऐसा उन्होंने प्रतिपादित किया। इस कार्यकारण का विचार करने पर – 'सगुण' (शबल) ब्रह्म से 'सगुण विश्व' यदि निर्माण होता होगा तो निर्गुण ब्रह्म माने ही क्यों? आदि नास्तिक विचार आने पर ब्रह्म के संबंध में मनुष्य के मन में अनेक विकल्प खड़े होते है। ऐसा भी आगे उन्होंने कहा है। उनका मत है कि आद्यशंकराचार्य के परात्पर गुरू गौडपादाचार्य ने माया संकल्पना सबसे पहले व्यक्त की तथा आगे चलकर शंकराचार्य ने उसे आगे बढ़ाया।

इस प्रकार के कार्यकारण संबंध का विचार करने वाली पद्धति को ही डॉ. रामचन्द्र पारनेरकर ने, अपने पूर्णवाद प्रबंध में, माया प्रकरण के अन्तिम परिच्छेद में 'मूल में भूल' ऐसा कहा है तथा, स्वरूप संबंध ही इसमें सही संबंध है यह भी कहा। काशी के 'भारत धर्म महामंडल' इस प्राचीन विश्वविद्यालय ने उन्हें पूर्णवाद प्रबंध पर डॉक्टरेट की

उपाधि (Ph.D.) प्रदान की है। इसमें डॉ. पारनेरकर ने माया संबंध में स्पष्ट कल्पना रखकर वेदांती माया यह वेदमाया (उपनिषदों में वर्णित माया) तथा सांख्य प्रकृति से कैसे भिन्न है यह स्पष्ट किया है। स्वरूप संबंध यह डॉ. पारनेरकर प्रतिपादित पूर्णवाद दर्शन (सिद्धान्त) की विशेषता है। वास्तव में परब्रह्म, जीव तथा जगत् इनका स्वरूप संबंध रहते इस कार्य कारण संबंध से और विश्व के नानात्व के कारण मनुष्य उसमें (परब्रह्म, जीव, जगत्) भेद करने लगता है यही माया है ऐसा डॉ. पारनेरकर का मत है।

अब हम वेदान्ति माया, वेदमाया तथा सांख्य प्रकृति इनमें - डॉ. पारनेरकर ने माया प्रकरण में विश्लेषित फर्क नीचे बताये तक्ते से स्पष्ट देखेंगे ।

क्र.	वेदान्ती माया	वेदमाया	सांख्य प्रकृति
१.	माया के कारण जगत् उत्पन्न होता है, भासमान होता है। जगत् का कारण माया जो त्रिगुणात्मक कारण रूप तो विश्व यह कार्यरूप	ईश्वर के पूर्णपुरुष के आधिभौतिक विश्व स्वरूप के विविधता के कारण माया उत्पन्न होती है। विविधता यह कारणरूप माया यह कार्यरूप	त्रिगुण की साम्यावस्था मूल प्रकृति अथवा अव्यक्त है। उसमें से महत यह पुरुष के उपस्थिति में जो खेल खेलते है उससे विश्व प्रकृति कारण विश्वकार्य
२.	माया सत् असत् विलक्षण होने के कारण, उसे सत्ता है भी और नहीं भी। माया स्वतंत्र नहीं है। अतः उसे स्वतंत्र सत्ता नहीं है।	पूर्णपुरुष कस विश्व ही स्वरूप होने से विश्व माया यह स्वरूप बनता है। विश्व में दिखने वाले कार्यकारण संबंध के कारण वह निर्माण होती है। वह स्वतंत्र नहीं है। पूर्णपुरुष तथा माया (Insopurable anticedents)	सांख्य प्रकृति यह स्वतंत्र तत्त्व होने से प्रकृति को सत्ता होती है। प्रकृति यह सत् परंतु अव्यक्त पुरुष के सान्निध्य में वह सत्ता बजाती है।
३.	माया ईश्वर को ढकती है। जैसे सर्पाभास रस्सी को ढकता है।	ईश्वर पूर्णपुरुष माया से अपने आप को ढक लेता है। जैसे मकड़ी अपने ही जाल से ढकलेती है।	प्रकृति पुरुष के सान्निध्य में जगत् की उत्पत्ति करती है। अतः ढकने का प्रश्न ही नहीं आता।
४.	अज्ञान जन्म भ्रममूलक माया यह विश्व का उपादान कारण अज्ञान यह माया का निमित्त कारण।	माया यह ईश्वर का स्वरूप। ईश्वर की शक्ति परंतु Mechanical Energy नहीं। कार्यकारणभाव नहीं। अतः जगत् का निमित्त तथा	प्रकृति यही जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण वह गुणक्षोभिणी होने के कारण, गुणक्षोभ यही उसका उपादान

	उपादान कारण पूर्णपुरुष।	कारण। गुणक्षोभ यह उसका स्वभाव।
५. साक्षी परब्रह्म का सत्यत्व तथा निरंतर बने रहने के लिए कार्यकारण कालने जगत् का करने के कारण तर्कापत्ती आती है। अतः जगत् तथा परब्रह्म में माया डालनी पड़ती है। भ्रम-मूलक जगत् माया का कार्य तथा अज्ञान माया का कारण।	स्वरूप संबंध से परब्रह्म के सत्यत्वपर तर्कापत्ति नहीं आती तथा परब्रह्म और जगत् के सत्यत्व को बाधा नहीं आती। जगत् पूर्णपुरुष का आधिभौतिक स्वरूप, तो परब्रह्म यह आध्यात्मिक स्वरूप बनता है।	प्रकृति यह जगत्कारण सत्य होने से जगत् भी सत्य प्रमाणित होता है। प्रकृति तथा पुरुष दोनों तत्त्व अनादि सत् होने के कारण पुरुष सत् तथा जगत् भी सत्य है।
६. अद्वैत	पूर्णाद्वैत	द्वैत
७. जगत् मिथ्या है तो भी भासमान है यही माया है।	उत्पत्ति, स्थिति, लय यह जगद् जगद्व्यापार नित्य भासमान होने के कारण कर्ता, कारण, कार्य दिखाई देता है। अतः स्वरूपसंबंध होकर भी कार्यकारणभाव लगता है यही वेदमाया।	जगत् सत् उसका व्यापार प्रकृति के २४ तत्त्वों से चलता है।

परिशिष्ट - ३

माया-विद्या-अविद्या

माया

इस ग्रंथ में माया तथा विद्या-अविद्या यह दो प्रकरण व्यवस्थित हम समझ सके तथा प्रसंगोपात दूसरे को भी योग्य रीति से समझा सकें इसलिए इन शब्दों के पारंपरिक भिन्न भिन्न अर्थ संक्षेप में नीचे बताये है। अध्येता यदि उस पर मनन करें तो फायदा होगा।

१. 'या, मा, सा माया' - जो नहीं, वही माया। इसी का दूसरा अर्थ यह है कि जो है वह ब्रह्म है अथवा पूर्णपुरुष का आध्यात्मिक रूप है।

२. 'मा' यह शब्द ब्रह्म तो या यह प्रकाश ब्रह्म कहा जाता है। माया का सही स्वरूप जानने के लिए शब्द ब्रह्म से नाद ब्रह्म की ओर तथा नाद ब्रह्म से प्रकाश ब्रह्म की ओर यात्रा करनी पड़ती है।

३. 'मा' यह ज्ञानशक्ति, तो 'या' यह क्रियाशक्ति है। मनुष्य को अपने अन्तर्गत आने वाली इन दो शक्तियों का बोध होता है तब इच्छा शक्ति निर्माण होती है। यह तीन शक्ति चित शक्ति की ही स्वरूप है। चित्त शक्ति यह आत्मा का स्वरूप है तथा आत्मतत्त्व को ब्रह्म अथवा शिव का आधिष्ठान है।

४. 'मा' अर्थात् नापना, विश्लेषण करना, परिमित करना, गिनना यह सत् (अस्ती) के कारण, सत् के मल के कारण विश्लेषण करना यह चित (भाती) के कारण चित के विक्षेप के कारण, परिमित करना यह आनंद के लिए (प्रीती), आनंद के अवरण के कारण, भाती के कारण रूप, तो प्रीति के कारण नाम बंधन को कारण चित् (भाती) तथा आनंद (प्रीति) है, तो मुक्ति को कारण मलरहित शुद्धसत् (अस्मिभाव) है। पूर्णवाद में बंध तथा मोक्ष सापेक्ष है। 'भोगूनिया भोग राहे जो मोकळा' अर्थात् 'पाडूनिया बंध राहे

जो मुक्त' वही वास्तव में मोक्ष का अधिकारी रहता है।

५. माया के दो रूप तथा नाम मनुष्य के नित्य अनुभव की रहती है, वह मूल अस्तित्व पर आधारित रहने वाली भाती तथा प्रीति पर निर्भर रहते हैं। इसलिए मनुष्य को वासनानंद (रूप) तथा विद्यानंद (नाम) प्राप्त होता है तथा वह बंधन कारक रहता है। शुद्ध अस्ति पर निर्भर रहने वाला ब्रह्मानंद मुक्तिकारक रहता है।

६. हिन्दी में 'मा' अर्थात् आई (मराठी) ई अर्थात् प्रकृति तथा अ अर्थात् पुरुष (अक्षराणाम् 'अ' करोस्मि गीता १०/३३ अतः आई अर्थात् मनुष्य को अथवा प्राणी को आकार में लाने वाली ईश्वरी शक्ति।)

७. संस्कृत में 'मा' अर्थात् नहीं। 'मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात' अर्थात् किसी को भी दुःख प्राप्त न हो।

८. 'मा' एक अर्थ, 'कला, कौशल्य, हुन्र, कारागिर, होने से माया क़ा अर्थ यह निर्माण करने वाली शक्ति।'

९. हिन्दी में माया संबंध में निम्नलिखित वचन है -

(अ) 'मा' नहीं है 'या' वो (आ) 'मा' अने जो प्रमाण को कसौटी पर 'या' अने चली जाती है वो। (इ) 'मा' अने 'जो माया में' डाल देती है 'याद' को वो। विद्या-अविद्या

१. ज्ञान का 'ज्ञ' अर्थात् बोध, तो 'न' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रत्यय का बोध अर्थात् ज्ञान। यह प्रत्यय तीन प्रकार का मैं, तू तथा यह सभी इसी को, अहं, इदं, मम ऐसा भी कहते हैं।

२. ज्ञान का 'ज्ञ' अर्थात् बोध, तो 'न' अर्थात् ने अज्ञात (नेणिव) पहले ज्ञात न रहने वाले ही ज्ञात होते है, नेणीव (अज्ञात) रूप विशाल रहता है। नेणिवे के 'न' के अस्तित्व के कारण 'ज्ञ' बोध शक्य। अतः संत ज्ञानेश्वर कहते है जाणीव नेणीव भगवती नाही, भगवती अर्थात् ईश्वर - उसे ज्ञात नहीं ऐसा कुछ भी नहीं अर्थात् वहां नेणिव न होने से जाणीव बोध भी हम समझते है इस अर्थ से ईश्वर के पास नहीं होता है।

३. विद्या-अविद्या यह प्रमाण, प्रमाता तथा प्रमेय इस त्रिपुटी में कार्य करते हैं। इसके प्रमाण-प्रमेय एक रूप होने चाहिए तथा प्रमात के अस्तित्व भी घुलने लगते है।

४. नीचे बताये आकृति से ज्ञान का परिचय ठीक प्रकार से होगा ऐसा लगता है।

आकृती क्र. १

५. विद्या में पराविद्या श्रेष्ठ तो अनुभूति में अपरोक्षानुभूति श्रेष्ठ।

६. अविद्या से मृत्यु को पार करने आता है तो विद्या से जन्म से छुटकारा हो सकता है।

७. विष्णुसहस्रनाम में विष्णु का (पूर्णपुरुष) का वर्णन नीचे बताया जैसे है।

'करणं कारणं कर्ता विकर्ता गहनो गुहाः' इससे जगत् ईश्वर तथा परब्रह्म यह पूर्णपुरुष की ही आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप है, इस सिद्धान्त को पुष्टि मिलती है। जगत् माया अथवा भ्रम का कार्य नहीं है यह नीचे बताये आकृति से सिद्ध होता है।

आकृती क्र. २

पूर्णपुरुष	१	२	३
(१) गहनो गुहाः	नाद ब्रह्म	प्रकाशब्रह्म	शब्दब्रह्म
वेदाक्त शब्दब्रह्म			
(२) विकर्ता	अस्ति (अहं)	भाति (इदं)	प्रिय
वि+कर्ता	असणे	भासणे	प्रेयस श्रेयस
विपरीत कर्ता			(विषयानंद) (ब्रह्मानंद)
विशेषकर्ता			

	सत् (असत् नहीं इसलिए)	चित् (जड़ नहीं इसलिए)	आनंद (दु:ख नहीं इसलिए)
(३) कर्ता विपरीत	भावना	कल्पना	वासना
त्रिदोष	मल (अहं)	विक्षेप (इदं)	आवरण (मम)
	भ्रम	संभ्रम	विभ्रम
	संकल्प	विकल्प	सकल्प विकल्प
(४) कर्ता	(१) तन्मात्र शक्ती -	शुद्ध स्पर्श	रूप रस गंध
विशेष रीति से	(२) पंचमहाभूते -	आकाश वायु	तेज आप पृथ्वी
	(३) पंचप्राण -	प्राण अपान	व्यान उदान समान
(५) कारणं ज्ञानेंद्रिये (पांगळी)	-----	कान त्वचा	आँखें जिव्हा नाक
(६) करणं कर्मेंद्रिये (आंधळी)	-----	वाक् पाणी	पाद पायू उपरथ

उपर्युक्त करणं कारणं आदि शक्ति अंग से मनुष्य जन्म लेता है श्रेयस प्रिय है तथा आनंददायी है इसलिए वह ब्रह्म है। परंतु प्रेयस माया के कारण श्रेयस लगता है।

परिशिष्ट – ४

ख्याति वर्णन

माया प्रकरण में (पूर्णवाद पृ. ६९) पारनेरकर जी कहते हैं कि, परंतु वेदान्तियों की माया की ठीक कल्पना आने के लिए अध्यास का ज्ञान होना आवश्यक है। अतः उसका परिचय हम करा लेंगे।

''न्याय मत से भ्रम की रीति ऐसी है कि रज्जू (रस्सी) से जब सदोष ऐसे नेत्रेंद्रिय से संयोग होता है, तब उस नेत्रेंद्रिय का रज्जुत्व समवाय संबंध रहता ही है परंतु नेत्रेंद्रिय के दोषों के योग से उस रज्जु का रज्जुत्व लगता नहीं, तो रज्जु के स्थान पर सर्पत्व का भास होता है। यह अध्यास है।'' यह रज्जु सर्प का दृष्टांत ठीक से समझने के लिए नीचे ख्याति वर्णन समझ लेना आवश्यक है।

समझो, कोई पांच पुरुष रास्ते से जाते समय, उन्हें रास्ते पर गिरी हुई रस्सी के स्थान पर सांप का भास हुआ, बाद में रस्सी के ज्ञान से सभी का सर्प भ्रम निवृत्त भी हुआ। यहां तक तो सब ठीक है। फिर वह पांच (छह) जन एक जगह बैठ कर विचार करने लगे की, इस रस्सी के स्थान पर सर्प क्यों भासमान हुआ, इन पांचों के नाम नीचे दिये हैं।

१. असत्ख्याती – माध्यमिक शून्यवादी बौद्ध

२. आत्मख्याती – योगाचार विज्ञानवादी बौद्ध

३. अन्पथाख्याती – प्राच्य व नव्य वैज्ञानिक – वैकल्पिक मत का जड़वादी

४. अख्याती – सांख्य व प्रभाकर मत का चिद्वादी

५. सत्ख्याती – रामानुजमत का जगत् सामवादी

६. अनिर्वचनीय ख्याती – व्यास तथा शंकराचार्य की

१. असत्ख्याती – माध्यमिक शून्यवादी बौद्ध अर्थात् ''जगत् का हर पदार्थ

असत् (झूठ) होकर भी वह शून्यरूप (परब्रह्म) परम तत्त्व पर जैसे लगता है (भासमान) वैसे ही सर्प यह (रज्जु के स्थान पर परम तत्त्व पर) भासमान है'' इस पर आत्मख्यातवादी कहता है, ''सर्प अत्यंत असत है तथा उसकी प्रति यदि परम तत्त्व पर होती है तो अत्यंत असत् जो वंध्यापुत्र (अथवा खरगोश के सींग) उसकी भी जैसी होनी चाहिए वैसे वह होती नहीं। अतः असत्ख्याती मत अशुद्ध (गलत है)।

२. आत्मख्याती - प्रथम क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में स्थिति और तृतीय क्षण में नाश ऐसा विज्ञानरूपी बुद्धी यहीं आत्मा ऐसे योगाचार बौद्ध का मत है, ऐसा बौद्ध कहता है। ''जितने पदार्थ प्रतीत होते है, उनका आकार बुद्धि ही लेती है। बुद्धि यह क्षणिक रूप है तथा वहीं आत्मा है। इस क्षणिक विज्ञान रूप आत्मबुद्धि की सर्परूप से प्रति आती है, यद्यपि रज्जु के स्थान पर (अथवा अन्य कहीं भी) सही, असल में सर्प नहीं होता।'' इस पर अन्यता ख्यातीवादी कहता है, क्षणिक विज्ञान रूप बुद्धि सर्प का आकार लेती है ऐसा मानने पर क्षण भर ही सर्प की प्रतीति आनी चाहिए। परंतु वह बहुत काल आती है। सिवाय क्षणिक विज्ञान रूप बुद्धि आत्मा है तो बचपन में पिता की गोद में खेलने वाला मैं अभी पोते के साथ खेल रहा हूँ। ऐसी प्रत्यभिज्ञा (बुद्धि) होती है वह नहीं होनी चाहिए। अतः आत्मख्याती मत तर्कसंगत नहीं है।

३. अन्यथाख्याती - इसमें प्राच्य तथा नव्य नैय्यायिक (न्यायदर्शनशास्त्र) ऐसे दो भाग है। प्राच्य मत ऐसा है कि, बांबी के स्थान पर रहने वाले सही सर्प की प्रतीति रज्जु जहां गिरा होगा वहां वह था अर्थात् सत्य सर्प प्रतीति स्थान बदलता है यही अन्यथा ख्याती है।

इस पर नैय्यायिका का कहना है कि बांबी के स्थान पर होने वाले सर्प का ज्ञान जैसे रस्सी जहां गिरी वहां होता है, वैसे बांबी के पास रहने वाले पेड़ तथा घास आदि का ज्ञान रस्सी के स्थान पर क्यों न हो? अतः यह मत बराबर है। नव्य नैय्यायिक चिंतामणी का कहना है कि नेत्रदोष का ज्ञेय जो (रस्सी) रज्जु उसका सर्प रूप से अर्थात् अन्य का (रज्जु का) अन्य प्रकार से (सर्परूप से) ज्ञान होना अर्थात् अन्यथा ख्याती है। इस पर अख्यातीवादियों का कहना है, जैसा ज्ञेय वैसे ज्ञान होता है ऐसा नियम है। ज्ञेय यदि पहाड़ है तो राई का ज्ञान नहीं होगा। वैसे ही रज्जु यदि ज्ञेय है तो सर्प ज्ञान नहीं होगा।

४. अख्याती - इनका मत है कि, प्रथम रज्जु का यहां कुछ गिरा है, ऐसा इदं रूप से

सामान्य ज्ञान होता है। वह प्रत्यक्ष होता है। उसी समय पहले देखे होंगे सर्प स्मृति होती है। इदं सामान्य ज्ञान तथा सर्पाशा से स्मृति यह दो ज्ञान मिलकर (प्रत्यक्ष तथा स्मृति) यह सर्प है यह एक ही ज्ञान भासमान रहता है। इस ज्ञान में रज्जु का सामान्य प्रत्यक्ष ज्ञान तो सर्प का स्मृति ज्ञान ऐसे दो ज्ञान है। ऐसा विवेक उस समय होता नहीं। इस अविवेक को ही सांख्य प्रभाकर भ्रम कहते है। इस पर सत्ख्यातीवादी कहते है, 'सर्पाश में यदि स्मृति ज्ञान माने तो उससे भय होना तथा भागना नहीं होगा। जंगल में शेर देखकर कालांतर से घर में बैठे व्यक्ति को यदि उसका स्मरण होता है तो उसे भय नहीं लगता तथा वह भागता भी नहीं। सिवाय रस्सी का सही ज्ञान होने पर मुझे सर्प की स्मृति हुई इसलिए भय लगता है ऐसा रस्सी के स्थान पर देखने वाला नहीं कहता। मुझे रस्सी के स्थान पर सांप दिखा ऐसा कहता है। दो ज्ञाते प्रत्यक्ष तथा स्मृति मानने पर उसमें अंतर (सूक्ष्म क्यों न हो) होना जरूी है। वैसे अनुभव में नहीं आता। अतः अख्याती मत भी सदोष है।

५. सत्ख्याती - जब रस्सी के स्थान पर सर्प का अथवा सीपी का, शुक्ति के स्थान पर रजत का भ्रम उत्पन्न होता है, तब उनके स्थान पर सर्प अथवा रजत सत्य ही उत्पन्न हुए रहते है। विश्व के सभी पदार्थ पंच तत्त्व से ही उत्पन्न हुए है अर्थात् सभी पदार्थों के अवयव वास्तव में पंचतत्त्व में ही रहते है। रस्सी के स्थान पर रस्सी के अवयवों के साथ सर्प के भी अवयव जैसे नित्य रहते है, वैसे शुक्ति देश में अवयव के साथ रजत के अवयव भी निरंतर रहते है। उस प्रकार सर्प तथा रजत के अवयव भी सत्य ही है। उससे क्रमशः सत्य सर्प तथा सत्य रजत उत्पन्न होकर उसकी प्रतीति आती है तथा रस्सी, शक्ति के ज्ञान से सर्प का तथा रजत का अपने अवयव में ध्वंस अर्थात् नाश होता है। इस प्रकार रस्सी सर्प में अथवा शुक्ति रजत में सत्य सर्प की तथा सत्य रजत की प्रतीति आती है। अतः सत्ख्याती मानना ही उपयुक्त है और इसलिए ही पूर्णवाद ग्रंथ में डॉ. पारनेरकरजी कहते है, ''शुक्ति के स्थान पर जब रजत का भ्रम होता है तब शुक्ति देश के स्थान पर रजत उत्पन्न होता है। इस रजत का ज्ञान तथा तात्कालिक रजत इन दोनों को भी सिद्धान्त मत से आभास तथा अध्यास कहते हैं। अन्य शास्त्रकार के मत से शुक्ति के स्थान पर रजत की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। आचार्य उसे मानते है। यही आचार्य का विलक्षण तथा असाधारणत्व है। मात्र एक सत्ख्यातवाद में रजत की उत्पत्ति मानी जाती है। परंतु उस मत में और एक महत्त्वपूर्ण फर्क है अतः दोनों एक है ऐसा नहीं कह सकते।''

६. अनिर्वचनीय ख्याती - जब रज्जु पर सर्प भासमान होता है उस समय प्रथम

अन्तकरण वृत्ति पक्ष (आँखों) द्वारा रज्जु के स्थान तक जाती है। उस पर अंधकार का जो आवरण रहता है उसे नष्ट करने वाला पर्याप्त प्रकाश वहां उपलब्ध न होने से रज्जु का रज्जु ऐसा ज्ञान नहीं होता। कुछ तो है ऐसा 'इदं' का ज्ञान होता है। परंतु रज्जु के विशेष रूप से अज्ञान कायम रहता है। फिर उस अज्ञान का (देखने वाले के भावानुसार) क्षोभ होकर विकार उत्पन्न होते है तथा वह सर्परूप से उस दण्ड-लाठी के रूप में परिणत होते है। अब वह सर्प व्यावहारिक सत् सही मानने पर रज्जु के ज्ञान से उसमें बाध आता है। अतः सत् सत् नहीं कहने आता। सिवाय वंध्या पुत्र जैसे अथवा खरगोश के सींग जैसे वह न होने से अत्यंत असत् कहने नहीं आता। इसके लिए उसे सत्-असत् विलक्षण अनिर्वचनीय कहना अनिवार्य है ऐसा वेदान्ति कहते हैं। यहां अनिर्वचनीय का अर्थ 'न कह सकने वाला' ऐसा न होकर बोध योग्य ऐसा ही लेना योग्य है ऐसा पूर्णवाद का मत है। इन सब ख्याति में से पूर्णवाद को सत्ख्यातीमत करीबी होने पर भी उसमें तथा पूर्णवादी मत में बहुत फर्क है, कारण पूर्णवाद विश्व को पूर्णपुरुष का आधिभौतिक रूप मानता है।

* * * * * *

पंचम अध्याय

परब्रह्म

'परब्रह्म' पूर्ण का शिव स्वरूप आध्यात्मिक।
आत्मा-परमात्मा, जीव-आत्मा, ब्रह्म-परब्रह्म, इन जोड़ियों
का थोड़ा विचार करने पर ऐसे समझ में आता है कि
इसमें से एक सूक्ष्म है तो दूसरा बृहत है, बड़ा व्यापक है।
एक आत्मस्वरूप है तथा दूसरा विराट परमेश्वर स्वरूप है।
जो मैं हूँ वही विशाल रूप में वह है। वास्तविक दोनों एक
ही है लेकिन मात्र उसका अनुभव लेने के लिए द्वैत बनना
पड़ता है। जो अनुभव जिस मैं को आता है वह लेते
बनना चाहिए इसलिए वह और मैं कहना पड़ता है।
जो अपने में ही है वही विराट स्वरूप में इस विश्व को
सर्वव्याप्त है। चित्र में इसलिए एक व्यक्ति उसके हृदय
का ब्रह्म तथा विराट स्वरूप का परब्रह्म ऐसा द्वैत बताया है।

५.

परब्रह्म

'पूर्णत्त्व यही केवल शुद्ध सत्य परमेश्वर' यह पूर्णवाद का मूल सिद्धान्त है। जिस समय हम एकाध वस्तु का मूल्यांकन अथवा प्रमेय सिद्धान्त की परिभाषा (defination) करते है उस समय उस परिभाषा के प्रत्येक शब्द का ठीक अन्वयार्थ हम लगाते हैं कारण उस परिभाषा में प्रत्येक शब्द से वह वस्तु प्रमेय अथवा सिद्धान्त पूर्णतया ध्वनित हो, व्यक्त हो (denoted and connote) ऐसी अपेक्षा रहती है। इसी एक भूमिका से 'पूर्णपुरुष' इस प्रथम अध्याय के प्रकरण में हमने 'पूर्णत्व' का विचार किया। अब 'शुद्ध' का भी अन्वयार्थ लगाना चाहिए। उसके लिए 'माया' और 'विद्या-अविद्या' इन संकल्पनाओं का परामर्श लेना आवश्यक बनता है। अतः इन संकल्पनाओं पर हम विचार करेंगे।

इस अध्ययन में हम देखेंगे कि, पूर्णत्त्व की सिद्धी के लिए सत्, असत् अथवा सत्-असत्-विलक्षण अथवा शुद्ध-अशुद्ध, नबल-शबल, विद्या-अविद्या इस पद्धति से विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस संदर्भ में सभी शुद्ध विषय लेकर भूमिका स्पष्ट करनी होती है। कारण विद्या-अविद्या यह कोई परस्पर भिन्न संकल्पना नहीं है। दोनों की सहउपासना कैसी आवश्यक है यह भी हम अगले प्रकरण में श्रुति के आधार पर सिद्ध करने वाले है।

विद्या के, अर्थात् अक्षर ज्ञान के अभाव में वैसे ही अविद्या के अभाव से भी कुछ दोष निर्माण होते है। अशुद्धता निर्माण होने की संभावना रहती है। यह दोष और संभावना विद्या-अविद्या का ज्ञान प्राप्त कर दूर करनी चाहिए अर्थात् यह सत्य है तो भी मूल में शुद्ध-अशुद्ध, नबल-शबल ऐसे प्रत्य में कुछ भी नहीं रहता। विद्या यह जैसे शुद्ध स्वरूप है वैसे ही अविद्या भी शुद्ध स्वरूप ही है। वास्तव में शुद्ध-अशुद्ध, अद्वैत, माया, भ्रम, ऐसा कोई भी विचार पूर्णत्त्व का विचार करते समय करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

इस प्रकरण में हमें सत्य अर्थात् शुद्ध सत्य कैसे इसका अध्ययन करना है। शुद्ध सत्य को ही अद्वैति 'परब्रह्म' कहते है। अब इस परब्रह्म पर हम विचार करेंगे।

वेदान्त में आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ऐसे तीन अंगों से भिन्न भिन्न विषय पर प्रकट चिंतन है तथा 'परब्रह्म' विचार यह आध्यात्मक में आता है। 'आध्यात्म' यह विषय यहां उत्तान है तथा आधिभौतिक और आधिदैविक यह विषय सुप्त है। विद्या का स्वरूप गंगा-यमुना के महा प्रवाह जैसे है। परंतु गंगा और यमुना के संगम में नहाने पर (डुबकी) उस संगम के स्थान पर स्थित गुप्त सरस्वती मनुष्य को जैसे उच्च पद तक पहुंचा देती है (संसरते इति सरस्वती - अतः आगे बढ़ाने वाली संसरण करने वाली वह सरस्वती) वैसे ही विद्या - अविद्या का आकलन होने पर मनुष्य 'परब्रह्म' का विचार करने के लिए प्रवृत्त होता है। केवलाद्वैति परब्रह्म को केवल सत्य मानते है। उसी को शुद्ध आत्मा, तुरीय अथवा साक्षी यह एक परब्रह्म के अन्य संबोधन है।

वेदान्त में आध्यात्मिक पक्ष यही श्रेष्ठ अथवा उत्तान पक्ष मानने में आया है तो भी और आधिभौतिक तथा आधिदैविक यह पक्ष सुप्त है ऐसा यदि वेदान्तियों का स्पष्ट मत है तो भी पुराने संस्कारों के कारण आध्यात्मिकता का विचार करते समय इन दोनों पक्षों का जरा भी संदर्भ न देना अथवा यह पक्ष वर्ज्य है ऐसा समझना उचित नहीं होगा। बल्कि ऐसी धारणा ही आध्यात्मिक पक्ष का यथार्थ आकलन होने की प्रक्रिया में बाधक है। 'पूर्णत्त्व' अथवा 'पूर्णपुरुष' यही एकमात्र सत्य है, ऐसा मानने पर उसमें अन्तर्गत तथा वैचारिकता के कारण उससे अलग किये विश्व, ईश्वर अथवा परब्रह्म यह विषय भी पूर्ण से पूर्ण ही निकलता है, इस न्याय से पूर्ण ही सिद्ध होते है। इसलिए उस प्रत्येक विषय में आधिदैविक, आध्यात्मिक ऐसे तीनों विषयों की उपरिहार्य तथा अनिवार्य ही बनती है। दूसरा ऐसा कि, आखिर में परब्रह्म का विचार जीव से ही होने वाला है और जो जीव यह विचार करने वाला है अथवा परब्रह्म की अनुभूति देने वाला है उससे आधिभौतिक और आधिदैविक विषय प्रमुखतया संबंधित है। अतः परब्रह्म का विचार करते समय जीव आधिभौतिक तथा आधिदैविक विषय चाहे जितना दूर रखने का प्रयत्न करें तो भी सुप्त क्यों न हो लेकिन थोड़ी बहुत छाया (प्रभाव) उनके विचारों तथा अनुभूति पर पड़ना निश्चित है। कम से कम देह रहते यह होना स्वाभाविक तथा अपरिहार्य बनता है। एक बार यह भूमिका हम समझे तो फिर वेदों ने बताया और वेदान्तियों ने प्रतिपादित किया परब्रह्म का जो स्वरूप है वह बिल्कुल एक जैसा तथा एकत्त्व दर्शक ही है यह अध्येता की समझ में आने वाला है।

अब वेदान्ति, जो परब्रह्म के भाष्यकार है उनके भी मत प्रणाली में दो प्रकार आते

है। एक 'मायावादी' के नाम से जाना जाता है तो दूसरे को अजातवादी संबोधित किया जाता है। परब्रह्म का विचार करने के पद्धति से निर्माण हुए भिन्न भूमिका के कारण यह दो प्रकार अस्तित्व में है।

'मायावादी' लोग माया को ही परब्रह्म की शक्ति मानते है और जगत् यह ब्रह्म अधिष्ठान पर दिखाने वाला माया का कार्य है ऐसी उनकी भूमिका है, अर्थात् मायावादी के मत से परब्रह्म यह सशक्ति है। इसके उल्टे अजातवादी भाष्यकार मात्र परब्रह्म यह सशक्ति है यह मायावाद की भूमिका अमान्य करते है। उनका कहना ऐसा है कि, परब्रह्म यह सशक्ति है ऐसा मानने पर तार्किक दृष्टि से परब्रह्म के केवलत्व को ही बाधा आती है।

श्रीमद्आद्यशंकराचार्य ने शरीर भाष्य में 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस सूत्र पर सुंदर भाष्य किया है। ब्रह्म जिज्ञासा अर्थात् परब्रह्म जिज्ञासा यह 'अथ' अर्थात् मंगलमय, कल्याणकारी है ऐसा सूचित किया है। इतना ही नहीं, तो यह जिज्ञासा जीव में स्वभावतः निसर्ग प्रदत्त कैसे संभव है इसका भी बड़ा मार्मिक वर्णन शरीर भाष्य में है। जिज्ञासा शब्द का यदि मराठी में विग्रह किया जाये तो यह शब्द 'जीव', 'ज्ञान' तथा 'आस' इन तीन शब्दों से बना है। जीव में बसी तीव्र ज्ञान लालसा ही जिज्ञासा है।

अब जिस परब्रह्म की ज्ञान लालसा जीव को है वह परब्रह्म वास्तव में प्रसिद्ध, अर्थात् ज्ञात सृष्टि में उसका अस्तित्व है, कि अप्रसिद्ध अर्थात् पूर्णतया अज्ञात ऐसे विश्व में उसका शोध लेना है? आचार्य ने इस प्रश्न का भी यथोचित उत्तर दिया है। आचार्य की भूमिका ऐसी कि, परब्रह्म यह यदि प्रसिद्ध अथवा संपूर्ण ज्ञात है तो उसे पुनः जानने की इच्छा जीव को होगी ही नहीं। जो ज्ञात है, जिसकी पूर्ण पहचान है, वह पुनः जानने का अथवा उसे पुनः पहचानने का प्रयास करेगा? लेकिन एकाध वस्तु अथवा तत्त्व यदि अप्रसिद्ध है अर्थात् कायम अज्ञात है तो भी उसे जानने की, पहचानने की उत्कंठा जीव को होगी ही नहीं। कारण जो कभी भी ज्ञात नहीं होगा उसे जानने की इच्छा अथवा उत्कंठा होकर कोई उपयोग नहीं है और यह जानने की भी आवश्यकता रहती नहीं ऐसा आचार्य का मत है।

आचार्य की यह जो विचार पद्धति हैं वैसी ही वेदों की जगत् के बारे में धारणा है। विश्व प्रसिद्ध और ज्ञात होने से उसकी अलग जिज्ञासा रखने की आवश्यकता नहीं ऐसा वेदों का प्रतिपादन है। अतः वेदों ने विश्व को अविद्या कहा है। ऐसा होने पर भी आज विज्ञान के कारण और भौतिक विद्याओं के कारण विश्व व्यवहार में कुतूहल निर्माण हो रहा है। इन विद्याओं के कारण विश्व की नित्य नूतन पहचान हमें हो रही है यह सर्वत्र

अनुभव हैं। इसलिए विश्व प्रसिद्ध हो तो भी इस जगत् की कुछ प्रमाण में जिज्ञासा रखने की आवश्यकता रहती है। वेदों को इस बात का बोध है ऐसा लगता है। अतः उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त करने अथवा सबकुछ जानने के लिए विद्या तथा अविद्या दोनों की सहउपासना बतायी है। अलग प्रकरण में इस पर विचार करेंगे।

इस विश्लेषण का तात्पर्य इतना ही है कि, जब कि जीव को परब्रह्म की जिज्ञासा है तब 'परब्रह्म' यह संपूर्ण ज्ञात अथवा संपूर्ण अज्ञात प्रांत का नहीं है यह स्पष्ट है। कारण जिस के बारे में अंशतः ज्ञान रहता है तथा अंशतः नहीं रहता, उस वस्तु के प्रति जिज्ञासा संभव है। अतः सामान्य जीव को परब्रह्म के संबंध में कौन सा भाग ज्ञात है और कौन सा अज्ञात है इसे पहले समझ लेना आवश्यक है। पुनः यह समझ लेने पर भी हमें जो ज्ञात है उसके आधार पर ही अज्ञात की ओर जाना है, कि अज्ञात से ज्ञात की ओर जाना है इसका विचार होना भी उतना ही आवश्यक है। सारांश - परब्रह्म का विचार करने के लिए उसके ज्ञात अज्ञात का विचार सबसे पहले स्पष्ट रूप से समझा कर लेना चाहिए। जो ज्ञात-अज्ञात है उसके लिए अनेक बार शास्त्रार्थ में 'क्षर-अक्षर' अथवा 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' ऐसे पारिभाषिक शब्द अथवा संज्ञाओं का प्रयोग होता है। यह संज्ञा भी स्मरण में रखनी चाहिए। गीता तथा ज्ञानेश्वरी में इन संज्ञाओं का प्रयोग हम देख सकते हैं। यह दोनों भाष्य अध्यात्मिक जिज्ञासू के लिए परिचित है।

ज्ञात और अज्ञात यह जो विषय है उसके लिए अंग्रेजी में 'डायलेमा' (dilemma) इस संज्ञा का रुढ़ार्थ में प्रयोग किया जाता है। यह जो पद्धति है उसमें दो परस्पर विरोधी विचारों की सहायता से एक ही एक निर्णय अथवा निष्कर्ष व्यक्त होता है। अतः दोनों में से कौन सा विचार बराबर है यह समझ में नहीं आता। इस डायलेमा से निजात पाने के लिए, उसे यदि सुलझाना है तो जैसे अंग्रेजी में कहा जाता है - "you have to take dilemma by it's horns' यह भूमिका लेनी चाहिए, अर्थात् दोनों मत प्रवाह का एक समय, एक संध विचार करना पड़ता है। एक समय एक पक्ष तथा दूसरे समय दूसरा पक्ष, ऐसा स्वतंत्र अथवा खंड़ित विचार करना उपयुक्त नहीं है।

उदाहरण : एक राजा ने ख्रिस्ति लोगों का एक महत्त्वपूर्ण शहर जिस समय का बीज किया उस समय उसने देखा कि उस शहर के चर्च के विस्तीर्ण प्रांगण में चर्च के ही कुछ भव्य ग्रंथालय है। उस ग्रंथालय के वास्तु में अनेकाविध विषयों से संबंधित ग्रंथ संपदा बहुत अच्छे ढंग से जतन की है। राजा को उस ग्रंथालय की वास्तु तथा परिसर अपने कब्जे में लेना था। उसके लिए वह राजा उस ग्रंथ संपदा को वह जलाकर नष्ट करना चाहता था उसने उस संदर्भ में चर्च के अधिकारी और चालक को बुलाकर उनके सामने

प्रस्ताव अथवा डायलेमा रखा। उसने कहा कि इस ग्रंथालय में जो ग्रंथ है उनमें से जिन ग्रंथों में बायबल के विचार को दुबारा पुनः कहा है तो उसके पुनरावृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं। अतः ऐसे ग्रंथ जलाने से चर्च का कोई नुकसान नहीं है। और फिर इन ग्रंथों में जो बाईबल में नहीं है वह यदि उनमें है अर्थात् बाईबल विरोधी कुछ कहा होगा तो ऐसे ग्रंथ जलाना ही योग्य होगा।

अब राजा ने जो प्रस्ताव रखा उस पर हम विचार कर निष्कर्ष निकाले तो इतना ही कि बाईबल का विचार व्यक्त करने वाले ग्रंथ तो जलाइए ही, लेकिन जिन ग्रंथों में बाईबल के विचार नहीं है वह भी जलाइए, अर्थात् सभी ग्रंथ जलाने पर भी चर्च का कोई नुकसान नहीं होगा।

परब्रह्म संबंधी कौन सा विषय सामान्य जीव को ज्ञात है और कौन सा अज्ञात है, उस पर विचार करने पर हमें यहां स्पष्ट दिखता है कि, जब कि वेद, उपनिषद्, गीता, निरुक्त पुराण आदि ग्रंथ 'परब्रह्म' है ऐसा कहते आये है, तब वह सामान्य जीव के लिए बिल्कुल अप्रसिद्ध, अव्यक्त अथवा कभी सुने हुए नहीं हैं ऐसा नहीं है। अतः शंकराचार्य अपने ब्रह्म सूत्र भाष्य पें कहते हैं कि -

**''उच्यते-अस्ति तावद्ब्रह्म नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभावं,
सर्वज्ञ-सर्वशक्ति-समन्वित ब्रह्म-शब्दस्य हि व्युत्पादमानस्य
नित्य शुद्धत्वादयोऽर्धार्थाः प्रतीयन्ते बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्।।'**

किसी भी वस्तु की अनुभूति हुए बिना ही 'है' यह क्रिया पद उसके संदर्भ में उपयोगी नहीं होता। परंतु जबकि सभी ग्रंथ वह है ऐसा कहते हैं तब शब्द से क्यों न हो उसके अस्तित्व का ज्ञान हमें होता है। लेकिन उसकी अनुभूति और पूर्व ज्ञान मात्र नहीं। अतः वह पूर्ण जानने की जिज्ञासा अथवा वह जानने की इच्छा संभव होती है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' यह सूत्र इसलिए ही अर्थपूर्ण बनता है।

ब्रह्म इस शब्द का मूल धातु यदि देखे तो वह 'बृह' अर्थात् महान, विशाल यह है उसके अर्थ का विचार करने पर जिस पर ब्रह्म पर हमने कुछ न कुछ सुना है, वह परब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ है ऐसा जो कहा जाता है वह शब्दशः यथार्थ है, यह तुरंत ध्यान में आता है। शंकराचार्य ने तो उसे सर्वशक्तिसमन्वित - सर्वशक्ति से परिपूर्ण कहा है। वेदों ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। परंतु ऐसा होने पर भी आचार्य के अनुयायी तथा कुछ वेदान्ति मात्र इसे स्पष्टतया कबूल नहीं करते। 'वेदान्तकल्पतरूकार' ने तो जो सर्वज्ञ होता है, सर्वसाक्षी होता है वह स्वाभाविकतः सर्वशक्ति से पूर्ण हो सकता है, ऐसा प्रतिपादित कर 'वह सर्वज्ञ है' इसी में वह सर्वशक्तिमान होने के बीज

है ऐसा कुछ अलग आलाप लगाया है। शंकराचार्य मात्र 'आत्मा' सर्वज्ञ तथा सर्वसाक्षी है, इतने मात्र से वह सर्वशक्तिमान है ऐसा नहीं कहते। तो वह ब्रह्म है इसलिए वह सर्वशक्तिमान है, ऐसा मानते है।

सामान्यतया लोगों को 'आत्मा' इस शब्द की पहचान मात्र चैतन्य विशिष्ट आत्मा ही 'जीव' इस अर्थ से होता है। उससे अधिक इस शब्द का कुछ आशय है यह उन्हें पता नहीं होता। यह जो व्यापक अर्थ 'आत्मा' इस शब्द में सुप्त है वह स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य आत्मा का पुनः 'ईश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति समन्वित' ऐसा विस्तृत वर्णन करते है। आत्मा का यह पारमार्थिक स्वरूप लोगों के परिचय का न होने से उस स्वरूप का आख्यान आध्यात्मिक परिभाषा द्वारा करते हैं तथा ब्रह्मसूत्र भाष्य करने की उनकी जो भूमिका है उसका समर्थन करते है। इस प्रकार से शंकराचार्य ने परब्रह्म संबंध की जिज्ञासा इस विषय की परिसमाप्ति की है।

अब तक के विश्लेषण से तीन बातें स्पष्ट होती हैं - (१) परब्रह्म है और व शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ और सर्वशक्ति समन्वित ऐसा है, यह शब्द से क्यों न हो ज्ञात है। (२) जीव को परब्रह्म का संपूर्ण ज्ञांन तथा अनुभूति नहीं होने से उसमें ब्रह्म जिज्ञासा संभव है। (३) इस जिज्ञासा के पूर्ति के लिए तथा परब्रह्म मात्र एकमेव अंतिम सत्य है, यह अपना सिद्धान्त प्रस्थापित करने के लिए आचार्य प्रमुख वेदान्तियों ने मात्र आध्यात्मिक भूमिका से तर्क का और ज्ञान का ही मात्र अवलंब कर 'परब्रह्म' के संदर्भ का मत प्रणाली प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। उसके लिए मनुष्य को थोड़ा कुछ भी जो ज्ञात है तथा उसके पास ही उसका वास है, उस अंतरात्मा से अर्थात् चैतन्य विशिष्ट आत्मा से अथवा जीव से वेदान्तियों ने अपनी शुरुवात की है।

प्रत्येक जीव को 'मै हूँ' की निसर्गदत्त प्रेरणा रहती है तथा उसका उसे निरंतर बोध रहता है। इतना ही नहीं, तो जीव का उस प्रेरणा पर प्रेम भी रहता है। अपना यह 'है पन' बनाये रखने के लिए वैसे ही प्रसंगोपात वह अन्य लोगों के वह ध्यान में लाने के लिए प्रत्येक जीव प्रयत्नशील रहता है। इसलिए ही इस 'है पन' का विरोध करने वाला 'नहीं पन' उसे कदापि सहन नहीं होता। जीव की 'मैं हूँ' की यह जो सहज प्रेरणा है वह और उसका इस प्रेरणा पर प्रेम यह दोनों बातें उससे अपने खुद से निर्माण हुई हैं अथवा यह उसकी स्वनिर्मिती है अथवा यह प्रेरणा उसे किसी दूसरे से प्राप्त हुई है, यह प्रश्न वास्तव में विचार करने जैसा है। पशु पक्षी आदि जो जो सजीव प्राणी है उनमें यह प्रेरणा तथा उस पर का प्रेम समान रूप से तीव्रता से प्रकट हुआ होता है। इससे यह जीव की स्वनिर्मिती न होकर अन्य किसी व्यापक तत्त्व से प्रेरणा प्राप्त हुई होगी। ऐसा स्पष्ट

निष्कर्ष निकलता है। इस पृष्ठभूमि में हमें सिर्फ 'है पन' का बोध, मैं हूँ यह भाव तथा उसका प्रेम ऐसे तीन बातों पर विचार करना पड़ेगा।

जड़ वस्तु में मात्र 'है' तो वृक्षबेली आदि में 'मैं हूँ' यह भाव कदाचित हो सकता है। लेकिन इस भाव पर उसका प्रेम है ऐसा मात्र कहीं दिखाई नहीं देता। इसलिए 'है - है' अथवा मात्र 'है' यह सर्वव्यापी भाव जिस व्यापक तत्त्व से संभव हो सकता है उस तत्त्व को 'ब्रह्म' ऐसा संबोधित किया जाता। 'मैं हूँ' यह भाव जिसके कारण है उसे 'आत्मा' कहा जाता है और मैं हूँ यह भावना और उस भाव पर प्रेम यह दोनों जिस कारण संभव होते है उसे जीव ऐसा कहते है।

यदि यह एक बार ठीक से समझ में आए तो यह चट से समझ में आता है कि, वेदान्तियों ने 'परब्रह्म का केवलत्व' बनाये रखने के लिए 'परब्रह्म जिज्ञासा' यह विषय मात्र आध्यात्मिक भूमिका से तर्क ने और ज्ञान मार्ग ने अपना लेने से परब्रह्म का अस्तित्व यद्यपि उन्होंने संशयातीत रीति से सिद्ध किया हो तो भी परब्रह्म की अनुभूति संबंध में मात्र वह कुछ प्रगति नहीं कर सके। उसका एकमात्र कारण ऐसा है कि अनुभूति के लिए मात्र आध्यात्मिक भूमिका का स्वीकार कर चलता नहीं तो उसके साथ आधिभौतिक और आधिदैविक पक्ष की उपस्थिति आवश्यक रहती है। परंतु वह वेदान्तियों को जरा भी अपेक्षित नहीं है। कारण उनका ही 'ज्ञानात एव तु कैवल्यम्' यह सिद्धान्त उसके आड़े आता है। इस सिद्धान्त में कैवल्यम् का अर्थ है मोक्ष। यह शब्द केवलत्व से आया है। ज्ञान से ब्रह्म का अस्तित्व तथा मोक्ष सिद्ध होता भी हो तो उतने से उसका प्रभुत्व, सर्वशक्तिसमन्वितत्त्व निर्विवाद सिद्ध नहीं होता। इसलिए ही जब कोई सामान्य जीव वेदान्तियों के पास परब्रह्म की अनुभूति के संदर्भ में कुछ जिज्ञासा व्यक्त करता है तब उसे समाधानदायक उत्तर नहीं मिल सकता। वह मात्र इतना कहते है कि, अनुभूति लेकर देखिए तो समझेगा। संक्षेप में उनको 'तर्को अप्रतिष्ठः' इस भाषा में यहां तर्क चलता नहीं ऐसा युक्तिवाद करना पड़ता है, अर्थात् अनुभूति के संदर्भ में 'नेति नेति' ऐसा कहकर अज्ञेयवाद का आश्रय लेना पड़ता है। बुद्धि की शरण चिठ्ठी देनी पड़ती है। तात्पर्य यह कि, वेदान्ति पद्धति से भी यदि परब्रह्म का अस्तित्व समझ में आया तो वह ज्ञान से आता है। बुद्धि से समझ में आता है, परंतु उस कारण अनुभूति कैसे आये? अनुभूति आने के लिए क्या करना, कैसे करना इस पर वेदान्ति कुछ ठोस नहीं बता पाते। प्रतीति की भाषा न करते वह मात्र पुनः पुनः चिंतन करिए, वैराग्य वृत्ति से संन्यास धारण कर परिव्रजा का ही आग्रह करते हैं (पुमान चरति निस्पृहः) इससे अधिक अनुभूति के बाबत कुछ ठोस नहीं बता पाते। ज्ञान का चिंतन करते करते कभी न कभी ब्रह्म की अनुभूति निश्चित होगी इतना कहकर वह समाधान मानते है। वास्तव

में यह एक प्रकार से गूढ़वाद का ही आश्रय है।

पूर्णवाद को इस प्रकार से अज्ञेयवाद तथा गूढ़वाद मान्य नहीं है। पूर्णवाद क्या प्रतिपादन करता है, तो यह कि, परब्रह्म ही एकमात्र पूर्ण सत्य न होकर पूर्णत्त्व अथवा पूर्ण पुरुष यही शुद्ध सत्य परमेश्वर है तथा परब्रह्म उस पूर्णपुरुष का एक स्वरूपमात्र है। अर्थात् पूर्णवाद यह अधिक सहज वृत्ति का, अधिक ठोस है। वह ब्रह्मानुभूति के लिए हठयोग जैसे आधिभौतिक उपायों की जैसी चर्चा करता है वैसे ही भक्तियोगादि आधिदैविक मार्ग की भी चर्चा करता है। इतना ही नहीं तो शक्तिपात योग का भी खुले और उदार भूमिका से (शक्य - अशक्य) विचार करता है। इसलिए ही पूर्णवाद के कारण ही 'ब्रह्मजिज्ञासा' के संबंध में अज्ञेयवाद तथा गूढ़वाद समाप्त हुआ तथा परब्रह्म विचार में आमूल चूल क्रांति हुई है। यह बात विशेष उल्लेखनीय है।

पूर्णवाद के कारण अब तक के शास्त्रीय विचारों को यदि धक्का भी दिया है तो भी वेदन्तियों ने प्रतिपादित किये सिद्धान्त अथवा दर्शन त्याज्य है ऐसी पूर्णवाद की भूमिका नहीं है। कारण पूर्णवाद के आचरण से अथवा पूर्णवाद ने अपनायें अनेक उपाय तथा मार्ग से अनुभूति प्राप्त की है वह ब्रह्मानुभूति ही है, यह परखने के लिए वेदान्ति प्रक्रिया का आधार आवश्यक तथा उपयुक्त है। अतः परब्रह्म के अस्तित्व सिद्ध करने के लिए वेदान्तियों ने जो परिश्रम किये है, जो ज्ञान साधना की है, जो प्रक्रिया तथा संकल्पना को प्रतिपादित किया उसका अमूल्य योगदान कोई भी अमान्य नहीं कर सकता बल्कि उनका विचार धन यह सर्वकालीन प्रशंसा का ही पात्र है। पूर्णवाद दर्शन पूर्णतया समझने के लिए इन प्रक्रियाओं पर गौर करना अनिवार्य है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो पूर्णवाद को पूर्णतया समझना कठिन होगा। अतः इस दर्शन के कुछ प्रक्रियाओं को बुनियादी तौर पर हम समझ लें।

'शाखाचन्द्र न्याय' यह इन्ही प्रक्रियाओं में से एक है। इस विचार प्रणाली में दृष्टांत ऐसा है कि, एक छोटे बालक को उसका पिता आकाश में द्वितीया का चंद्र बताते समय कहता है कि - हे बालक, वह जो आम का पेड़ है न, उसके एकदम ऊपर की शाखा पर (जैसे कि) उसी को चिपकाये अथवा उस पर रखी ऐसी जो एक तेज की छटा दिख रही है, वही चंद्र है। अब इस द्रष्टांत में आम का पेड़ लड़के के नित्य परिचय का है। उसकी शाखायें भी परिचित है। इसलिए ही विशिष्ट शाखा पर रखे जैसे दिखने वाली चांद की छटा उसे सहजता से दिखती है। वस्तुः इस दृष्टांत में जो पेड़ है वह जमीन पर है, तथा चंद्र दूर आकाशस्त है। इन दोनों का परस्पर कुछ भी संबंध नहीं है। यदि पेड़ नष्ट भी हुआ अथवा वह शाखा टूटी तो भी चंद्रमा के होने में उसकी बिल्कुल बाधा नहीं

है। अतः 'पेड़ पर चिपकी सी दिखने वाली चांद की छटा' यह उस लड़के को चांद के बारे में हुआ ज्ञान यद्यपि सही लगने पर भी वह वास्तव में अज्ञान ही है। अतः वेदान्ति अज्ञान को ज्ञान का अभाव ऐसा न मानकर वह एक भाव पदार्थ है ऐसा मानते है। इसी न्याय से मनुष्य के नित्य परिचय के चैतन्यमय जीव के अंतरात्मा के पास जो आत्मदर्शन जो आत्मप्रकाश अनुभव में आता है वह आत्मा तथा ब्रह्म है यह जानना चाहिए ऐसा वेदान्ति प्रतिपादन है।

अंतरात्मा शब्द का विग्रह करने पर उसमें दो शब्दों का संयोग दिखता है अंतर तथा आत्मा ऐसे यह दो शब्द है। इसका सीधा अर्थ है अन्दर की आत्मा। परंतु इन दो शब्दों के कारण जो एकत्रित अर्थ ध्वनित होता है उसका यह बोध होता है कि, (१) मूल आत्मा ब्रह्मतत्त्व और (२) जीव के पास प्रकट आत्मतत्त्व इसमें निश्चित ही कुछ अंतर है यह अंतर काटा जाता है तथा जीव और ब्रह्म तत्त्व एक रूप है ऐसा ज्ञान होता है परंतु इस जगह एक बात ध्यान में रखनी है कि पेड़ के शाखा पर लगकर चांद दिख रहा है, यह दृश्य मिथ्या नहीं प्रमाणित होता। कारण चंद्र का सही ज्ञान हुआ तो भी पेड़, पेड़ की शाखा और इस शाखा पर लगकर दिखने वाला चांद दिखता ही है। इससे शुरू का ज्ञान यह आगे के ज्ञान का अज्ञान है ऐसा निश्चित भी हुआ तो भी वह पूर्णतया मिथ्या है ऐसा नहीं होता। उदाहरण देना ही है तो अणु के स्वरूप संबंधी ज्ञान का देने आता है। अणू का विभाजन नहीं हो सकता यह भौतिक शास्त्र का पहले का अनुभूतिजन्य ज्ञान था। परंतु यह पहले का ज्ञान परमाणु विज्ञान ने अथवा न्युक्लिअर-सायन्स ने अज्ञान प्रमाणित किया है। ऐसा है तो भी वह संपूर्ण मिथ्या है ऐसा नहीं कह सकते। कारण सब के सब रासायनिक प्रक्रिया में अणु का विभाजन सहज नहीं बन पाता। यह अनुभव है। विशिष्ट परिस्थिति में वह होता है यह सही है। लेकिन इसलिए पूर्व का अनुभव पूर्ण असत्य है ऐसा नहीं कह सकतें। सारांश, पहले का ज्ञान आने वाले समय में भले ही अज्ञान हो लेकिन वह पूर्णतया मिथ्या नहीं होता। ज्ञान के अगले पड़ाव में पहले का ज्ञान यह एक पादान रहता है। वह ज्ञान के अगले चरण में अनुकूलता निर्माण करता है। अतः उसे विरोधी भी नहीं कहा जा सकता।

परब्रह्म की जिज्ञासा आध्यात्मिक भूमिका से, तर्क तथा ज्ञान के आधार पर पूर्ण करने के लिए, वेदान्ति दार्शनिकों ने जीव से अर्थात् चैतन्य विशिष्ट आत्मा से प्रारंभ किया, यह हमने देखा। प्रत्येक जीव को 'मैं हूँ' यह बोध अथवा भाव रहता है। इस भाव पर उसका नितांत प्रेम रहता है यह भी हमने देखा। उसमें से 'मैं हूँ' यह बोध कायम हो अथवा यह 'है पन' उसका अस्तित्व कभी नष्ट न हो ऐसा जीव को तथा जीवधारी मनुष्य को सहज लगता है। अमरत्व की संकल्पना सामने आयी है। वेदान्ति इस

संकल्पना को 'निःश्रेयस' आधात्म उन्नतिकारक ऐसा कहते हैं तो वेद तथा उपनिषद् उसे 'अमृतत्त्व' – अमर करने वाला तत्त्व कहते है।

अमृतत्त्व की अथवा अमरत्व की यह जो संकल्पना है वह जीव के एकदम करीबी अथवा निकटतम होने के कारण सामान्य मानवी जीव को वह सहज ही समझती है। परंतु 'निःश्रेय' यह कल्पना मात्र जीव तथा ब्रह्म इनके ऐक्य के संबंध में बतायी जाती है। अतः वह आत्मतत्त्व के करीबी है। अतः सामान्य मनुष्य जीव को उसका तत्काल बोध नहीं होता। इस कारण वेद तथा उपनिषदों ने सामान्य जीव के उद्धार के लिए अमृतत्त्व की संकल्पना को महत्व देकर वह साध्य करने के लिए ही परमेश्वर के स्वरूप ज्ञान की मीमांसा की है। ऐसी मीमांसा करंने वाले शास्त्र को ही वस्तुतः वेदान्त कहा जाता है। परंतु शंकराचार्य के दर्शन का लोकमानस पर जो प्रदीर्घ प्रभाव है इसलिए वेदान्त अर्थात् परब्रह्म स्वरूप सिद्धि अथवा साक्षीत्व सिद्धि करने वाला शास्त्र ऐसा भाव सार्वत्रिक रूढ़ हुआ। वेदान्त में जिसके संपूर्ण स्वरूप की मीमांसा कर जिसका संपूर्ण वर्णन किया गया वह पूर्णपुरुष परमात्मा अर्थात् मात्र 'तुरीय ब्रह्म' है। ऐसा सिद्धान्त शंकराचार्य ने प्रतिपादित किया है। कदाचित इस सिद्धान्त के कारण ही उपर्युक्त रुढ़ार्थ लोकमानस में कायम हुआ।

'परब्रह्म' जिज्ञासा की पूर्ति करने के लिए परब्रह्म का बोध तथा उसकी अनुभूति दोनों की आवश्यकता है। कारण कोई भी जिज्ञासा पूर्ण होने के लिए मात्र बोध अथवा ज्ञान पर्याप्त नहीं है। उसके लिए अनुभव चाहिए। वैसे ही मात्र अनुभूति होना भी पर्याप्त नहीं है। बोध होना जरुरी ही है, जलेबी इस पदार्थ की यदि किसी पाश्चात्य व्यक्ति को जिज्ञासा हो तो उसके मुँह में मात्र जलेबी का टुकड़ा देकर उपयोग नहीं। उसके लिए अधिकतर उसे जलेबी पदार्थ की अनुभूति होगी। लेकिन वह कैसे बनायी जाती है उसकी सामग्री तथा बनाने की विधि 'रेसीपि' का ज्ञान हुए बिना जलेबी इस पदार्थ के प्रति उसकी जिज्ञासा तृप्त होगी नहीं। अर्थात् इस जिज्ञासा पूर्ति के लिए जलेबी इस पदार्थ का बोध उसे देना आवश्यक है, उसके सामने वह प्रत्यक्ष रखनी है, तथा उसे वह खाने के लिए भी देनी होगी तभी उसकी जिज्ञासापूर्ती होगी। ऐसी ही कुछ स्थिति ईश्वर-परमेश्वर तथा परब्रह्म की जिज्ञासा के संदर्भ में है।

ईश्वर के संबंध की जिज्ञासा मात्र ईश्वरी चमत्कार से तृप्त नहीं होती, तो यह चमत्कार ईश्वर की ओर से ही हुआ है इसका बोध उपासक तथा अन्य लोगों को होना भी उतना ही आवश्यक है। इस कारण ही पूर्णवाद मात्र ईश्वरी चमत्कार को महत्व नहीं देता। फिर भी वह ईश्वरी कृपा को महत्त्व देता है। कारण कृपा ऐसी चीज है अथवा ऐसा

परिणाम है कि वह समझा लेना हो तो वह समझ में आता है। लेकिन चमत्कार के संबंध में ऐसा नहीं है, उसकी कोई निश्चित नहीं रहती। अपने बारे में जो हुआ है, जो कुछ परिवर्तन हुआ है, फिर वह जीवन पद्धति के बारे में हो अथवा लौकिक के बारे में हो, आचार विचारों के बारे में हो अथवा परिवार तथा परिजन के सुख समाधान तथा कल्याण के बारे में हो, वह ईश्वरी कृपा से हुआ है यह जैसे स्पष्ट सोच समझकर जैसे समझते है वैसे चमत्कार के बारे में समझ लेना कठिन है। मनुष्य को एकाध वस्तु प्राप्त कर लेने में कोई इच्छा नहीं होती, तो वह किस से प्राप्त हुई, कैसे प्राप्त हुई इसमें उसकी जिज्ञासा रहती है और उसमें उसके सुखसुविधा की व्याप्ती आती है। एक ही वस्तु अलग अलग स्रोतों से आयी तो भी उससे मिलने वाला आनंद अथवा तृप्ति अलग अलग श्रेणी की होती है। समझो एकाध कुलीन स्त्री को अलंकार पहनने की तीव्र लालसा होती है। लेकिन वह अलंकार मात्र पहनने में सुख नहीं है तो वह पति के प्रामाणिक परिश्रम से तथा प्रेमपूर्वक प्राप्त करने में उसे सुख प्राप्त होता है। सारांश यह कि, परमेश्वर अथवा परब्रह्म इन दोनों के संबंध में स्वतंत्र रीति से प्राप्त होने वाला बोध तथा अनुभूति यह दोनों बातें उनकी जिज्ञासा पूर्ति के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य होती है।

परब्रह्म की पहचान करा लेने के लिए, उसका ज्ञान प्राप्त करा लेने के लिए जब मनुष्य प्रयत्न करता है उस समय वेदान्त की परिभाषा में उसे प्रथमतः जो जो ज्ञात हुआ रहता है वह ज्ञान प्रसंगोपात शाखाचन्द्र न्याय से अज्ञान है। हम जिस समय जागृति में रहते है तब हमें अपना तथा विश्व के अस्तित्व का बोध रहता है, उसका ज्ञान भी होते रहता है। परंतु हमारे जन्म के पहले तथा जन्म के बाद जब वह विचार करने लगता है, अर्थात् अपना वास्तविक सही स्वरूप जानने का प्रयत्न करने लगता है उस समय मात्र उसे अपने तथा विश्व के संबंध का बोध उसके अज्ञानजन्यता का परिचायक बनता है तथा इस अज्ञान के बोध से वह असहज बनता है, इसका ही अर्थ है कि जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का ज्ञान यह जब वह तूर्यावस्था में जाता है तब उसे उस अवस्था में होने वाले जिस सही परब्रह्म स्वरूप का ज्ञान होता है वह उसके पूर्व ज्ञान से भिन्न रहता है। कुछ क्षण पूर्व अनुभूति के दायरे का विश्व कहा गया, कौन ले गया, क़िस में विलीन हुआ और अब होने वाले आत्मरूप के अनुभव में वह कहीं दिखता नहीं ऐसी विचित्रता अद्‌भूत अवस्था उसे व्याप्त रहती है। शंकराचार्य ने अपने 'विवेक चूड़ामणी' में मनुष्य के इसी स्थिती का वर्णन किया है। अब इस परब्रह्म के अनुभव को कायम रखना है तो जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं को ज्ञान का अर्थात् जगत् के अस्तित्व का बोध रहता है। उसका कायम तथा पूर्णतया त्याग करना चाहिए,

यह बात अपने आप सामने आती है। परंतु यह सातत्य बनाये रखने के लिए 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' इस सिद्धान्त के परिप्रेक्ष में जागृति, स्वप्न, सुषुप्ती अवस्था के ज्ञान को अर्थात् विश्व के बोध को मिथ्या तथा भ्रम बताना वास्तव में बड़ी भूल है यह हमने देखा। वेदान्त दार्शनिकों ने उतने लिए ही आत्मा के दो भाग कल्पित किये है। एक है 'प्राज्ञ' तथा दूसरा 'साक्षी' हर व्यक्ति यह जानता है कि हम इंद्रियों द्वारा जो जो भोग लेते है उसे हमें ही अन्त में भुगतना पड़ता है। वह आत्मा द्वारा ही भोगे जाते है। यह साक्षी रूप से जो कोई देखता है अथवा जानता है वह भी आत्मा अर्थात् हम खुद ही रहते है। परंतु उसमें भोग भोगने वाला जो आत्मा रहता है वही 'प्राज्ञ' है और साक्षित्व से वह जानने वाला आत्मा ही 'साक्षी' है।

घर के अंधेरे में किसी भी वस्तु का दर्शन लेना है तो उसके लिए बिजली के बल्ब के प्रकाश की आवश्यकता होती है इसे सब जानते हैं। लेकिन घर के टी.वी. पर रात के कार्यक्रम देखने हैं तो बिजली के बल्ब की आवश्यकता नहीं रहती। परंतु इतने अनुभव के कारण बिजली का बल्ब घर के अंधेरे में वस्तु का दर्शन कराता है यह झूठ ठहराके बिजली का बल्ब मिथ्या है ऐसा निष्कर्ष निकालना गलत होगा। अतः इसी पद्धति से जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति इस अवस्था में अनुभव में आने वाले विश्व (जगत्) 'ब्रह्मसत्यं जगत् मिथ्या' इस न्याय से मिथ्या ठहराना और उस पर आधारित दृष्टांत देकर अपना कहना प्रतिपादित करना गलत होने से 'मायावादी' तथा 'अजातवादी' ऐसे दो गुट निर्माण हुए। मायावाद ने आगे अजातवाद को जन्म दिया। परंतु प्रत्यक्ष में तर्क तथा शास्त्र का मेल न बैठने के कारण तथा 'परब्रह्म' इस संकल्पना के संदर्भ में अलग मत प्रतिपादित किया जाने लगा।

वेद तथा उपनिषदों ने यह गलती नहीं की उन दोनों में जगत् को मिथ्या सूचित करने वाला तथा जगत् को विरोध दर्शाने वाला एक भी वचन मिलता नहीं। उल्टे उसमें परब्रह्म अनुभूति के लिए जागृति-स्वप्न-सुषुप्ती यह तीनों अवस्थायें सूर्य को अर्घ्य रूप से अर्पण करनी चाहिए अर्थात् उनका त्याग करना चाहिए और बाद में यह तीन अवस्था रहित ऐसा जो आत्मा (सूर्य) उसका चिंतन करना चाहिए ऐसा बताया है और उसके लिए ही संध्यादि नित्य कर्म समाज में कायम किये है। आत्म ज्ञान प्राप्त करना कठिन साध्य है फिर भी उदय तथा सूर्यास्त के सूर्य के ध्यान से आत्म दर्शन हो सकता है। इस संदर्भ का विश्लेषण पिछले अध्याय में किया गया है फिर भी उसकी पुनरावृत्ति यहां सारांश रूप से करना ठीक होगा।

एक बात हमें ध्यान में रखनी है कि, ब्रह्मतत्त्व तथा आत्मतत्त्व यह वास्तव में

अमर्याद, व्यापक तथा महान है। इसलिए ही इस तत्त्व का सम्यक् बृहद्-विशाल दर्शन असंभव है। परंतु उसका लघु रूप देखना व्यक्ति को संभव है। तेजस्वी सूर्यमंडल का वास्तविक तेजोमय रूप खुली आँखों से देखना वास्तविक अशक्य है तो भी उदय तथा अस्तकाल में प्रकट होने वाले सूर्यभंडल का बालरूप आँखों से देखना संभव है। इतना ही नहीं तो यह रूप बहुत ही अल्हाददायक तथा आनंददायी होता है। उसी प्रकार से महान आत्मतत्त्व का ब्रह्मतत्त्व का रूप जानना यद्यपि अशक्य है तो भी व्यक्ति में स्थित उसका लघु रूप प्रथम बालसूर्य की ओर देखकर तथा आँखे मूंदकर उसका हृदय स्थान में ध्यान करने पर सहज ही दर्शन हो सकता है। इतना ही नहीं तो इस ध्यान के समय आँखों के सामने दिखने वाले रंग बिरंगी छटाओं से आत्मा की स्थिति का सहज ही बोध होता है। हमारे हृदयस्थ आत्मा का जो रंग है वह लाल अंगार जैसे अर्थात् बाल सूर्यबिंब जैसे रहता है। इसलिए ही प्रातःकाल अथवा अस्तकाल के बाल सूर्य बिंब पर मन एकाग्र कर ध्यान करने से अपनी आत्मा का दर्शन प्रत्येक को प्रयत्न पूर्वक हो सकता है। यही उसके परब्रह्म की जिज्ञासा की शुरुवात हो सकती है। वेद तथा उपनिषदों ने यह जानकर 'संध्यादि' नित्यकर्म की योजना हमारे नित्य व्यवहार में सुझायी है। जैसा कि इसके पहले हम बता चुके है कि सूर्य को अर्पण करने वाले तीन अर्घ्य जागृति-स्वप्न-सुषुप्ती इन तीन अवस्थाओं का त्याग करना है तथा चौथे तुरीय अवस्था से सूर्य का अर्थात् आत्मा का ध्यान करना चाहिए और इस हेतु परस्सर प्रयत्न से परब्रह्म को प्राप्त करें। ऐसा उनका प्रतिपादन है। आत्मा का विशाल तथा व्यापक स्वरूप समझ में आये इसलिए वेद-उपनिषदों ने दस दिशा तथा गायत्री जप बताया है। आत्मा तथा ब्रह्म के व्यापकत्व से परिचित हो इसके लिए 'आत्मनः आकाशः संभूतः' ऐसी श्रुति वेद में है। आत्मा ही ब्रह्म है उससे ही आकाशादि निर्माण हुए ऐसा इस वचन का स्थूल अर्थ है। उपनिषदों में भी आत्मयोनी ऐसा शब्द प्रयोग किया है तथा आत्मा ही आकाश है अर्थात् विश्व का कारण है। यह इससे स्पष्ट होता है।

आकाश तथा जगत् यह मूल आत्मा से निर्माण हुआ है इसका अर्थ यह है कि, स्वरूपतः वह वैसा ही है। परंतु फिर यह प्रश्न पड़ता है कि एक आत्मा से अर्थात् ब्रह्म से पृथ्वी, आप, तेज, वायु तथा आकाश यह परस्पर भिन्न गुण धर्म वाले तत्त्व कैसे निर्माण हुए? आकाश तत्त्व स्थिर है तो वायु चंचल है तो अग्नि गरम है तो जल ठंड़ा है। ऐसे परस्पर विरोधी गुण एक ही आत्मतत्त्व से स्वरूप संबंध से निर्माण होते है। यह विषय पूर्णवाद ग्रंथ में आया है। परंतु विषय के ही संदर्भ में वह यहां पर भी देखना चाहेंगे।

बचपन, युवावस्था वैसे ही बुढ़ापा यह तीनों जीवनावस्था प्रत्येक व्यक्ति में पाये

जाते हैं। वस्तुतः इन तीनों अवस्थाओं में साधर्म्य रहता ही नहीं। अगर है तो परस्पर भिन्नता। परंतु यह तीनों अवस्थायें एक ही व्यक्ति के जीवन में एक दूसरे से क्रमशः उत्पन्न होते है। इन तीनों अवस्थाओं में स्वभावतः सलगता रहती है। उसमें किसी प्रकार का खण्ड नहीं होता। इन तीनों अवस्था के एक ही व्यक्ति के छायाचित्र यदि देखें तो वह निःसंशय कहता है कि इन तीनों अवस्थाओं के छायाचित्र मेरे ही हैं। प्रत्येक अवस्था में मैं ही हूँ। वह मेरे ही अलग अलग स्वरूप है। ऐसा जो स्मृति कहती है उसमें अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है। सारांश, स्वरूप शब्द की वेदान्तियों ने जो परिभाषा निश्चित की है वह वैसे ही स्वीकार कर हमने वेदों में तथा उपनिषदों में आने वाले 'आत्मन' शब्द का अर्थ भी हमने यथोचित लगाया तो वेदों का सही स्वरूप समझ में आता है तथा पूर्णवाद दर्शन भी सप्रमाण समझ में आता है। श्रुति में रूप शब्द अनेक बार आया है, परंतु स्वरूप शब्द दिखता नहीं। वास्तव में बचपन, युवावस्था तथा बुढ़ापा इन तीनों अवस्थाओं का फोटो ही रूप है, परंतु वह जब एक ही व्यक्ति के रहते हैं तब उन्हें स्वरूप कह सकते हैं। कारण यह सब फोटो मेरे ही हैं, वहां सब जगह मैं ही हूँ ऐसा वह व्यक्ति कहता है इसे ठीक से समझना होगा तब उपनिषदादि ग्रंथों से 'स्वरूप' शब्द को पर्यायी शब्द 'आत्मनं' यह प्रयोग करते है। परंतु वेदान्ति दार्शनिक विश्व तथा जगत् को कार्य स्वरूप मानने के कारण 'स्वरूप' शब्द की अव्याप्ति (मर्यादा) वह मात्र अध्यात्म तक ही करते है। सारांश 'आत्मन' शब्द का अर्थ स्वरूप अथवा स्वरूपतः ऐसा ही है। परंतु उसकी आध्यात्म तक ही अव्याप्ति करते है। परंतु वह वैसे न करते आत्मा अर्थात् ब्रह्म कहने पर उसकी व्याप्ति आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ऐसे विस्तृत करने पर पूर्णपुरुष का ज्ञान सहजता से होता है।

वैदिक वाङ्मय में 'आत्मन' शब्द का प्रयोग 'स्वरूप' इस अर्थ से कर इस संकल्पना की व्याप्ति आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इतनी व्यापक की है। परंतु इसलिए उसमें अतिव्याप्ति का दोष न आकर उल्टे शंकराचार्यादि वेदान्ति दार्शनिकों का अव्याप्ति का दोष नष्ट किया है। अतः वेदों के सत्य का ज्ञान यथार्थता से होता हैं। स्वरूप शब्द की यही वेदान्ति परिभाषा लेकर पूर्णवाद में प्रयोग किया है।

सत्य का विचार करने वाले (१) अस्तिवाद (२) नास्तिवाद (३) संशयवाद परंतु एकाध वस्तु 'है' ऐसा मात्र कहकर नहीं चलता। वैसे कहने के लिए तर्क शुद्ध पद्धति से ही जाना पड़ता है। प्रत्येक का मन है ऐसा जब हम कहते हैं तब वह नहीं अथवा नहीं था इसका हम प्रतिवाद अथवा उसे बोध करते है। प्रकाश है ऐसा जब हम कहते है तब अंधेरा शब्द का हम बोध करते है।

अब एकाध वस्तु पहले बिल्कुल अस्तित्व में नहीं रहती परंतु वह निर्माण की जाती है। जैसे टी.वी. सेट, वह पहले अस्तित्व में नहीं था। हमने उसे निर्माण किया अर्थात् उस वस्तु की नवनिर्मिती हुई, इसलिए ही उसका अस्तित्व है। इस प्रकार नवनिर्माण के कारण आने वाला 'है पन' यह भी एक प्रकार का 'है पन' ही है। उसे हम प्रथम श्रेणी का है पन ऐसे कह सकते। अब दूसरे विश्व का 'है पन' है। अब इस विश्व के 'है पन' को हम सहज तथा नित्य अनुभव करते हैं। वह स्वयं अपने 'है पन' का बोध हमें नित्य कराता है। जो नवनिर्मित लेकिन फिर भी पहले से ही रहता है तथा हमें उसका अस्तित्व सहजता से होता है वह दूसरे प्रति का अस्तित्व 'है पन' है ऐसा हम कह सकते हैं। परंतु इन दोनों के अलावा और भी एक तीसरे प्रकार का अस्तित्व रहता है। वह निर्मित किये हुए होने पर भी नहीं रहता है। वैसे ही वह खुद होकर अपना बोध कराने वाला नहीं होता आप उसका विचार भी करे, शोध भी करे अथवा जिज्ञासा भी करे तो ही वह 'है' इसका आपको बोध हो सकता है।

उदाहरण-: अपने इंद्रिय तथा बुद्धि अपने को निसर्गतः प्राप्त होते हैं। परंतु वह खुद होकर अथवा स्वेच्छा अपने संबंध का ज्ञान मनुष्य को नहीं करा देते। जिज्ञासा तथा प्रयास से उसे प्राप्त करना पड़ता है। आँख देखने का काम करते हैं यह सही है फिर भी कितनी दूर तक का हम देख सकते हैं इसका ज्ञान वह खुद होकर हमें नहीं करा देते। वह विशिष्ट कसौटी अथवा प्रयोग से हमारी समझ में आता है। इंद्रियों के इस स्वभाव धर्म के कारण साधारण आदमी खुद होकर इन इंद्रियों की कार्य शक्ति नहीं बढ़ा सकता। उनके कार्य क्षेत्र की व्याप्ति भी निश्चित नहीं कर सकता। इन इंद्रियों का 'है पन' हमें अपने आप ही नहीं समझ में आ सकता यही उसका मुख्य कारण है। परब्रह्म का है पन यह तीसरे प्रकार में आने पर भी वह एक विशिष्ट प्रकार का है पन होने के कारण वह उसके नहीं होने का प्रतिवाद इतर वस्तु जैसे नहीं करता। अतः जिज्ञासा से प्रयत्न पूर्व जाने बगैर उसका बोध अथवा ज्ञान नहीं हो सकता, अर्थात् यदि परब्रह्म को जानना है तो जिज्ञासा होना आवश्यक है।

अब यह जिज्ञासा है क्या चीज? तो वह मनुष्य की अनेक इच्छाओं में से एक है, ऐसा समझना उचित नहीं, जिज्ञासा यह एक प्रकार इच्छा है यह सही है लेकिन वह दृढ़ होती है, तीव्र होती है। परब्रह्म ही हमारा अति हित है। वही एकमात्र कल्याणकारी है ऐसी धारणा उस इच्छा में होती है। परब्रह्म जानने तक ही वह तीव्र होती है। कारण वहीं कैवल्य है, वहीं मोक्षपद है ऐसी दृंढ श्रद्धा जिज्ञासा के पीछे रहती है। इस दृढ़ श्रद्धा से ही आद्यशंकराचार्य ने 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' विषय प्रतिपादित किया। दृढ़ श्रद्धा तथा तीव्र इच्छा अर्थात् जिज्ञासा यदि नहीं है तो परब्रह्म का ज्ञान तथा उसकी अनुभूति होना

असंभव है। 'सत्य संकल्प का दाता नारायण' इस का अर्थ भी यही है। संकल्प यदि सत्य है तो उस संकल्प में सिद्धि का सामर्थ्य रहता है, ऐसा इसका अर्थ है। अतः परब्रह्म की जिज्ञासा यदि तीव्र है, वह यदि सत्य संकल्प है तो ही परब्रह्म जानने का अधिकार प्राप्त होता है। मात्र अन्य सामान्य इच्छाओं जैसे परब्रह्म की इच्छा मन में हो तो उसे जानने का अधिकार प्राप्त होगा ऐसा नहीं है।

अतः सत्य जो कुछ है उसे मैं जानूंगा यह ऐसा निश्चित लगना यह 'अस्तिवाद' हुआ इसके विपरीत सत्य कोई चीज ही नहीं है। सब मिथ्या है, क्षणिक तथा फँसाने वाला है ऐसा प्रतिपादित करना, नास्तीवाद है। नास्तीवाद के मताभिमानी को नास्तिक कहा जाता है। इन दो भूमिकाओं से भी और एक तीसरी भूमिका रहती है वह ऐसी कि, सत्य कुछ हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। यह हुई अनिश्चित भूमिका। ऐसे अनिश्चित मत का पुरस्कार करने वाला वह संशयवाद है तथा संशयवाद का पुरस्कारकर्ता जो है वह संशयात्मा है। परंतु इस वाद के स्वीकारने पर सर्वनाश होता है। अतः गीता में स्पष्ट ही कहा है - 'संशयात्मा विनश्यति।' अर्थात् भले आदमी को चाहिए कि वह इस मत का कभी स्वीकार न करे। संशय शब्द शंका से यदि मेल भी खाता होगा तो भी दोनों में सूक्ष्म अंतर है। संशय शब्द का संबंध आध्यात्मिक से, आत्मतत्त्व से संबंधित होता है। तो शंका बुद्धि से, आधिभौतिक से तथा आधिदैविक से जुड़ा है। दर्शन के संबंध में बात करते इस सूक्ष्म को समझना चाहिए।

हमने यह देखा कि, किसी भी वस्तु की जिज्ञासा निर्माण होने के पहले उस वस्तु का कुछ ज्ञान होना आवश्यक होता है जिस विषय के संबंध में कुछ ज्ञात तथा कुछ अज्ञात होता है ऐसे ही विषय के संबंध में जिज्ञासा संभव रहती है। यह गृहित तत्त्व सत्य के संबंध के जिज्ञासा पर चरितार्थ होता है। अतः सत्य के संबंध में जिज्ञासा तभी संभव होती है जब उसके संबंध में कुछ अज्ञात भी है। यही विधान यदि विस्तार से कहा जाये तो सत्य का कुछ भाग अज्ञात होने से वह है यह निश्चित मान्य होता है लेकिन वह संपूर्ण जानना असंभव है। इस भूमिका को अज्ञेयवाद ऐसा कहते है। सत्य है परंतु मनुष्य को कभी भी उसकी पहचान नहीं होती, कारण मनुष्य की ज्ञानशक्ति यह सीमित है, परिमित है। इस मानवी बुद्धि के परे देखना उसे असंभव है ऐसा अज्ञेयवाद कहता है।

अज्ञेयवादी दार्शनिकों का कहना ऐसा है कि, सत्य संपूर्णतया जाना जा सकता है, वह ज्ञेय है कहना अर्थात् उसे अव्याप्त (मर्यादित) करना है। कारण उसमें जो अज्ञेय है वह सभी का समाहित नहीं होता। अतः सत्यत्व पर भी आपत्ति आती है और इसलिए अज्ञेयवाद सही है, वास्तव है। सारांश, 'मैं हूँ' तब सत्य नाम का कुछ रहता ही है। परंतु

मैं देख सकता हूँ। उतना ही सत्य नहीं हो सकता। वह इससे भी व्यापक है। अतः सत्य यह अज्ञेय है और वह अज्ञेय ही रहता है, यह युक्तिवाद अर्थात् अज्ञेयवाद है। इन अज्ञेयवादियों में एक और अलग मत प्रवाह है। उनका कहना है कि, सत्य यह आज तक पूर्णतया किसी के भी समझ में नहीं आया। हर एक सत्य शोधन में प्रयत्नशील है। लेकिन यह भूमिका यद्यपि अज्ञेयवाद के अन्तर्गत मानी जाती है तो भी यह कोई अज्ञेयवाद नहीं है। अपितु वह मूल अज्ञेयवाद के संदर्भ के विपरीत है।

इन सभी भूमिकाओं को देखते अस्तिवाद ही अधिक स्वीकार्य लगता है। कारण उसमें अज्ञेयवाद न होकर ज्ञेयवाद है। सिवाय अज्ञेयवाद के सभी मुद्दों को वह सप्रमाण खत्म कर देता है। 'मै हूँ' अर्थात् 'मुझे लगता है इसलिए हूँ' – (I feel therefore I am) इस वैचारिक पद्धति से अस्तिवाद 'मैं' का 'है पन' तथा अस्ति सिद्ध कर वह स्वयंसिद्ध होता है ऐसा है। ऐसा है तो भी वर्तमान में कुछ सुशिक्षितों में अस्तिवाद के संदर्भ में कुछ भ्रामक कल्पनाएं हैं। उनका समझ ऐसा कि 'अस्तिवाद' यह पूर्वपक्ष है तथा उसका खंडन कर अन्य पक्ष अपनी भूमिका सिद्ध कर रहे हैं। वास्तव में यह भूमिका ही विपर्यस्त है। कारण अस्तिवाद ने ही अन्य वादों का अथवा भूमिकाओं का खंडन स्वसंवेद्यता से किया है।

महत्व का मुद्दा यह हैं कि, पूर्णवाद को स्वसंवेद्यता बोध न होकर अनुकूल ही है, कारण वह पूर्णवाद को ग्राह्य तथा अपेक्षित ही है। अतः पूर्णवाद पर अज्ञेयवाद का आरोप नहीं हो सकता। पूर्णवाद यह अद्वैत है तथा वह उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदांत दर्शन में ही आता है। यदि स्वसंवेद्यत्व न हो तो वस्तु का ज्ञान अथवा विषय का ज्ञान होगा ही नहीं यह पूर्णवाद को मान्य है। अतः आध्यात्म के साथ आधिभौतिक और आधिदैविक का पूर्ण से स्वरूप संबंध है ऐसा कहने पर स्वसंवेद्यता को न तो बाध आता है और न ही विरोध। परब्रह्म का पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध है ऐसा हमने अनेक बार उल्लेख किया है। और वह ज्ञान तथा अनुभूति के मार्ग से सिद्ध करने के लिए ही हम यहां परब्रह्म स्वरूप का विचार करने वाले है।

परब्रह्म पर विचार करते समय उस वैचारिक मंथन की अपनी भूमिका हमें विचार पूर्वक पक्की करनी चाहिए और उसे सतत् ध्यान में रखना चाहिए। वह यदि दृढ़ न हो तो जिज्ञासा के अधिकार में भी न्यूनता निर्माण हो सकती है। अतः हम अपनी वैचारिक बैठक पद्धति को पुनः क्रमशः देखेंगे।

१. पूर्ण में सभी को समाया जा सकता है। अतः उसकी किसी भी बात की जिज्ञासा करना अर्थात् पूर्णपुरुष की ही जिज्ञासा करना है। पूर्ण में परब्रह्म समाया जा सकता

है। इसलिए पूर्णपुरुष के स्वरूप सिद्धि के लिए परब्रह्म की जिज्ञासा होना आवश्यक है।

२. परब्रह्म का पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध है ऐसा अनेक बार कहा जाता है उसे सिद्ध करने की दृष्टि से परब्रह्म विचार आवश्यक है।

३. वेदान्ति जिसे निःश्रेयस कहते हैं अथवा उपनिषद् जिसे अमृतत्त्व कहते हैं उसे प्राप्त कर आत्मकल्याण हो, मंगल हो इसके लिए ही परब्रह्म जिज्ञासा आवश्यक है। परब्रह्म ज्ञान से कैवल्य तथा मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा यदि कहा भी है तो भी हम मोक्ष की अपेक्षा से परब्रह्म का विचार नहीं करते, तो आत्मकल्याण के लिए ही अथवा मांगल्य के लिए ही करते है। मोक्ष की अपेक्षा में 'बंध' 'बद्ध' ऐसा भाव होता है वह हमें स्वीकार्य नहीं है। अतः हमें मोक्ष की अपेक्षा नहीं हैं।

पूर्णवाद का मूल सिद्धान्त है - 'पूर्णत्त्व ही केवल शुद्ध सत्य परमेश्वर' इस सिद्धान्त का पूर्णत्त्व यह जो शब्द है वही यदि ज्ञान वाचक तथा प्रत्यक्ष ज्ञान माने तथा परमेश्वर यह शब्द यदि स्वरूप वाचक कहकर स्वरूप माने तो अपने स्वरूप से पूर्णपुरुष के स्वरूप तक की यात्रा निश्चित ही आसान होगी इसमें कोई शंका नहीं।

आइने में हमें अपना ही चेहरा दिखाई देता, यह आइने में दिखने वाला अपना स्वरूप ही है। परंतु वह आधिभौतिक है। यह उसका प्रथम परिचय है। इस परिचय से - तोंडओळख से हम शुरुवात करें। फिर नैपुण्य, योजकता, लोकसंग्रह, लोकमत, कालज्ञान तथा उपासना इन छह अंगों से अर्थात् षट्साधनों से आइने में दिखने वाले आधिभौतिक 'स्व' का जीवन आनंददायक ऐसे सुघड़ आकार में परिणत किया जाना चाहिए। जीवन को ऐसा शिव सुंदर आकार प्राप्त हुआ कि प्रत्यक्ष ईश्वर भी उसे और सुंदरता तथा भव्यता प्रदान करता है। इस प्रकार जिसे हम पहले स्वआत्मा समझते थे वह भी अत्यंत व्यापक होकर सर्वसाक्षित्व का तथा सच्चिदानंद का आनंद लूटते है।

इस प्रकार आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ऐसे तीनों का भी पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध है। ऐसा भी यदि कहा तो भी स्वसंवेद्यता ही अर्थात् 'स्व' का बोध तीनों पक्षों को बाधक नहीं है। स्वसंवेद्यता यह वास्तव में आध्यात्मिक है तो भी (वेद्यता के कारण) वह अन्य दो स्तरों पर नष्ट होती है। यह वास्तव नहीं है। बहुत ही हुआ तो उसका रूप अथवा आविष्कार का स्वरूप बदल सकता है, अर्थात् स्वसंवेद्यता पूर्णवाद को बाधक न होकर साधक ही है। यह विधान सार्थक सिद्ध होता है।

अब 'वेद्यता' क्या है इसे देखेंगे। वेद्यता यह बोध है और वह तीन प्रकार की होती है। एक 'है है' यह बोध। इसे ही ब्रह्म अथवा ब्रह्म तत्त्व ऐसा कहते है। दूसरा 'मैं हूँ' यह

बोध, इस बोध को ही आत्मा अथवा आत्मतत्त्व कहते है। तीसरा 'मैं हूँ' इस बोध का स्पष्ट अथवा व्यक्त स्वरूप। इस प्रकार में मेरे स्वतंत्र व्यक्तित्त्व का, 'है पन' का प्रेम दृश्यमान है। इसे ही सीधी भाषा में 'मैं' पन अथवा अस्मिता अथवा अहंकार ऐसा संबोधन है। इस बोध में 'मैं हूँ' मेरे इस स्वतंत्र 'है पन' का प्रेम होता है। उसका स्पष्ट संकेत रहता है। अतः उसे स्वजीवात्मा, जीव अंतरात्मा अथवा अस्मिता ऐसा कहते हैं। यह ब्रह्म तत्त्व तथा आत्मतत्त्व यह दोनों व्यापक है तथा सभी सजीव प्राणी में आत्मतत्त्व अर्थात् 'मैं हूँ' यह भाव उदबुध हो अथवा स्वयं प्रकाशमान हो तो भी उस पर 'स्व' का संस्कार हुए बिना व्यक्ति को विषय का ज्ञान तथा अनुभूति हो नहीं सकती। सीधी सी बात कहें तो सभी सजीव में आत्मतत्त्व अथवा 'मैं हूँ' यह भाव सदैव जागृत रहता है। परंतु उस पर स्व का संस्कार होता है, अर्थात् यह मेरी आत्मा है, यह 'मैं हूँ' ऐसा भाव आरोपित होता है। बिना यह संस्कार विषय का ज्ञान होना असंभव है। ब्रह्मानुभूति तथा पूर्णपुरुष की अनुभूति अथवा अन्य कोई अनुभूति नहीं हो सकती।

समझो, एकाध जमीन है, लेकिन जब तक हम उसे अपनी नहीं कह सकते, अथवा वैसे हक प्रस्थापित कर हम उस पर सत्ता की मोहर नहीं लगाते तब तक उस जमीन का सुधार अथवा उसकी उर्वरक शक्ति को नियोजित नहीं करते, वैसे ही स्वसंवेद्यता अर्थात् आत्मतत्त्व पर अथवा 'मैं हूँ' इस बोध पर 'स्व' का संस्कार कर आया हुआ मैं का बोध है। आत्मतत्त्व पर अपनेपन की मुहर लगाकर उस संबंध में आयी आत्मियता तथा प्रीति अर्थात् स्वसंवेद्यता। यह ईश्वर की असीम कृपा से हमें जन्मतः प्राप्त हुई है। जीवन के साथ वह सहजता से आयी हुई है। उसके लिए किसी बाहरी प्रयत्न भी नहीं करने पड़े।

वेद्यता के तीन स्तर हमने देखें। अब हम फिर परब्रह्म जिज्ञासा की ओर बढ़ेंगे। 'अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा' यह प्रमेय इसके पहले हमने अनेक बार सुना है, पढ़ा भी है। अब उसका अर्थ देखेंगे। इस विधान में अथ, ब्रह्म तथा जिज्ञासा ऐसे तीन मुख्य शब्द है। अब 'अथ' अर्थात् मंगल। यह मंगल किसका? तो मेरा ही। परब्रह्म जिज्ञासा भी किसकी? तो मेरी ही। ब्रह्म जानने की इच्छा करने वालों की। फिर ब्रह्मानुभूति किसे होगी? तो मुझे ही। तो अथ, ब्रह्म, जिज्ञासा यह तीनों बातें 'मैं' से ही संबंधित है। इस प्रकार 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस सूत्र में मैं का कहीं भी उल्लेख नहीं है लेकिन इन तीनों शब्दों का संबंध मैं से ही है। उस में मैं अन्तर्गत है। अतः यहां पर ब्रह्म ज्ञान के लिए अन्तरात्मा से ही शुरुवात करनी पड़ती है। अन्तरात्मा अर्थात् 'मैं' जिस आत्म तत्त्व पर स्व का संस्कार हुआ है वह उसी से प्रारंभ करे। अतः 'मैं' का संपूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। अब जिसे 'मैं' को सत्य अथवा परब्रह्म का ज्ञान होने वाला है उसका संपूर्ण ज्ञान मुझे है क्या, यह वास्तव प्रश्न है।

अब इस प्रश्न का यदि हमने विचार किया तो हमें ऐसा दिखता है कि 'मैं हूँ' के संबंध में जबकि मुझे सौ फीसदी यकीन है तब इसे 'मैं' ही सत्य है यह निश्चित। कारण 'मैं हूँ' में मेरा प्रत्य ही और नित्य अनुभव है, और जो जो सत्य है उसका ऐसे ही निश्चयपूर्वक तथा संशय रहित अनुभव हो सकता है। अब यह जो सत्य है वह सिद्ध है, स्वयं सिद्ध है। लेकिन वह सत्य कौन सा है यह मात्र 'मैं' को पता नहीं। यह 'मैं' का सत्य जानना जरुरी है। उसके लिए सत्य काम होना चाहिए। सत्यवान होना चाहिए। यह 'मैं' के सत्य जानने की कामना करने वाला वह सत्यकाम। यह सत्य जानकर उस 'सत्य' मैं जैसे रहने वाला वह सत्यवान। यह शब्द भी उसी से निष्पन्न हुए है। मात्र यह 'मैं' को उसमें स्थित इस 'मैं' का संपूर्ण ज्ञान नहीं है। उसे अंशतः उसका ज्ञान है लेकिन अज्ञान भी है। कुछ प्रमाण में संशय भी है। सारांश ऐसा कि, सत्य के अथवा परब्रह्म के संदर्भ में जैसे अज्ञेयवाद, ज्ञेयवाद, संशयवाद दिखाई देते है, वैसे ही वह 'मैं' के संदर्भ में दिखाई देते है।

अज्ञेयवाद कहता है कि, मनुष्य अपने सीमित ज्ञान के बाहर देख ही नहीं सकता। अतः सत्य यह अज्ञेय है, न जानने जैसे है। ज्ञेयवाद मात्र जो कुछ भी सत्य है वह 'मैं' में ही स्थित है ऐसा मानकर उसका ज्ञेयत्व सिद्ध करता है। अब 'मैं' यह यदि सत्य नहीं है तो मनुष्य सत्य कभी भी नहीं जान पाएगा। परंतु इतने कारण से सत्य 'मैं' में स्थित पाना है क्या, ऐसा कोई पूछ सकता है, और यदि वह वहां है तो क्या उसे सिद्ध करने आता है। ऐसा भी प्रश्न निर्माण हो सकता है तो इस प्रश्न का 'हां' यही एकमात्र उत्तर है तथा वह स्वसंवेद्यता से सिद्ध है।

अतः मुझे मेरे 'मैं' का स्व का अनुभव सत्य ऐसा ही होने से 'मैं' उस सत्य का अनुभव ले सकता हूँ। उसका शोध ले सकता हूँ। कारण जो कुछ सत्य है वह मुझमें ही व्याप्त है। मेरे बाहर अन्यत्र कहीं नहीं। वैसे वह रह ही नहीं सकता वह 'मैं' में ही स्थित है। इसलिए यदि 'मैं' यह मुझे जानता है, जान सकता हूँ, तो फिर सत्य भी जानना संभव है। यह ज्ञेय ऐसा ही है। तो ऐसे इस 'मैं' को जानने के लिए 'मैं' को 'मैं' का ज्ञान करा देने के लिए शंकराचार्यादि वेदान्ति ने व्यक्ता व्यक्त की आत्मानात्म विचारों की पद्धति का प्रयोग किया है। व्यक्त तथा अव्यक्त अथवा आत्मा तथा अनात्मा ऐसी संकल्पना इस पद्धति में विशद् की है, अर्थात् पूर्णवाद ने मात्र इस पद्धति को स्वीकारा नहीं। कारण कि, इस पद्धति में एक को सही मानने के लिए दूसरे को गलत मानने की तार्किक वकील पद्धति अपनायी है। पूर्णवाद ने इस संदर्भ में जिस पद्धति का अवलंब किया है वह मात्र नयी तथा अभिनव है। इस पद्धति से जब पूर्णवादी व्यक्ति 'मैं' को जानने का प्रयास करता है तब उसकी जो विचार पद्धति रहती है वह इस प्रकार रहती है -

समझो कि हम किसी के घर गये हैं और यदि उसका दरवाजा बंद है तो क्या करते हैं? हम दरवाजे की बेल बजाते हैं, अथवा दरवाजा खटखटाते हैं। फिर अंदर जो कोई भी होता है वह पूछता है आप कौन हैं, अपनी पहचान पूछता है, तो हम उसे कहते हैं 'मैं' ही हूँ। उस पर अन्दर का आदमी 'मैं' कौन, ऐसे पूछता है, फिर हम उसे अपना नाम बता देते हैं। लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि नाम कहकर भी पहचाना नहीं जाता अर्थात् उसे बाहर खड़े व्यक्ति की पहचान अथवा बोध होता नहीं। ऐसा होने पर फिर नाम कहने पर भी हमें अपने 'मैं' पन की पूर्ण पहचान है ऐसा हमें अर्थात् बाहर के 'मैं' को यकीन नहीं आता तो अपना उपनाम बताता है, गांव बताता है, व्यवसाय कहता है। ऐसे पहचान के संदर्भ की बातें बताते जाता हैं। लेकिन फिर भी हम अपने 'मैं' पन का संपूर्ण परिचय उस घर के व्यक्ति को दिया है ऐसा हमें लगता नहीं। अन्दर के व्यक्ति को भी दरवाजे पर खड़े व्यक्ति का अर्थात् हमारा 'मैं' पन समझ में नहीं आता।

सारांश, जिन अनेक संदर्भ में हमारा 'मैं' पन बिखरा हुआ है, बटा हुआ हैं, विभक्त हुआ है, ऐसा हमें लगता है अथवा प्रत्यक्ष जीवन में वह बटा हुआ है, उस पर सब कुछ कहने पर भी अथवा वह सब इकठ्ठा करने पर भी हमारा 'मैं पन' पूर्ण नहीं होता अर्थात् यह 'मैं पन' इतनी जगह बंटने पर भी, अनंत जगह गिर कर भी कुछ न कुछ शेष है इसका स्पष्ट बोध हमें इस प्रसंग में होता है।

भगवद्गीता के दसवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने जो विभूति योग अर्जुन को बताया है, उस समय भी यही दिक्कत श्रीकृष्ण को भी हुई थी। वहां अपने सभी संदर्भ बताकर भी अर्जुन को श्रीकृष्ण की पहचान पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो रही थी। यह वास्तव है। कृष्ण अर्जुन से कहते है कि, यह पार्थ, ज्योति में मैं रवि हूँ, नक्षत्रों में मैं चन्द्र हूँ, महर्षि में मैं भृगु हूँ, यज्ञ में मैं जप यज्ञ हूँ आदि सभी प्रकार से वर्णन कर भी अर्जुन को किस प्रकार परिचय करा दे यह प्रश्न श्रीकृष्ण के मन में आया। तब श्रीकृष्ण ने पूर्णपुरुष ने अपने में स्थित विश्वरूप विराट दर्शन अर्जुन को कराया। श्रीकृष्ण ने यह जो स्वरूप दर्शन अर्जुन को कराया वह उसका आधिभौतिक रूप था। (आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप में से एक रूप) यह रूप इतना भव्य दिव्योत्तम था कि अर्जुन जैसे वीर तथा सर्वथा पात्र पुरुष भयभीत हुआ। अब कल्पना कीजिए कि उस पूर्णपुरुष का स्वरूप कितना भव्य, कितना व्यापक, कितना उदात्त अथवा कितना जगङ्व्याल हो सकता है। कल्पना के परे यह विराट पूर्णपुरुष दर्शन था वह गणित के N अनेक मीति (Dimension) जैसे था वह ।

इस बात से यह स्पष्ट होता है कि हमारे 'मैं पन' में जैसे आधिभौतिक संदर्भ रहते

हैं वैसे ही आधिदैविक तथा आध्यात्मिक संदर्भ भी रहते हैं और यह सभी संदर्भ आकर भी हमारा 'मैं पन' कुछ न कुछ अंश से अर्थात् दशांगुल शेष रहता ही है। जब तक इस 'मैं' की पूर्ण कल्पना स्वयं अपने को नहीं आती, तब तक हमें 'मैं' का सही तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और इस 'मैं' का ही ज्ञान हमें नहीं है तो जिसे पूर्ण सत्य संबोधित किया जाता है उसका ज्ञान कैसे हो सकता है.. इन सभी बातों का शांत चित्त से विचार करने पर यह स्पष्ट होगा कि, 'मैं' का सही स्वरूप यह आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ऐसे तीनों अंगों से व्याप्त कर आखिर में कुछ अंश शेष रहता ही है। ऐसा है तो भी 'मैं' की मात्र आध्यात्मिक अपरोक्षानुभूति जो स्वसंवेद्य तथा सच्चिदानन्द स्वरूप रहती है। उसी को परब्रह्म कहा जाता है तथा इस परब्रह्म की अनुभूति 'मैं' में स्वसंवेद्यता से होती है। अतः इस अनुभूति को 'पूर्ण सत्य' कहा गया है। इस प्रकार पूर्ण सत्य के एक अंग को उसकी अपरोक्ष अनुभूति होती है। इसलिए पूर्ण सत्य कहा जाने से यद्यपि 'अस्तिवाद' सिद्ध हो सका तो भी 'मैं' के पूर्ण तथा भव्य ऐसे सत्य (सत्य) अविष्कार को मात्र मानव जाति आज तक वंचित रही ऐसा कहना पड़ता है। परंतु यह जो पूर्ण सत्य है वह तीनों अंगों से व्याप्त होकर भी अनंत शेष है।

सारांश यह कि, 'मैं' को पहचानता है तब मैं अथवा 'मैं' का सत्य यह ज्ञेय है। यदि यह सत्य ज्ञेय है तो उसका सही स्वरूप क्या है, इस प्रश्न का यदि उत्तर देना है तो यह है कि, यह सत्य पूर्ण है तथा वह आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन तीनों रूप में वह अविष्कृत होता हैं। परंतु इन तीनों स्वरूप में से आध्यात्मिक स्वरूप की जो अपरोक्षानुभूति है उसे ही परब्रह्म कहते हैं। इस परब्रह्म स्वरूप की अनुभूति स्वसंवेद्यता से आत्मा द्वारा आ सकती है। इस परब्रह्म की सार्वदेशिक व्याति पहचानने को 'ब्रह्मज्ञान' कहा गया है। व्यक्ति यदि अपने हृदय हृदयदेशी इस परब्रह्मस्वरूप की अनुभूति लेता है तो उसे आत्मज्ञान कहा जाता है।

सत्य यह ज्ञेय अर्थात् जानने जैसा है। और उसका स्वरूप वास्तव में पूर्ण अथवा आधिभौतिक-आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूप का है। परंतु मात्र एक ही अर्थात् आध्यात्मिक स्वरूप की अपरोक्षानुभूति को परब्रह्म ऐसा कहते है। यह हमने देखा। परंतु यह परब्रह्म अथवा सत्य यह यदि पूर्ण भी है तो भी पूर्ण यह सत्य रहता ही है ऐसा नहीं है। यह जो Converse है वह बराबर नहीं है। कारण पूर्ण यह सत्य को व्याप्त कर कितने ही गुना शेष रहता है। इसकी कल्पना हमें आयी है। कारण हम अपना 'मैं पन' सत्य ऐसे अनेक संदर्भ में विभाग कर भी वह शेष रहता ही है यह हमने उदाहरण देखा ही है।

अब प्रश्न ऐसा है कि, यह 'मैं पन' तथा 'मैं' इस प्रकार अनेक संदर्भ में वास्तव में विभाजित किया जा सकता है क्या? मेरे शरीर का एकाध अवयव समझो, मेरा एक हाथ 'मैं पन' का ही एक भाग है ऐसा कह सकते हैं क्या? अब यह जो मैं हूँ वह एक संध है अथवा विभाजित है? वह अनेक रूपी है क्या? इस प्रश्न का विचार करते हम यह देखते है कि कुछ बातें बंटने से विभाजित करने से (Distribute करने पर) वह नष्ट होते है, परंतु कुछ बातों में ऐसा नहीं है, उसे बांटकर भी वह खत्म नहीं होती। यह अधिक स्पष्ट करने के लिए हम एक व्यावहारिक उदाहरण लेंगे। समझो, अपने पास १ किलो चीनी है और उसे दस लोगों में बाँटने पर वह चीनी निश्चित तौर पर खत्म होगी ही, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं, परंतु हम यदि अपनी विद्या अथवा ज्ञान बांटते हैं अथवा ज्ञान दस लोगों में बांटा तो वह समाप्त न होकर उल्टे बढ़ जाता है। अब यह जो 'मैं' है मैं में 'मैं' तथा मेरा इन दो बातों का अन्तर्भाव है, समन्वय है, उस 'स्व' के को अनेक संदर्भो में यद्यपि विभाजित (Distribution) करने आता भी होगा तो भी वह शेष रहता ही है। वह खत्म नहीं होता। इतना ही नहीं तो उसका एकत्त्व भी समाप्त नहीं होता, तो वह कायम रहता है।

बाप ने अपने लड़के को व्यवहार के तौर पर यदि अपने से पूर्णतया अलग किया तो भी 'आत्मा वै पुत्रनामासी' इस वचन से वह बाप और वह बेटा अन्तर्गत दृष्टि से कभी भी अलग नहीं रहते। पिता पुत्र यह रिश्ता विभाजित नहीं हो सकता। उसमें घटने की बात नहीं आती। इसलिए दोनों की मिलकर जो जो कुछ स्थावर जंगम (Movable & Unmovable) संपत्ति है वह सब अपनी ही है ऐसा बाप समझता है। उसी प्रकार पूर्णपुरुष तथा आत्मतत्त्व अपना एक भाग व्यक्ति में स्थित 'स्व' के स्वाधीन करता है। उसे कुछ मर्यादा तक स्वतंत्रता देता है। परंतु उस कारण 'स्व' का इस आत्मतत्त्व से अथवा पूर्णपुरुष से जो बुनियादी एकत्त्व है, एकरूपत्त्व है यह मात्र कम नहीं होता। यह 'स्व' अथवा 'मैं पन' फिर अनेक संदर्भों में विभाजित हो सकता है, होता है। फिर भी वह एकत्त्व में ही स्थित रहता है यह निश्चित।

हम देख रहे हैं कि, पूर्ण की जो आध्यात्मिक अनुभूति है वह स्वसंवेद्य है, सच्चिदानंदरूप है। इस अनुभूति को ही परब्रह्म संबोधित किया जाता है। सच्चिदानंद शब्द में तीन पद है। सत्, चित् तथा आनंद। यह सच्चिदानंदरूप परब्रह्म अस्ति-भांती प्रीति अथवा प्रिय इन पदों से भी व्यक्त किया जाता है। अब इन तीनों पदों का अर्थ देखेंगे। अस्ति अर्थात् 'है पन', भाती अर्थात् है पन का बोध, और प्रीति अर्थात् इस बोध के संबंध का प्रेम। सारांश, है, है यह बोध अर्थात् अस्ति। मैं हूँ इसका संपूर्ण ज्ञान भाती, और मैं हूँ के संबंध का प्रेम अर्थात् प्रीति।

अब मनुष्य को जो जीव है उसे ही चैतन्य विशिष्ट आत्मा ऐसा कहा जाता है। इस जीव में जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति (निद्रा) यह तीन अवस्था निरंतर वास करती है और वह हमारे लिए परिचित भी है। परंतु आत्मा जिसे व्यवहार में चैतन्य कहकर संबोधित किया जाता है वह इन तीनों अवस्थाओं का अतीत है। इन अवस्थाओं के वह पार है। अतः इस आत्मा की भाती पैलतीर की अर्थात् स्पष्ट संवेदनाओं के परे जो अनुभूति (अस्ति अनुभूति) रहती है। वह मात्र तूर्यावस्था में प्राप्त होती है। इस तूर्या अवस्था को ही चतुर्थी ऐसा भी कहा जाता है। कारण यह अवस्था जागृति, स्वप्न, सुषुप्ती इन तीनों के पार की चौथी अवस्था हैं। यह जो तूर्या अवस्था है वह इसलिए जीव के नित्य परिचय के तीनों अवस्थाओं से अलग है। भिन्न है। पूर्णवाद ग्रंथ के पृष्ठ २२ पर ॐकार के (पूर्णपुरुष) वर्णाक्षर समूह का विश्लेषण किया गया है। ओमकार का अ, उ, म्, और उस पर की अर्धमात्रा का संबंध इसमें बताया गया है। इस विश्लेषण में अ, उ, म् और अर्ध मात्रा का संबंध क्रमशः जागृति, स्वप्न, सुषुप्ती तथा तूर्या इन अवस्थाओं से है तथा उन मात्राओं में क्रमशः विश्व, तेजस, प्राज्ञ, और तुरीय यह आत्मा के चार पाद दर्शाने वाले है। पूर्णवाद ग्रंथ में यह सब विश्लेषण आया है।

अस्ति अर्थात् है पन अथवा सिर्फ है, यह भाव। यह बोध तूर्यावस्था में प्रखरता से अनुभव में आता है। इस अवस्था का साम्य मनुष्य के जन्म के समय की अवस्था से दर्शाया है। मनुष्य प्राणी जब जन्म लेता है तब वह यह है पन धारण करता है और इसलिए ही मनुष्य यह तूर्यावस्था से ही जन्म लेता है, ऐसा कहना सार्थक है। मनुष्य का यह है पन रहता है वह उसे मां के उदर में तथा उदर से बाहर आते समय तूर्यावस्था से ही चिपका रहता है। अतः जन्म होने पर कुछ समय तक वह अस्ति पक्ष अर्थात् तूर्यावस्था का ही अनुभव करता है। जन्म के दस दिन बाद धीरे धीरे उसमें भांति पक्ष मैं हूँ, यह भाव प्रकट होने लगता है, तथा वह सुषुप्ती अवस्था में आधा भाव अस्ति पक्ष का तथा आधा भाव भांति पक्ष का रहता है। १२ दिन के बाद जब उसमें 'मैं हूँ' यह भाव सुप्त क्यों न हो लेकिन थोड़े बहुत अंश से जागृत होता है तब उसका नामकरण विधि होता है। उसके बाद उसमें भांति पक्ष पूर्णता से प्रकट होकर स्वप्नावस्था का अनुभव होता है। इस अवस्था में भाति पक्ष प्रखरता से रहता है। इस स्वप्नावस्था में ही बालक हंसता भी है। चेहरे पर उसके यह भाव स्पष्टतया दिखते हैं। उसके बाद उस बालक में प्रीति अवस्था आने लगती है। मां के चेहरे की सापेक्षता में वह बालक अपना अस्तिभान पूर्णतया प्राप्त कर उस पर प्रेम करने लगता है। इस अवस्था से ही वह जागृत अवस्था में आने लगता है। यह जागृतावस्था जबतक पूर्णावस्था तक पहुंच नहीं जाती तब तक बालक की नजर स्थिर नहीं होती। अतः हम कहते हैं बालक की आंख

पूर्णतया खुली नहीं ऐसा कहते हैं।

सारांश, अस्ति यह यद्यपि ईश्वरी कृपा अथवा निसर्गतः हमें अपने आप प्राप्त होती है, बिना सायास यह दान हमें भले ही मिलता होगा तो भी भांति तथा प्रीति अपनी ही कमायी रहती है। वह अर्जित है। वह प्राप्त करने में मानव जाति का कुछ न कुछ प्रयास रहता है। वह संस्कार से प्राप्त है। अतः एक बार यदि जीव पूर्ण जागृतावस्था को पहुंचा तो फिर वह मात्र अस्तिका, तूर्या का अनुभव पूर्णतया भूल जाता है। अतः वह अपने है पन को भूल जाता है तथा भांति अर्थात् मैं का बोध तथा प्रीति अर्थात् उसके प्रति प्रेम इन दोनों के समन्वय से ही अपना जीवन बनता है। यह नित्य क्रम मृत्यु तक शुरु रहता है। परंतु मृत्यु के समय मात्र वह पुनः अपने अस्ति-भांति-प्रीति-यह वर्तुल उल्टी दिशा से अति प्रीति-भांति-अस्ति इस क्रम से पूर्ण करता है। उस समय वह जागृति से स्वप्नावस्था में प्रवेश करता है। स्वप्नावस्था से वह सुषुप्ति में जाता है तथा सुषुप्ति से वह तूर्यावस्था में जाता है। इस तूर्यावस्था में ही उसकी मृत्यु होती है। सारांश, मनुष्य का जन्म जैसे तूर्यावस्था में होता है वैसे ही मृत्यु भी तूर्यावस्था में ही होती है।

इस विश्लेषण से एक बात स्पष्ट होती है वह यह कि, मनुष्य को स्वाभाविक ऐसे तूर्यावस्था का अनुभव मात्र जन्म समय तथा अन्तकाल में ही होता है। बाकी मानवी जीवन यह मात्र जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीन अवस्था में ही बीतता है। मजेदार बात यह है कि, जीवन भर उसे भांति अर्थात् अपने अस्तित्त्व का बोध, और उसके प्रति प्रेम, अर्थात् प्रीति इसका उसे विशेष लगाव रहता है। कारण यह दोनों अवस्थाएं उसे अपनी लगती है। परंतु ईश्वर प्रदत्त ऐसा अपना तथा औरों का अस्तिपक्ष 'है पन' मात्र वह पूर्णतया भूल जाता है। उस अवस्था की अनुभूति ही वह भूल जाता है। ओंकार से यदि मनुष्य जीवन की तुलना करनी है तो हम यह कह सकते है कि मनुष्य प्रथमतः ओंकार की अर्धमात्रा अपने जन्म के समय अनुभव करता है और बाद में क्रमशः अ, उ, म्, इन मात्राओं का अनुभव कर मृत्यु समय फिर तूर्यावस्था में जाता है। परंतु मनुष्य का जन्म यद्यपि ओंकार की अर्धमात्रा से होता है परंतु उसकी माता मात्र मेरी कोख से बालक का जन्म होगा, ऐसा सतत् कहकर उस होने वाले बालक के जन्म के पहले 'अ' की अर्थात् जागृति का बोध चिपक जाता है। प्रीति के संस्कार करती है। यह जो जागृति का संस्कार माता द्वारा अपने बालक पर सबसे पहले होता है। अतः इसी कारण से 'मातृदेवो भव' यह प्रथम गुरु का सम्मान उसे दिया है।

अब तक हमने 'मैं पन' का अथवा 'मैं' का मैं त्व के भिन्न भिन्न अवस्थाओं का अध्ययन किया वह सामान्य मनुष्य के संदर्भ में किया हुआ अध्ययन है। परंतु कुछ थोड़े से लोग परब्रह्म जिज्ञासा तीव्रता से करते हैं। पूर्णत्त्व की अनुभूति लेने के लिए, पूर्णवाद

जैसे ग्रंथ का गहराई से अध्ययन करते हैं। यह जो थोड़े से लोग है उन्हें साधक कहते हैं। ऐसे 'साधक' व्यक्ति में 'मैं त्व' का तथा उन्हें अपेक्षित अवस्था का अध्ययन स्वतंत्र रीती से करना श्रेयस्कर है।

हमने इसके पहले आसन तथा दोष परिहार यह विषय साधक के लिए अत्यंत महत्त्व का समझकर अध्ययन कराया, वैसे ही अवस्था यह विषय भी साधक की दृष्टि से उतना ही महत्त्वपूर्ण है। परब्रह्म के लिए ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय का बोध होना जैसे आवश्यक है, वैसे ही वह पूर्णत्त्व की अनुभूति के लिए भी अनिवार्य है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम एक बात अवश्य ध्यान में लेनी चाहिए और वह है साधक के जागृति - स्वप्न - सुषुप्ति तथा तूर्या यह अवस्था और सर्वसाधारण मनुष्य अनुभव करने वाली इन अवस्था में बहुत अंतर है। उसका विशेष उल्लेखनीय अन्तर यह कि साधक यह अवस्थायें सोच समझकर ही प्रयत्नशील होकर ही अनुभव करता है। अथवा उस प्रकार प्रयत्नशील रहकर ही उसे इस अवस्था का अनुभव लेने आता है। विशेषतः परब्रह्म की अनुभूति के लिए अनिवार्यतः तूर्यावस्था का अनुभव साधक को प्रयत्न पूर्वक ही लेते बनता है। उसके लिए साधक की सामान्य बुद्धि का कोई उपयोग नहीं होता। तीव्र बुद्धि अथवा तीव्र पज्ञा से ही उसे तूर्यावस्था का अनुभव आ सकता हैं। अतः सामान्य जीवों के लिए तूर्यावस्था सहज साध्य नहीं है। अप्राप्य है। मंदप्रज्ञ अथवा सामान्य बुद्धि के साधक भी इसके लिए अपात्र ही रहता है। तूर्या की अनुभूति के लिए अनिवार्य यह जो तीव्रप्रज्ञा है वह सभी में होना असंभव होने के कारण ही सभी को मोक्ष प्राप्य नहीं है। ऐसा ही कहना पड़ता है। फिर ऐसे समय मंद प्रज्ञ साधक को कर्मयोग अथवा भक्ति मार्ग को चुनना पड़ता है। परंतु इस मार्ग में जब कभी उसे प्रारब्ध योग से तीव्र प्रज्ञा प्राप्त होती है तब उसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है अन्यथा दूसरा कोई मार्ग उपलब्ध नहीं होता।

आत्म ज्ञान के बिना मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं है और तीव्र प्रज्ञा, तीव्र बुद्धि के बिना आत्मज्ञान नहीं। और यह तीव्र प्रज्ञा सर्वसामान्य में होना दुर्लभ है। दैवयोग से अथवा प्रारब्ध योग से प्राप्त होने वाली यह संपदा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, तीव्रा प्रज्ञा का होना यह जैसे प्रारब्धाधीन है वैसे ही मोक्ष प्राप्ति भी प्रारब्धाधीन है। भाग्य में है तो ही वह प्राप्त होगा। इसका अर्थ ही यह निकलता है कि सर्वसामान्य के लिए परब्रह्म विचार व्यर्थ ही रहता है। साधक को भी यह विचार करते समय जागृति, स्वप्न, सुषुप्ती तथा तूर्या इन चारों का अनुभव लेते समय अपनी बुद्धि को तीव्र करना जरुरी बनता है। वह सूक्ष्म होनी चाहिए। यह बात सभी साधकों को साध्य होगी ऐसा भी नहीं। सिवाय बुद्धि तीव्र करना यानि क्या? इस बाबत कोई ठोस परिमाण उपलब्ध नहीं है। यह परिमाण की भाषा है। कारण वहां भी कोई अनुभव सिद्ध परिमाण बताने नहीं आता।

तो क्या हम परब्रह्म का विचार ही न करे क्या? तो इन सब दिक्कतों पर सवार होने के लिए पूर्णवाद ने एक अभिनव तथा आसान मार्ग निकाला है। वह आसान मार्ग क्या है यह देखेंगे।

प्रथमतः हमें जो बुद्धि है उसी के योग से जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति यह जीव को परिचित अवस्थाओं का अनुभव अत्यंत सावधानी से लेना होगा। जागृति में अपने मन तथा बुद्धि पर जितना हो सके संयम रखे और उस अवस्था की अनुभूति सावधान होकर लेनी चाहिए। ऐसा करते समय जो विषय हमें अनुकूल है, अपेक्षित है वही विचार मन में लाना चाहिए। बाकी अन्य अप्रिय, अनावश्यक तथा अवांछित विचार मन में न आये ऐसी अवस्था सिद्ध करनी चाहिए। जिस कारण जिस विषय में हम मन लगायें उसी विषय में मन पूर्णत्त्व से स्थिर तथा एकाग्र होगा और जिस विषय से मन विलग करना है वहां से वह विन्मुख होगा, अर्थात् ऐसी अवस्था एकाएक नहीं आती, तो उसे प्रयत्न पूर्वक साध्य करना पड़ता है। इस प्रयोग से साधक को जागृति से स्वप्न में, तथा स्वप्न से सुषुप्ति अथवा सुषुप्ति से स्वप्न में ऐसा किसी भी अवस्था में अधिकार पूर्वक जाना - आना साध्य हो सकता है। जो साधक अधिकार पूर्वक किसी भी एक अवस्था से दूसरे किसी भी अवस्था में लीलया प्रवेश कर सकता है उसे 'अवस्थात्रयातीतः' ऐसा कहा जाता है। यही पर सामान्य मनुष्य और साधक इनके अनुभूति क्षमता में फर्क पड़ता है। सर्वसामान्य मनुष्य इस अवस्था से अधिकार पूर्वक संचार नहीं कर सकता मात्र साधक उसे प्रयत्न पूर्वक कर सकता है। साधक के लिए आवश्यक ऐसी स्थिर अवस्था जब मनुष्य में स्वप्रयास से निर्माण होती है तभी आगे उसे परब्रह्म साक्षात्कार के लिए आवश्यक ऐसा ज्ञान आत्मसात करने की दृष्टि से प्रयत्नशील बनने आता है। अब यह ज्ञान तीव्र प्रज्ञा के बिना प्राप्त नहीं होता। कारण तीव्र प्रज्ञा हो तभी गुरु ने जो कुछ भी ज्ञान प्रदान किया है वह शब्दगत ध्यान में रखने आता है। उसपर धारणा करते बनता है। और धारणा से वह अपना हो सकता है। वैसे वह अपनाने पर ऐन समय पर उसका उपयोग करने आता है। परंतु ऐसी तीव्र प्रज्ञा यदि न हो तो ऐसे संसारी, गृहस्थाश्रमी व्यक्ति को मात्र गुरु से कहा गया ज्ञान सभी का सभी, स्मरण रखना असंभव रहता है। उसके सिवाय ज्ञान के कुछ सूक्ष्म विषय है उनका भी आकलन तीव्र प्रज्ञा के अभाव में नहीं होता। तब ऐसे में व्यक्ति क्या करें, यह प्रश्न उपस्थित होता है। फिर भी इस प्रश्न का उत्तर पूर्णवाद के पास निश्चित है।

पूर्णवाद कहता है कि, तीव्र प्रज्ञा न होने वाले को चाहिए कि वह गुरु की कृपा संपादन करें। गुरु कृपा करने वाले ही होने के कारण उनकी कृपा प्राप्त होती है। इस गुरु कृपा से ऐसा आशीर्वाद वह व्यक्ति प्राप्त करें, कि जिससे गुरू द्वारा दिया गया ज्ञान उसे

निरंतर स्मरण में न भी रहे तो भी समय समय पर ज्ञान आवश्यकता पड़ने पर उसे वह ज्ञात होगा। एक प्रकार से गुरु ही साक्षात प्रकट होकर वह ज्ञान उसे प्रदान कर सकते हैं। ऐसी यह गुरु कृपा होनी चाहिए।

इसके पहले पीछे पूर्णवाद ग्रंथ में विषय समझते हुए हमने इसे देखा है कि, समाधि अवस्था से आत्म साक्षात्कार प्राप्त करा लेने की प्रक्रिया में गुरु शिष्य के साथ प्राज्ञ अवस्था तक उपस्थित रहते है तथा प्राज्ञ से तूर्या अवस्था में जाने के लिए गुरु शिष्य को सहायता करते हैं। परंतु इस पद्धति से आत्म साक्षात्कार लेते समय एक पथ्य उसे संभालना पड़ता है वह यह कि, गुरु के आशीर्वाद से आवश्यकता होने पर अपने में स्थित होने वाले ज्ञान पर तिल मात्र संदेह उसके मन में न रहें। यदि ऐसा संदेह निर्माण हुआ तो मात्र इस संदेहावस्था में ब्रह्म साक्षात्कार असंभव बनता है। अतः इस मार्ग पर निःशंक होना अत्यंत आवश्यक रहता है। लेकिन ऐसा निःसंदेह होने के लिए अपार श्रद्धा की नितांत आवश्यकता रहती है। 'श्रद्धावान लभते ज्ञानम' ऐसा श्रीकृष्ण ने स्पष्टतया कहा है वह ऐसे ही नहीं।

पूर्णवाद पुरस्कृत यह अभिनव मार्ग और सरल बनाने के लिए तथा ऐन समय पर निर्माण होने वाली संदेहावस्था टालने के लिए पूर्णवाद ने और एक उपाय बताया है। पूर्णवाद ऐसा कहता है कि, मनुष्य अपने 'मैं' के आधिभौतिक, आधिदैविक, तथा आध्यात्मिक ऐसे तीन स्वरूप में से आध्यात्मिक 'मैं' को ही अपना गुरु मानना चाहिए अथवा स्वतः का ज्ञान स्वरूप अर्थात् 'मैं' का आध्यात्मिक स्वरूप यही अपने गुरु का स्वरूप मानना चाहिए। इसलिए गुरु अपने से भिन्न न होने का भाव निर्माण होकर उनके बताये ज्ञान का संदेह भी नष्ट होता है। गुरु अपने से भिन्न न होने से गुरु ने दिया हुआ ज्ञान आत्मगत ज्ञान है ऐसी धारणा दृढ़ होती है और तीव्र प्रज्ञा का प्रश्न भी दूर होकर साधक को ब्रह्म ज्ञान के लिए जिस किसी समय ज्ञान की आवश्यकता रहती है उस समय वह ज्ञान उसे अपने आप प्राप्त होता है।

पूर्णवाद ने इस प्रकार तीव्र प्रज्ञा का प्रश्न सरल पद्धति जैसे हल किया है वैसे परब्रह्म साक्षात्कार के लिए भी उपाय सुझाया है। अब परब्रह्म साक्षात्कार अथवा पूर्ण का साक्षात्कार यह कोई स्वाधीन बात नहीं। यह साक्षात्कार कब होना, कहां होना कैसे होना यह कोई हम निश्चित नहीं कर सकते वह सब ईश्वराधीन होने से हम सिर्फ ईश्वर की करुणा की अपेक्षा कर सकते है, इतना ही हम कर सकते। गुरु हमें साक्षात्कार के मंदिर के दहलीज तक अथवा प्रवेश द्वार तक ले जा सकते है यह सही है। परंतु इस मंदिर में किस मार्ग से प्रवेश करना है, मंदिर के किस कक्ष में पहुंचना है, यह बातें मात्र हमारे

स्वाधीन नहीं है। वह ईश्वराधी नहीं है। अतः उपासना कर ईश्वर को उस समय उपस्थित करने का प्रयत्न करना इष्ट होता है। अब जैसा कि पूर्णवाद ने कहा है कि हमारे स्वतः का जो 'मैं' आध्यात्मिक स्वरूप को गुरु मानने का उपाय कर और आधिदैविक स्वरूप को ही ईश्वर मानें तो फिर ईश्वर हमसे दूर नहीं रहता। कारण यह 'मैं' का जो आधिदैविक रूप है वह ईश्वर रूप से प्रत्येक के हृदय में वास करता है तथा उपासना से उसे जागृत करना सहज संभव है। यह ईश्वर का रूप यदि हृदय में जागृत हुआ तो 'मैं' को ईश्वर साक्षात्कार अथवा परब्रह्म साक्षात्कार के लिए आवश्यक सहायता वह प्रदान करता है। इस प्रकार साधक 'मैं' के आध्यात्मिक रूप को गुरु मानकर अथवा ज्ञानमार्ग से 'मैं' को गुरु के स्वाधीन कर और 'मैं' के आधिदैविक रूप को उपासना मार्ग से ईश्वराधीन कर तीव्र प्रज्ञा के बिना परंतु दक्ष, प्रामाणिक साधक अपने आधिभौतिक 'मैं' का उद्धार कर सकता है। इतना ही नहीं तो उसे परब्रह्म साक्षात्कार भी हो सकता है। सारांश, आधिभौतिक 'मैं' का एक हाथ अपने ही आध्यात्मिक 'मैं' रूप से गुरु के हाथ में दूसरा हाथ आधिदैविक रूप के ईश्वर के हाथ में यदि साधक दे तो गुरु और ईश्वर दोनो आधिभौतिक 'मैं' को उधृत कर अतिशय उच्च पद तक ले जाते हैं। उसे परब्रह्मानुभूति तथा ईश्वरानुभूति जैसे दिव्यानंद से परिपूर्ण ऐसे अननुभूत अनुभूति का लाभ देकर उपकृत करते हैं। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि, पूर्णवाद ने सामान्य संसारी, गृहस्थाश्रमी जीवों के लिए 'परब्रह्मसाक्षात्कार' यह विषय मात्र प्रारब्धाधीन न समझकर वह स्वाधीन तथा प्रयत्नाधीन अवस्था तक लाकर उसे रखा है। पूर्णवाद की यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

परंतु जिन्हें पूर्णवाद का यह अभिनव मार्ग ज्ञात नहीं अथवा प्राप्त नहीं उनकी दृष्टि से मात्र तीव्र प्रज्ञा यह विषय सर्वसामान्य के अधिकार की चीज नहीं है। अतः यदि प्रत्येक जीव को आत्मा है तो भी वह जीव मात्र आत्मज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता। यह बहुत बड़ी कमी है। अतः मोक्ष यह मानव जाति की इति कर्तव्यता है अथवा यह उसका परमोच्च ध्येय है ऐसा कैसे कह सकते है। सांख्यदर्शन में सांख्य की प्रकृति स्वेच्छा से अर्थात् उसकी इच्छा से पुरुष से संयोग करने के कारण पुरुष यह पराधीन तो बनता ही है तथा मोक्ष स्थिति को अपात्र ही होता है। इसलिए भी यदि सांख्य के पुरुष तथा प्रकृति तथा द्वैति दर्शन को नकारे तो भी दिक्कत आती है और अद्वैत दर्शन का पुरस्कार करने पर तीव्र प्रज्ञा के विषय के कारण फिर वही दिक्कत खड़ी रहती है। तीव्र प्रज्ञा के अभाव में सर्वसामान्य मनुष्य अद्वैति बनकर भी मोक्ष को अपात्र होता है और सांख्यदर्शन का द्वैतवाद स्वीकार कर भी अपात्र ही होता है। परंतु पूर्णवाद यह मार्ग सर्वसामान्य के लिए खुला कर देने वाला दर्शन है, पूर्णवाद की यह बहुत बड़ी

उपलब्धि है अर्थात् कर्म मार्ग अथवा भक्ति मार्ग से आगे कभी न कभी प्रारब्ध योग से तीव्र प्रज्ञा प्राप्त हो सकती तथा साधक निश्चय कर मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। ऐसा अद्वैतवादी भले ही विश्वास पूर्वक कहे तो भी सांख्य मात्र ऐसा विश्वासपूर्ण नहीं कह सकते, यह सत्य है।

परंतु यहां भी अद्वैतवादियों ने एक उलझन रखी। कारण उनके मत से कर्म और भक्ति भी मायोद्भव है। वह माया से उत्पन्न हुए है और इसलिए वह मिथ्या भी है। लेकिन ऐसे मिथ्या कर्म तथा भक्ति प्रत्यक्ष भले ही न हो तो भी अप्रत्यक्ष मोक्ष का साधन बनते है। यह अद्वैतवादियों को मानना ही पड़ता है। ऐसा मानना अर्थात् मिथ्या मोक्ष का साधन बन सकते है, ऐसा ही मानना पड़ेगा। परंतु वह न्याय संमत न होने से विपरीत है ऐसा कहना पड़ता है।

मोक्ष के लिए प्रकृति की इच्छा पर निर्भर रहना क्या अथवा उसके लिए अनिवार्य तीव्र प्रज्ञा के लिए प्रारब्ध पर निर्भर रहना, यह दोनों बातों में साधक की दृष्टि से वैसे कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। वह पराधीन ही रहता है। परंतु प्रत्येक साधक की सहज प्रवृत्ति अथवा इच्छा संत तुकाराम जैसे ''याचि देही याची डोळा। पाहिन मुक्तिचा सोहळा।'' ऐसी रहना स्वाभाविक है। कोई भी साधक सिद्धि के लिए बहुधा अधीर ही रहता है। परंतु उसे नाइलाज से 'अनेक जन्म संसिद्धः। ततो याति परांगतिम्।' अर्थात् अनेक जन्म के प्रयास से तथा उसके द्वारा प्राप्त किये ज्ञान से तथा सिद्धि से ही मनुष्य अन्त में परम गति को अथवा मोक्ष पद को प्राप्त होता है। यह जो भगवद् वचन हैं उसी पर निर्भर रहना पड़ता है। पूर्णवाद को मात्र इस प्रकार की पराधीनता का अनुभव नहीं होता, यह पूर्णवाद के अध्येता स्मरण रखें। तीव्र प्रज्ञा के अभाव में साधक को मोक्ष प्राप्ति के लिए 'अनेक जन्म संसिद्धः। ततो याति परांगतिम्।' इस वचन पर निर्भर रहना पड़ता है, यह परब्रह्म ज्ञान के मार्ग की बाधा को हमने देखा। इसलिए ही मानव जीवन की इति कर्तव्यता मात्र मोक्ष प्राप्ति में ही है ऐसा कहने नहीं आता। कारण यदि हमने इसे माना तो इस प्रकार के मोक्ष के लिए अत्यावश्यक साधन सामग्री प्रत्येक मनुष्य के आसपास निसर्गतः होनी चाहिए। परंतु वैसी रहती नहीं। इस न्यूनता को यदि हम अलक्षित भी किये तो तीव्र प्रज्ञा तो सहज सुलभ होनी चाहिए लेकिन वह भी नहीं। इस यथार्थ से इन्कार करने नहीं आता। फिर मानव जीवन का अन्तिम ध्येय और इति कर्तव्यता किस में है यह प्रश्न सतत् कायम रहता है।

समझो एक पेड़ है और इस पेड़ को कभी आम लगते नहीं, इतना ही नहीं तो उस पेड़ के पत्ते भी आम के पेड़ जैसे नहीं है तो ऐसे वृक्ष का बीज मात्र आम का ही है, ऐसा

कहना तर्क सम्मत न होगा। इसी पद्धति से सदा सर्वत्र अपने आसपास मानवी जीवन की जो वृक्ष संपदा बिखरी हुई है उसे यदि मोक्ष के फल कभी लगने वाले ही नहीं है और ऐसे मोक्ष फल आने के लिए मानवी जीवन में आवश्यक साधन सामग्री उपलब्ध ही नहीं, तो फिर इस मानवी जीवन वृक्ष का मूल बीज अथवा उद्देश्य मात्र मोक्ष है ऐसे कहना भी तर्क दुष्ट ही रहता है, विसंगत रहता है। अतः जिस बहु समाज के पास तीव्र प्रज्ञा का अभाव है, उस समाज का जीवित हेतु मोक्ष है ऐसा कहना सयुक्तिक नहीं है।

इस ग्रंथ में अब तक 'सत्य' यह ज्ञेय है और वह 'मैं' में है और इसलिए 'मैं' यह सत्य जानने के लिए सर्वथैव योग्य है, यह देखा। वैसे ही सत्य जब कि 'मैं' का ज्ञेय है – जानने जैसा है तब मैं यह सत्य से बड़ा ही होना चाहिए और वह सत्य को व्याप्त कर भी शेष रहता ही होगा। यह भी देखा। उसके बाद इस 'मैं' में आधिभौतिक विश्वरूप, आधिदैविक ईश्वर रूप तथा आध्यात्मिक परब्रह्म रूप अथवा साक्षी रूप कैसे है यह भी देखा। विश्व, ईश्वर, परब्रह्म इन तीन संकल्पनाओं का संबंध सत्य की जिज्ञासा, सत्य का ज्ञेयत्व और मूल सत्य अथवा उसके अनुभूति से क्रमशः संबंधित है तथा इन तीनों के एकत्र आने से ही सत्य की अनुभूति आ सकती हैं यह भी देखा। परंतु वेदान्तियों ने मात्र यह विषय अलग पद्धति से व्यक्त किया। उन्होंने इसके लिए अलग परिभाषा, अलग शब्द प्रयोग आदि का उपयोग किया है। अतः वेदान्ति पद्धति से उनके ही शब्दों में इस विषय को जानने का हम प्रयास करेंगे।

जो परब्रह्म की जिज्ञासा करता है उसे जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का अनुभव निसर्गतः आता है। उस अवस्था का ज्ञान उसे निसर्गतः रहता है यह हमने देखा। यह जो ज्ञान उसे रहता है यह उसमें स्थित चैतन्य विशिष्ट आत्मा होता है उसके कारण होता है। इस चैतन्य विशिष्ट आत्मा को वेदान्ति जीव अथवा जीव दशा कहते हैं, तो परब्रह्म के कारण जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ऐसे आत्मा का ज्ञान होता है, उसे चैतन्यातीत आत्मा अथवा चैतन्य आत्मा ऐसा आचार्य कहते हैं। वह चैतन्य को सत्य नहीं मानते तो चैतन्य के परे (चैतन्यातीत) आत्मा को सत्य मानते है। इनके मत में सब में स्थित जो चैतन्य विशिष्ट आत्मा है। वह सभी के परिचय का है। कारण वह जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से युक्त ऐसा है तथा वह प्राकृत आत्मा है ऐसे वेदान्तियों का कहना है। चैतन्य का आत्मा यह अन्तःप्रज्ञ नहीं और बहिप्रज्ञ भी नहीं वह मात्र सच्चिदानंद स्वरूप रहता है और वही सही आत्मा है ऐसी उनकी धारणा है।

तूर्या यह चौथी अवस्था है वह जीव को नित्य परिचय की नहीं। कारण वह चैतन्य विशिष्ट आत्मा के परे की अवस्था है। उसे चतुर्थी कहते है तथा वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध,

मुक्त ऐसे शंकराचार्य प्रणित चैतन्यातीत आत्मा के परे की अवस्था है। बफरस्टेट जैसे उसकी मध्यस्थिती है। मनुष्य तूर्यावस्था में गया तो वह जीव के अतीत होता है यह सही है। परंतु उतने से ही उसके परे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा का ज्ञान होगा ही ऐसा नहीं है। परब्रह्म साक्षात्कार होगा ही ऐसा कुछ भी नहीं। अतः समाधि लगा कर भी प्रत्येक को परब्रह्मानुभूति नहीं होती।

जीव को जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति में जो जो प्राप्त होता है वह सही ज्ञान नहीं होता है। ऐसा वेदान्ति मानते हैं। प्रथम तूर्यावस्था में जाकर फिर उसके परे की आत्मा की जो अनुभूति है वही सही ज्ञान है, आत्मज्ञान है, ऐसा वेदान्तियों का दावा है। यह आत्मा ही सही है, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा रहता है और वही एकमात्र सत्य है। ऐसा आचार्य का कथन है।

अब चैतन्य के परे आत्मा ही यदि सत्य अथवा सही है तो वह चैतन्य विशिष्ट होकर ही क्यों रहता है, वह इस ओर की दशा क्यों स्वीकारता, वह जीव दशा क्यों कहकर धारण करता है, यह सही प्रश्न है। परतु इसका उत्तर भी आचार्य देते हैं। वह कहते हैं कि, अविद्या के कारण अथवा सही आत्मा के संबंध के अज्ञान के कारण वह जीव दशा धारण करता है। इस अविद्या के कारण ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा जीव दशा में आता है, परंतु आत्मज्ञान होने पर वह आखिर में मुक्त होता है। अर्थात् आत्मा की जो यह जीव दशा है यही बंध है और आत्मज्ञान यही मोक्ष है। यह बंधमुक्त जीव दशा छूटना अर्थात् जीव का शिव से अथवा जीवात्मा का परमात्मा से अभेद सिद्ध होना है। परंतु बंधमुक्त जीवदशा छूटना मृत्यु नहीं है यह आवश्य ध्यान में रखें।

सारांश, आचार्यादि केवलाद्वैत दर्शन का हेतु मोक्ष है, ऐसा प्रतिपादित करते है। परंतु इसके उल्टे ज्ञान यहीं बंध है ऐसा शिव सूत्र प्रतिपादन करता है। कश्मीरी शैव का आत्मा के संबंध का प्रतिपादन भी शंकराचार्य के मत से एकदम भिन्न तथा विपरीत है। 'चैतन्यम् आत्मा' यह शिवसूत्र का मुख्य सूत्र है। चैतन्यमय आत्मा, ऐसा इस सूत्र का सीधा सा अर्थ है। परंतु आचार्य मात्र 'चैतन्यातीत आत्मा' ऐसा प्रतिपादन करते है। अतः इन दोनों विचार प्रणाली में मूलतः अर्थात् मूल आत्म लक्षण में ही मतभेद है। इसलिए अन्य प्रतिपादन में भी ऐसा मतभेद रहना बिल्कुल सहज स्वाभाविक है।

महाराष्ट्र के महान संत तथा प्रगाढ़ आध्यात्म ज्ञानी श्री ज्ञानेश्वर ने महाराष्ट्र में जो दर्शन का विस्तार किया वह अधिकतर कश्मीरी शैवदर्शन का है तथा आत्मलक्षण के संबंध में उनका दर्शन तथा आचार्य पुरस्कृत दोनों में कुछ भेद है। इसका भी अध्येता विचार करें। श्रीमद्शंकराचार्य ने जो दर्शन दिया है उसमें जीव यह प्रथम सोपान है

(पादान) यह जो जीव है वह कैसा है, तो वह अविद्योपाधित है। अर्थात् अविद्या की उपाधि रहने वाली आत्मा है। जीव के बाद का सोपान है ईश्वर। अब यह ईश्वर कैसे, तो मायोपाधित अर्थात् माया उपाधि वाली आत्मा और तीसरी जो पादान है वह परब्रह्म का अर्थात् शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा की। यह तीनों अवस्थाएं आचार्य ने बतायी है। अविद्योपाधित, मायोपाधित और शुद्ध, बुद्ध, मुक्त यह वह तीनों अवस्थाएं हैं। यह तीनों अवस्थाएं क्रमशः हैं तथा उनमें कार्य कारण भाव है। परंतु परब्रह्म के बाद मात्र कोई भी अवस्था नहीं। जो कुछ है वह पूर्ण सत्य है, ऐसा आचार्य का सिद्धान्त है।

अब शंकराचार्य के प्रतिपादन में हमने जीव ईश्वर, आत्मा अथवा परब्रह्म यह तीन शब्द देखें। उसमें से जीव तथा ईश्वर का संबंध चैतन्य से है, तो आत्मा अथवा परब्रह्म का संबंध सत्-चित्-आनंद से है। वास्तव में सच्चिदानंद के चित से है। वासना से कुंठित हुआ चैतन्य अर्थात् जीवात्मा है। और चैतन्य के परे ऐसा जो चैतन्यातीत वह शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा अथवा शिवात्मा है। तो जीव और आत्मा में यह बुनियादी भेद है तथा वह अनेक स्थान पर निर्देशित किया है। तब चैतन्य क्या है, चित क्या है और इन दोनों का फर्क कौन सा, यह समझे बिना जीव-शिव का अर्थ यथार्थता से समझना कठिन है। अतः हम इसका अर्थ देखने की दिशा में समझने का प्रयास करेंगे।

वैदिक वाङ्मय तथा दर्शन का यदि हम अध्ययन करें तो एक ही शब्द भिन्न-भिन्न संदर्भ में प्रयोग हुआ है यह हमें दिखता है। विशेषतया संदर्भ बदलने पर शब्द का अर्थ भी बदल जाता है। इसलिए ही सर्वसामान्य मनुष्य के मन में इसके सही अर्थ के बारे में संभ्रम निर्माण हुआ दिखता हैं। इसलिए उलझन बढ़ती है। आत्मा शब्द ऐसा ही अनेक बार भिन्न भिन्न अर्थ के संदर्भ में प्रयोग किया गया शब्द है। सतत् प्रयोग करने से यह शब्द व्यवहार में अब एक प्रकार से बोथरे हुए हैं। चैतन्य और चित इन दो शब्दों के संदर्भ में भी सामान्य जन में ऐसा ही संभ्रम है। अतः प्रथमतः इस शब्द का तथा उसके योग्य अर्थ का शास्त्र शुद्ध परामर्श लेंगे।

परब्रह्म - २

'चैतन्य' इस विषय पर विद्यारण्य स्वामी ने अपना स्वतंत्र मत प्रतिपादित किया है। उनके इस संबंध के क्या विचार है इसे हम संक्षेप में देखेंगे। पंचदशी के 'चित्रदीप' इस प्रकरण में विद्यारण्य स्वामी ने चैतन्य के चार भेद बताये हैं। वह इस प्रकार -

१. कूटस्थ

२. ब्रह्म

३. ईश्वर

४. जीव

चैतन्य के इस भेद के लिए जो परिभाषा प्रयोग में लायी जाती है वह इस प्रकार

१. कूटस्थ : लिंगदेह के सूक्ष्म तथा स्थूल अधिष्ठान में जो चैतन्य रहता है उसे कूटस्थ कहते हैं।

२. ब्रह्म : निरविच्छिन्न अथवा एक संध ऐसा जो चैतन्य उसे ब्रह्म कहते हैं।

३. ईश्वर : बुद्धि की जो सूक्ष्म वासना रहती है उस वासना में प्रतिबिंबित होने वाले चैतन्य को ईश्वर ऐसा कहते हैं। उदारहण- 'वासनात वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयं:' अर्थात् वासुदेव के, ईश्वर की इच्छा से अथवा वासना से यह त्रिभुवन, यह संपूर्ण विश्व है।

४. जीव : जो बुद्धि में प्रतिबिंबित होता है वह चैतन्य अर्थात् जीव है।

आचार्यादि वेदान्ति दार्शनिक ने जीव, ईश्वर, आत्मा अथवा परब्रह्म यह जैसे तीन अवस्थाएं बतायी हैं वैसे ही परब्रह्म का वर्णन अर्थात् आत्मा का वर्णन सत्, चित्, आनंद ऐसा किया है। यह सच्चिदानंद आत्मा चैतन्य के परे है यह भी उन्होंने प्रतिपादित किया है। चैतन्य विशिष्ट आत्मा अर्थात् जीव को जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति में जो ज्ञान होता है, वह चैतन्य के कारण ही होता है। यह स्पष्ट है। कारण चैतन्य का मुख्य गुण ही बोध (ज्ञान) है। परंतु परब्रह्म का अथवा सत्य का (सत्) ज्ञान मात्र इस सामान्य तथा प्राकृत चैतन्य से नहीं होता।

चैतन्य इस विषय के जिस भाग (हिस्सा) से केवल सत्य का ज्ञान होता है, अन्य किसी का नहीं (असत्य का नहीं होता) उतने ही चैतन्य को (ज्ञान को) वेदान्ति दार्शनिक 'चित्' कहते हैं अर्थात् चित् चैतन्य न होकर मात्र सत्य का ज्ञान कराने के लिए जिस शुद्ध ज्ञान की जरुरी रहती है वह ज्ञान है। यह ज्ञान अथवा बोध जो चैतन्य देता है, उस चैतन्य भाग को कूटस्थ चैतन्य, ब्रह्म चैतन्य ऐसा कहते हैं। यही चित् है। सत् कुछ है, यह ज्ञान 'चित्' के कारण ही होता है अर्थात् 'चित्' से मात्र सत्य का ही ज्ञान होता है। परंतु चैतन्य के कारण मात्र सत् और असत् दोनों का ज्ञान संभव होता है। परंतु प्रायः असत्य का ही सत्य समझ कर ज्ञान होता है।

'सत्' कहलाने वाला जो कुछ है उसका ज्ञान चित् के कारण ही होता है। यदि सत् का अभाव होता है तो चित् नहीं होता वैसे ही चित् नहीं है तो सत् भी नहीं होता। अतः सत् के अभाव में चित् संभव होता ही नहीं। चित् नहीं तो सत् की प्रतीत नहीं होती।

जीव, ईश्वर तथा आत्मा ही जिज्ञासा है, ज्ञेय और सत्य ऐसे बढ़ने वाले पादान है और यह चढ़ कर ही जीव ब्रह्म रूप होता है। वैसे ही सत्, चित, आनंद अर्थात् अस्ति, भाति, प्रीति यह नीचे आने वाली सीढ़ियां है उसे उतर कर ही सच्चिदानंद स्वरूप आत्मा का ज्ञान आनंद में परिवर्तित होता है। ऐसा है इसलिए ही प्रायः वेदान्त शास्त्र ने चैतन्य का विद्यारण्य स्वामी जैसे चार भेद न कर तीन ही भेद कल्पित किये हैं। एक शुद्ध चैतन्य, दूसरे ईश्वर - चैतन्य और तीसरे चैतन्य।

१. शुद्ध चैतन्य : इसी में कूटस्थ तथा ब्रह्म चैतन्य यह विद्यारण्य स्वामी द्वारा प्रतिपादित दो चैतन्य भेदों को जोड़ दिया जाता है।

इस शुद्ध चैतन्य को ही वेदान्ति 'चित्' कहते हैं और इसलिए चित् यह चैतन्य के परे है ऐसा शंकराचार्य कहते हैं। कारण चैतन्य यह जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति का ज्ञान देता है और यह ज्ञान असत्य रहता है। कारण वह विश्व के संबंध का ज्ञान देती है और विश्व ही सत्य ऐसा मिथ्या ज्ञान दृढ़ करती है। अज्ञान ही ज्ञान है यही सतत् बताती रहती है। यह आभास निर्माण करने की क्षमता इस चैतन्य में होने के कारण जीव अर्थात् चैतन्य का बुद्धि पर प्रतिबिम्ब तथा ईश्वर यह बुद्धि की सूक्ष्म वासना से पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ऐसा वेदान्ति मानते हैं और यह दोनों ही पर ब्रह्म के ऐलतीर पर ही है तथा परब्रह्म मात्र (सत्य) यह चैतन्य के परे है अर्थात् जीव तथा ईश्वर के परे है ऐसा प्रतिपादित करते हैं।

फिर चैतन्य असत् बातों को सत् का आभास देते दिखाई देता है। अज्ञान को ही वह ज्ञान मानते हैं। अतः जीवचैतन्य यह दोनों क्रमशः अविद्या तथा माया की उपाधि से बद्ध होकर वह बंध ही प्रमाणित होते है। इसी कारण केवलाद्वैति शास्त्रकार विद्यारण्य ने किये जीव तथा ईश्वर चैतन्य यह दो भेद निरर्थक मानते है। सारांश, वेदान्त मत प्रणाली से जीव दशा यह जैसे बद्धता है वैसे ही ईश्वर दशा यह भी बद्धता है। उनके मत से परब्रह्म तथा सत्य यही मात्र सत्य है वही मोक्ष रूप कल्याण रूप है। यहां और एक मजेदार बात है वह ऐसी है कि चैतन्य के परे जो 'चित्' है उसके ज्ञान से परब्रह्म साक्षात्कार भी यदि हुआ हो तो भी उस ज्ञान से विश्व रूप अज्ञान का अत्यंतिक नाश नहीं होता। प्रारब्ध के उतना ही क्यों न हो लेकिन परब्रह्म की अनुभूति हुए अधिकारी व्यक्ति को विश्व रूप अज्ञान शेष रहता ही है।

अब यहां ध्यान में रखने की मुख्य बात यह है कि, वेदान्ति दर्शन परब्रह्म साक्षात्कार यह चित् के कारण अर्थात् चित् ने दिये शुद्ध ज्ञान के कारण होता है ऐसा मानते है। वह 'ज्ञानात एव तु कल्याणम' ऐसा कहते हैं। लेकिन कश्मीरी शैव दार्शनिकों ने परब्रह्म साक्षात्कार के लिए अर्थात् शिव के, कल्याण के, मंगल तथा मोक्ष प्राप्ति के

लिए ज्ञान को साधन नहीं मानते। उनका कहना तो ऐसा है कि ज्ञान भी बंध के लिए कारण बनता है। उससे शिव रूप प्राप्त नहीं होता उल्टे ज्ञान प्रक्रिया जहां रुकती है, समाप्त होती है - अर्थात् ज्ञान जहां स्थिर होता है वहीं शिव की प्राप्ति है ऐसा वह मानते हैं इस प्रतिपादन के पुष्टि में कश्मीरी शैव दर्शन में 'ज्ञानबंधः' ऐसा शिवसूत्र ही है।

यह सूत्र अधिक स्पष्ट करने के लिए शिव-पार्वती कथा का सम्यक उपयोग होता है। पार्वती यह दक्ष की कन्या। दक्ष अर्थात् दक्षता। दक्षता यह चैतन्य का गुण है। सदा सर्वकाल सावधचित्त रहकर जो दिख रहा है उसका ज्ञान प्राप्त करना। उसके संबंध का ज्ञान आत्मसात करना तथा उसकी अनुभूति लेना इसको ही दक्ष रहना कहते हैं। चैतन्य विशिष्ट आत्मा अथवा जीव (आत्मा का प्राज्ञ भाव) यही कार्य करता है। यह दक्ष शिव का अपमान करता है। उसका तिरस्कार करता है, ऐसा शिवसूत्र है। पार्वती शक्ति स्वरूप है, ज्ञान शक्ति का स्वरूप है। सत्ता का स्वरूप है। दक्षता है तो शक्ति। ज्ञान शक्ति प्राप्त होती है अथवा सत्ता प्राप्त होती है। पार्वती यह दक्षता कन्या। दक्ष के यहां उसका जन्म हुआ। लेकिन जब तक वह 'दक्ष कन्या' रहती है तब तक उसे शिव मिलते नहीं। क्योंकि दक्ष शिव का तिरस्कार करने वाला, अपमान करने वाला है, परंतु यह दक्ष कन्या जब दक्ष का पक्ष छोड़ जब (शक्ति अथवा ज्ञान शक्ति) पर्वत जैसे अचल होती है, एक जगह स्थिर होती है तब वह पार्वती बनती है। वह सभी आशा आकांक्षाओं का त्याग कर प्राज्ञ आत्मा की प्रज्ञा स्थिर करती है। इसी अवस्था को स्थितप्रज्ञ कहते हैं। वह स्थितप्रज्ञ अवस्था में जाती है तभी उसे शिव की ब्रह्मी स्थिती की प्राप्ति होती है। संक्षेप में आत्मा का जो साक्षी भाग है (साक्षी आत्मा) वह प्रगट होकर मनुष्य को आत्मज्ञान प्राप्त होता है, सत्य का दर्शन होता है। अर्थात् परब्रह्म साक्षात्कार होता है।

कश्मीरी शैव दर्शन की मत प्रणाली ऐसी है। इसलिए ही कश्मीरी शैवदर्शन यह चित् को (चित्शक्ति को) चैतन्य के परे नहीं मानता, तो चैतन्य यह सच्चिदानंद का चित् का ही विलास है। उसी से संत ज्ञानेश्वर का 'चित् विलासवाद' का निर्माण हुआ। अतः 'चैतन्यम् आत्मा' ऐसा शिवसूत्र है अर्थात् आत्मा सत्य होने के कारण चित् का विलास भी एक प्रकार से सत्य ही है। ऐसा कश्मीरी शैव तथा संत ज्ञानेश्वर भी मानते हैं। परंतु मोक्ष के लिए शिव प्राप्ति के लिए यह चित् शक्ति भी एक प्रकार का बंध ही है। वह सत्य में स्थित हुए बिना, सत्य रूप हुए बिना शिव रूप प्राप्त नहीं होता। ऐसा वह मानते है। यह शिव रूप यद्यपि सच्चिदानन्द रूप ऐसा मानने पर भी वहा चित् स्वरूप ही स्थिर ऐसा मानते है। ज्ञान रूप नहीं मानते। यही वेदान्ति और कश्मीरी शैवमत प्रणाली में महत्त्वपूर्ण फर्क है।

वेदान्ति शांकरमत और कश्मीरी शैवमत में इन दोनों उपर्युक्त बतायें जैसा भेद होने के कारण संत ज्ञानेश्वर ने लिखे ज्ञानेश्वरी का दर्शन शांकरमत का पुरस्कार करता है यह आम अध्येता का मत योग्य नहीं है, अर्थात् पूर्णवाद को इन दोनों में से शांकरमत ही करीब है। फर्क इतना ही है कि, जिस मैं को परब्रह्म अथवा शिव का ज्ञान होता है वह 'मैं' का अध्ययन करते समय ईश्वर यह संकल्पना जैसे परब्रह्म के ऐलतीर पर ही दिखाई देती है। वैसे ही वह परब्रह्म के परे भी पूर्णपुरुष अथवा परमेश्वर स्वरूप में दिखाई देता है यह भी पूर्णवाद दृढ़ता से प्रतिपादन करता है। उसी प्रकार जीव, ईश्वर, परब्रह्म, पूर्णपुरुष इनमें कार्य कारण संबंध न होकर स्वरूप संबंध है, इसलिए ही यह सीधी रेखा की सीढ़ियां न होकर एक ही वर्तुलाकार 'मैं' पन की ही भिन्न भिन्न अवस्थाएं है, तथा पूर्णपुरुष के ज्ञान के बाद भी यह वर्तुल पूर्ण कर स्वेच्छा से जन्म ले सकता है, अथवा जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तूर्या यह अवस्थाएं क्रम से अनुभव कर फिर से जागृति में आ सकता है, अथवा भू, भूवः, स्वः, महः इत्यादि सात व्याहृति मार्ग से सत्य तक जाकर फिर भूः से नया जीवन शुरू कर सकता है। ऐसा पूर्णवाद का प्रतिपादन है।

मूल परमेश्वर अपने स्वरूप से विकसित होते होते विश्व रूप धारण करता है। उसी ने एक से अनेक होकर मानवी समाज अर्थात् हमें निर्माण किया है। अतः हमें अपना मूल स्वरूप कैसा है यह जानने की उत्सुकता तथा जिज्ञासा रहती है। इस स्वाभाविक जिज्ञासा से ही परब्रह्म जिज्ञासा, पूर्णपुरुष जिज्ञासा आदि उत्पन्न होती है और उसी के तृप्ति से मानव का कल्याण होता है।

यह फर्क छोड़ कर पूर्णवाद तथा शंकराचार्य के केवलाद्वैत का एकमत है ऐसा दिखता है। यह अध्येता ठीक से समझे। इतना ही नहीं, तो आज प्रचलित आचार्य रजनीश, जे. कृष्णमूर्ति आदि दार्शनिकों की मत प्रणाली कश्मीरी शैवदर्शन से प्रभावित है, परंतु रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द का दर्शन शांकरमत को ही स्वीकार करता है। यह भी बात अध्येताओं को ध्यान में रखने जैसी है।

कश्मीरी शैवदर्शन और शांकरमत का मतभेद हमने देखा, परंतु ऐसा ही मतभेद विवरणकार का 'बिंबप्रतिबिंबवाद' और विद्यारण्य स्वामी का 'आभासवाद' इन दो प्रतिपादन में भी हमें दिखाई देता है। विद्यारण्य स्वामी जीव तथा ईश्वर को चैतन्य का प्रतिबिंब मानते है इसलिए वह मिथ्या (आभास) है ऐसा मानते है। विवरणकार मात्र बिंब का प्रतिबिंब से अभेद प्रतिपादित कर प्रतिबिंब सत्य मानते है। अतः जीव तथा ईश्वर यह जो चैतन्य के प्रतिबिंब है वह भी सत्य है ऐसा उनका दावा है।

अब विद्यारण्य स्वामी ने चैतन्य की जो मीमांसा की है उसे देखेंगे। यह मीमांसा

संक्षेप में ऐसी है कि, चिद् अर्थात् ब्रह्म चैतन्य है तथा इस चिद् का बुद्धि वासना में परावर्तित प्रतिबिंब अर्थात् ईश्वर है। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में से सुषुप्ति इस अवस्था में (निद्रा में) बुद्धि की स्थिति सूक्ष्मतम रहती है। विद्यारण्य स्वामी इस स्थिति को वासना कहते हैं तथा इस बुद्धि में परावर्तित 'चिद्' के (ब्रह्मचैतन्य) प्रतिबिंब को ईश्वर कहते हैं। परंतु जागृति, और स्वप्न इन अवस्था में जो सूक्ष्म अंतःकरण (बुद्धि) कार्य करती है उस अंतःकरण में परावर्तित होने वाले (ईश्वरी चैतन्य चिद् नहीं) प्रतिबिंब को मात्र जीव कहते हैं और इन दो अवस्थाओं में काम करने वाली बुद्धि (अंतःकरण) उसे विज्ञान कहते हैं। अतः जीव यह विज्ञानमय कोष है, और निद्रा में जो बुद्धि, वासना कार्यरत रहती है उन्हें आनंद कोष कहा जाता है। अतः ईश्वर यह आनंदकोषमय प्रमाणित होता है।

इस विश्लेषण को देखने के बाद फिर ऐसी शंका आती है कि, निद्रित रहने वाले अनेक जीवों की बुद्धि, वासना अनेक होने के कारण इस प्रत्येक बुद्धि वासना में प्रतिबिंबित होने वाले ब्रह्म चैतन्य यदि चिद् अथवा ईश्वर कहने पर इन प्रत्येक जीवों पर एक एक ईश्वर, ऐसे अनेक ईश्वर होंगे। परंतु विद्यारण्य स्वामी ने ही इन शंकाओं का समाधान किया है। उनका कहना है कि, बुद्धि वासना विशिष्ट ऐसा जो अज्ञान है, उस अज्ञान में प्रतिबिंबित होने वाले ब्रह्म चैतन्य को ईश्वर कहना चाहिए। अब इस कथनानुसार सभी जीवों की जो निद्रित अवस्था रहती है उसका अज्ञान रूप एक जैसा होने के कारण वह आनंद रूप होने के कारण ईश्वर एक ही है। उल्टे जागृति में प्रत्येक व्यक्ति का अंतःकरण अथवा उसकी बुद्धि अलग अलग होने के कारण जीव मात्र अनेक रहते है।

विद्यारण्य स्वामी ने यह जो पद्धति अपनायी है उस पद्धति से ईश्वर अर्थात् ब्रह्मचैतन्य का (चिद् का) निद्रावस्था का अज्ञान में परावर्तित प्रतिबिम्ब और इस ईश्वर का जागृति तथा स्वप्न अवस्था में परावर्तित प्रतिबिंब (प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब) अर्थात् जीव है। परंतु यह जो विवरण का भाग है। उसके कारण जीव का ब्रह्म से अभेद करते समय मात्र बाधा उत्पन्न होती है। परंतु विवरणकार के बिंब प्रतिबिम्ब वाद से मात्र बुद्धिवासना के अज्ञान तथा अन्तःकरण में (जागृति, स्वप्न के बुद्धि में) परिलक्षित प्रतिबिंब एक ही चिद् का होने से तथा वह प्रत्यक्ष (Direct) प्रतिबिम्ब होने के कारण जीव का ब्रह्म से अभेद सिद्ध करने में कुछ भी बाधा आती नहीं कारण इस जगह बीच के ईश्वर का विचार करने की आवश्यकता नहीं रहता। एक ही सूर्य के अनेक आइने में जैसे प्रत्यक्ष प्रतिबिम्बपड़ता है वैसे ही यहां होता है।

विद्यारण्य स्वामी के इस विशिष्ट मत प्रणाली से उनका शंकराचार्य ने पुरस्कृत चैतन्य विशिष्ट आत्मा अथवा जीव और चैतन्यातीत आत्मा (शुद्ध आत्मा) इस संकल्पना से मत वैचित्र्य यद्यपि दिखता है और 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' यह सूत्र सिद्ध करते समय यदि अड़चन भी आती होगी तो भी आचार्य जिसे शुद्ध, बुद्ध अथवा नबल ब्रह्म कहते हैं तथा विद्यारण्य स्वामी जिसे ब्रह्म ऐसा संबोधित कर जिससे ब्रह्म चैतन्य ऐसा शब्द तैयार करते हैं उस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, तुरीय परब्रह्म के स्वरूप के संदर्भ में मात्र किसी का भी मतभेद रहता नहीं। यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। यहां आचार्य बिंब प्रतिबिम्बवाद विवरणकार और आभासवादी विद्यारण्य स्वामी का एकमत है। जो कुछ मतभिन्नता तथा मतवैचित्र्य है वह ब्रह्म के संदर्भ में न होकर जीव, कूटस्थ, ईश्वर तथा जीव ऐसे चार भेद किये हैं यह हमने पीछे देखा ही है परंतु अद्वैति वेदान्ति दर्शन तथा दार्शनिकों के मतानुसार वह ब्रह्म तथा कूटस्थ एक न मानकर अपने 'दृक, दृष्य विवेक' इस ग्रंथ में कूटस्थ का अन्तर्भाव जीव में करते हैं ऐसा प्रमाण है।

सारांश, चैतन्य के दृष्टि से विचार करने पर जीव के भी तीन भेद है। १. पारमार्थिक, २. व्यावहारिक और ३. प्रातिभासिक । जीव में उसका छेद नहीं हो सकता है ऐसे अविच्छिन्न चैतन्य का अथवा चिद् का अस्तित्व है, वह पारमार्थिक जीव है। ऐसे जीव का ब्रह्म से अभेद रहता है और वह परब्रह्म चैतन्य से युक्त रहता है। परंतु जो माया से आवृत्त है ऐसे ब्रह्म के अथवा कूटस्थ में कल्पित अन्तकरण में चिदाभास होता है तथा जो सूक्ष्म और स्थूल ऐसे दोनों देह में अभिमान धारण करता है वह व्यावहारिक जीव है। यह जीव ईश्वर चैतन्य से युक्त रहता है (सुषुप्ति रूप) माया से आवृत्त ऐसे व्यावहारिक जीवरूपी अधिष्ठान में कल्पित ऐसा जो जीव वह प्रातिभासिक जीव है। यह जीव चैतन्य से युक्त रहता है। ब्रह्म चैतन्य और ईश्वर चैतन्य का अन्योन्याध्यास है। विवरणकार को मात्र विद्यारण्य स्वामी ने किये जीव के तीन भेद मान्य नहीं है। उनका कहना है कि, बिम्ब से प्रतिबिम्ब यह पृथक तथा भिन्न नहीं होता, अतः बिम्ब-प्रतिबिम्ब में अभेद ही रहता है। इसलिए प्रतिबिम्ब भी सत्य ही है। विद्यारण्य स्वामी मात्र प्रतिबिम्ब को आभास मानते है। इसलिए वह मिथ्या है। हम यदि इन विश्लेषणों पर सूक्ष्म विचार करे तो आभास वाद में भी चिद् का जो प्रतिबिम्ब है उसे वस्तुतः सत्य भी नहीं मानने आता तथा संपूर्ण मिथ्या भी नहीं मानने आता, अर्थात् वह जैसे अनिर्वचनीय, शब्दातीत है वैसे ही वह बिम्ब-प्रतिबिम्ब वाद में भी अनिर्वचनीय ही है। कारण मुख का प्रतिबिम्ब वस्तुतः मुख के पास ही रहते हुए वह दूर आइने के अंदर दिखता है। उस प्रतिबिम्ब का धर्म भी अनिर्वचनीय रहता है। कारण मुख का प्रतिबिम्ब वस्तुतः मुख के पास ही रहते हुए वह दूर आइने के अंदर दिखता है। उस प्रतिबिम्ब का धर्म भी

अनिर्वचनीय रहता है। इस प्रकार आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद इन दोनों वादों में यह अनिर्वचनीय परिणाम निर्माण करने वाले जो प्रमुख साधन है वह अज्ञान है। परमार्थ की दृष्टि से केवलाद्वैति वेदान्ति को आभासवाद और प्रतिबिंबवाद यह दोनों मतप्रणाली की दृष्टि से ब्रह्म का बोध होने से किसी भी मत प्रणाली के संदर्भ में उनका कोई विशेष आग्रह नहीं है। जिसे जो अच्छा लगता है उसने वही स्वीकार करे, ऐसा उनका मत है।

इस प्रकार अनेकाविध प्रकार की जो वेदान्त प्रक्रिया है उनका तात्पर्य 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' यह बोध साधक में सतत् दृढ़ करते रहना, यह है तथा आत्म ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है, यह सत्य समझाना यह इस प्रक्रिया का हेतु है। मात्र ब्रह्मज्ञान के सिवाय अन्य कोई भी ज्ञान फिर यदि वह आभास का हो अथवा प्रतिबिम्ब का हो, वह होना अज्ञान ही है। वेदान्त का यदि ज्ञान न हो तो मनुष्य को १. अपने में बंध है, २. अज्ञान है, ३. हमें जो दिखाई देता है वह सत्य नहीं है, यदि यथार्थ का ज्ञान नहीं होता। उसे सबसे पहले बंध तथा अज्ञान का बोध करा देना और फिर उस बंध का और अज्ञान का नाश कर मोक्ष प्राप्ति कैसे हो, यह सिखाना यह वेदान्त का मूल हेतु हैं।

जो शुद्ध है, सत्य है, नित्य है, वह सदासर्वत्र मुक्त है तथा वही अपना मूल 'मैं पन' है यह इतना ही ज्ञान कराने वाला शास्त्र अर्थात् केवलाद्वैतमत से वेदान्त शास्त्र है। जिसे हम बद्ध है ऐसा लगता है, अपने बंध की जिसे प्रतीत होगी, वही वेदान्त श्रवण करने को प्रेरित होगा। जिसे अपने बंध का जरा भी बोध न हो, प्रतीत न हो वह कदापि इस मार्ग में प्रवृत्त नहीं होगा ऐसा वेदान्त अद्वैत शास्त्र का मत है।

परंतु एकाध देहाभिमानी जीव अपने तमोगुण प्रधान बुद्धि से कुछ भी समझते हुए, यदि मैं बद्ध ही नहीं हूँ, तो मुझे वेदान्त की आवश्यकता ही क्या? ऐसा यदि कोई कहता होगा तो, उसे ऊपरी शास्त्र मत लागू नहीं होगा। कारण जन्म लेने वाला कोई भी जीव अथवा मनुषय जन्मतः स्वरूपलीन हुआ है, ऐसा कभी नहीं होता। जन्मतः किसी को भी आत्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं होती। यदि ऐसा होता तो फिर शारीरभाष्य की भूमिका में आत्मा प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध ऐसी चर्चा आचार्य करते ही नहीं। अतः स्वरूप स्थिति अथवा आत्मज्ञान यह शुरुवात में तो प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करने की चीज है। ज्ञान प्राप्त होने पर मात्र वह सहजावस्था में परिणत होता है। अतः जिसे बध का बोध होकर मोक्ष प्राप्त करना है उसे, जिसे बंध बाधक नहीं होता उसे भी, जिसे तमोगुण प्रधान वृत्ति से हम बद्ध है ही नहीं ऐसा लगता है उसे भी वेदांत शास्त्र का कम से कम श्रवण तो करना ही चाहिए, ऐसा इस अद्वैत शास्त्र का आग्रह है।

जो शुद्ध है, सत्य है, नित्य है वह भी सदा मुक्त ही है और वही मेरा 'मैं पन' है,

ऐसा एक भी अद्वैत यदि हो तो भी केवलाद्वैतवाद में प्रक्रिया भेद के कारण अनेक उपभेद निर्माण हुए है, वह इस प्रकार है -

१. आभासवाद, २. प्रतिबिम्ब, ३. अवच्छेदवाद, ४. दृष्टि-सृष्टिवाद, ५. सृष्टि-दृष्टिवाद आदि। पिछले विश्लेषण में हमने देखा पहले दो उपभेद, अर्थात् आभासवाद और बिम्ब प्रतिबिम्बवाद, इस संबंध में सरसरी तौर पर परिचय हुआ है। अब तीसरा जो उपभेद है, अवच्छेदवाद-इसके संबंध में जानकारी लेंगे।

सबसे पहले अवच्छेद इस शब्द का अर्थ देखेंगे। एकाध व्यापक वस्तु का छेद कर अथवा उसके भाग कर उसमें से कुछ भाग अलग बताना ही अवच्छेद है। उदाहरण-: व्यापक ऐसा जो चैतन्य है उसका अंतःकरण से छेद होता है और इस अंतःकरण में जो जो चैतन्य है उस चैतन्य को जीव कहते हैं। आकाश का छेदन कर घटाकाश अलग बताना उसे ही घड़ा अथवा घट कहते हैं। इससे अवच्छेद शब्द का अर्थ स्पष्ट होगा, वैसे ही अवच्छेद आभास तथा प्रतिबिम्ब का भेद भी स्पष्ट होगा।

अतः अवच्देछवाद यह जो उपभेद है उसमें अविद्या तथा अंतःकरण से छिन्न हुए, खंडित चैतन्य अर्थात् जीव तथा माया के कारण अविच्छिन्न हुए चैतन्य ही ईश्वर है, ऐसे जीव तथा ईश्वर के लक्षण बताये है। इस वाद का कथन ऐसा है कि, रूपरहित उपाधि में प्रतिबिम्ब कभी भी संभव नहीं है। अतः जीव तथा ईश्वर यह चिद् के प्रतिबिम्ब है ऐसा कह नहीं सकते। उदाहरण आकाश का प्रतिबिम्ब कुंए में, बावड़ी में दिखता है। अब यहां पर पड़ने वाले आकाश के प्रतिबिम्ब की उपाधि है कुएं-बावड़ी का पानी और इस उपाधि को रूप है। परंतु अविद्या तथा अंतःकरण यह जो उपाधि है वह मात्र रूप रहित है तो फिर चिद् का तथा चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ना कैसे संभव है? अतः अंतःकरण तथा अविद्या के कारण छिन्न चैतन्य ही जीव है, और माया से अविच्छिन्न चैतन्य ही ईश्वर है। यही प्रतिपादन उचित है।

अवच्छेदवाद ने जो दूसरा पक्ष सामने रखा है वह भी विचार करने योग्य है। यह दूसरा पक्ष ऐसा है कि, जिस पदार्थ को आरोपित तथा अनारोपित रूप रहता है उसी का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। परंतु सर्वथा रूप रहित ऐसे चैतन्य का प्रतिबिम्ब रूप रहित अविद्या अथवा रूप रहित माया में बिल्कुल संभव नहीं है। आखिर रूप क्या है, तो जिसमें पड़ना है वह और बिम्ब अर्थात् जिसका बिम्ब पड़ना है वह। यदि यह दोनों रूपरहित है तो प्रतिबिम्ब पड़ना कालत्रयी संभव नहीं है। इस सुक्ति से अवच्छेदवादी आभासवाद का खंडन करते है।

अब दृष्टि-सृष्टिवाद का कथन है कि कल्पित ऐसे अविद्यादि के संबंध से योग से

होने वाली यह 'अविच्छिन्नता' अथवा 'अवच्छेदता' सदासर्वकाल असंग, नित्य, मुक्त सच्चिदानंदघन ऐसे परब्रह्म के अथवा ब्रह्मचैतन्य में असंभव है। स्वतः में जो विद्या रहती है उस विद्या के योग से तथा जीव शब्द से व्यक्त किये हुए (जीवभाव परब्रह्म) ब्रह्म ही इस विश्व तथा प्रपंच का कल्पक होने से सभी तत्त्वों से और् धर्मों से युक्त ऐसा ईश्वर भी दृष्टि-सृष्टिवाद के मत से कल्पित ही होता है। जीव एक है, कि अनेक, यह वाद भी उपस्थित होता है। जीव अनेक है ऐसा मानने पर और ईश्वर यह कल्पित जीव है ऐसा कहने पर ईश्वर भी अनेक होते हैं। परंतु बहुधा शास्त्रकार के मत से ईश्वर यह एक ही एक है ऐसा दिखता है।

अब दृष्टि-सृष्टिवाद यह सृष्टि-दृष्टिवाद से बहुत भिन्न है क्या? तो वैसा कदापि नहीं। इन दो वादों में वैसे मतैक्य ही है। मात्र एक बात में पृथकता है। अतः दृष्टि-सृष्टिवाद सृष्टि-दृष्टिवाद से भिन्न है। यह पृथकता किसमें है तो विषय के अज्ञान सत्ता के संबंध में। सृष्टि-दृष्टिवाद विषय की अज्ञान सत्ता मानता है। परंतु दृष्टि-सृष्टिवाद मात्र ऐसी सत्ता नहीं मानता, इतना ही दोनों में फर्क है। १. जड़ को स्वतंत्र सत्ता नहीं, २. चैतन्य यह अंतिम सत्य है तथा जड़ यह भ्रम के कारण उसमें दिखता है। इतना ही नहीं, तो वह स्वतंत्र लगता है। यह दोनों सिद्धांत इन दो वादों को मान्य है। अज्ञान तथा उपाधि की क़ल्पना मात्र भिन्न भिन्न होने के कारण उस बाबत के दोनों की प्रक्रिया भिन्न हैं।

यहां एक बात ध्यान देने जैसी है कि, केवलाद्वैति सिद्धान्त यद्यपि एक ही है तो भी वह सिद्ध करने के लिए अलग-अलग प्रक्रिया और उपवादों का पुरस्कार किया है। यह जो अलग-अलग मत प्रवाह उत्पन्न हुए है उन सभी का उद्देश्य मात्र एक ही है और वह है परब्रह्म को केवलत्त्व देना और उसके लिए अन्य सभी बातें मिथ्या है यह दर्शाना। 'ब्रह्म सत्य' है इस पर किसी का भी दुमत नहीं, परंतु जगत् तथा ईश्वर मिथ्या कैसे यह सिद्ध करने के लिए मात्र अलग अलग मत प्रवाह को अंगीकृत करने के कारण उसमें मतभेद है, मत भिन्नता है और वाद भी है। जगत् को मिथ्या प्रमाणित करने के लिए जगत् का शास्ता जो ईश्वर है उसकी अड़चन दूर करनी, यही इस मत प्रणाली के सामने मुख्य प्रश्न है ऐसा दिखता है। यह प्रश्न सुलझाने के लिए इन अलग अलग प्रक्रियाओं को अपनाना पड़ा। अतः उसमें मत भिन्नता होकर वह एक दूसरे का खंडन करते दिखाई देते है। परंतु इन सभी वादों ने अज्ञान ही यह किसी प्रकार से जगत् तथा बोध का कारण माना है। परंतु अज्ञान भाव पदार्थ है ऐसा प्रमाणित करने के कारण अज्ञान को सत्ता है अथवा नहीं यह नया प्रश्न निर्माण हुआ दिखता है।

वस्तुतः सत्ता शब्द का मूल 'सत्' में ही है। अतः जिस किसी का अस्तित्व है

उसकी कुछ न कुछ सत्ता रहती ही है। अज्ञान को भी अस्तित्व है। वह भाव पदार्थ है। उसके आगे अज्ञान को सत्ता नहीं है ऐसा कहने पर जिसे सत्ता ही नहीं है वह बोध भी कैसे उत्पन्न कर सकता है? फिर यदि ब्रह्म को सत्ता होकर भी उसका ज्ञान मनुष्य को मुक्त करता है ऐसा कहना कितना सयुक्तिक है? यह दोनों मत तर्कसंगत नहीं है। अतः वह स्वीकार नहीं किये जा सकते। इस शंका का उत्तर यह अद्वैति प्रक्रियाओं को देते नहीं बनता। बंध और मोक्ष का यदि विचार किया जाये, तो अज्ञान की सत्ता होना तथा ब्रह्म में सत्ता का न होना यह इष्ट होता है। वेदान्तियों ने इस संदर्भ में जो स्पष्टीकरण दिया है वह देखने जैसा है। वह कहते है कि ब्रह्म में जो सत्ता है उसे मात्र साक्षित्व है अर्थात् साक्षी आत्मा पर ब्रह्मा का आरोप कर उसका सर्वशक्ति समन्वित किसी न किसी प्रकार से दूर होकर एक प्रकार से नष्ट अथवा परिणाम शून्य है अथवा था। अद्वैतियों को जैसे यह करना पड़ता है वैसे ही विश्व को मिथ्या मान कर अज्ञान की सत्ता यह सही सत्ता नहीं है, यह भी खास कर कहना पड़ता है। सिवाय इन सभी प्रक्रिया में ईश्वर मात्र छूट जाता है। उसका विचार करने नहीं आता।

परब्रह्म – ३

विश्व सत्य है, ऐसा मानने पर इस विश्व का बोध जागृति, स्वप्न, अथवा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में से एक ही अवस्था में आने के कारण विश्व का यह बोध छिन्न तथा खंड़ित चैतन्य से आता है, ऐसा ही कहना पड़ेगा। फिर विश्व यह संपूर्ण सत्य है, ऐसा कहना असंभव है। अद्वैतियों के सामने यह भी अड़चन आने लगी। परंतु पूर्णवाद ने मात्र इन सभी अड़चनों को पार किया। पूर्णवाद को अद्वैतवादियों जैसे कुछ भी मिथ्या प्रमाणित नहीं करना है तथा उसे मात्र सत्य का शोध करना था इसलिए उन्होंने 'ब्रह्मसत्य' यह शंकराचार्य की प्रक्रिया सर्वथैव मान्य की, वैसे जगत् को सत्य मानने के लिए आज तक प्रयोग मे आने वाला कार्य कारण भाव छोड़ कर स्वरूप संबंध मान्य किया है। अतः जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति यह अवस्थाएं चैतन्य के खंड़ित अवस्था न बनते संपूर्ण चैतन्य के स्वरूप हुए। चैतन्य का एक स्वरूप जागृति तो दूसरा स्वप्न तीसरा सुषुप्ति तथा चौथा तूर्या है। आत्मा के भी प्राज्ञ और साक्षी ऐसे दो टुकड़े करने की आवश्यकता [illegible] रहती। सत्ता का भी प्रश्न सहज ही सुलझता है। परंतु अद्वैतवादि स्वरूप सबंध को न मानते कार्य कारण भाव मानने के कारण उनके दृष्टि–सृष्टिवाद से अज्ञान यह यद्यपि साक्षी सिद्ध है तो भी उसकी सत्ता नहीं मानी और सृष्टि–दृष्टिवाद ने उसे माना भी तो भी उस पर कुछ आक्षेप ही है। इन आक्षेपों का अब हम विचार करेंगें।

दृष्टि-सृष्टिवाद तथा सृष्टि-दृष्टिवाद यह शब्द यद्यपि क्लिष्ट है, बोझिल तथा कठिन लगता भी हो तो भी उसका आशय सरल है। Perception is the cause of existance यह सिद्धान्त ही दृष्टि-सृष्टिवाद है। दृष्टि और सृष्टि इन दोनों के संबंध इन वाद से स्पष्ट हुए है। हमें सृष्टि दिखाई देती है यह सही है, परंतु हम उसे दृष्टि से देखते है इसलिए वह दिखती है। इस देखने से हमें फलां एक चीज है ऐसा बोध होता है। इस बोध के कारण ही हम वह वस्तु है ऐसा मानते है। सारांश हम में वस्तु के बोध के कारण वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है। इसे ही दृष्टि-सृष्टिवाद कहते है। सृष्टि-दृष्टिवाद के मत में वस्तु का अस्तित्व रहता है इसलिए ही उसका बोध दृष्टि को हो सकता है। वस्तु का अस्तित्व उसका बोध हमें करा देता है ऐसा मानना ही सृष्टि-दृष्टिवाद मान्य करना है। अतः दृष्टि-सृष्टिवाद यह अज्ञान मान्य करता है। लेकिन उसकी सत्ता नहीं मानता। परंतु सृष्टि-दृष्टिवाद मात्र अज्ञान की सत्ता मानता है, परंतु अज्ञान की सत्ता मानने के कारण सृष्टि-दृष्टिवाद पर इस प्रकार आक्षेप आते हैं –

१. विषय का ज्ञान यह मात्र वृत्ति के बोध से मनुष्य को होना संभव है तो वृत्ति उत्पन्न होने से पहले विषय के अस्तित्व का क्या कारण है समझ में नहीं आता। अर्थात् कुछ कारण रहता ही नहीं।

२. चैतन्य यह स्थल काल पर निर्भर न होने के कारण अर्थात् वह स्थलकाल सापेक्ष न होने से विषय का चैतन्य अलग तथा वृत्ति का चैतन्य अलग, ऐसा भेद करने नहीं आता। वैसे भेद मानने पर चैतन्य यह स्थलकालानुसार बदलता है अथवा वह स्थलकाल सापेक्ष है ऐसा होता है।

३. थोड़े समय के लिए चैतन्य स्थलकालात्मक है यह गृहित भी किया तो भी स्थल तथा काल का ज्ञान वृत्ति ज्ञान के पहले उत्पन्न नहीं होता। परंतु चैतन्य यह स्वसंवेद्य होने के कारण तथा वृत्ति ज्ञान के बिना उसका ज्ञान होने से स्थलकालात्मक है ऐसा मानने नहीं आता। यहां एक ध्यान देने की बात है कि सृष्टि-दृष्टिवाद 'चैतन्य' ही अंतिम सत्य है ऐसा मानते है। जड़ भ्रम से उसमें दिखाई देता है और उससे स्वतंत्र है ऐसा लगता है, ऐसा वह मानता है।

४. साक्षी अथवा सिर्फ देखने वाला यह वस्तु के ज्ञान से विकारग्रस्त होता होगा अथवा विचलित होता होगा तो देखने वाले का साक्षी ज्ञान तथा वृत्ति ज्ञान इसमें फर्क फिर क्या रहता है।

५. वृत्ति ज्ञान में विषय का स्वरूप ज्ञान सम्मिलित रहते उसी स्वरूप में वह विषय कभी कभी अज्ञात अथवा न समझने वाला होना संभव नहीं है।

इन पांच आक्षेप पर विचार करने पर सृष्टि-दृष्टिवाद की अपेक्षा दृष्टि-सृष्टिवाद अधिक प्रभावी तथा यथार्थ लगता है। लेकिन वह मायावाद का समर्थन करने वाला अथवा उसकी पुष्टि करने वाला न होकर अजातवाद के लिए फायदेमंद है। इसका अर्थ यह है कि तुम्हारी जगत् अथवा विश्व देखने की दृष्टि अथवा जानने की शक्ति नष्ट होने पर विश्व नहीं अथवा नहीं था ऐसा होता है। यह सब अलग अलग मत प्रवाह और विचार प्रवाह का विचार किया तो केवलाद्वैति प्रक्रिया में जीव और ईश्वर संबंधी कितने विविध मतमतांतर है और प्रसंगोपात इन मतमतांतर में यद्यपि विरोध भी निर्माण हुआ तो अन्त में एक ही अद्वैत ज्ञान के, परब्रह्म ज्ञान के पंक्ति में वह बैठते है, इसका आश्चर्य लगता है। अर्थात् केवलाद्वैति दार्शनिक भी इस संबंध में समर्थन करते है। उनका कहना है कि जीवन ज्ञान तथा ईश्वर ज्ञान यह मोक्ष का साधन नहीं है। तो मोक्ष आत्मज्ञान से ही वह प्राप्त होता है। परंतु आत्मस्वरूप के संबंध में तथा परब्रह्मस्वरूप के संबंध में सभी दार्शनिकों का एकमत है तथा उसमें निश्चिती है। अतः परब्रह्म ज्ञान कराने के लिए यदि कोई भी वाद हो तो भी वह उपकारक ही होता है।

केवलाद्वैतवादियों के समर्थन से एक बात स्पष्ट होती है कि, जीव और ईश्वर का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए सभी केवलाद्वैति प्रक्रिया असमर्थ रहती है और यदि ऐसा है तो फिर जीव की इति कर्तव्यता किस में यह कहते हुए जीव का ज्ञान न कराके उसे मात्र कहना निरर्थक बनता है। ईश्वर के ही यथार्थ ज्ञान के अभाव में आधिदैविक ज्ञान तथा यज्ञ का कर्म उपासना का ज्ञान अधिकार वाणी से कहने का अधिकार भी केवलाद्वैतियों को रहता नहीं है।

केवलाद्वैतवाद के अनुसार समझो, मोक्ष यही जीव की इति कर्तव्यता है ऐसा माने तो भी उसके लिए लगने वाली तीव्र प्रज्ञा सामान्य जन में न होने के कारण सभी को मोक्ष संभव नहीं बनता। अतः जीवित की इति कर्तव्यता मोक्ष होकर भी वह कुछ एक लोगों के ही भाग्य में हो तो बाकी अनेकों को भविष्य तथा पुनर्जन्म की ओर तीव्र प्रज्ञा के लिए आँखों के पांवड़े बिछाकर यदि बैठना हो तो वह मत प्रणाली योग्य नहीं है ऐसा ही कहना पड़ेगा। कारण अन्य लोगों का जीवित व्यर्थ ही होगा। पुनर्जन्मवाद मानने पर पिछला जन्म भी मानना पड़ता है। और फिर अज्ञान की सत्ता भी माननी पड़ती है। अज्ञान के कारण भासमान मिथ्या जगत् के मिथ्या कर्म की, वासना की सत्ता भी माननी पड़ती है। इन सभी बातों का मेल न बैठने के कारण जीव की इति कर्तव्यता मोक्ष है यह कहना सर्वथा गलत है।

अद्वैतिग्रंथों में जीव और ईश्वर के स्वरूप संबंध पर विविधता से परिपूर्ण ऐसे

अनेकविध उत्पत्ति हम देख सकते हैं। जाते जाते उनका भी संक्षेप में परिचय कर लेना उचित होगा। अतः उसका हम परामर्श लेंगे। एक बात यहां विशेष उल्लेखनीय यह है कि यद्यपि इस ग्रंथ का विषय परब्रह्म है तो भी उसकी सिद्धि करते समय जीव और ईश्वर इस संकल्पना का परामर्श लेना, उस पर लिखे भाष्य का संदर्भ लेना और उसका विश्लेषण करना यह कोई विषयांतर नहीं होता। उल्टे स्वरूप संबंध में यदि पर्याप्त जानकारी न हो तो परब्रह्म के संबंध में विपरीत ग्रह होने की संभावना बनने का धोखा रहता है। आम तौर पर ईश्वर तथा परब्रह्म एक ही है ऐसी रूढ़ धारणा रहती है। परंतु अद्वैत सिद्धान्तवादी यह दोनों चीजें परस्पर भिन्न हैं ऐसा कहते हैं। अतः जीव और ईश्वर के संबंध में इन दार्शनिकों ने जो विचार व्यक्त किया है उसका विश्लेषण यहां श्रेयस्कर है।

जगत् यदि मिथ्या है ऐसा कहने पर ईश्वर भी तर्क की दृष्टि से मिथ्या ही बनता है। यह सही है, लेकिन आम आदमी मात्र वैसा मानने क्रो तैयार नहीं होता यह भी सही है। आभासवादी मात्र ईश्वर को मिथ्या ही मानते हैं। अजातवाद की दृष्टि से एक परब्रह्म को छोड़ कर बाकी कुछ भी नहीं है। यदि जग ही नहीं तो उसका रक्षणकर्ता ईश्वर भी कहां आता है? फिर एक बार इस अज्ञान का बोध हुआ कि फिर अविद्योपाधित, मायोपाधित ईश्वर संभव नहीं। अतः वेदान्ति ईश्वर और परब्रह्म यह दोनों अलग है ऐसे विश्वास के साथ दावा करते है। ईश्वर स्वरूप संबंध में वेदान्ति दार्शनिकों ने यद्यपि अनेक प्रक्रिया बतायी है और उनमें अनेक मतभेद है तो भी ईश्वर परब्रह्म नहीं है, इस पर सभी एकमत है। उसके साथ ही जीव तथा परब्रह्म में अभेद है, इस बाबत भी उनमें एकमत है। परंतु जीव और ईश्वर के स्वरूप के विषय में मात्र उनमें एकमत नहीं है, तो मतभेद है। उसमें से कुछ की चर्चा करेंगे –

१. **ईश्वर** : शुद्ध चैतन्य के आश्रय से मूल प्रकृति में स्थित चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ईश्वर मानता है।

   जीव : आवरण शक्ति युक्त मूल प्रकृति का अंश ही अविद्या है। इस अविद्या रूप के अनंत अंश में जो चैतन्य अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं उसे जीव कहते हैं।

२. **ईश्वर** : संक्षेप शारीरिक ग्रंथ में कारण यह ईश्वर की उपाधि है ऐसा कहा है। माया उपाधि भेद से प्रतिबिंबित हुए विशिष्ट चैतन्य को ही ईश्वर कहा गया है।

   जीव : कार्य यह जीव की उपाधि है। अविद्या उपाधि भेद से प्रतिबिंबित हुए विशिष्ट चैतन्य को जीव कहा जाता है।

३. **ईश्वर** : अज्ञान के स्थान पर जो बिम्ब रूप है वह ईश्वर। यह चैतन्य का बिम्ब है, ऐसा विवरणकार का मत है।

जीव : अज्ञान के स्थान पर प्रतिबिम्ब ही जीव है। दोनों की उपाधि यद्यपि अज्ञान है तो भी प्रतिबिम्ब पर दर्पणादि उपाधि का जैसे परिणाम होता है वैसे बिम्ब पर नहीं होने से ईश्वर सर्वज्ञ है तथा जीव अल्पज्ञ है।

४. **ईश्वर** : जिसका अपने जगद् रूपी स्थूल-सूक्ष्म प्रपंच के साथ प्रेय संबंध रहता है वह ईश्वर है। उसका ईश्वरत्व गौणी वृत्ति से प्रतिपादित होता है।

जीव : जिसका अपने स्थूल-सूक्ष्म प्रपंच से स्वीय संबंध है वह जीव है। वह शक्ति वृत्ति से प्रतिपादित होता है। इसलिए वेद में वर्णित हिरण्य गर्भ, विराट इन शब्दों का अर्थ, संदर्भ तथा हेतु ध्यान में रखकर जीव अथवा ईश्वर वाचक करना ही इष्ट है।

५. **ईश्वर** : 'तत्त्वविवेक' ग्रंथ में शुद्ध सत्त्व प्रधान माया में प्रतिबिंबित हुआ चैतन्य ईश्वर है। ऐसी परिभाषा है। ईश्वर की उपाधि माया यह सत्वगुण शुद्ध होने से ईश्वर सर्वज्ञ है।

जीव : मलिन सत्वप्रधान अविद्या में प्रतिबिंबित हुए चैतन्य को जीव कहा जाता है। जीव की उपाधि अविद्या यह मलिन तथा सत्वगुणी होने से जीव अल्पज्ञ रहता है। (शुद्ध सत्त्व तथा मलिन सत्त्व क्या है, यह विषय माया प्रकरण में आया है।)

६. **ईश्वर** : अज्ञान के आवरण तथा विक्षेप ऐसी दो शक्तियां है जिसमें विक्षेप शक्ति की प्रधानता रहती है उसे माया कहते हैं। ईश्वर यह माया के चैतन्य का प्रतिबिंब होने से उसमें आवरण शक्ति नहीं रहती। अतः ईश्वर सर्वज्ञ है।

जीव : अज्ञान की जो आवरण शक्ति रहती है उसकी प्रधानता अविद्या में रहती है। इस अविद्या के चैतन्य प्रतिबिंब को जीव कहते हैं। जीव में यह जो आवरण शक्ति रहती है जिसके कारण जीव अल्पज्ञ रहता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से ऐसा दिखाई देगा कि, परब्रह्म सिद्ध करने के लिए निकले वेदान्तियों को यदि परब्रह्म सिद्ध करने आया तो भी उसका केवलत्व मात्र निर्विवाद पद्धति से सिद्ध करने नहीं आया। जिस जीव को परब्रह्म का ज्ञान होने वाला है, जिसका ब्रह्म से अभेद होने वाला है, उस जीव के स्वरूप के संदर्भ में उनका मतैक्य न होने से जीव और ईश्वर के संदर्भ में जो भिन्न भिन्न संकल्पना पद्धतियां है उसमें इन दोनों में बहुत साधर्म्य होने से जीव के अभेद के साथ ईश्वर का भी परब्रह्म से एक प्रकार से अभेद सिद्ध होना चाहिए। परंतु परब्रह्म तथा ईश्वर एक नहीं है तो वह स्वतंत्र वस्तु है, ऐसा सभी केवलाद्वैति विद्वानों का निश्चित मत है। परब्रह्म सिद्धि यह मात्र आध्यात्मिक भूमिका से करने की केवलाद्वैतवादियों की यह जो कवायद है जिससे ईश्वर का

आधिदैविक पक्ष तथा जीव का आधिभौतिक पक्ष इन की उनके दृष्टि से कोई भी उपस्थिति आवश्यक लगती नहीं। आध्यात्मिक पक्ष से जीव का ब्रह्म से यद्यपि अभेद सिद्ध हुआ तो भी उसका केवलत्व सिद्ध नहीं होता और ईश्वर स्वतंत्र फिर शेष रहता ही है।

यह विचार करने पर फिर अंतिम सत्य यह पूर्ण है तथा वह आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ऐसे तीनों स्वरूप का होने से उसके एक ही स्वरूप को केवलत्व देने का तर्क चाहे जितना प्रभावी हो फिर भी वह निर्विवाद नहीं है, यह बात सामने आती है। मात्र आध्यात्मिक भूमिका की तर्क संगति से जैसे परब्रह्म को केवलत्व देने नहीं आता। वैसे ही मात्र आधिदैविक भूमिका से ईश्वर को भी केवलत्व देने नहीं आता। यह हम अगले वैष्णव प्रकरण में विस्तार से देखने वाले है। इसलिए ही पांडुरंग की जो आरती है उस आरती में भी संत नामदेव को ''पुंड़लिका भेटी परब्रह्म आले गा'' ऐसा ही कहना पड़ा। सारांश, वास्तव में जो वस्तु तीन स्वरूप से युक्त है, उसके एक स्वरूप को केवलत्व देने का कोई भी प्रयत्न किसी न किसी प्रकार से फजियत करा देता है। परंतु यह जानते हुए भी अब तक इस प्रकरण में निश्चित प्रकार से लाभ हुआ, कैसे? यह देखें –

१. परब्रह्म संबंध का 'ज्ञात' विषय कौन सा तथा अज्ञात विषय कौन सा इस बात की समझ अब तक के विश्लेषण से साफ हुई।

२. परब्रह्म जिज्ञासा क्या है और वह कैसे निर्माण होती है, उसकी प्रक्रिया समझ में आयी।

३. परब्रह्म जिज्ञासा का मूल हेतु यह जीव का कल्याण, मंगलत्व और आनंद प्राप्ति है तथा अभ्यास से वह कैसे साध्य होता है यह समझ में आया।

४. परब्रह्म ज्ञान से प्रपंचोपशम होता है। प्रपंच मे आने वाली निराशा, उद्विग्नता, यह सब कितना मिथ्या है यह समझ में आता है। अपना मूल स्वरूप सत्‌चिदानंद होने के कारण जीवन यह विषय मूलतः आनंदी है तथा आनंदस्वरूप ज्ञान से जीवन आनंददायी बनता है।

५. चैतन्य क्या है, चित् क्या है उनमें क्या भेद है यह ठीक से समझ में आया। कश्मीरी शैवमत का परिचय हुआ।

६. भिन्न भिन्न वेदान्त प्रक्रियाओं का प्राथमिक परिचय होकर जीव और ईश्वर यह दो संकल्पना अथवा स्वरूप के संबंध में अनेक मत प्रवाह समझ में आये।

७. सत्य क्या है, सत् चित् आनंद क्या है और अस्ति, भांति, प्रीति इन अवस्थाओं का विस्तार से परिचय हुआ।

८. अंतिम सत्य मात्र आध्यात्मिकता से निर्विवाद सिद्ध न होने के कारण वह एकदेशी नहीं है यह समझ में आया। सिवाय उस संबंध में समग्र विश्लेषण देखा।

अब तक हम चैतन्य इस विषय के परिप्रेक्ष्य में जीव तथा ईश्वर इन दो स्वरूप संबंध में भिन्न भिन्न केवलाद्वैति प्रक्रियाओं की तथा मतप्रणाली की जानकारी ली। अब हम इन दोनों के सबंध की उनकी केन्द्रिय भूमिका क्या है इसे समझ लेंगे। पिछले विश्लेषण से इन दोनों के सबंध की जो केवलाद्वैति प्रक्रिया है उनका प्रमुखतया दो प्रकार से वर्गीकरण करेंगे।

१. ईश्वर यह बिम्ब है और जीव उसका प्रतिबिम्ब है, ऐसा विवरणकार का मत है। यह जो बिम्ब है वह और उसका प्रतिबिम्ब दोनों ही चैतन्य के हैं।

२. एक ही चैतन्य के दो भिन्न उपाधि में परावर्तित दो भिन्न प्रतिबिम्ब अर्थात् ईश्वर और जीव है। यह दो उपाधि कौन से तो –

१. माया तथा अविद्या

२. शुद्धसत्व और मलीन सत्त्व

३. विक्षेप युक्त अज्ञान तथा आवरणयुक्त अज्ञान

अब पहले प्रकरण में जीव यह ईश्वर का प्रतिबिम्ब है ऐसा मानने पर ईश्वर तथा जीव की अभेद सिद्धि होती है। अतः जीव पर ईश्वर की सत्ता सहज प्रस्थापित होती है। लेकिन उस कारण जीव तथा परब्रह्म की अभेद सिद्धि नहीं होती। अब दूसरा जो प्रकार ऊपर बताया है उसमें ईश्वर और जीव की एक ही अज्ञात शक्ति होने के कारण ईश्वर का प्रभुत्व जीव पर है ऐसा सिद्ध नहीं होता। वैसे ही इस ग्रंथ के पृष्ठ ६९ पर माया प्रकरण में जिसका उल्लेख है, उसे फिर से देख सकते हैं।

अज्ञानम् तत्कार्यंच कालत्रये विनास्तीति
यो निश्चयः स एव तस्य बाधः।
प्रतिपन्ने बाधे निषेधः प्रतियोगित्वमनिर्वचनीयत्वम्।।

इस वचन से अज्ञान तथा उसका कार्य जगत् यह तीनों काल में सही अर्थ में अस्तित्व में, यह जो निश्चय है वही आनंद को बोध करता है और अज्ञान का बोध होने के कारण ईश्वर तथा जीव का भी बोध होकर एक स्वरूप स्थिति ही सिद्ध होती है। तो फिर 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस विषय की आवश्यकता ही रहती नहीं। परंतु उसके लिए चैतन्य विशिष्ट आत्मा का प्राकृत रूप सभी जानते है, परंतु पारमार्थिक रूप मात्र कोई जानता नहीं ऐसा जो आचार्य अपने भाष्य में कहते है वह गलत प्रमाणित होता है।

आचार्य ने 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस सूत्र पर भाष्य किया है उससे जीव दशा का तथा अज्ञान का बोध न होकर उल्टे उसकी सिद्धि होती है ऐसा स्पष्ट होता है और हर किसी का यही अनुभव है।

यहां पर हमें अब चैतन्य तथा चित् यह विषय छोड़कर धीरे धीरे स्वरूप ज्ञान तथा विषय ज्ञान इस विषय की ओर बढ़ना है। वस्तुतः 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' यह विषय जीव में आत्म कल्याण के लिए उत्पन्न हुआ है। कल्याण शब्द में ही अभ्युदय (ऐहिक प्रगति) और निःश्रेयस (पारमार्थिक प्रगति) इन दोनों का अन्तर्भाव है। इन दोनों की प्राप्ति के लिए ही ब्रह्म जिज्ञासा और ब्रह्म जानने के लिए इच्छा व्यक्त हुई है। ब्रह्म इस शब्द का अर्थ बृहद्, बड़ा, विशाल। अतः ब्रह्म यह सभी प्रकार का ज्ञान, कल्याण, आनंद सब कुछ अपने में समा सकता है। इसलिए ही वह जीव के धर्म ज्ञान को तथा स्वरूप ज्ञान को भी स्वतः में समा लेता है। परंतु आचार्य के ब्रह्म शब्द का केवल स्वरूप ज्ञान, आत्म ज्ञान तथा परब्रह्म ज्ञान यही अर्थ अपेक्षित होने के कारण उन्होंने 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' और अथातो धर्म जिज्ञासा ऐसे दो भाग शुरुवात में ही किये हैं और एक से स्वतः का कल्याण अभ्युदय तो दूसरे से निःश्रेयस प्राप्त होता है, ऐसा प्रतिपादन किया है। वस्तुतः स्वतः का यदि कल्याण कर अभ्युदय करना है तो उसके लिए कुछ तो भला तथा आनंददायी हो इसके लिए जीव प्रयत्नशील रहता ही है। लेकिन वह करते समय अपने धर्म का ज्ञान और अपने सिर्फ स्वरूप ज्ञान यह दोनों बातें भिन्न है इसका बोध उसे नहीं रहता है। परंतु जीव का कुछ भला होना यह अभ्युदय तथा निःश्रेयस इन दो बातों पर निर्भर है, तो भी उसमें से एक निःश्रेयस के लिए जीव को उसका सही स्वरूप समझाना चाहिए ऐसा कहकर शंकराचार्य उसे बताते है कि, अपना सही स्वरूप जानने के लिए तुम्हें ब्रह्म जिज्ञासा अर्थात् आत्म जिज्ञासा अथवा स्वरूप की जिज्ञासा ही मात्र अपने में होनी चाहिए।

इस प्रकार सामान्य जीव में 'अपना सभी दृष्टि से भला हो' ऐसी एक अंतिम इच्छा रहती है। उसे हम ध्येय भी कह सकते हैं। परंतु इस एकरूप ध्येय सिद्धि के लिए जिस एकरूप जिज्ञासा की आवश्यकता रहती है उस जिज्ञासा की ही शंकराचार्य ने अपने भाष्य में १. अभ्युदय २. निःश्रेयस ऐसे दो भागों में विभाजित किया है। उन्होंने यह एक ही ध्येय जैसे दो भागों में विभाजित किया है वैसे ही एक ही जिज्ञासा १. धर्म जिज्ञासा २. ब्रह्म जिज्ञासा ऐसे दो जगह विभाजित कर द्वैत को पिरोया है वहीं आगे चलकर (१) आत्मनात्म - आत्मा तथा अनात्मा, (२) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, (३) व्यक्त अव्यक्त, (४) क्षर-अक्षर, (५) विद्या-अविद्या, (६) चैतन्य-चित अथवा जड़ चैतन्य और (७) विषयज्ञान तथा स्वरूप ज्ञान ऐसे अलग अलग विचारों में परिणत हुई है।

'तर्कोऽप्रतिष्ठ' अर्थात् यहां तर्क काम नहीं करता, ऐसा वेदन्तियों का कथन है वह मात्र स्वरूप ज्ञान तक ही सीमित क्यों हो। वृत्ति ज्ञान से होने वाला जो विषय ज्ञान है उसके प्रत्यक्षता के विरुद्ध सिद्ध होने वाला यह तर्क (यह सब मिथ्या है यह) सर्वथा प्रमाण है, योग्य है ऐसा क्यों माने? अणु का मूल स्वरूप यह छाया रूप Illusion हो तो भी अणुस्फोट से होने वाला विनाश सत्य नहीं है ऐसे कैसे कह सकते हैं? तर्क का मुख्य उद्देश्य यथार्थ ज्ञान करा देना यह रहता है। तो फिर विषय ज्ञान यह भी तर्क से ही सतर्क तथा यथार्थ होने पर भी उसके विपरीत तर्क सिद्धांत को प्रमाण मानना कहां तक उचित होगा? उसे योग्य प्रमाण कैसे दे सकेंगे? ऐसे समय फिर तर्क ही सदोष है, ऐसा कहना पड़ता है। कारण उस तर्क से व्यवहार सिद्धि होती ही नहीं। ऐसे समय में तर्क तर्क ही नहीं रहता।

सारांश, अभ्युदय तथा निःश्रेयस ऐसा द्वैत भाव निर्माण करना और उसके परिप्रेक्ष में धर्म जिज्ञासा तथा ब्रह्म जिज्ञासा इस द्वैत में से अथवा विषय ज्ञान तथा स्वरूप ज्ञान इस द्वैत से मात्र स्वरूप ज्ञान, सच्चिदानंद रूप तुरीय ब्रह्म अथवा परब्रह्म यही सत्य है ऐसा प्रतिपादन करना और फिर 'आत्मनः आकाशः संभूतः' अर्थात् आत्मा से आकाश हुआ इस श्रुति वचन के आधार पर परब्रह्म से लेकर सभी कार्यजात उत्पन्न हुए ऐसा एक ओर मान्य करते समय परब्रह्म यह प्रत्यक्ष जगत् कार्य तथा विषय का कारण न होकर माया यह कारण मानना कभी भी समर्थनीय नहीं हो सकता। यह अट्टहास किस लिए तो मात्र परब्रह्म का शुद्धत्त्व तथा केवलत्व सिद्ध करने के लिए। यह सब तर्क की दृष्टि से समर्थनीय नहीं लगता।

आचार्य ने शुरुवात ही द्वैत से की। एक की बजाय दो को मानकर। उसमें से एक ही को सिद्ध किया और वही अंतिम सत्य है, केवलत्व से युक्त है ऐसा प्रतिपादन किया। और फिर उस वस्तु का केवलत्व अथवा अद्वैतपन स्थापन करने के लिए अन्य सभी मिथ्या है, माया है ऐसा कहकर टाल दिया। यह जो कुछ प्रयास है वह समर्थनीय है ऐसा नहीं कह सकते। यह जो प्रत्यक्ष गलती है अथवा वेद तथा श्रुति के संदर्भ में जो विपरीत धारणा है उसी पर आगे सभी तर्क जो उन्होंने दिये है जिस कारण जीव, ईश्वर, जगत्-विश्व अथवा जड़ के संबंध में जो जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये वह भी विपरीत ही हुए और परिणामतः शास्त्र और प्रत्यक्ष जीवन क्रम इनमें कुछ मेल नहीं रहा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यदि देना है तो चैतन्य से जड़ की उत्पत्ति हुई, यह जो सिद्धान्त है उसका दे सकते है। वास्तव में यह सिद्धान्त तर्क शुद्ध ही नहीं है। लेकिन उनके यह समझ में आया तो आया लेकिन फिर भी जड़ को स्वतंत्र सत्ता ही नहीं ऐसा कहना पड़ा। परंतु सर्वसामान्य मनुष्य का अनुभव इसके उल्टे है। जड़ वस्तु को सत्ता नहीं कहने पर एक

परब्रह्म के सिवाय बाकी सभी मिथ्या हुए। उन सभी के माथे मिथ्यात्व मढ़ दिया अर्थात् कुछ ऐसे खुलकर कहने की हिम्मत रखते हैं तो कुछ को नहीं होता। इसलिए ही मायावाद तथा अजातवाद उत्पन्न हुए। इसका अर्थ परब्रह्म वेद में नहीं है ऐसा नहीं है। वैसे ही वेद में जो कुछ है उसके विपरीत ऐसा कुछ इसका अर्थ नहीं है। जिस प्रकार वेदान्ति मात्र साक्षीत्व से परब्रह्म का विचार रखते हैं, वैसा ही वह वेद में है। सिवाय जीव की दृष्टि से स्वरूप का सही ज्ञान यह अत्यंत महत्त्व का विषय शंकराचार्य ने अतिशय संशयातीत रीति से सिद्ध किया है। शंकराचार्य को इसका श्रेय देना चाहिए। इस पर कोई दो राय नहीं है। परंतु स्वरूप ज्ञान को ही केवलत्व अथवा पूर्णत्त्व देने के लिए उन्होंने तथा उनके पश्चात वेदान्तियों ने अन्य सभी बातों को कायम मिथ्यात्व बहाल किया है वह मात्र अक्षम्य गलती है, यह कोई भी तर्क शुद्ध विचार व्यक्त करने वाला सहज ही बता सकता है।

यद्यपि शंकराचार्य कहते हैं - वैसे परब्रह्म यह केवल साक्षी होकर भी जीव, जगत् तथा ईश्वर यह कुछ भी मिथ्या नहीं है। कारण वेदों के भाष्य में केवल सत्य, जड़, जीव तथा आत्मा ऐसा विविध रूप पूर्णपुरुष है। मात्र परब्रह्म नहीं। अतः अद्वैतियों को ब्रह्म तथा ईश्वर यह दो भिन्न भिन्न वस्तु मानने पड़े। फिर भी पूर्णवाद को मात्र वैसे मानने की आवश्यकता नहीं लगती। अतः इस ग्रंथ के प्रकरण में बतायें सभी श्रुति वचन यह आत्मा, ब्रह्म तथा ईश्वर एक रूप ही है ऐसा बताने वाले है।

तात्पर्य, परब्रह्म सिद्धि का शंकराचार्य का मार्ग जैसे पूर्णवाद को मान्य है वैसे ही वह संत ज्ञानेश्वर को भी पूर्णतया मान्य है। परंतु उसके आगे शंकराचार्य का जो अलग रास्ता है वह पूर्णवाद को मान्य नहीं है तथा ज्ञानेश्वर को भी मान्य नहीं है। कारण वे आगे चलकर परब्रह्मसिद्धि का मार्ग छोड़कर केवलत्व की ओर बढ़े है। परब्रह्म को ही केवलत्व अथवा पूर्णत्त्व देने की उनकी आग्रही भूमिका है और इससे भी बढ़कर हम कह सकते हैं कि उनकी दुराग्रही भूमिका है। इसलिए ही संत ज्ञानेश्वर ने अपने ग्रंथ में 'भाष्यकाराते वाट पुसतु' ऐसा कहकर शंकराचार्य के भाष्य को मात्र वाट (राह - मार्ग) पूछ कर मैं जा रहा हूँ ऐसा कहना पड़ा। उनके ही बताये रास्ते से मैं जा रहा हूँ ऐसा उन्होंने कहीं पर भी नहीं कहा। इसका अर्थ ही ऐसा है कि जहां भी कहीं वह राह भटक गये हैं तो मैं उनकी राह छोड़कर, मुझे जो मार्ग योग्य लगता है उसी से मैं आगे बढूंगा, और वैसा करने में मैं स्वतंत्र हूँ, ऐसा ही ज्ञानेश्वर ने सूचित किया है। (ज्ञानेश्वर चिद्विलास मार्ग से गये यह सर्वज्ञात है।)

इस ग्रंथ में जो कुछ श्रुतिवचन उद्धृत किये हैं वह सभी आत्मा अथवा ब्रह्म अथवा

ईश्वर यह एकरूप है ऐसा ही वर्णन करने वाले है। अद्वैतवादी जिस प्रकार परब्रह्म तथा ईश्वर को भिन्न मानते है, उस प्रकार पूर्णवाद को वैसा मानने की आवश्यकता नहीं। जिसमें आत्मतत्त्व है, ईश्वरत्व है वैसे ही विश्वत्व यह सब एक साथ है वह पूर्णपुरुष है। और उससे जैसे परब्रह्म स्वरूप संबंध है वैसे ही विश्व का भी है, ऐसा श्रुति का कथन है।

वस्तुतः आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ऐसे विविध रूप के पूर्णपुरुष के सिवाय दूसरा कुछ भी अस्तित्व में नहीं है। परंतु जग की प्रकृति के (स्वभाव) कारण उसमें स्वरूप संबंध की जगह कार्यकारण संबंध है ऐसा सतही तौर पर लगता है। और यही तो माया है। इस माया के कारण ही जीव पूर्णपुरुष से हम भिन्न है ऐसा मानता है। इस माया के कारण वह स्वतः अमृत होकर भी अपने को मर्त्य समझता है। इस सही माया के कारण ही मायावाद निर्माण हुआ और इस मायावाद के मायावी माया ने वस्तुतः मिथ्यात्त्व वाले मिथ्या बात को बंधादि बात को सत्यत्व प्रदान किया और सत्यत्त्व को मिथ्या संबोधित किया।

वेदों में अद्वैत ही है इस संबंध में कहीं भी वाद नहीं है, लेकिन वह पूर्णाद्वैत है। पूर्ण के बाहर कुछ भी नहीं। वेदों में जीव का ही नहीं अपितु विश्व का भी पूर्णपुरुष से अभेद दर्शाया है। जिसे यह अभेद ज्ञान हुआ उसे अमृतत्त्व प्राप्त होता है। ऐसा भी वेदों का प्रतिपादन है।

अब यह जो अमृतत्त्व की कल्पना है वह मोक्ष कल्पना से भी अधिक श्रेष्ठ और समर्पक है। अर्थात् ज्ञान के कारण ही अमृतत्त्व प्राप्त होता है यह श्रुति को मान्य है। परंतु अद्वैत सिद्धान्त में वेद विपरीत एक ही कल्पना है और वह है परब्रह्म के सिवाय अन्य सभी बातें परब्रह्मोत्तर – मिथ्या है यह है। वेदान्तियों एक परब्रह्म के सिवाय अन्य बातों को जो मिथ्यात्त्व मानना पड़ता है उसके मुख्यतया दो कारण संभव है, पहला कारण, उन्होंने परब्रह्म को दिया हुआ केवलत्व। दूसरा कारण, विश्व की कार्य रूपता। जिस कारण अद्वैत, अभेद, अमृतत्त्व इन सभी वैदिक संकल्पनाओं का यद्यपि अद्वैत में स्थान है फिर भी उसका अर्थ मात्र बहुत ही संकीर्ण किया गया है। कुछ स्थान पर तो वह श्रुति विरोधी हुआ है। ऊपरी तौर पर (सतही तौर पर) सभी वैदिक सिद्धान्त केवलाद्वैत में ही दिखाई देने लगते है लेकिन केवलाद्वैत दर्शन श्रुति के साथ हैं अथवा श्रुति प्रणित है ऐसा भ्रम आम लोगों को तो होता ही है परंतु कुछ विद्वानों को भी होता है। वेद में तो सर्वत्र एकेश्वरी मत ही दिखाई देता है परंतु अनेक केवलाद्वैति प्रक्रिया में यदि ईश्वर का 'एकेश्वरत्व' तर्क से सिद्ध होता भी न होगा फिर भी यह अद्वैति प्रक्रिया एकेश्वरी मत को ही चिपके हुए हैं। जीव के स्वरूप के संबंध में, उसके एकत्त्व के बाबत तथा अनेकत्त्व के

बाबत बहुत वाद हुआ तो भी सर्वमत ईश्वर एक ही है, सर्वज्ञ है तथा वह नित्य मुक्त है।

अद्वैति दार्शनिक के मत से परब्रह्म में मूलतः चार बातें है- (१) नित्यत्त्व, (२) केवलत्त्व, (३) ज्ञान अथवा सर्वज्ञान, (४) मोक्ष अथवा अमृतत्त्व। अब एक बार 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' कहने पर जो कुछ है वह सब परब्रह्म स्वरूप है। यह निःसंशय। फिर यह चार बातें भी जीव, ईश्वर तथा आत्मा में होनी चाहिए इसमें कोई शंका नहीं। परंतु अद्वैति प्रक्रियाओं ने मात्र उनका अस्तित्व सिद्ध करने नहीं आता, अथवा उनके सिद्धि मे अनेक अड़चनें है यह सही है।

जिस जीव को ब्रह्म ज्ञान होना है उस जीव के बारे में उसका शास्ता ईश्वर, उस ईश्वर के संबंध में वेदान्ति प्रक्रियाओं का जो प्रतिपादन है उनका आशय यह है कि अज्ञान यह भाव पदार्थ है। इस अज्ञान में चैतन्य का बिम्ब ही ईश्वर है तथा प्रतिबिंबित जीव है। यह एक पद्धति अथवा रीति है। अज्ञान का विक्षेप तथा आवरण ऐसी दो शक्तियां है। यह जो विक्षेप शक्ति है उसका प्रतिबिंब ही ईश्वर, तथा आवरण शक्ति का प्रतिबिंब ही जीव है। यह दूसरी रीति है। परंतु इन दो प्रकारों से वेदान्ति जीव और परब्रह्म अथवा ईश्वर का ऐक्य मात्र सिद्ध नहीं कर सके। अब इस सिद्धि में कौन सी अड़चन है यह देखेंगे।

अब पहली जो रीति है उसमें जीव तथा ईश्वर का प्रतिबिम्ब-बिम्ब के संबंध में यद्यपि अभेद सिद्ध हुआ तो भी जीव और परब्रह्म मे अभेद सिद्ध नहीं होता। कारण अद्वैतवादियों का कहना है कि, ईश्वर के पास कर्तृत्व होने से ईश्वर तथा परब्रह्म एक नहीं हो सकते। अब जो दूसरी रीति है उसमे आवरण तथा विक्षेप यह अज्ञान की दो शक्तियां है ऐसा माना गया है। फिर ईश्वर यह अज्ञान मे चैतन्य का प्रतिबिम्ब है ऐसा भी कहा गया है। फिर ईश्वर मे हमने अज्ञान का आवरण नहीं माना है ऐसा वेदान्तियों ने चाहे जो कहा होगा फिर भी वह जचता नहीं (स्वीकारणीय नहीं) अज्ञान की दो शक्तियां है ऐसा कहकर फिर ईश्वर यह चैतन्य का अज्ञान में प्रतिबिम्ब है ऐसा कहना। फिर ईश्वर में अज्ञान की यह दोनो शक्तियां कुछ न कुछ प्रमाण मे आने वाली ही है यह भी उतना ही साफ है। अतः ईश्त्रर में हम अज्ञान की आवरण शक्ति नहीं मानते इस कहने में कोई तुक नहीं है।

उदाहरण-प्रकृति अथवा माया के तीन गुण हैं ऐसा एक बार कहा कि, माया के किसी भी कार्य में इन तीनों में से किसी एकाध ही गुण का यद्यपि परमोत्कर्ष हुआ तो भी अन्य दो गुण सुप्तावस्था में रहते हैं। उनका प्रभाव नहीं रहता है। लेकिन वह गुण नहीं है ऐसा नहीं कह सकते। अज्ञान की जो दो शक्तियां है उनके बारे में भी ऐसा कह सकते

हैं। अज्ञान की यह दोनों शक्तियों में से विक्षेप शक्ति ईश्वर में है। उसका वहां उत्कर्ष है ऐसा कहने पर भी आवरण यह दूसरी शक्ति वहां नहीं है, उसका वहां अभाव है ऐसा होना भी संभव नहीं है। यह दूसरी शक्ति ईश्वर में कुछ न कुछ प्रमाण में रहती ही है और वैसे वह यदि है तो फिर ईश्वर सर्वज्ञ नहीं हो सकता। ईश्वर को सर्वज्ञ मानना अलग और वैसे उसे सिद्ध करना अलग। माया भी अज्ञान का ही एक प्रकार है। लेकिन उसके कार्य में यदि किसी भी गुण का कहीं भी अभाव नहीं होता ऐसा वेदान्ति मान रहे हैं तो उसी अज्ञान के दो शक्ति में से आवरण इस शक्ति का ईश्वर में पूर्ण अभाव होने का कोई कारण नहीं है। वेदों में ईश्वर सर्वज्ञ है, यह यद्यपि हम मानते आए है, और वह सही भी है तो भी वेदान्ति प्रक्रिया में मात्र यह सिद्ध नहीं होता। यह वास्तव है।

इस संदर्भ में वाचस्पति मिश्रा का कहना है कि, अज्ञान यह जीवाश्रित है तथा वह ब्रह्म को अपना विषय करने के कारण अज्ञान के योग से जीव में कल्पित होने वाला प्रपंच तथा ईश्वर यह दोनों बातें अनेकविध मानी जाती है तब ईश्वर भी अनेक होता है। इस संदर्भ में यदि उदाहरण देना है तो 'मैं अज्ञानी हूँ, ब्रह्म नहीं जानता' इस प्रतीति का दे सकते हैं। इस प्रतीत में थह जो मैं है वही जीव है। और जीव अज्ञानी है, ऐसा मनुष्य कहता है। अतः अज्ञान यह जीव में है। ब्रह्म जानता नहीं इस अनुभव से अज्ञान ब्रह्म को विषय बनाता है। जीव अनंत है इसलिए अज्ञान भी अनंत है ऐसा मानना चाहिए। लेकिन अज्ञान अनंत गुना है तो फिर ईश्वर और ब्रह्मांड भी अनंत ही होते हैं। इन सभी अड़चनों के कारण परब्रह्म में स्थित चार बातें ईश्वर में है, यह अद्वैतवादियों को सिद्ध करते नहीं बनता। ईश्वर अनेक कहने में केवलत्त्व रहता नहीं (नित्यत्त्व, केवलत्त्व, ज्ञान तथा मोक्ष)।

जीव के संदर्भ में भी केवलाद्वैति प्रक्रिया यह चार बातें वहां है यह सिद्ध नहीं कर पाते। कारण इन चार गुणों में से नित्यत्त्व तथा केवलत्त्व जीव में संभव नहीं है। कारण जीव में अनेकत्त्व और अनित्यत्त्व कायम लगे है। अतः इन चार गुणों में से दो गुण कभी भी न रहने वाले जीव को ज्ञान की तथा अमृतत्त्व (मोक्ष) की आकांक्षा रहती है, अर्थात् वर्तमान में उसमें वह रहते ही नहीं तो भी 'जीव ब्रह्म है, जीवों ब्रह्मैव नापरः' ऐसा सिद्धान्त कहना कैसे संभव है। अपरोक्षानुभूति से जीव जब ब्रह्ममय होगा तब जीव यह जीव रहना ही नहीं चाहिए। फिर प्रारब्ध भोगने के लिए वह रहता है, ऐसा वेदान्ति ही कहते हैं तब यह सिद्धान्त भी वेदान्त पद्धति से सिद्ध नहीं होता, ऐसा कहना पड़ता है।

ईश्वर के संदर्भ में भी परब्रह्म में स्थित चार बातों में से केवलत्व तथा नित्यत्व यह दो बातें ईश्वर में होने पर (वेदान्त प्रक्रिया के संदर्भ में) भी सर्वज्ञत्त्व और अमृतत्त्व मात्र

उसमें सिद्ध होता नहीं। कारण ज्ञान से अज्ञान का नाश नहीं होता यह हमने देखा है। ब्रह्मानुभूति होने वाले व्यक्ति को भी समाधि अवस्था से नीचे आने पर विश्व जैसे है वैसे ही शेष रहता है। इस प्रकार ईश्वर तथा जीव के साथ परब्रह्म का अभेद सिद्ध करने में वेदान्ति प्रक्रिया विफल रहती है। पूर्णवाद में मात्र इस प्रकार की अड़चन-दिक्कत नहीं आती। वह अपने स्वरूप संबंध से जीव, ईश्वर तथा परब्रह्म का पूर्ण से अभेद सिद्ध कर सकता है। अतः स्वरूप ज्ञान तथा स्वरूप संबंध क्या है वह ठीक से समझ लेंगे।

इन दो शब्दों में 'स्वरूप' यही मुख्य शब्द है। आत्मन् शब्द के संबंध में पूर्णवाद ग्रंथ के पृष्ठ १३४, १३५ पर इन शब्दों को हमने देखा है। स्वरूप इस शब्द की जो परिभाषा वेदान्तियों ने स्वीकृत की है उसी अर्थ से पूर्णवाद ने भी 'स्वरूप' शब्द स्वीकार किया है। रूप इस शब्द उपयोग श्रुति में अनेक बार किया है। लेकिन स्वरूप यह शब्द श्रुति में नहीं दिखता। उपनिषदादि ग्रंथों में भी स्वरूप शब्द का प्रयोग मिलता नहीं फिर भी इस शब्द का पर्याय के रूप में 'आत्मन' अथवा 'मैं पन' इस शब्द का प्रयोग दिखाई देता है। एकाध वस्तु को यदि रूप न भी हो तो भी स्वरूप रहता ही है। कुछ वस्तु का स्वरूप व्यक्त अथवा अज्ञेय रहता है तो कुछ का अव्यक्त अथवा अज्ञेय रहता है। परंतु स्वरूप ही नहीं ऐसी वस्तु अस्तित्व में रहती ही नहीं। अतः अदृश्य, निर्गुण, निराकार ऐसे परब्रह्म को भी अथवा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा (परब्रह्म) को भी स्वरूप शब्द लागू है इसलिए ही 'ब्रह्मरूप', 'आत्मरूप', परब्रह्म रूप आदि शब्दों की योजना वेद तथा वेदांत में की जाती है।

स्वरूप शब्द के लिए उपनिषद् में आत्मन अथवा 'मैं पन' ऐसे पर्याय प्रतिशब्द प्रयोग में लाये है। यह जो 'मैं' है वह ज्ञेय सत्य को स्वतः में समा लेता है, सभी संदर्भ में विभाजित भी होता है और फिर (पूर्णत्त्व से) शेष रहता ही है। अतः वह सत्य से भी विशाल है। गणित शास्त्र की लंबाई, चौडाई, ऊंचाई और काल आदि अनेक परिमाणों से (N. Dimensional) युक्त है यह हमने इसके पहले भी देखा है। सारांश, 'मैं' का अथवा 'मैं पन' का अथवा 'आत्मन्' का अथवा स्वरूप शब्द का कुल मिलाकर अविष्कार अतिविशाल तथा भव्य होने के कारण उसमें पूर्णत्त्व होने के कारण वह पूर्णपुरुष जैसे है, ऐसा वेदों का प्रतिपादन है।

प्रत्येक वस्तु को जैसे स्वरूप है तब उसका पूर्णपुरुष से अभेद है, यह सहज सिद्ध है। इसी तर्क पद्धति से जीव, ईश्वर, परब्रह्म तथा अन्य सभी वस्तु का पूर्ण से अभेद सिद्ध होता है। यदि पाषाण को भी लिए तो भी उसका कुछ स्वरूप रहता ही है।

अब पूर्ण से अथवा पूर्णपुरुष से परब्रह्म का भी अभेद होने के कारण पूर्णपुरुष से जिन जिन वस्तुओं से अभेद है उस प्रत्येक वस्तु में परब्रह्म में जो बातें नित्यत्व, केवलत्त्व, ज्ञान, तथा अज्ञान रूप बोध और अमृतत्त्व इन चारों की कुछ न कुछ रूप में साक्ष यह होनी ही चाहिए। इस दृष्टि से फिर 'सर्वं खलु इदं ब्रह्मम्' यह सिद्धान्त भी सिद्ध होता है परंतु स्वरूप, आत्मन् अथवा स्वरूपतः इन शब्दों की व्याप्ति मात्र आध्यात्मिक तक न कर आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ऐसे तीनों अंगों से करने पर पूर्णपुरुष का स्वरूप ज्ञान सहज हो सकता है और परब्रह्म का एकदेशीय आध्यात्म ज्ञान यही पूर्णसत्य तथा अंतिम सत्य है। यह भाव नहीं रहेगा।

हम जिसे ज्ञान अथवा बोध कहते हैं उसकी उत्पत्ति स्वसंवेद्यता से होती है, यह हमने अब तक देखा है। यदि स्वसंवेद्यता ही नहीं है तो विषय ज्ञान होना ही असंभव है यह भी इसके पहले हमने देखा ही है। अतः यह जो स्वसंवेद्यता है उसमें से 'स्व' से पूर्णपुरुष के स्वरूप के 'स्व' तक मनुष्य जब यात्रा करेगा तभी उसे पूर्णपुरुष की अनुभूति पूर्णत्त्व से होगी, अर्थात् यह जो यात्रा है वह मात्र जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तूर्या इन चार अवस्थाओं के ज्ञान से, अर्थात् 'ज्ञानात एव तु कैवल्यम' इस उक्ति के ज्ञान से, होना संभव नहीं। वह मात्र अनुभूति से, जीवन के पूर्णानुभूति से संभव है। ऐसा पूर्णवाद का प्रतिपादन है।

पूर्णपुरुष में जिस परब्रह्म का समावेश है उस परब्रह्म साक्षात्कार के लिए भी (अर्थात् सत्य के साक्षात्कार के लिए) यदि 'तर्कोऽप्रतिष्ठा', 'नेति नेति' आदि वचनों से अन्त में अपरोक्षानुभूति का मार्ग स्वीकारना पड़ता है। तो फिर सत्य से भी श्रेष्ठ ऐसे पूर्णपुरुष का ज्ञान मात्र आध्यात्मिकता से संबंधित ज्ञान से होना संभव नहीं है। तीव्र पज्ञा के बल पर ज्यादा से ज्यादा परब्रह्म का ज्ञान अथवा आत्मज्ञान (स्वरूप ज्ञान) हो सकता है। लेकिन पूर्ण का पूर्णज्ञान मात्र उससे संपर्क कायम किये बिना अर्थात् स्वरूप संबंध के बिना संभव नहीं बनता।

यहां एक बात ध्यान में रखनी है कि हर चीज का उसके स्वरूप के कारण पूर्णपुरुष से मूलतः नामरूप के साथ अभेद रहता ही है। परंतु उस अभेद की अनुभूति के लिए, प्रत्यक्ष जीवन में उस अनुभूति का साक्षात्कार होने के लिए, उससे फिर शुरू से स्वरूप संबंध कायम करना आवश्यक रहता है। यह जो संबंध है वह हमेशा संपर्क से ही सिद्ध होने के कारण तोंडओळख (प्राथमिक परिचय) परिचय, परिसर इन मार्गों से प्रथम उससे संपर्क रखना पड़ता है अर्थात् उससे जो मूलतः अभेद है उसे संपर्क से प्रत्यक्ष अनुभूति में लाना पड़ता है। उदाहरण-: फलां व्यक्ति हमारे रिश्ते में है, यह हमें ज्ञात

रहता है फिर भी कौन सा रिश्ता है यह हम फिर से जान लेते है, और उसे जानने पर अपने रिश्ते का संबंध, वस्तुतः जो पहले से रहता है वह फिर से दृढ़ होता है। वैसे ही यह है।

पूर्णपुरुष से पहली बार (नया संबंध) स्वरूप संबंध यदि स्थापित करना है तो कैसे करें यह प्रश्न यदि कोई करे तो उसका उत्तर है कि पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध स्थापन करने के लिए उसके आधिभौतिक रूप को कर्म से, आधिदैविक रूप को उपासना से तथा आध्यात्मिक को ज्ञान से संपर्क साधना जरुरी है। इससे हमें उसमें स्थित मूलतः अभेद की नये सिरे से अनुभूति आकर हम अपना जीवन हेतु परस्पर प्रभुत्व से तथा आनंद से जी सकते है।

अब कोई यह पूछ सकता है कि, प्रत्येक वस्तु का यदि पूर्ण से मूलतः ही अभेद है तो फिर नये सिरे से स्वरूप संबंध कायम करने की आवश्यकता क्या है? फिर यह संबंध दो बातों में होने से हम पूर्ण से अलग होने से ही अथवा अलग होने पर यह संबंध कायम कैसे करें? इसका उत्तर है कि हम कितना ही अभेद कहें तो भी हर एक 'मैं' के आधिभौतिक रूप को 'मेरा' ऐसा कुछ स्वातंत्र्य रहे, मैं कुछ अन्य से अलग हूँ तथा मैं उस प्रकार कुछ अलग दिखें। ऐसी स्वाभाविक इच्छा अथवा प्रेरणा रहती है। अस्ति, भांति, प्रीति यह विषय यह जो विषय हमने अब तक देखा है, उसमें से प्रीति का अनुभव करने के लिए प्रत्येक जीव को अपना कुछ अलगपन रखने की इच्छा रहती है। यह जो मैं अलग हूँ यह कल्पित, अज्ञानजन्य भूमिका है वह यथार्थ मानकर पूर्ण से नवीन स्वरूप संबंध कायम करने में जीव को विशेष आनंद होता है। योगमार्ग से भी समाधि से (तूर्या से) पुनः जागृति में आने पर, तूर्या का प्रकट बोध (मैं तूर्या में कितना आनंद में था यह बोध) पुनः नये पन से भोगने आता है। मनुष्य को उसके नाम पर बैंक में विपुल धन है इतना ही पर्याप्त नहीं होता तो उस जमापूँजी का नित्य बोध (मैं उसे कभी भी निकाल सकता हूँ आदि) उसे आनंद देता रहता है। मेरा घर कभी पहले १० लाख का था अब एक करोड़ का हुआ है यह जानने में मनुष्य को आनंद रहता है। अतः संत तुकाराम ने परब्रह्म साक्षात्कार के बाद भी 'तू देव मैं भक्त ऐसा करे' ऐसे द्वैत की कामना की। कारण उसमें परमानंद है। इसलिए ही मूलतः पूर्ण से अभेद होकर भी जीव प्रेम से अपने को अलग मानकर पुनः उससे स्वरूप संबंध अर्थात् अपने 'स्व' का पूर्ण से संपर्क, ज्ञान, उपासना और कर्म इन मार्गों से कायम रखने में उसे नित्य नयी अनुभूति और आनंद मिलते रहता है। यही आनंद रूप स्थिति जीव को सतत् मिले यही पूर्णपुरुष की इच्छा रहती है। इसी इच्छा के कारण पूर्ण में रहकर पूर्ण की अनुभूति हम नये सिरे से अनुभव करते हैं।

सारांश, 'स्वरूप ज्ञान', इस शब्द का अर्थ मात्र 'आत्म ज्ञान' अथवा 'परब्रह्म ज्ञान' इतना ही मर्यादित है। तो 'स्वरूप संबंध' इस शब्द का अर्थ, अर्थात् दो स्वतंत्र वस्तु तथा उनके स्वरूप का संबंध ऐसा न होकर स्वरूप द्वारा पूर्ण से मूलतः अभेद का संपर्क युक्त संबंध से होने वाला नित्य नूतनीकरण ऐसा है। सापेक्षता (Relativity) छोड़कर पूर्ण सत्य से (Reality) अर्थात् निरपेक्ष सत्य से पूर्ण का अभेद स्वरूप संबंध है। एकाध अभिनेता जब किसी नाटक में भूमिका करता है तब उस भूमिका में उसके स्वरूप का और प्रत्यक्ष उसका जो संबंध रहता है उसी अर्थ से स्वरूप संबंध यह शब्द पूर्णवाद में प्रयोग किया गया है। नाटक की भूमिका का वह तथा नाटक के बाहर का वह, यह जैसे एकरूप होकर भी अलग रहते है। वैसा ही है यह।

स्वरूप यह ज्ञान से अधिक बड़ा तथा व्याप्त है। अतः स्वरूप अथवा पूर्ण के स्वरूप संबंध के कारण जो कुछ बातें होती हैं उसकी व्याप्ति और परिणामकारकता ज्ञान के योग से होने वाली बातें अथवा परिणाम से कितना ही अधिक तीव्र और व्यापक रहता है। इसलिए ही यदि ऐसी व्यापक परिणामकारिता वाली बातें हो, ऐसा मानवी मन को यदि अपेक्षित है तो ज्ञान के मात्र आध्यात्मिकता से कोई उपयोग न होगा तो उसके लिए पूर्णपुरुष के स्वरूप की, विशेषतया आधिदैविक तथा आधिभौतिकता को अपनाना चाहिए, यह अब तक के विश्लेषण से ध्यान में आता है। वेद में भी आधिदैविक पक्ष ही अधिक गहरा, व्यापक और विशाल है तथा उसके बाद आध्यात्मिक पक्ष का विश्लेषण आता है। आधिदैविक पक्ष से तुलनात्मक दृष्टि से आध्यात्मिक विश्लेषण उतना व्यापक तथा विशाल नहीं है। परंतु शंकराचार्य ने यह आध्यात्मिक पक्ष अलग कर उसे ही अनन्य साधारण महत्त्व दिया। ऐसा होने पर भी एक बात निर्विवाद सत्य है कि, प्रभुत्त्व से यदि जीवन जीना है तो जीवन को तीनों पक्ष की आवश्यकता है।

सच्चिदानन्द परब्रह्म के बारे में श्रुति ने जो कुछ कहा है वह अलग उपनिषद् में विस्तार से बताया है तथा परब्रह्म के बारे में श्रुति को क्या कहना है इसके बारे में हम उपनिषद् के अलग अलग वचनों के आधार पर उसे स्पष्ट करेंगे। प्रथमतः केनोपनिषद् के खण्ड–१ मंत्र – ३ में परब्रह्म के बारे में यह वचन दिया है उसे देखेंगे।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागच्छति नो मनः न विद्यो न विजानीमो यथैतनुशिष्यात।।
अन्यदेव तद्विदितादथो अवितादधी। इतिशुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।।

अर्थ – परब्रह्म को प्राकृत अंतःकरण तथा इंद्रियों द्वारा जानने नहीं आता। आँखों की दृष्टि परब्रह्म तक पहुँच नहीं सकती। वह शब्द द्वारा वर्णन नहीं किया जाता। मन और

बुद्धि का भी उस अलौकिक तत्त्व में प्रवेश नहीं हो सकता। परंतु मन, बुद्धि तथा इंद्रियों में जो चेतना तथा क्रिया प्रतीत होती है वह मात्र परब्रह्म के कारण ही होती रहती है। अतः उसे शिष्य को कैसे समझाना यह प्रश्न ही रहता है। विषय ज्ञान तथा जड़ चेतन ज्ञान इससे परब्रह्म स्वरूप का ज्ञान एकदम भिन्न है। वैसे ही इस जड़ चेतन को बोध होने वाले लेकिन स्वयं को न जानने जैसे जीवात्मा के, अक्षर के भी परे का वह उत्तम पुरुष रूप है। परब्रह्म यह कार्य तथा कारण इन दोनों से भिन्न है। इस उपनिषद् वचन का सारांश ऐसा है कि, परब्रह्म के स्वरूप का बोध शब्द से करा देने का कोई भी मार्ग वेदकालीन ऋषियों को पता नहीं था। तब ब्रह्म से ही जाना जाता है। इसका अर्थ ही है कि वह स्वसंवेद्य है। उसका ज्ञान करा देने के लिए मन, बुद्धि आदि कोई भी साधन समर्थ नहीं है। अतः परब्रह्म को समझने के लिए स्वसंवेद्यता से प्राप्त होने वाले संकेत तथा अनुभूति का ही (अपरोक्षानुभूति) एक मात्र मार्ग शेष है।

इस अर्थ के संकेत से बताये हुए मार्ग से तथा उपदेश से मैं ब्रह्म को पूर्णतया जान गया तथा जानता हूँ, ऐसा यदि कोई विश्वासपूर्ण कहेगा तो उसे केनोपनिषद् के खण्ड-२ में यह मंत्र-१ का वचन अवश्य ध्यान में रखें। यह वचन -

यदि मन्यसे सुवेदति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणोरूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्।।

अर्थ - यदि तुम ब्रह्म को अच्छी तरह से समझते हो ऐसा तुम्हें लगता है तो तुम निश्चित ही ब्रह्म का अल्प रूप जानते हो ऐसा समझो। परब्रह्म का शिव स्वरूप स्वतः तुम हो। वह तो अंश मात्र है ही, लेकिन उसका जो अंश स्वरूप देवता में है वह भी अंश मात्र ही (अल्प) है। सिवाय यह दोनों को एकत्र करने पर भी वह पुनः अल्प स्वरूप ही होता है। अतः तुमने जाने हुए ब्रह्म के संबंध में अर्थात् पूर्णपुरुष के संबंध में पुनः विचार करना श्रेयस्कर है। कारण वह सतत् विचारार्थ है।

यहां पर शंकराचार्य ने 'ब्रह्म' का अर्थ 'पूर्णपुरुष' ऐसा न कर आध्यात्मिक, आधिदैविक, उपाधि रहित नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ऐसा किया है। परंतु ऊपरी वचन में तद्दहरम् ऐसा विशेषण आया है तथा उसका अर्थ अल्प ऐसा ही है। फिर 'ब्रह्म' यह स्वसंवेद्य (अर्थात् स्वतः ही स्वतः, को जानने वाला है, ऐसा कहने पर वह आत्मानुभव से ही समझना संभव है। यह अनुभव पूर्ण ही होता है। फिर देवता में परब्रह्म को कैसे जानने आएगा। स्वतः में और देवता में जीवान्तर्गत ऐसा ही उसका अनुभव आएगा। अतः परब्रह्म स्वरूप और जीव की उपाधि यह दोनों, एक स्वतः के तथा दूसरी देवता में एक ही रहते उनका अलग अलग निर्देश करने में क्या प्रायोजन है? वैसे ही एक बार

जड़ को स्वतंत्र सत्ता नहीं, ऐसा कहा फिर परब्रह्म के सिवाय कुछ भी और कहीं भी नहीं हो सकता? अतः उसका सार्वदेशिकत्व न बताते तुमने जो देखा (स्वतः तथा देवों में) वह अल्प ही है, ऐसा कहने का कारण स्पष्टतया यह है कि, पूर्णपुरुष के तथा ब्रह्म किसी भी एक स्वरूप को, फिर वह आध्यात्मिक (स्वतः के पास का) रहें अथवा आधिदैविक (देवों में) रहे, यह उसका आत्म रूप ही है और उसके त्रिविध रूप को संपूर्णता से, एक साथ जानना यही उसका पूर्णज्ञान है।

आत्मा में परब्रह्म की जब अनुभूति होती है तब देशकाल का ज्ञान नहीं होता। वृत्ति ज्ञान यह मात्र देशकाल से संबंधित रहता है, तो स्वरूप ज्ञान यह देश कालातीत रहता है। तब परब्रह्म ज्ञान के लिए एक स्वतः तथा एक देवता ऐसे दो देशों का निर्देश कर उसका ज्ञान अल्प रहता है, ऐसा कहना तर्क से हटकर है। अर्थात् इस जगह 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ परब्रह्म न होकर पूर्णपुरुष ऐसा ही होना चाहिए यह साफ है। परतु ब्रह्म ज्ञान के अभिमानी को यह वचन अनुकूल होने के कारण यहां दिया है। यहां ब्रह्म अर्थात् पूर्णपुरुष ऐसा ही श्रुति को अपेक्षित है। आत्मा का निर्देश आध्यात्म देशी होता है। इसलिए उसका केवलत्व संभव नहीं लगता। परंतु उसके स्वरूप की पहचान कठिन ही है, और उसके लिए 'नेति नेति' मार्ग से ही जाना अनिवार्य है।

तं दुर्दर्शं गूढ मनुप्रविष्टं गुहाहितं गहवरेष्ठं पुराणम।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।

कठोपनिषद् के अध्याय १, वल्ली २, मंत्र १२ के इस वचन में, 'प्रकृति के विषय रूप विकारों से ढ़कने वाली जो बुद्धि रूपी गुफा है, उस गुफा में अंदर तक रहने वाले तथा अनेक अनर्थों से परिपूर्ण ऐसे गहन अरण्य जैसे संसार रूप हृदय में जो पुरातन आत्मदेव अथवा आत्मा वास करता है उसे जो अन्तर्मुख दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है उसे अत्यंत प्रयास पूर्वक देखने पर वह हर्ष, शोक रहित होता है।'

यहां 'अध्यात्मयोगाधिमेन' का अर्थ मात्र आध्यात्म मार्ग से जानकर ऐसा एकदेशी होने के कारण यहां आत्मा अर्थात् पूर्णपुरुष ऐसा कहने नहीं आता। कारण पूर्णपुरुष के लिए त्रिकांडात्मक साधन चाहिए। परंतु यहां आत्मा को पुराणम ऐसा विशेषण लगाने के कारण उसे आज ऐसा कहना पड़ता है। अतः उसका पूर्ण से स्वरूप संबंध सिद्ध होता है। समझो एकाध अभिनेता एक ही नाटक में दो अथवा तीन भूमिका करता होगा (डबल रोल) तो उसके प्रत्येक भूमिका के मूल रूप से जो संबंध रहता है उसे स्वरूप संबंध कहते हैं। यह हमने देखा है। अतः आत्मा को 'अज', 'पुराणम' ऐसे विशेषण होने से उसका पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध सिद्ध होता है इसमें कोई शंका नहीं है।

यहां 'अध्यात्मयोगेन दुर्दशं' का अर्थ साधन से देखकर वा समझकर अथवा आत्म दर्शन लेने पर ऐसा होता है। यजुर्वेद में 'आत्मयज्ञेन कल्पताम' ऐसा ही कहा है। इसका अर्थ ऐसा है कि, 'यज्ञ आत्मा की कल्पना करे' यज्ञ से आत्मा की कल्पना आती है ऐसा इसका अर्थ। यहां आत्मा यह पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंधित है ऐसी विशेष दृष्टि रखनी पड़ती है। वैसे ही वह 'धाता यथा पूर्वम अकल्पयत' इसका भी अर्थ लगते समय विश्व का भी पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध सिद्ध होता है, यह हमने देखा ही है। परंतु इसे यदि हमने अमान्य किया तो विश्व के स्वरूप संबंध के लिए जो 'अकल्पयत' क्रियापद का प्रयोग किया है, वैसे ही वह आत्मा के संबंध में प्रयोग किया है उसका क्या? 'धाता यथापूर्वम अकल्पयत' में धाता अर्थात् पूर्णपुरुष न कर ईश्वर ऐसा किये तो यज्ञ से आत्मा की कल्पना करने वाला कौन? ईश्वर निश्चित ही नहीं है। वैसी कल्पना करने वाला जीव है ऐसा कहने पर भी जीव के शिवत्व की ओर साक्षी रूप होने से कल्पकत्त्व जाता नहीं। विवरणकार जीव अर्थात् ईश्वर का प्रतिबिम्ब कहते हैं इसलिए उनके दृष्टि से जीव द्वारा आत्मा की कल्पना अर्थात् एक दृष्टि से ईश्वर की ही कल्पना कह सक्ते है। परंतु ग्रंथकर्ता का मत इससे भिन्न है अर्थात् ईश्वर तथा जीव दोनों प्रतिबिम्ब, उसका कैसे विचार करें?

अतः इन सबका तात्पर्य यह है कि पूर्णपुरुष के विविध रूपों में आत्मा यह एक रूप है तथा उसका अनुभव (वह एकदेशी रूप होने के कारण) आध्यात्म योग से आता है, तो यज्ञादि एकदेशीय साधन से उस एकदेशी रूप की भी कल्पना आती है। परंतु संपूर्ण पूर्ण का ज्ञान त्रिकांडात्मक साधन के बिना संभव नहीं है। अब यहां एक शंका आना स्वाभाविक है कि, यज्ञ जैसे जड़ आधिभौतिक कर्म से पूर्णपुरुष के आध्यात्मिक रूप की अर्थात् आत्मा की कल्पना जीव को कैसे क्या हो सकती है। यदि वह ऐसे आती होगी तो शंकराचार्य को परब्रह्म के लिए ज्ञान की आवश्यकता ही क्यों लगे?

यह जो शंका है उसके समाधान के लिए केवलाद्वैति चिंतकों ने जीव तथा शिव के (परब्रह्म रूप आत्मा के) अभेद सिद्धि के लिए जो प्रक्रिया अपनायी है, उसका सूक्ष्म विचार करना आवश्यक है।

जीव में विश्व बोध के कारण जड़ तथा चैतन्य दोनों की भी साक्ष है, यह कहना निर्विवाद है। इस जीव को शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा की (शिवतत्त्व की परब्रह्म की) जिज्ञासा है, यह सही है। आत्मा का ज्ञान कहें, अनुभव कहें, कल्पना कहें, इसकी आवश्यकता जीव को है, शुद्ध आत्मा को वह नहीं। अतः वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए जीव ने अपने में स्थित जड़ की साक्ष संपूर्णतया नष्ट कर तथा उसको अलक्षितकर अपने में स्थित शुद्ध चैतन्य का विकास करे तथा उस शुद्ध चैतन्य से शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा

से अभेद सिद्ध करें, ऐसा केवलाद्वैति कहते हैं। सारांश, जीव जब शुद्ध आत्मतत्त्व से अभेद होता है तब वह शुद्ध आत्म रूप ही रहता है। नदी सागर से मिलने पर उसका स्वतंत्र नदीपन अस्तित्व में रहता ही नहीं। वह सागर रूप बनती है।

अब प्रश्न ऐसा है कि, नदी सागर से मिलकर सागर रूप होने पर वह यदि अपना नदी का रूप खोकर नदी ही नहीं रहती, उसे अपने नदीत्व की अस्पष्ट, सुप्त ऐसी जरा भी बोध न रहता हो तो फिर नदी को अपने सागर स्वरूप की, उसके विशालता की, लहरों का बोध अथवा ज्ञान कैसे हो? जीव को भी यदि आत्मानुभव लेने के लिए स्वतः का जीवपन संपूर्णतया नष्ट कर कायम आत्म रूप ही रहना है तो फिर इस जीव को आत्मा यह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त सच्चिदानंद रूप है यह ज्ञान कैसे हो? तो इस प्रक्रिया में ऐसा होना संभव नहीं है।

इसके लिए शंकराचार्य ने अलग प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि, जीव और ब्रह्म का ऐक्य होते समय जीव का अज्ञान संपूर्ण नष्ट नहीं होता, तो वह कुछ समय भावरूप में रहता है। अज्ञान यह भाव पदार्थ है ऐसा उनका प्रतिपादन है। परंतु अजातवादियों ने यह मान्य किया है। विश्व ही नहीं तब जीव में कल्पना तक की साक्ष नहीं है, ऐसा उनका प्रतिपादन है। अतः किसी भी केवलाद्वैति प्रक्रिया से जीव को आत्मा का ज्ञान प्राप्त होना असंभव ही है। और आत्मा की शुद्ध, बुद्ध, मुक्तत्त्व की अवस्था जीव को कभी भी प्राप्त नहीं होगी ऐसी परिस्थिति निर्माण होती है। परंतु प्रत्यक्ष में समाधि उतरने पर अर्थात् ब्रह्मानुभूति के बाद जीव को आत्मा यह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है इसका जब कि बोध रहता है तब जीव में ब्रह्मानुभूति में भी सूक्ष्म ऐसे जड़ विश्व तत्त्व की साक्ष कायम रहती है यह सिद्ध होता है। सारांश, जीव का पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध आत्मानुभूति में भी कायम होने के कारण वहां शिव तत्त्व की यदि प्रधानता भी है तो दूसरे विश्व तथा विष्णु तत्त्व ऐसे दो तत्त्व भी सुप्त रूप से अधिष्ठित रहते है। इस तत्त्व के कारण जीव को जीव दशा में वापस आने पर पूर्णपुरुष में स्थित आत्म तत्त्व का ज्ञान कायम रहता है। इस विश्लेषण से जिसे पूर्णपुरुष से अपना स्वरूप संबंध कर्म से अर्थात् यज्ञ अथवा उपासना से और ज्ञान से कायम रखने आता है। उसे उस पूर्ण की कृपा से पूर्ण के किसी भी रूप की कल्पना आ सकती है। मात्र प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए उसे योग्य ऐसे मार्ग का अनुसरण करना क्रम प्राप्त है।

जिस आत्मा की कल्पना जीव को यज्ञ से भी आ सकती है वह आत्मा कैसे है, उसका स्वरूप कैसे है, यह देखेंगे। कठोपनिषद् के अध्याय १ वल्ली २, मंत्र १८ में इसका वर्णन मिलता है –

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं बभूव कश्चित।
अजोनित्यः शाश्वतोऽयम् पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

अर्थ - नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा उत्पन्न नहीं होता तथा वह मरता भी नहीं। वह स्वतः दूसरी किसी चीज से ही नहीं बना। अर्थात् इसका पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध होने के कारण पूर्णपुरुष उसका कारण नहीं। आत्मा यह उसका कार्य भी नहीं बनता वह अजन्मा अर्थात् अज, नित्य, शाश्वत, सदा अकेले रहने वाला, पुराण है तथा वह क्षय तथा वृद्धि रहित है। शरीर का यदि नाश भी हुआ तो भी उसका नाश नहीं होता।

यहां पूर्णवाद की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण बात है। आत्मा किसी का भी कारण नहीं है। अतः विश्व यह उसका स्वरूप होते हुए भी मायावादियों ने माया का कार्य है ऐसा कहकर जगत् कारण, अज्ञान रूप माया, आत्मा और जग में निर्माण की। परंतु वैसा न होने के कारण उनके ही अजातवादियों ने मायावादियों का कथन अस्वीकार कर कारण का ही बोध बताकर कार्य का अर्थात् जग का ही बोध बताया है। तात्पर्य, अजातवादियों ने ही मायावाद का खंडन कर माया नहीं ऐसा प्रतिपादन किया है। वेद अथवा श्रुति भी आत्मा यह किसी का कारण नहीं ऐसा कहते है। दोनों बातें अजातवाद जैसे पूर्णवाद को मान्य है। परंतु अजातवादी मायावादियों जैसे आत्मा, परब्रह्म अथवा शिवतत्त्व को केवल सत्य मानते हैं। अतः आत्मा के केवलत्त्व के लिए उन्हें जगत् का बोध करना पड़ता है। पूर्णवाद में वेद प्रतिपाद्य केवल सत्य यह पूर्णपुरुष होने के कारण पूर्णवाद को जगत् का बोध करना नहीं पड़ता। उल्टे पूर्णपुरुष का विश्व से स्वरूप संबंध बताकर उसकी परमार्थ सत्ता सिद्ध करने आती है। आत्मा के स्वरूप के संबंध में पूर्णवाद का केवलाद्वैत से कोई विरोध नहीं है, वह सच्चिदानंद अज है यह पूर्णवाद को मान्य है।

आत्मा संबंधी कठोपनिषद् के अध्याय १, वल्ली २ के अलग १९ वे मंत्र में और वर्णन है उसे देखिए -

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हातश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।

अर्थ - मारने वाला मैं इस आत्मा को मारुंगा ऐसा समझता होगा तथा मरने वाला मैं मेरी आत्मा को यदि मारा गया मान रहा हूँ तो उन दोनों को आत्म स्वरूप का ज्ञान नहीं, ऐसा ही कहना पड़ेगा। कारण आत्मा अविक्रीय होने के कारण मारता नहीं तथा मरता भी नहीं। वह अकर्ता, अमर तथा नित्य है। परंतु ऐसे यह साक्षी, तुरीय 'तारक ब्रह्म' का बोधन मनुष्य के प्राणोत्क्रम के समय पर जीव को 'रुद्रदेव' करा देता है, ऐसा जाबालोपनिषद् में कहा है। तारक ब्रह्म अथवा अक्षर ब्रह्म नाम का (शीर्षक का)

आठवाँ स्वतंत्र अध्याय गीता में है। उसका भी सारांश यही है। जाबालोपनिषद् में तारक ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार है।

अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षी भवति, तस्मादविमुक्त मेव निवेषेत अविमुक्तं न विमुंचेदेवमेवैतद्याज्ञवल्क्यः।।

अर्थ – इस कुरुक्षेत्र जैसे तीर्थ स्नान में प्राणियों के प्राण शरीर छोड़कर जाने लगें तो दुःख विनाश रुद्र उन्हें तारक ब्रह्म का बोधन करता है। इस परब्रह्म ज्ञान से उस प्राणी को फिर अमृत भाव प्राप्त होकर वह मरणदुःख से पार होता है। इसलिए ही जो जो मुक्त नहीं हुआ ऐसे अविमुक्त प्राणियों ने रुद्र की उपासना नित्य करनी चाहिए ऐसा न करते हुए ब्रह्म ज्ञान होने तक यह उपासना होनी चाहिए ऐसा अन्वयार्थ लगाया है। परंतु मंत्र में ऐसा स्पष्ट कहा है कि, मृत्यु समय रुद्र तारक ब्रह्म का उपदेश करता है। अतः मृत्यु तक मनुष्य रुद्र तथा ईश्वर की उपासना करें ऐसा अर्थ यहां अपेक्षित है। यहां आधिदैविक पक्ष पर बल दिया है। उपासना से पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध कायम करने से पूर्ण की कृपा से 'तारक ब्रह्म' का ज्ञान मृत्यु समय में मनुष्य को होता है। ऐसा इस वचन का सीधा अर्थ है। जाबालोपनिषद् यह संन्यास आश्रम पर विशेष भाष्य है। अतः जिसमें संन्यास पर विश्लेषण है उस उपनिषद् में आधिदैविक उपासना पर इतना बल दिया है तो फिर केवल सत्य क्या होना चाहिए? अर्थात् वह परब्रह्म न होकर पूर्णपुरुष ही रहना चाहिए। अन्यथा वेदान्ति कहते हैं उस प्रकार रुद्र अथवा ईश्वर यह यदि माया का कार्य होता तो जिसे माया की उपाधि नहीं छूटी उस ईश्वर ने मरने वाले मनुष्य को मरण दुःख को निरस्त करने के लिए अगली अवस्था का अर्थात् परब्रह्म का ज्ञान उसे क्यों कर दिया होता? अधिकतर ईश्वर ने मरने वाले को अपने लोक में अर्थात् कैलाश में ले जाकर सलोकता दी होती। अतः आत्मज्ञान मात्र अन्वयज्ञान से ही होता है ऐसा नहीं है, तो आधिदैविक उपासना से भी हो सकता है। आत्मज्ञान पूर्ण के ही एक अंग आध्यात्मिक रूप का ज्ञान होने के कारण आधिदैविक उपासना प्राप्त पूर्ण की कृपा से वह मृत्युसमयी अंतःकाल में जीव को प्राप्त हो सकता है। अतः रुद्र के अर्थात् पूर्णपुरुष के आधिदैविक उपासना से मनुष्य योग्य समय पर मृत्यु दुख से मुक्त होकर हम अमर है, मुक्त है ऐसा साक्षित्व का अनुभव ले सकता है।

यहां एक बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि, मनुष्य अन्तकाल में निसर्गतया तूर्या में जाता है इसे हमने इस ग्रंथ के प्रारंभ में ही देखा है। अतः इस तूर्या में सहज प्रवेश करते समय मनुष्य को यदि आधिदैविक उपासना की स्मृति रही तो वह

देवता उसे तूर्या के पार आत्मा का (परब्रह्म का) ज्ञान अल्पसमय में दे सकता है। अतः आत्मानुभूति का तथा ब्रह्मानुभूति का सही उपयोग मृत्यु समय में अमृतत्त्व के लिए बहुधा होता है। यह अनुभव जीवन जीने के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य स्वरूप का न होने से श्रुति इस ज्ञान को अव्यवहार्य समझती है। इस परिप्रेक्ष में ॐकार का अ, ऊ, म इन तीन मात्राओं का अर्थ यथानुक्रम जागृति, स्वप्न÷ सुषुप्ति ऐसा मांडुक्यउपनिषद् में बताया है तथा चौथी जो तूर्यावस्था है उसे मात्र ॐकार में मात्रा नहीं है, अथवा यह अवस्था ओंकार में अनुच्चारित अर्धमात्रा में व्यक्त की गयी है। उपनिषद् में उसका उल्लेख मात्र है। इसी अवस्था में साक्षीत्व का अनुभव आता है। अतः मांडुक्य के १२ वें मंत्र में इस संबंध में बताया है। उसे देखेंगे।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव,
संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद।।

अर्थ - मात्रारहित ॐकार प्रणव यह अव्यवहार्य ऐसा चौथा तूर्यासाक्षी आत्मा, अर्थात् ब्रह्म का चौथा पाद है तथा वह प्रपंचोपशम, कल्याणम् (शिवमय) तथा अद्वितीय ऐसा है। (यहां अव्यवहार्य अर्थात् अज्ञेय अथवा न समझने जैसा नहीं है, कारण वह प्रपंचोपशम है ऐसा आगे कहा है।) यह आत्मा सभी विकार ग्रस्त प्रपंच के विनाश की आखिरी सीमा है। यहीं मरण अवस्था है। इस आत्मस्थिति का अनुभव संत तुकाराम ने लिया और वह उन्होंने उसका यथार्थ शब्द में वर्णन किया है। वह कहते हैंः ''आपुले मरण पाहिले म्यां डोळा। तो सुख सोहळा अनुपम।।'' मरणावस्था का यह अनुभव उन्होंने जीव दशा में ही लिया यह इससे स्पष्ट होता है। वास्तव में यह अनुभव मृत्यु अवस्था (अन्तकाल) का होने के कारण उसका जीवदशा में कोई उपयोग नहीं और इसलिए श्रुति उसे अव्यवहार्य कहती है। इस अवस्था में द्वैत का बोध रहता नहीं। अतः उसे अद्वैत, शिवमंगल ऐसा कहा गया है।

मृत्यु की अवस्था अमंगल नहीं है, ऐसा श्रुति सूचित करती है। अतः ॐकार में यद्यपि तूर्या के साक्षी को मात्रा न होने पर भी वह साक्षी ॐकार के बाहर नहीं, तो वह उसमें ही है। इस साक्षित्व का अनुभव जो जीव दशा में लेता है तो यही मृत्यु की अवस्था है ऐसा जो पहचानता है उसे मृत्यु भय नहीं रहता है। यह जो तूर्या का साक्षी ज्ञान अथवा मृत्यु अवस्था की पहचान अन्वय ज्ञान से अथवा जाबालोपनिषद् में जैसा बताया है आधिदैविक रुद्र उपासना से भी मिलता है। संन्यासी व्यक्ति को भी इस उपनिषद् में यह उपासना बतायी है तथा व्यवहार में भी वह उपासना बताई गयी है तथा व्यवहार में भी वह रुढ़ है।

पूर्णपुरुष के विविध रूपों में आध्यात्मिक को शिव, शंकर, रुद्र ऐसे नाम हैं। आधिदैविक को विष्णु, इंद्र, वैश्वानर ऐसे नाम हैं तो आधिभौतिक रूप को जड़, विश्व, ब्रह्मदेव प्रजापति ऐसे नाम वेदों में दिखाई देते हैं। आचार्य का वेदान्त अध्यात्म तथा साक्षी ब्रह्म से संबंधित होने के कारण उसे शांकर वेदान्त कहते हैं। और वही उस दर्शन के आचार्य होने के कारण उन्हें शंकराचार्य ऐसे आदर पूर्वक संबोधित किया जाता है। आचार्य श्रुति से प्रामाणिक है, इसमें कोई शंका नहीं है।

अब श्वेताश्वतरोपनिषद् में परब्रह्म के संबंध में जो विचार अलग अलग वचनों से व्यक्त हुआ है उसका परामर्श लेंगे। इस उपनिषद् के अध्याय ६, मंत्र १९ में व्यक्त विचार हम पहले देखेंगे। वह मंत्र ऐसा है :

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्।।

अर्थ – निष्कलं अर्थात् षोडसकालरहित। क्रियारहित अर्थात् अवयवरहित, क्रियाशून्य, अकर्ता, शांत, निर्दोष अथवा विपरिणामरहित, निर्मल, कारण शून्य, स्वयभू, मरणरहित अवस्था का अर्थात् अमृतत्त्व का सेतुरूप, जलकर नष्ट हुए इंधनयुक्त अग्नि जैसे, ज्योति स्वरूप ऐसे आत्मा का चिंतन मैं करता हूँ।

वेदों में जड़ तथा आधिभौतिक रूप यह यद्यपि नित्य है ऐसा कहा भी होगा तो भी उसमें होने वाले जो अवस्थांतर है उसके कारण रूपों में परिवर्तन होते रहते है। अमृतत्त्व का, अमरत्व का वहां अनुभव आना कठिन ही है। एक अवस्था जाकर दूसरी आना अर्थात् पहली अवस्था का मृत्यु ही है। अतः यहां नित्यत्व के प्रति संदेह निर्माण होकर अमरत्त्व का, नित्यत्व का निश्चय होना कठिन जाता है। परंतु परब्रह्म में अवस्था नहीं है, परिणाम भी नहीं है, अतः संदेह रहने का कोई कारण ही नहीं रहता। अतः इस पर परब्रह्म रूप आत्मा को अमृतत्त्व की परिसीमा, कसौटी ऐसा कहा गया है। हमें अपना अमरत्त्व सामान्य तौर पर समझ में नहीं आता फिर भी आत्मानुभव आने पर उसका अमरत्त्व निश्चयात्मक ज्ञान द्वारा समझ में आता है। अपने मृत देह पर अग्नि संस्कार करने पर जड़ शरीर वायु रूप में परिवर्तित होता है तथा फिर से उससे जड़ देह निर्माण हो सकता है। इस प्रकार जड़ देह की अवस्था बदलने पर भी वह एक प्रकार से कायम रहता है अमर रहता है। परंतु यह समझ में आना तथा स्वीकार करना आसान नहीं है। परंतु भौतिक विज्ञान में ही 'जड़ वस्तु तत्त्वतः निर्माण करने नहीं आती तथा उसका नाश भी करने नहीं आता।' ऐसा सिद्धान्त है (Matter cannot be creted nor destoyed) अधिक से अधिक उसका रूपांतर दूसरे रूप मे होता है। अब उसका रूपांतर शक्ति तथा

उर्जा में भी (Energy) रूपांतर हो सकता है ऐसा कहा जाता है। परंतु उस वस्तु का आत्यंतिक नाश मात्र कदापि नहीं हो सकता। वैसे ही मनुष्य को आत्मानुभव से एक बार यह निश्चित हो कि हम अमर है, तो फिर ईश्वर से हमारा अभेद है यह समझने के लिए यह अमरत्व का ज्ञान प्रर्याप्त है।

शांकर सांप्रदायी मात्र परब्रह्म को ही सत्य मानकर चलते हैं इसलिए जीव का परब्रह्म से अभेद दिखाते हैं। यह अनुभव 'सभी काष्ट और लकड़ियों को जलाकर भस्म होने पर भी जो अग्नि धधकता है उस अग्नि जैसे' है। अग्नि इंधन को जलाकर उसकी राख बनाता है वैसे ही आत्मानुभव यह अपने अमरत्त्व के संबंध के सभी संदेह नष्ट कर देता है और अमृतत्त्व का निश्चय करता है। मोक्ष जैसे बंध सापेक्ष है वैसे अमृतत्त्व भी - मृत्यु सापेक्ष है। वेदान्त में फलश्रुति कहते हुए अमृतत्त्व का विशेष उल्लेख रहता है। बंध तथा मोक्ष यह केवलाद्वैति कल्पनाओं का कहीं नाम निर्देश ही नहीं मिलता। उसी प्रकार वेदांति अमृतत्त्व का सदैव मोक्ष रूपी ऐसा ही करते हैं, यह बात भी यहां विशेष ध्यान देने जैसी है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के ६ अध्याय मंत्र ११ का अर्थ बंध देखे -

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च।।

अर्थ - वह एक ही एक देव (शिव) सभी प्राणी मात्र में विद्यमान है। फिर भी वह गूढ़ है। सर्वत्र उसकी अनुभूति नहीं होती। वह सर्वव्यापक है। समस्त प्राणी मात्र के (जीवभूत के) अन्तर्यामी वह विद्यमान है तथा वही वह प्रकट रूप है। सजीव में जैसे वह सभी कर्मों का अध्यक्ष है। वैसे ही पंच तत्त्व में भी वह साक्षीभूत है। ज्ञाता है। वह सत्व, रज, तम, गुणों से रहित अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, लय इन गुणकर्मो से रहित है' वह केवलत्त्व से, निर्गुणत्व से रहता है। सारांश, निर्जीवों में वह चैतन्य रूप मात्र साक्षी रूप में रहता है।

वह एक ही देव सर्वत्र सभी प्राणियों में गुप्त तथा गूढ़ रूप में विद्यमान होने से उसकी अनुभूति सदैव चाहिए जैसी नहीं आती। अतः जड़वादी जीव तथा चेतन की उत्पत्ति जड़ से बताकर अपना जड़वाद स्थापित करते हैं। इस जड़वाद को अंग्रेजी में (Materialism) कहते हैं। उनके मत से चेतना तथा जीवत्त्व जड़ की परमोत्कर्ष अवस्था है। (Thought is Supreme State of Matter)

परंतु यह जड़वाद कोई नया नहीं है। यह मत सिद्ध करने के लिए जड़वाद के ग्रंथों में सदैव अंड़े का उदाहरण दिया जाता है। अंडे में प्रथमतया कोई चैतन्य नहीं रहता।

जीव धारणा बाद में होती है, ऐसा विज्ञान भी कहता है। इसी उदाहरण का एक समानांतर उदाहरण संस्कृत ग्रंथ से आत्मा तथा चैतन्य सर्वत्र गुप्त रूप से रहता है, यह सिद्धान्त सिद्ध करने के लिए भी उपयोग किया जाता है। परंतु यह उदाहरण है वह गोबर से उत्पन्न होने वाले बिच्छू (वृश्चिक) के उत्पत्ति के। 'अन्नाद भवन्ति भूतानि' अन्न से जीव सृष्टि निर्माण होती है यह वचन सुपरिचित है। चांवल में कीड़े, मिट्टी में गांडुल ऐसी जड़ से निर्माण हुई सृष्टि (जीवसृष्टि) हम नित्य ही देखते आये हैं। उपर्युक्त उदाहरण से जड़ से सजीव की उत्पत्ति होती है यह स्पष्ट होता है। यह उत्पत्ति जारज, स्वेदज, अंडज तथा उद्‌बीज इन चार प्रकार से होता है ऐसा पहले से संस्कृत ग्रंथों में बताया है। अतः जड़वादी विचार आध्यात्मवादियों को पता नहीं था ऐसा समझना गलत है। परंतु चैतन्य यही सर्वत्र गूढ़ रूप से विद्यमान है। ऐसा आध्यात्मवादियों का सिद्धान्त होने के कारण प्रसंगोपात वह जड़ से भी प्रकट होता है ऐसा उनका कहना है तथा चैतन्य का सर्वव्यापकत्व का अपना सिद्धान्त वह इस प्रकार या उस प्रकार के उदाहरणों से स्थापित करते हैं। तो फिर जड़वाद अलग कैसे, तो जड़वादी 'दृष्टि को जो दिखाई देता है वही सृष्टि उतना ही सच' ऐसा मानते है। अतः दृष्टि को दिखाई देने वाला जड़ ही सत्य कहकर चार्वाक जैसे अपने विचारों को मर्यादा डालते हैं और अपना ही जड़वाद आलापते रहते हैं। श्रुति मात्र चैतन्य का सार्वदेशिकत्व तथा सर्वव्यापकत्व कथन करती रही। अतः पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश आदि सभी तत्त्वों में चैतन्य गूढ़ तथा गुप्त रूप से विद्यमान है। यह दृढ़ मत है।

यह चैतन्य सभी भूतों के अंतरात्मा में प्रकट रूप से विद्यमान है। जैसे अंतरात्मा यह सभी सजीवों में कर्मो का अध्यक्ष है। वैसे ही वह अन्य पांच भौतिकों में साक्षीभूत, ज्ञाता, तथा केवलत्व से रहने वाला है ऐसा श्रुति का कथन है। अजातवादी प्रतिपादन करते हैं वैसे यह चैतन्य में मात्र साक्षी है, ऐसा भी श्रुति कथन है। मायावादी आचार्य के मत से सर्व सजीव में सर्वशक्ति समन्वित तथा कर्माध्यक्ष है ऐसा भी श्रुति कथन है। अतः श्रुति मात्र चैतन्य का सर्वव्यापकत्व निर्जिवों में होने की बात कहती है ऐसा नहीं, अपितु 'साक्षी.चेतोकेवलो निर्गुणश्च' ऐसा कहती है। अतः पूर्णवाद को आत्मा का सर्वव्यापकत्व जड़वादियों जैसे बाधक नहीं बनता। उल्टे उसका साक्षित्व, निष्क्रियत्व, ज्ञातृत्व, केवलत्त्व यह पोषक ही है। उसके किसी भी स्वरूप संबंध से पूर्णवाद का अद्वैतवादियों से बिल्कुल विरोध नहीं है।

अब तक हम उपनिषद् के जो कुछ वचनों के बारे में जान सके उससे एक बात स्पष्ट होती है वह यह कि, उपनिषदों का प्रमुख उद्देश्य 'आत्मा' तथा 'परब्रह्म' की जानकारी तथा परिचय सर्वसामान्य जीवों को करा देना यही है। ऐसा हो तो भी उनका

मुख्य बल मात्र आत्म ज्ञान पर ही रहा। आत्मा यहीं उनके अध्ययन का मुख्य विषय रहा। मनुष्य को जैसे मन का, बुद्धि का तथा जीव का प्रकट रूप से बोध रहता है वैसे आत्मा के संदर्भ में नहीं रहता। आत्मा के संदर्भ में उसे बहुत थोड़ा ज्ञात रहता है। बहुतांश वह अज्ञात ही रहता है। अतः मनुष्य में यह अज्ञात को जानने की निसर्गतया जिज्ञासा रहती है। यह जिज्ञासा परिपूर्ण करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भाग उपनिषदों ने स्वीकार किया है ऐसा दिखता है और मात्र इसी कारण उनका 'आत्मा' यही वर्ण्य विषय रहा है।

अमरत्त्व अथवा अमृतत्त्व मोक्ष के लिए मनुष्य को परब्रह्म का ज्ञान उपकारक और महत्त्वपूर्ण भले ही हो फिर भी उसका दैनंदिन जीवन तथा व्यवहार में उसका उपयोग नहीं रहता, अतः वह अव्यवहार्य है, यह हमने देखा। परंतु आत्मा के ज्ञान के संदर्भ में ऐसा नहीं कह सकते। आत्मा का ज्ञान मनुष्य के व्यवहार में बहुत आवश्यक है। क्योंकि आत्मा यह अव्यवहार्य नहीं है। पूर्णवाद ग्रंथ के पृ. २२ पर 'आत्मा' विषय पर जो विश्लेषण है उससे आत्मा की चार अवस्था (पाद) है तथा उसमें जागृति अवस्था में रहते मनुष्य को विश्व का ज्ञान होता है। स्वप्नावस्था में स्वप्न सृष्टि का बोध होता है। सुषुप्ति में सुखदुखविरहित आनंद की अनुभूति होती है और तूर्यावस्था में मन में लाने पर ईश कृपा से अथवा गुरु कृपा से उसे परब्रह्म का बोध तथा ज्ञान होता है। इसलिए ही आत्मा की इस चौथी अवस्था को ॐकार की अर्धमात्रा अथवा प्रपंचोपशम, अव्यवहार्य, शिव, अद्वैत, परब्रह्म तत्त्व इन संज्ञाओं से संबोधित किया जाता है। इस अवस्था को ही मनुष्य मात्र को अपने सर्वव्यापकत्व का तथा अभेद का बोध होता है। परंतु मूल आत्मा में इन चारों अवस्थाएं आती है इसलिए वह एक रूप, व्यवहार्य, सजीव में कार्याध्यक्ष, निर्जीव में तथा पचतत्त्वों में साक्षी, चैतन्ययुक्त, मात्र निर्गुण रूप से और व्यापकत्व से स्थित रहता है। आत्मा यह हृदय स्थान में प्रकट रूप से रहता है। वहां उसे शरीरांतर्गत सभी व्यवहार का बोध रहता है। चतुर्थपाद से भूमध्य में साक्षी होकर प्रकट रूप से स्थित रहता है। वहां उसे अपने सर्वव्यापकत्व का अवधान रहता है। अतः शिव के तृतीय नेत्र का अनन्य साधारण महत्त्व धार्मिक ग्रंथों में मिलता है।

आत्मा तथा पूर्णपुरुष का स्वरूप सबंध होने के कारण परब्रह्म की अपरोक्षानुभूति लेते समय भी उसमें अज्ञान अथवा विश्व की (विष्णुतत्त्व) कुछ न कुछ साक्ष सूक्ष्म रूप से कायम रहती ही है और इसलिए ही उसे तूर्यावस्था के परब्रह्म अनुभूति का स्मरण फिर जागृति में आने पर भी कायम रहता है। अतः परब्रह्म तथा पूर्णपुरुष उसके ज्ञान पूर्वक अनुभूति के लिए 'अज्ञान' तथा स्मरण इन दोनों की यथार्थ कल्पना रहना आवश्यक है। यह दोनों बातें अर्थात् परब्रह्म रूपी खजाने की चाभियां है। अब इस वैचारिक परिप्रेक्ष

में हम श्वेताश्वतर उपनिषद् के अध्याय ४ मंत्र १८ का परामर्श लेंगे। यह मंत्र -

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्नसन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षर तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी।।

अर्थ - जब आत्मा विषयक अज्ञानमय अंधकार दूर होकर मनुष्य आत्मा को अभिमुख होता है, अर्थात् जब साधक को परब्रह्म की अनुभूति आती है तथा आत्मा अज्ञेय है यह पूर्वग्रह पूर्णतया दूर होता है तब दिन और रात यह भेद उसमें नहीं रहता। कारण आत्मतेज यह प्रकाश तथा अंधकार से विलक्षण रहता है। उसके बाद की अवस्था में आत्मा का अब स्मरण तथा ज्ञान है, तो थोड़ी देर में ही उसकी विस्मृति भी है, ऐसा कभी भी नहीं होता। बल्कि आत्मा के संबंध में हमें कभी भी अज्ञान नहीं था इस बात की प्रतीति साधक को आती है। फिर उसे यह भी समझ में आता है कि, यह ज्ञान सत् और असत् के परे रहकर सदा कल्याणमय तथा शिव तत्त्व रूप है। उस ज्ञानावस्था में जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति यह अवस्थात्रय (विष्णुतत्त्व) अनुभव में नहीं आता। उसका श्रेष्ठ सेवनीय रूप सूर्यमंडल जैसे सदा सर्वत्र प्रकाशमान है तथा वह समस्त देवताओं का उपास्य दैवत भी है। उस अविनाशी तत्त्व के कारण उसका ज्ञान बहुत प्राचीन होने का तथा उसके कारण प्रज्ञा तथा बुद्धि का विकास हुआ है ऐसा बोध होता है।

परब्रह्म - ४

इस प्रकार के विश्लेषण से हमें एक बात स्पष्ट होगी कि, उपनिषदों का कालखण्ड चाहे जो हो फिर भी आत्मज्ञान तथा आत्मदर्शन यह विषय मात्र अति प्राचीन है तथा लोगों को उसका ज्ञान था। सूर्योदय के समय देखकर आँखे मूँदकर जो बिम्ब दृष्टि पटल पर उभरता है उसके रंगों की छटाओं के फर्क से अपनी आत्मा की क्या स्थिति है यह पहले के लोग अच्छी तरह से जानते थे। यह यथार्थ है तथा यह विषय भी हमने अब तक देखा है।

आत्म ज्ञान यह कोई सहज साध्य ऐसी अनुभूति नहीं है यह बात सही होने पर भी आत्म दर्शन तुलनात्मक दृष्टि से सुलभ है, ऐसा हम कह सकते हैं। आत्मा तथा सूर्य यह दोनों प्रखर प्रकाशमान होने के कारण आत्मा यह सूर्य जैसे अमर है तथा दोनों समानधर्मी है, यह सहज ही समझ में आ सकता है। सूर्यतेज से बुद्धि तथा प्रज्ञा प्राप्त होती है, तथा सूर्योपासना से तथा गायत्री जप से पहले के लोग प्रज्ञावान बनते थे। यह बात इतिहास प्रसिद्ध है। शास्त्रकार कहते हैं उस प्रकार आत्मज्ञान का यह कालखण्ड

यदि हम ऋग्वेद तक पीछे भी ले गये तो भी उस समय की सामाजिक स्थिति कैसे होगी इसका हम अनुमान कर सकते हैं। उस दृष्टि से पश्चिमात्म दार्शनिकों ने ऋग्वेदकालीन समाज स्थिति विषयक किया गया गृह (दूषित भत) कितना विपरीत था, गलत था यह विचार करने की बात है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के अध्याय ४ मंत्र १८ परब्रह्म के बारे में है - उसे देखेंगे।

घृतात्परं मण्डमिवाति सूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।

अर्थ - घी पर आयी हुई बिरल मलाई रहती है उस प्रकार यह परब्रह्म घी जैसे सार रूप निचोंड रहता है वैसे सूक्ष्म रहता है। वह एक मात्र कल्याण स्वरूप है। वह शिवरूप है तथा सभी प्राणी मात्र में गुप्त रीति से छिपा हुआ है। वह विश्व को सभी तरह से घेर कर व्याप्त है, ऐसा जो कहता है वह सभी बंधनों से मुक्त होता है।

अब श्वेताश्वतर का ही ४ था अध्याय मंत्र १४ यह देखेंगे।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यंतमेति।।

अर्थ - पृथ्वी, विश्व आदि तो रहे ही, लेकिन मन, बुद्धि आदि सभी सूक्ष्म तत्त्व से भी यह आत्मतत्त्व अत्यंत सूक्ष्म है तथा जो विचारी है उन्हें भी विचार कराने वाला, स्तंभित करने वाला उसका स्वरूप है। शिव को बिंदु ऐसा भी कहा जाता है। अतः इस बिंदु रूप सूक्ष्म ऐसे शिव तत्त्व में बिना गये ज्ञान प्राप्ति संभव नहीं है। वह सभी का अन्तर्यामी, हृदय में स्थित है तथा सर्वव्यापक शिव रूप से भ्रुकुटि मध्य में प्रकट होने के कारण वह अत्यंत निकटतम है। वह विश्व का नानाविध रूप धारण करने वाला तथा विश्व को सभी अंगों से व्याप्त है। ऐसा यह शिव रूप जानने के बाद ही साधक को निरतिशय शांति प्राप्त होती है।

हमने यह जो मंत्र देखा वही मंत्र ५ वें अध्याय में उद्धृत किया है इस अध्याय में यह १३ वा मंत्र है तथा उसमें थोड़ा फर्क किया है। इस मंत्र में 'कलिलस्य' इस शब्द का उपयोग दुर्गम संसार इस अर्थ में किया है तथा तूर्या आत्मा यह शब्द पूर्णमदः इस अर्थ में आया है। यहां तूर्या आत्मा अर्थात् 'पूर्णमदः' और पूर्णमदः का अर्थ ही पूर्णपुरुष है। वही विश्व के नाना रूप धारण करता है ऐसा इस वचन से दिखता है।

पूर्ण विश्व का विचार करने पर मनुष्य यह अत्यंत सूक्ष्म है। पूर्ण का तो वह अति सूक्ष्म अंश है। ऐसे सूक्ष्म मनुष्य का मन तथा बुद्धि कितनी सूक्ष्म होगी इसकी कल्पना कर सकते हैं। तो इस सूक्ष्म से सूक्ष्म में भी शिव तत्त्व तो मात्र बिन्दु रूप है। ऐसा श्रुति

एक तरफ कहती है, तो दूसरी तरफ वह सर्वव्यापक भी है ऐसा भी कहती है। यह जो परस्पर भिन्न विधान है जिसके कारण स्वाभाविकतया कुछ संदेह निर्माण होता है। परंतु यह संदेह दूर करने के लिए पानी के पृष्ठ भाग पर गिरे हुए तेल के बूंद का उदाहरण अत्यंत संपर्क हो सकता है। तेल की एक बूँद भी पानी के पृष्ठ भाग पर गिरने पर भी वह पूरा पृष्ठ भाग व्याप लेता है। यह अपना अनुभव है। तो शिव तत्त्व भी अति सूक्ष्म तथा बिन्दु जैसा हो तो भी वह पूरे विश्व को व्याप सकता है यह सहज ही समझ में आ सकता है। इसलिए ही उसे पिछले श्लोक में घी के पृष्ठ भाग की मलाई की उपमा दी है। यह मलाई जैसे सूक्ष्म और विरल, भुरभुरी है तथा वह संपूर्ण घी को व्यापति है। वैसे ही यह शिव तत्त्व है। परंतु उसे ही अंतिम सत्य समझकर केवलत्व देना गलत होगा। तेल की एक बूंद थाली के पानी का पूरा पृष्ठ भाग भी यदि व्यापता है तो भी थाली में संपूर्ण तेल है, दूसरा कुछ नहीं, ऐसा समझना तर्क संगत न होकर गलत ही है।

परब्रह्म यह सर्वव्यापक है यह सही है, परंतु वह जिसे व्यापता है, उसका भी तो अस्तित्व है। इसे भी तो मानना ही पड़ेगा, अर्थात् अंतिम सत्य यह केवल परब्रह्म न होकर परब्रह्म तथा वह जिसे व्याप रहा है। ऐसा सभी मिलाकर जो कुछ है वह अंतिम सत्य है। उसे ही पूर्णपुरुष कहते है। परब्रह्म उस पूर्ण का ही एक रूप है तथा वह पूर्ण में ही सर्वव्यापक होकर रहता है, स्थित है। ऐसा कहना अधिक सयुक्तिक होगा। इस विश्लेषण से पूर्णवाद को आत्मा के चतुर्थपाद का तथा परब्रह्म के व्यापकत्व की जरा भी बाधा नहीं है। बल्कि वह उसे पूरक ही है। परब्रह्म से भी पूर्णपुरुष अधिक व्यापक और विशाल है यह भी इस विश्लेषण से सहज समझ में आता है। अब श्वेताश्वतर का एक और मंत्र देखेंगे।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सवगतः शिवः।।

अर्थ – ऐसा यह भगवंत सभी जगह असंख्य मुख, मस्तक, ग्रीवा आदि रूप धारण करने वाला है। वह सभी प्राणियों के हृदय गुफा में वास करने वाला तथा सर्वव्यापी है। वह कल्याण स्वरूप, शिव रूप आत्मा है तथा विश्व के कोने कोने में सर्वत्र दूर तक फैला है। तथा वह सर्वगत है।

इस मंत्र में वर्णन किये मुख, मस्तक, गर्दन, तथा ग्रीवा युक्त स्वरूप यह तुरीय आत्मा तथा परब्रह्म का है, ऐसा कहने नहीं आता। पूर्णवाद तथा अजातवाद ने माया का बाध करने से माया के कारण परब्रह्म में उत्पन्न यह रूप है ऐसा भी कहने नहीं आता। फिर यह सब रूप पूर्णपुरुष के ही है ऐसा क्यों न कहे? वैसा देखा जाये तो वैदिक दृष्टि

से यह सभी रूप विष्णु के ही हैं ऐसा कहना चाहिए लेकिन आगे 'तस्मात सर्वगतः शिवः' यह शब्द प्रयोग होने से यह रूप पूर्णपुरुष का ही है। शिव से उसका स्वरूप संबंध भी है। अतः वह शिव (तुरीय आत्मा) सर्वगत, सर्वव्यापी है ऐसा कहना तर्कसंगत है। इससे इन मंत्रों के कारण आत्मा का पूर्णपुरुष से अभेद है यही सिद्ध होता है।

अब मांडुक्य उपनिषद् का आत्मा का वर्णन देखेंगे।

यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धम् ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः।।

अर्थ - जब योगी अथवा साधक दिये जैसे प्रकाशमान लेकिन स्वयं प्रकाशित आत्मा को जानकर उसके सर्वव्यापक परब्रह्म स्वरूप को प्रत्यक्ष देता है तब वह अजन्मा, ध्रुवरूप, अपरिणामी, सर्वतत्त्व विरहित ऐसा शिवदेव है यह पहचानता है तथा यह जानकर सभी पाश तथा बंधनों से मुक्त होता है।

इस मंत्र में आत्मा के सर्वव्यापकता के साथ ही उसका ध्रुवपद भी बताया है।

ऊपर बताये मंत्र ७ का अगला वचन अब देखेंगे।

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।।

अर्थ - तुरीय ब्रह्म (परब्रह्म) अंतःप्रज्ञ (अन्तरंग से जानने जैसा) नहीं वैसे ही वह बहिः प्रज्ञ भी नहीं है। वह उभय प्रज्ञ नहीं, वैसे ही वह प्रज्ञान घन भी नहीं। वह प्रज्ञ भी नहीं तथा अप्रज्ञ भी नहीं। अर्थात् वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अनिर्देश्य, एक आत्मा में बिल्कुल सूक्ष्म भाव से अनुभव में आने वाले है। वह प्रपंच का उपशम करने वाले, शांत, शिव, अद्वैत, चतुर्थ, तुरीय ऐसा है। यह परब्रह्म तुरीय आत्मा है। उसे पूर्ण जानने पर ही ज्ञान प्राप्त होता है।

तुरीय परब्रह्म अव्यवहार्य है। अतः आत्मा की चतुर्थपाद अवस्था भी अव्यवहार्य बनती है अर्थात् जीवनयापन तक उसका व्यावहारिक दृष्टि से कुछ भी उपयोग नहीं हैं। परंतु यह तुरीय अवस्था का अनुभव और मृत्यु दशा एक जैसी होने के कारण उसका अनुभव जीते जी आने पर मरणदुःख नष्ट होता है। अतः इस शिव रूप का ज्ञान करा देने वाले दर्शन को शांकर दर्शन कहते हैं। इस अवस्था में परब्रह्म यह अंतःप्रज्ञ भी नहीं रहता है तथा बहिःप्रज्ञ भी नहीं रहता है अर्थात् अंदर एक, बाहर एक ऐसा अनुभव नहीं आने से उस अवस्था में द्वैत ग्रहण करने नहीं आता। इसलिए इस अवस्था तक जग मिथ्या बनता है तथा ऐसा कहना गैर नहीं है। परंतु ऐसा कहने वाला मात्र तुरीय अवस्था में रहते कुछ भी नहीं कह सकता। वह जो कहता है वह जीव दशा में आने पर ही परंतु द्वैत में

आने पर भी वह पूर्व अनुभूति के कारण ऐसा कह सकता है। एक दृष्टि से वह गलत ही कहना चाहिए। लेकिन उसके पीछे प्रतीति रहती है यह भी सही है। अब शास्त्र की दृष्टि से जीव एक अथवा अनेक यह एक विवाद्य प्रश्न है। फिर भी एक जीव का मरण यह कोई अन्य जीव का मरण नहीं होता यह मान्य करना चाहिए। वैसे ही एक जीव यदि अपने तुरीय अनुभूति से जगत् का मिथ्यात्व का अनुभव करता होगा तो भी दूसरे असंख्य जीव मात्र इस जगत् की सत्यता की ही प्रतीति लेते रहेगा इसमें कोई संदेह नहीं हैं।

'सर्वम् खलु इदं ब्रह्मं' यह वचन हमें परिचित है। परंतु ब्रह्म यह तुरीय होते हुए उसमें एक ही समय में साक्षी तथा जीव यह दो दशाएं कैसे रह सकती हैं? सूर्य जैसे क्षितिज पर एक ही जगह निकलकर संपूर्ण पृथ्वी तल पर प्रकाश देता है वैसे एक स्थितप्रज्ञ के आत्मानुभव से सभी जीव, कम से कम उसके आसपास के जीव साक्षित्व को जाने चाहिए। लेकिन वैसे होता नहीं है।

अजातवादी जग हुआ ही नहीं ऐसा समझते हैं। फिर यह दृश्य जग किसके लिए है? तो जगत् है मानने वाले जो कोई है उन्हें ही यह बताएंगे न! ऐसा कहना जब कि उन्हें आवश्यक लगता है तब कहने वाले को जगत् की निश्चित ही प्रतिति है। अतः जगत् के प्रतीति के आधार पर ही जगत् हुआ ही नहीं ऐसा वह कहते हैं, अर्थात् यह सारा झमेला 'वदतो व्याद्याता' जैसे उनके ही सिद्धान्त का खण्डन करने वाला है।

सारांश यह कि, साक्षी अथवा तुरीय ब्रह्म यह श्रुतिमान्य विषय है और उसके संदर्भ में कोई वाद ही नहीं। परंतु श्रुति ने मात्र उसी को सत्यता नहीं दी। कारण श्रुति का वैसे मत रहता तो श्रुति में मात्र अजातवाद का ही पुरस्कार किया होता परंतु वैसे नहीं हुआ। सभी वेद आधिदैविक से ओतप्रोत है। आध्यात्म को आधिदैविक अपेक्षित न होकर आधिभौतिक सापेक्ष है तथा आध्यात्मिक यह भी आधिभौतिक को सापेक्ष है। संतान जैसे माँ तथा बाप दोनों को भी सापेक्ष रहती है (वह दोनों की रहती है) वैसे ही कुछ यह प्रकार है। श्रुति में तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ऐसे दो ही पक्ष हैं, ऐसा यदि कहा जाता है फिर भी आधिभौतिक की उपस्थिति वहां सहज ही है। सिवाय श्रुति में भी आधिभौतिक का 'आधिलोकम् भूः' ऐसा पर्यायी शब्द का उल्लेख मिलता है।

अब और विस्तार के लिए प्रश्नोपनिषद् का प्रश्न ५ मंत्र ६ देखेंगे।

त्रिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यंतरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कंपतेज्ञः।।

अर्थ - ओंकार के आकार, उकार, मकार यह तीन मात्राएं एक दूसरे से संयुक्त हैं

तथा प्रयोग में आने पर अथवा पृथक् पृथक् एक एक मात्रा स्वतंत्र ऐसी प्रयोग में आने पर मृत्यु युक्त ही (मृत्यु के भय से युक्त) रहती है, अर्थात् अ (जागृति) ऊ (स्वप्न), म (सुषुप्ति) यह अवस्था मृत्यु भय से व्याप्त रहती है। परंतु अमात्र अर्थात् तुरीय चतुर्थ अवस्था मात्र मृत्यु भय से व्याप्त नहीं रहती। ओंकार यद्यपि इन मात्राओं से प्रयुक्त होता है फिर भी उसमें चतुर्थ मात्रा का (अमृतत्त्व का) ग्रहण है। अतः ओंकार का ध्यान योग में जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति इन स्थानों के पुरुष का अभिधान करना अर्थात् बाह्य, मध्यम तथा अभ्यंतर यह तीन योग क्रिया साधना है। यह तीनों क्रियाएं जो उत्तम प्रकार से जानता है अर्थात् इन तीन मात्राओं का प्रयोग उत्तम प्रकार से कर जो पूर्ण ओंकार का ध्यान करता है वह ज्ञानी विचलित नहीं होता। तथा मृत्यु भय से कंपित नहीं होता।

यहां एक बात ध्यान में रखनी है वह यह कि, जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति यह तीनों अवस्था एक दूसरे से संबंधित, जुड़ी हैं और उसमें (अ, ऊ, म मात्रा में) ओंकार के चतुर्थ मात्रा का भी ग्रहण है। अतः बाह्य, मध्यम तथा अभ्यंतर यह तीनों योग क्रिया जानने वाला योगी एक अवस्था में रहते दूसरी अवस्था अधिकार से प्राप्त कर सकता है (यह विषय पहले भी आ चुका है) इसका ही अर्थ ऐसा कि, योगी को जागृत अवस्था में स्वप्न, स्वप्न अवस्था में सुषुप्ति तथा सुषुप्ति में तूर्या वैसे ही तूर्या से जागृति इस क्रम से एक अवस्था में दूसरी का अधिकार से अनुभव करने आता है। अतः वह 'अवस्थात्रयातीत' है ऐसा कहा जाता है। ऐसा योगी अज्ञानी जीव जैसे एक ही अवस्था में सतत् अथवा दीर्घ काल तक नहीं रहता। ओंकार के ध्यान से जीते जी ही तूर्या का अनुभव होने से किसी भी अवस्था में किसी का भी भय नहीं रहता। अतः वह विचलित नहीं होता।

आत्मा के जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति इस अवस्थात्रयी को जीव दशा ऐसा कहा जाता है। यह जीव दशा यदि बंध माने तथा आत्म ज्ञान को मोक्ष कहें तो इन परस्पर भिन्न बात का वाचन एक ही अवलंबन से श्रुति क्यों तथा कैसे करती है, यह प्रश्न निर्माण होता है। परंतु जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति-तूर्या इन चारों अवस्थाओं को मिला कर श्रुति एक ही ॐ यह अक्षर का प्रयोग करती है। इस एक बात से श्रुति जीव दशा को बंध नहीं मानती यह सिद्ध होता है। मांडुक्य उपनिषद् में साक्षी का वर्णन करते समय 'मध्यम' इस क्रिया के लिए 'उभौप्रज्ञन' ऐसा शब्द प्रयोग किया गया है। यहां तीनों क्रियाओं को सम्यक रीति से जानने वाला भय ग्रस्त नहीं रहता, ऐसा कहा गया है। अतः वेदान्ति अर्थ से भी यह अविद्या नहीं है।

गौतम बुद्ध को भी इस सम्यक ज्ञान की थोड़ी बहुत अनुभूति थी उसने इन तीनों

अवस्थाओं के अनुभूति को सम्यक ज्ञान ऐसा शब्द प्रयोग किया है फिर भी उसे चारों अवस्थाओं की कल्पना अथवा अनुभूति (पूर्ण की कल्पना) आयी ऐसा नहीं दिखता।

ॐकार की मात्राओं ने जो चार अवस्थाएं बतायी है वह एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं तथा उनका (अपने परिचित तीन अवस्थाओं के साथ) पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने के लिए षडंग साधना बतायी है। उसमें से निपुणता तथा योजकता इन अंगों का संबंध जागृति से है। लोकसंग्रह तथा लोकमत यह अंग कुछ व्यक्त तथा कुछ अव्यक्त स्वरूप की (निश्चित नहीं होने से) उसका संबंध स्वप्नावस्था के आत्मा से है। काल तथा उपासना यह अंग अव्यक्त होने के कारण उनका संबंध कुछ सुषुप्ति से तथा कुछ तूर्या से है। अतः नित्य परिचय के इन अवस्थाओं को अविद्या नहीं कह सकते। अतः उस जीव को बंधनकारक भी नहीं रहती। यह विश्लेषण अधिक स्पष्ट होने के लिए हम प्रश्नोपनिषद् का और एक उदाहरण देखेंगे।

एष हि द्रष्टा, स्पर्ष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा।
कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते।।

अर्थ – दृष्टा (देखने वाला) स्पर्श करने वाला, श्रोता, गंध लेने वाला, मनन करने वाला, विशेषज्ञ, कर्ता, विज्ञानात्मा पुरुष सब कुछ यही है ऐसा जो जानता है वह जीवनमुक्त मनुष्य उस अक्षय ऐसे परब्रह्म स्वरूप आत्मा में प्रतिष्ठित होता है। यह सब जानने की क्रिया आत्म जागृति में ही होना संभव है (जीव तथा आत्मा का जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति में फिर भी अभेद ही है) तूर्यावस्था को जानना अर्थात् निज आत्मा में स्थिर होना है। एक दृष्टि से आत्मा की तीन अवस्था यह नित्य, तो तूर्यावस्था मात्र अनित्य है। परंतु गहराई से विचार करने पर पहले तीन अवस्थाएं मृत्यु से व्याप्त इसलिए अनित्य, तो तुरीय अवस्था यह अमृतत्त्व इसलिए नित्य है। इसलिए ही आत्मा जब पहले तीन अवस्था में होता है तब उसे प्राज्ञ कहते हैं तथा जब वह चतुर्थ तूर्या में जाता है तब उसे साक्षी कहते हैं। परंतु उसके लिए प्राज्ञ तथा साक्षी यह भिन्न आत्मा है ऐसा निष्कर्ष निकालना गलत होगा। कारण चारों अवस्थाएं अनुभव करने वाली आत्मा यह एक ही रहती है। सारांश, जीव तथा आत्मा यह दो भिन्न वस्तु नहीं है। वेदों में ऐसी कल्पना कहीं भी नहीं मिलती। उपनिषदों में आत्मा और अंतरात्मा ऐसे दो शब्द जरुर है, परंतु वह क्रमशः प्राज्ञ तथा साक्षी इन अवस्थाओं के लिए आये हैं। जीव को प्राकृतात्मा भी संबोधित किया जाता है वह इसलिए की वह सभी को परिचित है। प्रयत्न न करते वह जाना जाता है। उसका परमार्थ स्वरूप मात्र खास दीर्घ अनुभव से ही अनुभव करना पड़ता है।

अब तक के सभी विश्लेषणों से एक बात स्पष्ट होती है कि, आत्मा के किंसी भी एक प्रकट अवस्था में अन्य अवस्था भाव रूप से उपस्थित रहते हैं। सुषुप्ति में जागृति अवस्था भावरूप से रहती है, इसलिए ही सोया हुआ आदमी अपने आप जाग जाता है । क्योंकि भाव के कारण बोध होता है। सात्विक, निरूपद्रवी, सहज कर्म से (छोटे बालक का हाथ पैर हिलना) भाव उत्पन्न होते है। भावना से भाव उत्पन्न होता है तथा भाव से भान (होश), भान से अनुभूति होती है। ईश्वर दर्शन, ब्रह्मानुभूति जैसे श्रेष्ठ अनुभूति के समय मनुष्य के अष्टसात्विक भाव जागृत होते है वह इसलिए ही। प्रत्येक अवस्था का व्यक्त तथा अव्यक्त ऐसे दो भाव मानने पर चार अवस्थाओं के आठ भाव होते हैं। यह अष्टभाव जब एक साथ प्रकट होते हैं उसी समय एकाध दिव्य अनुभूति का भान-चेतना आती है। अतः उस अनुभूति का स्मरण तथा आनंद इन चारों अवंस्थाओं में मनुष्य भोग सकता है। सारांश आत्मा तथा जीव का अंतर भाव यह अत्यंत सूक्ष्म है तथा वह साक्षी रूप है।

जीव तथा आत्मा संबंध में कठोपनिषद् के अध्याय २ वल्ली ३ में १७ वें मंत्र में यह वचन देखिए -

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुंजावृदिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रमंमृतं विद्याच्छुक्रममृतमिति।।

अर्थ - 'अगुष्ठ मात्र पुरुष जीव यह सकल जनों के हृदय में निरंतर वास करता है। उसकी अन्तरात्मा (साक्षी तथा तुरीय) उसे इस जीव के शरीर से मुंज नाम के तृण से जैसे (दर्भ से) तिनका बाहर निकाला जाता है उस प्रकार से उसे बाहर निकालना चाहिए अर्थात् साक्षी का शरीर ही प्राकृत (तीन अवस्थायुक्त) जीव है। तो इस जीव को चाहिए कि सबसे सूक्ष्म ऐसे जो उसकी तूर्यावस्था उसे प्रयत्न पूर्वक अनुभव करना चाहिए। कारण इस तूर्यावस्था का ज्ञान यह प्रकाश युक्त तथा अमृत है। यह ज्ञान अर्थात् हमारे अमर होने का ज्ञान है।'

इस मंत्र का जो पूर्वार्ध है वह श्वेताश्वतर उपनिषद् के तीसरे अध्याय का तेरहवां मंत्र है, उससे यह मिलता जुलता है। सारांश, पुरुष-जीव यह अमर है, परंतु उसे मात्र लगता है कि हम मर्त्य है। उसे मृत्यु नहीं चाहिए ऐसे लगता है। कारण मनुष्य को जो जीने की चाह रहती है वह कोई पत्थर जैसे निष्क्रिय नहीं, तो जीवंत के सभी बाह्य लक्षणों के साथ उसे जीने की इच्छा रहती है। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति यह अवस्था मृत शरीर में नहीं रहती। अतः मृत्यु यह मनुष्य मात्र का अत्यंतिक लय है ऐसे लगता है। परंतु

तुरीय अनुभव से यह गलत है यह सिद्ध होता है। वास्तविक तुरीय अवस्था ही मृत अवस्था है।

साधक जब अभ्यास पूर्वक तूर्या का अनुभव लेता है तब उसे मृत्यु का भय नहीं रहता। कालगति से यद्यपि उसे बाल्यावस्था, शैशव, यौवन तथा वार्धक्य (बुढ़ापा) यह अवस्था प्राप्त होती है तो भी मृत्यु भी इसी प्रकार एक स्थित्यंतर है ऐसे उसे ज्ञात होने लगता है। मृत्यु अर्थात् आत्मा की तूर्यावस्था यह वह जान जाता है अर्थात् यह अनुभव दुखद न होने के कारण उसे शिव मंगल कहा जाता है। कुछ काल बाद आत्मा को पुनः जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति यह अवस्थाएं प्राप्त होती है। परंतु तब उसे नया देह प्राप्त होता है। इसे ही प्रचलित भाषा में पुनर्जन्म कहा जाता है। इस पुनर्जन्म से बिना देह के कुछ भी नहीं बदला होता। परंतु जागृति के बाद निद्रा और निद्रा के बाद जागृति यह चक्र यद्यपि चालू रहता है, फिर भी यह दोनों अवस्थाएं मनुष्य नकारता नहीं है। वैसे ही तूर्या का अनुभव होने पर 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' फिर जन्म फिर मृत्यु नहीं चाहिए ऐसा उसे लगता नहीं। इसलिए ही 'आपुले मरण पाहिले मी डोळा' ऐसा कहने वाले तुकाराम महाराज 'तुका म्हणे गर्भवासी। सुखे घालावे आम्हासी।' ऐसा कहते हैं।

मृत्यु के करीब (मरणासन्न) मनुष्य कैसे रहता है इसका वर्णन कठोपनिषद् में इस प्रकार है –

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगधवच्चयत्।
अनाद्यनंतं महतः परं ध्रुवं तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।।

अर्थ – ''जो आत्मा (१) अशब्द – शब्द रहित, (२) अस्पर्श – स्पर्शरहित, (३) अरूप, निराकार – आकार रहित, (४) अरस – रसरहित, (५) अगंधवत – गंधरहित जीव अमर तथा सदा मुक्त रहता है।'' सारांश मरण में जीव अन्तर्बष्प्रिज्ञ नहीं रहता, तो उसमें साक्षीत्व से रहता है। वह मृत्यु से नष्ट नहीं होता तो अमर रहता है। मर्त्य है ऐसा लगना जीव का अज्ञान है। यह आसन, प्राणायाम आदि योग साधना से तथा तुरीय अनुभव से नष्ट किया जा सकता है। उसके लिए योग साधना से सविकल्प समाधि लगा कर फिर श्रौतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यास इनकी सहायता से अमृतत्त्व का अनुभव ले ऐसा आचार्य कहते हैं। इस प्रकार की साधना को ही ज्ञान मार्ग कहा जाता है।

'हम वस्तुतः अमर है' इस बात को भले ही हम भूल गये हैं फिर भी और वह अमृतत्त्व हमें पनुः प्राप्त करने आता हो फिर भी मनुष्य इतने पर संतुष्ट नहीं रहता। अमर रहने पर भी मनमुराद, स्वच्छंद जीने की इच्छा बलवती रहती है। यदि वह असंभव बने

तो उसे प्राणांतिक पीड़ा होती है। मन जैसे जीने की उसकी प्रबल इच्छा के कारण वह दूसरे की जिन्दगी पर आक्रमण करता है। युद्ध इसी मानसिकता से उपजते हैं। अतः अमृतत्त्व से भी मनमौजी जीवन की इच्छा मनुष्य में तीव्र रहती है और अमृतत्त्व उतनी ही तीव्रता से मनःपूत होने की इस आकांक्षा को सफल बनाने का मार्ग पूर्णवाद ने ही विश्व को बताया है। अब पूर्णवाद इस संदर्भ में कैसे अपनी भूमिका का विस्तार करता है इसे देखेंगे।

अपने इंद्रियों को गोचर विषय और वस्तु ही इस जगत् में है, उसके अतिरिक्त संसार में अन्य कुछ भी नहीं है, ऐसा एक विचार सर्वसामान्य व्यक्ति के मन में घर कर बैठा है। यह विचार दृढ़ रहता है। फिर मैं इन लोगों से अलग हूँ ऐसा भी उसे लगता है। उसके इस धारणा के कारण मनुष्य प्राप्त सभी साधन संपत्ति का विनियोग अपने मन जैसे जीने में वह करता है। वस्तुतः मन यह कोई व्यक्त वस्तु नहीं है। लेकिन इस अव्यक्त वस्तु के इशारे से ही वह अपनी साधन संपत्ति खर्च करता है। परंतु यह साधन खर्च कर भी उसे वह अपूर्ण लगती है और इस अपूर्णता के कारण वह दुखी होता है। फिर बुढ़ापा, मृत्यु, नैसर्गिक आपदा, दूसरों से होने वाली पीड़ा, उपद्रव इन सब का भय उसे अधिक दुखी बनाता है। इन सभी दुखों को वह एक ही मानदंड़ से नापता है तथा यह दुःख पूर्णतया नष्ट करने के लिए कुछ लालची वृत्ति से आध्यात्म की ओर मुड़ता है। मोक्ष से इन दुखों से निजात मिले ऐसी उसकी अपेक्षा होती है। परंतु इस मार्ग से स्वेच्छा जाने का मार्ग उसे नहीं मिलता। अपितु इस मार्ग में उसे उसकी प्राकृतिक प्रवृत्ति है, तथा उसमें जो वासनाएं, विकार है उन्हें रोकने से विपरीत शिक्षा उसे मिलती है। वस्तुतः उसे जो चीज अच्छी लगती है, प्रेम लगता है, जिस कारण उसे यह सब नित्य लगता है वह सब मिथ्या है ऐसा कहा जाता है। परंतु जो सत्य है उस तुरीय अवस्था की अर्थात् ब्रह्म की उसे अनुभूति नहीं रहती। अतः तुरियावस्था तथा ब्रह्म का उसे अभाव लगने लगता है। यद्यपि यह दर्शन सत्य है तो भी उसके समझ के परे की वह बात लगती है। भले ही उसके लिए वह आवश्यक हो तो भी अपने मूल स्वभाव जैसे जीने का, जो उसका मनो धर्म है वह मात्र छूटता नहीं। अतः अन्त में वह निराश होता है तथा यह सब झूठ है ऐसा कहने लगता है। इस उद्रेक से प्रसंगोपात वह अनीति तथा अत्याचार की ओर झुकता है। इस विफलता तथा आत्मवंचना के कारण वह कायम आत्मघात की ओर प्रवृत्त होता है।

इस प्रकार की मनःस्थितियों पर विचार कर पूर्णवाद ने मनुष्य जीवन के दुःख तथा भय का पृथःकरण किया। मन जैसे जीना न आने के कारण होने वाला दुःख और मृत्यु भय तथा आकस्मिक आपत्तियों से होने वाला दुःख यह दोनों दुःख वास्तव में अलग हैं, ऐसा पूर्णवाद का कहना है। मन जैसे जीना न आने से होने वाले दुःख के लिए

ईश्वरोपासना, तो मृत्यु के भय से निवृत्ति प्राप्त करने के लिए अमृतत्त्व की प्राप्ति आवश्यक है। यह पूर्णवाद ने वेदों के आधार पर तर्क द्वारा समझाया है। मन जैसे जीने के लिए मानवी प्रयत्न अपूर्ण लगते हैं, ऐसे समय में वैदिक परंपरा से रूढ़ देवपूजा, देवदर्शन यह उपाय ही मनुष्य के काम आते हैं, मंदिरों में चलने वाली सशास्त्र उपासना और भक्ति करने से, मानव द्वारा किये गये योग्य तथा इष्ट प्रयत्न को यश प्राप्त होता है, यह पूर्णवाद ने सप्रयोग सिद्ध किया है। ईश्वरी उपासना से प्राप्त ईशकृपा से मनुष्य को जीने में अनुकूलता प्राप्त होती है इसमें कोई शंका नहीं है।

अब मृत्यु का जो भय है उसके निवृत्ति के लिए पूर्णवाद ने षड्ंग साधना बतायी है। इस साधना से जिस तूर्या अवस्था की अनुभूति से मृत्यु का भय दूर होता है, नष्ट होता है इसका अनुभव दीर्घ प्रयत्न से हो सकता है यह कहकर पूर्णवाद ने परब्रह्म संबंध का विचार मानवी मन में दृढ़ करने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त पूर्णवाद ने एक और महत्त्व की बात की है और वह है आधिभौतिक प्रयत्न, आधिदैविक उपासना तथा आध्यात्मिक ब्रह्म विचार इन तीनों की साधना एक साथ करने का विचार विश्व के सामने प्रकट किया। इस प्रकार से 'मन जैसे हो' यह मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा, जिद्द उसे पूरा किया, वैसे ही मन में आने वाले कल्पना विश्त्र पर भी आध्यात्मिक विचार का नियंत्रण कायम किया। आधिदैविक उपासना की सफलता के लिए भाव की जरुरी होती है। अतः इस भाव रूप से प्रत्यक्ष में जिसका अभाव है ऐसा लगता है वह बातें भी मनुष्य में सूक्ष्म रूप से अस्तित्त्व में होने का बोध मनुष्य को होने लगा। यह भाव अधिक जागृ होने से उसका बोध भी होने लगता है, ऐसा पूर्णवाद का प्रतिपादन है। भक्ति तथ उपासना के लिए आवश्यक भाव दृढ़ होने पर आधिदैविक पक्ष का बोध मनुष्य में जागृत होकर देव देवताओं के दर्शन से तथा कृपा से यह प्राप्त होता है। यह निःसंदेह सिद्ध है।

भाव का रूपांतर बोध में होने के लिए स्थान की जरुरत होती है। मनुष्य का दैनंदिन जीवन यही ईश्वरी कृपा के बोध का स्थान है। वैसे ही मनुष्य का ह्रदय तथा अतःकरण यह उसके प्रत्यक्ष स्वरूप के दर्शन का स्थान है। यही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग है तथा पूर्णवाद ने वह अधिक सुलभ और सुबोध बनाया है। तात्पर्य अपना दैनंदिन जीवन यशस्वी तथा मन जैसे जीने के लिए आधिदैविक की बहुत आवश्यकता है। इसलिए ही वेदों का बहुत बड़ा हिस्सा आधि दैवत पर है तथा मृत्यु भय से छुटकारा पाने के लिए वैसे ही वैश्विक स्वरूप के आपत्ति के भय से मुक्त होने के लिए आध्यात्मिक विषय आवश्यक है। मात्र वह अल्प प्रमाण में वेदों में आया है। दर्शन का विचार करने पर आध्यात्मिक विषय को यद्यपि प्राथमिकता दी जाती है उसकी तुलना में आधिदैविक तथा आधिभौतिक को

गौण महत्त्व दिया जाता है। फिर भी सर्वसामान्य व्यक्ति के जीवन में तथा व्यवहार में आधिभौतिकता को प्रथम स्थान है तथा आधिदैविक को उसके बाद स्थान दिया गया। आध्यात्मिक को मात्र आखिरी स्थान है। परंतु परिपूर्ण जीवन के लिए मात्र इन तीनों की आवश्यकता है। यह बात पूर्णवाद के अध्येता ध्यान में रखें।

इस प्रकरण में हमने आध्यात्मिक विषय का ही परामर्श लिया तथा उसके संबंध के वचनों का ही हम प्रमुखता से विचार कर रहे हैं। इसलिए आत्मा के स्वरूप का वर्णन करने वाले वचन को देखेंगे।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ती।।

कठोपनिषद्, अध्याय २, वल्ली ३, मंत्र ९

अर्थ - ''इस प्रत्यगात्मा का जो रूप हम अपनी आँखों से देखते हैं। वह सतही और बाहर का है। प्रत्यक्ष उसका रूप दृष्टि के परे है। अतः उन्हें हम अपनी चर्मचक्षुओं द्वारा उसे देख नहीं सकते। परंतु जो जीव उसको अन्तर्मुख दृष्टि से निरंतर और प्रेम पूर्वक स्मरण करता है तथा उसके चिंतन में रहता है, उसके हृदय में यह प्रत्यग आत्मा दिव्य स्वरूप से प्रकट होगा। ऐसे जीव को उसके विशुद्ध बुद्धि द्वारा इस आत्मा का दर्शन होता है। उसे जानने आता है। जो उसे इस शिव रूप से पहचानते हैं वह उसके स्वरूप ज्ञान से ही अमृतमय होते हैं।''

इस प्रकार का अमरत्त्व तथा अमृतत्त्व केवलाद्वैति दार्शनिकों के मत से मात्र केवल परब्रह्म स्थिति में ही प्राप्त होता है। उनकी दृष्टि से जीव नश्वर है। अविद्या में प्रतिबिंत चैतन्य जैसे है। अविद्या नष्ट हुई, अर्थात् जिस आइने में प्रतिबिम्ब देखना है वह टूट गया, कि वह जीव बिम्ब से एकरूप होता है। इसका अर्थ वह नष्ट होता है। अतः मोक्ष अथवा अमृतत्त्व यह मात्र बिम्ब का ही हो सकता है। परंतु श्रुति को यह विचार मान्य नहीं है। कारण वह जीव को अमर मानती है।

यहां केवलाद्वैति यद्यपि आत्मा को अमर और जीव को बंध - नश्वर मानते हैं, फिर भी 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् जीव ही ब्रह्म है ऐसा मान्य करते हैं। आत्मा में परब्रह्म की अनुभूति आती है ऐसा एक तरफ कंहते हुए जीव ही ब्रह्म है ऐसा कहना कहां तक योग्य है.. परंतु श्रुति मात्र आत्मा तथा जीव में कोई फर्क नहीं करती है। आत्मा की चतुर्थ साक्षी अवस्था यह वास्तव में जीव के साक्षी भाव से भिन्न नहीं है ऐसा निर्णय आरुणीं ने श्वेतकेतु को स्पष्ट दिया है, यह भी यहां विशेष ध्यान देने योग्य बातें हैं।

अब छांदोग्य उपनिषद् के अध्याय - ६ का खण्ड - ११ का ३ रा मंत्र देखेंगे -

जीवोपेतं वाव किलेद म्रियते न जीवो म्रियत् इति स य
एषोऽणिमैतदात्म्यमिद सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो
इति भूय एव मा भगवान विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच।।

अर्थ – जीव रहित होने पर शरीर मरता है। जीव कभी मरता नहीं। इसलिए ही पुनर्जन्म संभव होता है। यह कैसे कहोगे तो, उस जीव में अत्यंत सूक्ष्म ऐसे जो तुरीय आत्मा है उसकी अवस्था से अनुभव लिया कि यह संपूर्ण विश्व उस आत्मा से युक्त है। अर्थात् यह सर्व सत्य 'मैं' का अर्थात् पूर्णपुरुष का रूप है। हे श्वेतकेतो। आत्मा अथवा पूर्ण मैं तू ही है अतः तुम और पूर्णपुरुष में अभेद है। इस पर श्वेतकेतु फिर अधिक जिज्ञासा से मुझे ठीक से समझाइए ऐसा कहता है। तब आरुणी ने 'तथास्तु' कहा।

इस मंत्र में जीव मरता नहीं ऐसा प्रतिपादन कर अपना यह कहना सप्रमाण सिद्ध करने के लिए, आरुणी ने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, तुरीय आत्मतत्त्व का उल्लेख किया है और वह किसी भी स्थिति में जीव से भिन्न नहीं है, यही दर्शाया है, अर्थात् जीव तथा आत्मा यह वस्तुतः एक ही वस्तु है। यदि वह ऐसा न होता तो उपर बताये बिम्ब के नित्यत्व से प्रतिबिम्ब का नित्यत्व सिद्ध करते नहीं बनता। बिम्ब यद्यपि नित्य है तो भी प्रतिबिंब उपाधि के कारण अनित्यत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार उपरोक्त वचन से जीव यह अपनी जीवदशा के साथ अमर है यह स्पष्ट है। यह उसके आत्म रूप सूक्ष्म भाव से सिद्ध हैं।

जीव का अमरत्त्व श्वेतकेतु को समझाने के लिए छांदोग्य उपनिषद् का अध्याय ९ खण्ड – ११ मंत्र १ मे आरुणी फिर वृक्ष का उदाहरण देता है। यह मंत्र देखिए –

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्त्रवेद्यो
मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्त्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्त्रवेत्स एष
जीवेनाऽऽत्मनाऽनु प्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति।।

अर्थ – हे सौम्य, सामने दिखाई दे रहे विशाल वृक्ष की जड़ पर कुल्हाड़ी का वार होने पर भी वह नष्ट नहीं होता। तथा उससे रस निकलते ही रहता है। वृक्ष वैसे ही जिन्दा रहता है अर्थात् यह वृक्ष जीव से, अर्थात् आत्मा से सर्वव्याप्त है तथा विपुल जल पीकर वह अत्यंत आनंदित होकर हमारे सामने खड़ा है।

यह वचन अत्यंत महत्वपूर्ण है, कारण वह जीव और आत्मा यह दोनों कभी भी भिन्न नहीं है यह जैसे दिखता है, वैसे ही जड़वादी जीव अर्थात् Mechanical Energy यांत्रिक शक्ति है, ऐसा जो कहते हैं उनका खंडन है। कारण किसी भी यंत्र में थोड़ा भी

बिगाड़ हुआ तो वह बंद पड़ता है यह अनुभव सिद्ध है। परंतु जीव रूपी वृक्ष का ऊपरी भाग काटने पर भी वह फिर से बढ़ने लगता है, लेकिन मरता मात्र नहीं। इसलिए ही जीव यह Mechanical Energy यांत्रिक शक्ति है यह कहना गलत बनता है।

अब श्वेताश्वतर के अध्याय - ५ का ८ वां मंत्र देखेंगे।

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्य रूपः संकल्पाहंकार समन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः।।

अर्थ - जो अंगुष्ठमात्र तथा सूर्य जैसे प्रकाशमान वैसे ही संकल्प, अहंकार आदि मनोव्यापार से युक्त है। भिन्न भिन्न वासना, बुद्धि ने किया हुआ निश्चय तथा तूर्या से आत्मगुण के सकल अवस्थाओं से युक्त हैं। ऐसा यह जीव आत्म गुण के कारण सुई के अग्रभाग जैसे अत्यंत सूक्ष्म परंतु आत्मतत्त्व से तथा परमात्मा से वह भिन्न स्वरूप में जीवात्म रूप से दिखाई देता है।

यह जीव कितना सूक्ष्म है तथा वह अपनी सूक्ष्मता के कारण कैसे अनंत है इसका वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् के ५ वें अध्याय के ९ वें मंत्र में किया है। यह मंत्र इस प्रकार है -

वालग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।

अर्थ - बाल के अग्रभाग का जो सौ वां हिस्सा तथा उसका भी सौ वां भाग कल्पित है, वह जितना सूक्ष्म हो सकता है उतना सूक्ष्माति सूक्ष्म जीव है उसके अतिसूक्ष्मता का ज्ञान हुआ तो उसके अनंतत्त्व की कल्पना आती है। अर्थात् यह जीव भी अनंत ही है। अखण्ड भी है। जीव के इस अनंतत्त्व के कारण उसके अनेकत्त्व का बोध होता है। अतः श्रुति आत्मा जैसे जीव भी एक अखण्ड , अमर और नित्य मानती है।

इस वर्णन का और विस्तार श्वेताश्वतर उपनिषद् के इसी अध्याय का अगला १० वें मंत्र में हुआ है।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते।।

अर्थ - यह जीवात्मा अद्वितीय, अमर होने के कारण वह पुरुष, स्त्री, नपुंसक, मनुष्य पशु अथवा वृक्ष जैसे उद्भिज ऐसे वास्तव में नानाविध जाती का अथवा विशिष्ट जाती का नहीं होता, तो वह जो शरीर धारण करता है वहां उससे संबंधित रहकर उस देह का अभिमान धारण करता है तथा उस शरीर धर्म का पालन करता है। इसलिए जीव

वास्तव में एक ही है फिर भी अनेकरूपी है। ऐसा भ्रम होता है। लेकिन इस एकरूप जीव की एक बार कल्पना हुई कि ईश्वर कैसे है इसकी कल्पना आ सकती है। सारांश, जीव अनेक न होकर एक ही है तथा आत्मा और जीव दो नहीं हैं। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से युक्त जीव सभी के अनुभव में आने वाला है। शरीर में जैसी हलचल दिखती है वैसे वह अन्यत्र नहीं दिखाई देती। हम आकाश, पत्थर, भूमि, आदि में जीव है ऐसा नहीं मानते, परंतु वस्तुतः वह सर्वत्र विद्यमान है। जहां-जहां वह नहीं है ऐसा हम मानते हैं, वहां वह मात्र साक्षीत्व से विद्यमान है। उसी को आत्मा तथा परब्रह्म कहा जाता है। और वह सर्वव्यापक है, यह सिद्ध ही है। जीव के भिन्न भिन्न व्यापार का वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् के अगले ११ वें मंत्र में किया है। उसे देखिए।

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासांबुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते।।

अर्थ - जीव जिस शरीर का अभिमान धारण करता है उस शरीर में उसके शरीर धर्म जैसे कैसे व्यवहार करता है यह इस वचन में बताया है। संकल्प करने जैसे मनोव्यापार, स्पर्श करना, आँखों से देखना आदि इंद्रिय व्यवहार, अच्छा बुरा इस अनुभव से स्वीकार्य अथवा अस्वीकार्य लगना, आसक्ति-मोह निर्माण होना आदि फिर मानसिक व्यापार तथा उसका परिणाम, लैंगिक वासना जैसे विकार, भूख, प्यास, आदि व्यापार जीव करता है। विषय दृष्टि से भिन्न भिन्न योनी में भिन्न भिन्न प्रकार से वृद्धिंगत होना (अंडज, उद्भिज, स्वेदज, जारज आदि मार्ग से जन्म-वृद्धि-मृत्यु आदि कर्म करना) एक ही शरीर में प्रत्येक इंद्रिय द्वारा उचित व्यापार तथा रूप प्रकट करना। उदाहरण आँखों का दृश्य रूप होना, कान में नाद होना ऐसे अनेकविध आचार तथा व्यापार जीव द्वारा होते है।

इस मंत्र का अथवा वचन का अन्वयार्थ लगते समय परंपरावादी अलग पद्धति से विश्लेषण करते हैं। उनका कहना है कि, जीव को अपने कर्मगति से कर्मफल भुगतने के लिए, अलग अलग योनी में भिन्न भिन्न देह धारण करने पड़ते हैं। इन अलग अलग देह के माध्यम से, जीव अपने कर्मफल भुगतता है। यह लोग ऐसा अर्थ लगाते समय कार्यकारण संबंध गृहित कर कर्म के कारण ही जीव को विशिष्ट देह धारण करना पड़ता है ऐसा प्रतिपादन करते है। इसका ही अर्थ यह है कि, विशिष्ट प्रकार का देह कर्मगति से जीव धारण करता है। परंतु पूर्णवाद दर्शन यह कहता है कि मनुष्य मृत्यु समय अपने नामरूप में विलीन होता है, तथा पूर्ण के (अर्थात् अखण्ड अमर जीव के) प्रसाद से तथा कृपा से वह पुनः दूसरा देह धारण करता है। उदाहरण एकाध बड़े औषध कंपनी का

विक्रेता अपने पास की जमापूंजी रकम कंपनी में जमा करता है और कंपनी जहां भेजना चाहती है वहां उसे जाकर कंपनी का काम करना पड़ता है। इस सूत्र से ही यह क्रिया होती रहती है।

सूक्ष्म साक्षी आत्मा, जो कभी मरता नहीं, उसमें जीव भान तथा जीव का पिछले जन्म के सभी मनोव्यापार तथा ज्ञान सबकुछ बीज जैसे सूक्ष्म अवस्था में कायम रहता है। वही पुनः पुनः नये देह में प्रकट होता है। बल्कि वह सुयोग्य रीति से प्रकट होने जैसे नया रूप वह जीवात्मा पूर्णपुरुष की कृपा से धारण करता है। सरकारी नौकरी में जैसे योग्य प्रकार से काम करने पर कर्मचारी का यदि हुआ तो प्रमोशन होता है लेकिन सहसा रिवर्शन नहीं होता, वैसे ही एक बार मनुष्य जन्म में आया जीव सहसा निचले योनी में नहीं जाता। अर्थात् यह सब पूर्णपुरुष की कृपा पर ही निर्भर है। सत् ही तौर पर देखने से मनुष्य को नया जन्म तथा पिछला जन्म इसमें यदि कार्य कारण भाव दिखाई देता हो तो भी प्रत्यक्ष में मात्र वह स्वरूप संबंध रहता है। वह पूर्ण की कृपा से ही प्राप्त होता है।

एक ही जीव के नानाविध रूप कैसे होते है इसका उत्तर छांदोग्य उपनिषद् के अध्याय ६ खण्ड १२, मंत्र २ में वर्णन किया है। वह मंत्र -

तं होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य
वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति।।

अर्थ - उसमें (वृक्ष में) जो अत्यंत सूक्ष्म वस्तु है वह अंकुरित होती है फिर भी तुम उसे देख नहीं सकते। इसलिए ही यह महान न्यग्रोध वृक्ष खड़ा है, जिन्दा है, इस पर तुम विश्वास करो।

मूल ग्रंथों के संदर्भ से इस श्लोक में जो प्रसंग है वह ऐसा है कि, आरुणी ने श्वेतकेतु को सामने दिखने वाले बरगद के पेड़ (वटवृक्ष) का एक फल लाने को कहा है, तथा वह फोड़ कर उसके वटबीज निकाल कर उसमें वास्तविक जो अत्यंत सूक्ष्म वस्तु है और जो अंकुरित होती है वह देखने के लिए कहा और उस संदर्भ में उपरोक्त वचन आरुणी ने कहा है ऐसा दिखता है। इस वचन का हेतु यह कि, वट बीज के अंकुरित होने वाली सूक्ष्म वस्तु, तुम जो नहीं देख सकते वैसे ही जीव के सभी व्यवहार, कर्म, नानाविध रूप यद्यपि व्यक्त स्वरूप में दिखाई देतीं हो तो भी जीव में जो सूक्ष्मतर अवस्था से वह प्रस्फुरित हुई है वह अवस्था आँखों से नहीं देखने आती। इस वचन में जड़ की निर्मिति चेतन से हुई है ऐसा कहा नहीं है। सारांश, वट बीज में जैसे वट वृक्ष वैसे ही शुद्ध साक्षी में जीव भाव तथा सकल मनोव्यापार, विकार स्थित रहते हैं।

इस प्रकार से अब तक के विश्लेषणों का निष्कर्ष यही है कि जीवभाव यह अविद्योपाधि से उत्पन्न होता है यह कहना श्रुति को मान्य नहीं है अर्थात् जीव तथा आत्मा के स्वरूप में अविद्या उपाधि से भेद नहीं है, तो वह सदा सर्वदा एक ही रहते है। 'न जीवो म्रियते' अर्थात् जीव मरता नहीं है यह एक बार स्वीकार करने पर उसका जन्म भी होता नहीं यह अपने आप सिद्ध बात होती है। अतः जीव भी आत्मा जैसे नित्य, अनंत, अज ऐसा ही है। वट वृक्ष के उदाहरण से वनस्पति को जीव है, यह श्रुति को मान्य है ही, लेकिन वह साक्षित्त्व से होने के कारण व्यापारवान दिखता नहीं। इस विश्लेषण से केवलाद्वैति दार्शनिक ने उपाधि रहित केवल रूप में सच्चिदानंद रूप आत्मा का अर्थात् शिव तथा जीव का जैसे अभेद बताते हैं वैसे वह श्रुति को मान्य नहीं ऐसा दिखता है। श्रुति तो अभेद बताने उतना भी जीव - शिव का भेद मान्य नहीं करती। अतः बिम्ब प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद, आदि जीव-शिव भेद की सर्व अद्वैति प्रक्रिया वैदिक दृष्टि से तर्कहीन बनती है। एक आत्मा की तुरीय यह वेद प्रतिपादित पूर्णपुरुष सत्य का शिवरूप तो उसी आत्मा के मनोव्यापार से युक्त है (तीन अवस्था में रहने वाला) जीवभाव यह उस पूर्णपुरुष का विष्णु रूप है। आधिदैवत में आने वाले इंद्रादि देवता का अधिपति तथा जगत् का इशान करने वाला एकमात्र ईश्वर अर्थात् जीवभाव रूपी विष्णुरूप है।

शिवस्य ह्रदयम् विष्णुः विष्णोच्चह्रदयम शिवः।।

शिव का ह्रदय अर्थात् विष्णु तथा विष्णु का ह्रदय अर्थात् शिव यह वचन इस प्रकार का अर्थ दर्शाता है।

अनेजदेकं मनसोजवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।

ईशावास्य उपनिषद् का यह चौथा मंत्र है तथा आत्मतत्त्व के बारें में विस्तार से इसमें बताया गया।

अर्थ - आत्म तत्त्व यह सर्वांतरयामी रहता है तथा एकत्त्व से वह कभी ढ़लता नहीं है। वह मन से भी अतिगतिशील है। मन पहुंचने के पहले आत्म तत्त्व विद्यमान रहता है। उस पूर्णपुरुष की बराबरी इंद्रादि देवता कर नहीं सकते, कारण वह पूर्णपुरुष पूर्ण है। देवता उसके अन्तर्गत संख्या रूप है। उसकी स्थिति यह है कि वह स्थिर होकर भी इन सब दौड़ने वालों की अपेक्षा वह सर्वप्रथम है। कारण वह सभी का आदि तथा ज्ञान स्वरूप है। वह सर्वव्यापक है। शिव अपने साक्षित्त्व से सदा सर्वत्रसम आहे तथा विष्णुरूप से गतिमान मन, बुद्धि इन सभी विषय से अत्यंत चपल है। अतः वह सर्व

विषय का ईशण कर सकता है। उसके इस ईश्वरत्त्व से ही वह इंद्र, मित्र, वरुण, वायू, अग्नि, सूर्य मातरिश्वा आदि देवताओं के कर्म जिसके उसको विभाजित कर देता है तथा उस पर अपना आधिपत्य जमा देता है। शिव तथा विष्णु नित्य परस्पर हृदय में वास करते हैं यह इस वचन का सूत्र है। शिवतत्त्व में विष्णु तत्त्व सूक्ष्म रूप से रहता ही है। वैसे ही शिवतत्त्व में प्रकट तूर्या रहती है, तो विष्णुतत्त्व में प्रकट जागृति रहती है। परंतु शिवतत्त्व मात्र सूक्ष्मत्व का रहता है। इससे कहीं भी किसी का भी कभी अभाव नहीं रहता है। अतः आत्मा सत्य और जीव मिथ्या अथवा शिव सत्य विष्णु मिथ्या ऐसा श्रुति का मत नहीं है। जो शिव है वह स्वरूपतः विष्णु ही है। उसे श्रुति पूर्णपुरुष कहती है।

अब ईशावास्य उपनिषद् का ७ वां मंत्र देखेंगे।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यत्मैवा भूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्त्वमनुपश्चतः।।

अर्थ - जिस स्थिति में सभी प्राणी मात्र में भिन्न भिन्न लगने वाला जीव एक ही है, नानाविध स्वभाव रचना एक ही आत्मतत्त्व से निर्माण हुए है, ऐसा ज्ञान होता है वहां एकत्त्व का, मात्र एकत्त्व का, एकमात्र परमेश्वर का अथवा पूर्णपुरुष का साक्षात्कार होने के कारण ऐसी अवस्था में शोक और मोह किस का होगा? अर्थात् सुखदुःख देने वाली दूसरी वस्तु नहीं। पूर्णपुरुष ही भिन्न भिन्न देह में विविध भाव धारण करता है। अतः इसलिए ही सुखदुख निर्माण होता है।

केनोपनिषद् का खण्ड-२ रा मंत्र ४ था में यह विचार व्यक्त किया है।

प्रतिबोध विदितं मतममृतत्त्वं हि विन्दते।
आत्मनाविन्दते वीर्य विद्यायाविन्दतेऽमृतम्।।

अर्थ - जिसका बोध इस श्रुति वचन से होता है वही ज्ञान वास्तविक ज्ञान है। कारण इस बोध के साथ हम अमर है ऐसा अपना मत बनने लगता है। आत्मा से अर्थात् अन्तर्यामी परमात्मा से कार्य लाभ होता है तथा विद्या से अर्थात् ज्ञान के बोध से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है।

श्रुति के प्रत्येक वचन का अध्ययन करने से, उसका पठन, मनन-चिंतन तथा बोध करा लेने से हम अमर है का संस्कार धीरे धीरे अपने मन बुद्धि पर होने लगता है। वैसे ही पूर्णवाद ग्रंथ के अध्ययन से वैसे ही उसमें वर्णित पूर्णपुरुष के ज्ञान से तथा बोध से अपने पूर्वग्रह धीरे धीरे नष्ट होते है। वेद द्वारा प्रतिपादित सत्य से पूर्णपुरुष की धीरे धीरे अनायास पहचान होने लगती है। इस बात का परिणाम अपने जीवन पर भी अनजाने होते ही रहता है।

प्रत्येक का आधिभौतिक यह उसके आधिदैविक तथा अध्यात्म का संतान रूप होने से पूर्ण की आधिदैविक उपासना तथा वेदप्रणित पूर्णपुरुष सत्य की पहचान के कारण अपना आधिभौतिक अनजाने विकसित होते रहता है। वैसे ही जिस विद्या से आत्मा की तूर्यावस्था का साक्षात्कार होता है वह विद्या प्राप्त करने की अपनी योग्यता, जो सामान्यतया तपाचरण से ही बढ़ सकती है वह सहजता से बढ़ती हैं।

यहां विद्या अर्थात् आत्मा की सहज न जानने जैसी जो तूर्यावस्था रहती है उसे जानना है। इस विद्या का ज्ञान करा लेना अर्थात् मृत्यु से हमारा अत्यंतिक नाश नहीं होता, साक्षित्व रहता है, शिवत्व रहता है। यह समझ लेना है। अतः हम अमर है यह अनुभव से सिद्ध होता है।

आत्मा से जीवन की इति कर्तव्यता का निश्चय संभव होता है। यह निश्चय ही वीर्य लाभ है। और जिस आत्मा से यह वीर्य लाभ होता है वह जीव रूप होता है। इस आत्म रूप का वर्णन कठोपनिषद् में मन, बुद्धि तथा शरीर पर सत्ता स्थापित करने वाला तथा उससे अपने संकल्प के अनुरूप कार्य कराने वाला ऐसा किया है।

कठोपनिषद् के अध्याय १ वल्ली ३ का ३ रा मंत्र इसका उदाहरण है। देखें -

आत्मानं रथिनं विद्धी शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धी मनः प्रग्रहमेव च।।

अर्थ - इस जीवन यात्रा का मूल यात्री आत्मा है तथा वही रथी अर्थात् रथ में बैठा हुआ है। शरीर रूप यह उसका रथ है तथा वह इस रथ से यात्रा करता है। इस रथ को चलाने वाला सारथी बुद्धि है और मन यह उसके हाथ का लगाम है, अर्थात् इस वचन में इंद्रिय यह इस रथ के अश्व है यह अध्याहृत है।

इस वचन में जो रूपक वर्णन किया है उससे जीवन यह नित्य गतिमान, उसकी प्रगति आत्मा और जीव के कारण शरीर, बुद्धि तथा मन के द्वारा बनती है। इस जीव का स्वरूप तथा स्वधर्म का निश्चय ज्ञान यदि मनुष्य में नहीं है तो यह जीवन रथ बुद्धिरूपी सारथी से किस दिशा में भटक जाये इसका कोई भरोसा नहीं। अतः यदि अज्ञान है तो क्या अनर्थ होगा इसकी कल्पना करना संभव नहीं। अतः यशस्वी, सफल जीवन जीने के लिए स्वधर्म तथा जीव रूप का ज्ञान होना आवश्यक है। यह ज्ञान मात्र आश्रम व्यवस्था के प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य आश्रम में प्राप्त करना है। इस धर्म से ही पुरुषार्थ साध्य करना है। ध्येय तथा जीवन का इप्सित निश्चित करना है। ध्येय के लिए अनुरूप तथा आवश्यक बातों का संग्रह ही पुरुषार्थ है। फिर इन बातों का उपयोग कर अपना ध्येय आनंदपूर्वक साध्य करने का काम ही पुरुषार्थ है। शरीर थकने के बाद मृत्यु का भय

नष्ट करने के लिए अमृतत्त्व का अभ्यास करना यह मोक्ष पुरुषार्थ है।

श्रुति में शिवतत्त्व को आत्मा तथा विष्णुतत्त्व को जीव अथवा जीवात्मा कहा है। वस्तुतः शिव तथा विष्णु एक ही है। 'द्वा सुपर्णा' में पूर्णवाद ग्रंथ के पृष्ठ १९-२० पर उल्लेखित दो पंखों वाला जोड़पक्षी ही आत्मा जीव तथा अक्षर ब्रह्म अथवा दृष्य जगत् है।

अब जिस शिवतत्त्व से आत्मतत्त्व का फल मिलता है उस संबंध का कुछ वर्णन और कुछ उपनिषद् में देखेंगे। कठोपनिषद् का अध्याय १ वल्ली २ का १४ वां मंत्र इस संदर्भ में अध्ययन योग्य है।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात कृताकृतात।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् तत् पश्यसि तद्वद्।।

अर्थ - जीव को धर्म तथा अधर्म है, परंतु इस धर्म से भी जो अलग है, अधर्म से अलग है, वैसे ही कार्यकारण से भी पृथक भूत, वर्तमान तथा भविष्य से भी जो भिन्न है ऐसा शुद्ध आत्मा, हे यमराज, तुम जो जानते हो, उसके बारे में तुम मुझे बताना - ऐसी प्रार्थना नचिकेता इस वचन में यम से करता है।

अर्थात् नचिकेता का यह प्रश्न शिवत्त्व के संबंध का है तथा उसने यह यम से पूछा है। यम यह मृत्यु देवता है अतः उसे ही शिवतत्त्व की पहचान होना अधिक स्वाभाविक है। अतः मृत्यु के मुख से अमृतत्त्व का कथन कराने में श्रुति का मार्मिक योगदान दिखाई देता है। कठोपनिषद् का अध्याय १, वल्ली २ का मंत्र २२ का यह अगला मंत्र मनन योग्य है।

अशरीरम् शरीरेष्वनस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तम् विभुमात्मानम् मत्वा धीरो न शोचति।।

अर्थ - विनाश शील शरीर में अथवा स्थिर न रहने वाले शरीर में शरीर रहित अर्थात् शरीर विहीन आत्मा अविचल भाव से स्थित रहता है - अर्थात् शरीर में जीव रूप से जैसे आत्मा है वैसे ही वह शरीर विहीन भी है। जीते जी जैसे उसका अनुभव है, वैसे ही मृत्यु के समय भी वह अनुभव में आता है। अतः इस रीति से किसी भी उपाधि से मर्यादित न होने वाला महान सर्वव्यापी सर्वकाल रहने वाला आत्मा है, यह जानकर बुद्धिमान मृत्यु का दुःख नहीं करते। वह शरीर में तथा अशरीरी कैसे यह उसके दो रूप, यम ने नचिकेता को बतायें। उस पर एक शंका ऐसी है कि यदि अशरीरी है तो शरीर रूप कैसे हुआ तथा कैसे होता है। तो केवलाद्वैति कहते हैं वैसे अविद्या से नहीं। कारण कठउपनिषद् के अगले अध्याय १ वल्ली २ मंत्र २४ में यमराज कहते हैं-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधयो व बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।

अर्थ – यह आत्मा श्रुति वचन के अभ्यास से (प्रवचन) से प्राप्त नहीं होता। बुद्धि की धारणा शक्ति रहती है उससे भी आत्मा की धारणा नहीं होती। श्रवण से तथा श्रवण भक्ति से भी उसका ज्ञान संभव नहीं है। जो साधक इस आत्मा का अनुनय करता है तथा प्रार्थना पूर्वक अर्जव करता है उसे ही वह प्राप्त होता है। ऐसे साधक को फिर यह आत्मा अपना शरीर खोलकर बताता है।

बिन शरीर की आत्मा यदि अविद्या से शरीर धारण करुंगा कहें तो फिर विद्या तथा प्रवचन से वह फिर से अशरीरी होना चाहिए। लेकिन ऐसा होता नहीं। उसकी प्रार्थना करने पर ही वह अपना नीज रूप खोलकर बता देता है। इससे उसने शरीर स्वरूपतः धारण किया होगा। अविद्योपाधि से वह प्राप्त हुआ ऐसा कहने नहीं आता।

शिवतत्त्व को अंतरात्मा कहते हैं यह हमने देखा है। वह जीव के अन्दर सूक्ष्म रूप से रहता है। उसी को आत्मा ऐसा कहा है। जीवत्व जब उसका शरीर था तब अपने इस शरीर का ज्ञान आत्मा स्वतः होकर साधक को कर देता है। इसलिए ही जीव दशा अविद्या से प्राप्त होती है, यह कहने का कोई आधार नहीं।

केनउपनिषद् के खण्ड-१ का ५ वां मंत्र अब देखेंगे।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।

अर्थ – जिसे मन से अर्थात् अंतःकरण से समझाने नहीं आता, जिसके लिए मन स्वतः ही स्वतः को जानता है और दूसरी बातें जानते हैं वह ब्रह्म तत्त्व है, ऐसा तुम जानो। अर्थात् प्राकृत मन बुद्धि से जाने हुए जिन तत्त्वों की उपासना सभी लोग करते हैं वह यह ब्रह्म नहीं है, यह तुम जानों।

इसका ही अर्थ ऐसा है, मात्र मनोव्यापार का जो पसारा उतना ही ब्रह्म (जीवरूप) ऐसा कहकर ब्रह्म का संकोच करने नहीं आता। तो मन और बुद्धि के परे जो व्याप्त है वह ब्रह्म है अर्थात् मन तथा बुद्धि भी उसी से व्याप्त है अर्थात् मात्र विष्णु तत्त्व ब्रह्म नहीं है, तो शिव तत्त्व ही ब्रह्म है। हम सभी जीव को अपेक्षित ऐसा व्यवहार करते हुए जिस शिव की उपासना होती है वही मात्र ब्रह्म नहीं है, तो उसके बाहर में जो साक्षित्व वह सभी ब्रह्म है। 'अत्यतिष्ठत दशांगुलम' – वह दश अंगुल सर्वव्याप्त होकर भी शेष है। ऐसे ही उसका पुरुषसुक्त में उल्लेख है। वैसे ही 'सहस्त्रशीर्षादि' – हजार सिर, हाथ ऐसा अभयरूप ध्यान उसने धारण किया है। अर्थात् ब्रह्म यह मात्र शिव ही न होकर विष्णु

शिवरूप से युक्त ही है। परंतु विष्णु तत्त्व यह सहज समझ में आने वाला इसलिए समझ में न आने वाले विद्यातत्त्व तथा शिव तत्त्व का मुख्यतः निर्देश किया है।

'न म्रियते' ऐसा कहकर आखिरकर श्रुति जीव को ही नित्य कहती है, वहां ईश्वर को अनित्य कैसे कहेगी। लेकिन मात्र शिवतत्त्व को ही ब्रह्म तथा पूर्ण कहने का केवलाद्वैतियों की जिद्द है कि उन्हें ईश्वर की, जीव की तथा जगत् की उपेक्षा करनी पड़ी। जीव तथा आत्मा वस्तुतः एक ही है, अतः जीव भी आत्मा जैसे ही सर्वव्यापी तथा नित्य है। यह इस सर्वव्यापक जीव को विष्णु ऐसे कहा जाता है। वह जब धारण किये शरीर तक ही ईश्वरी माया से अव्याप्ति करा लेता है तब उसे जीव कहते हैं।

तात्पर्य, अखण्ड सर्वव्यापक आत्मतत्त्व पर 'स्व' के संस्कार से जैसे स्वतः की आत्मा सिद्ध होती है। वैसे ही अखण्ड जीवतत्व पर देह की सापेक्षत्व से किये हुए 'स्व' के संस्कार से जीव तैयार होता है। अतः वस्तुतः जीव तथा आत्मा एक ही 'स्व' के संस्कार से अव्याप्त तथा मर्यादित होते है, तथा 'स्व' से संस्कारित आत्मा की तथा जीव की स्व को ही जानकर उसकी प्रगति संभव है।

कठोपनिषद् के अध्याय २ वल्ली १ में ऋषि कहते है कि,

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोः मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्।।

अर्थ - ''अर्थात् ह्रदय कमल यह अंगुष्ठ - अंगुठे जैसे परिमाण है। वह घटित तथा घटित होने वाली बातों का, भूत भविष्य का शास्ता है। (वास्तविक आत्मा स्थूल, सूक्ष्म तथा आकार विशेष ऐसे नहीं है। ह्रदय की स्थिति जैसे वह कोई भी आकार धारण करता है। चींटी के ह्रदय में उसके ह्रदय जैसे वह आकार लेता है वैसे हाथी के ह्रदय में हाथी के ह्रदय जैसे आकार लेता है। परंतु मानवी ह्रदय में वह उसके अंगुष्ठमात्र आकार का रहता है।) वह कभी भी अपने संरक्षण की चिंता नहीं करता। अतः उसे जानने पर मनुष्य किसी की भी निंदा नहीं करता। नचिकेता ने पूछे हुए ब्रह्म तत्त्व (शिवतत्त्व) यही है।'' प्रत्येक का ह्रदय यद्यपि भिन्न भिन्न रहता है फिर भी वह आत्मतत्त्व तथा ब्रह्मतत्त्व एक ही रहता है। अनेकत्त्व में वह संभव नहीं है। यहां ईशानशब्द होने से मात्र शुद्ध शिवतत्त्व का ग्रहण करने नहीं आता। इससे आत्मा जीव यही ब्रह्म रूप है वह अखण्ड एकरूप है यह सिद्ध होता है।

कठोपनिषद् में इसके आगे अर्थात् अध्याय २, वल्ली १ मंत्र १३ में अगला वचन -

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोः ज्योतिरिवाधूमकः
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स ऊश्वः एतद्वै तत।।

अर्थ - अर्थात् यह अंगुष्ठमात्र परमपुरुष ज्योति जैसे निर्धूम - धूमरहित है, वह भूत-भविष्य-वर्तमान का शास्ता है (वह सूर्य अग्नि जैसे उष्ण प्रकाशमान नहीं है, तो दिव्य, निर्मल, शांत स्वयं प्रकाश रूप है। वह उसके शुद्ध स्वरूप में ज्योति जैसे कम-अधिक नहीं होता। उसकी एक सत्ता अक्षुण्ण है।) एक ही सामान्य वर्तमान के सिवाय साक्षी दूसरा काल संभव नहीं है। परंतु यहां उसे काल का नियंता ईश्वर कहा गया है। वह आज है वैसे ही कल है अर्थात् नित्य है। तब नचिकेता ने पूछे हुए तत्त्व यही है।'' यहां उसे कालनियंता ईश्वर कहा है अतः ब्रह्म कहकर विष्णु तत्त्व के साथ साक्षी का निर्देश यहां है अर्थात् यहां भी आत्मा तथा जीव एकरूप है तथा वही ब्रह्म रूप है ऐसा कहा गया है।

कठोपनिषद् के इस अगले वचन में अध्याय २ वल्ली १ मंत्र १४ का यह वचन देखिए-

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति
एवं धर्मान् पृथक पश्यंस्तानेवानुविधावति।।

अर्थ - अर्थात् जिस प्रकार ऊँचे शिखर पर गिरा पानी पर्वत के नाना स्थल से चारों तरफ अनेक प्रवाहों से नदी, नाले ऐसे स्वरूप में बहता है तथा यहां उसके एकत्त्व का नाश होता है, वैसे ही मूलतः एक जीव आत्मा एक ही है तथा भिन्न भिन्न देह में भिन्न भिन्न धर्म का दिखाई देता है तथा उसे अनेकत्त्व प्राप्त होता है और उसके भी एकत्त्व का जाने अनजाने नाश होता है - अर्थात् वह भूल जाता है। अतः जीव अनेक न होकर एक ही है, परंतु 'स्व' के संस्कार से अलग होते है ऐसा श्रुति सिद्धान्त से कहते कोई वाद नहीं रहता। कठोपनिषद् के अध्याय २ वल्ली २ के ९ वें मंत्र में कहा है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्ठो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं अतिरूपो बहिश्च।।

अर्थात्, ''जिस प्रकार समस्त ब्रह्मांड़ में प्रविष्ठ अग्नि जिस वस्तु का आश्रय करता है उस प्रकार - अग्नि को स्वतः का ऐसा कोई रूप न होकर वह उस वस्तु का रूप धारण करता है। वैसे ही एक ऐसे अंतरात्मा जीव जिस किसी देह का आश्रय करता है वैसे वह रूप धारण करता है, उस धर्म का होता है तथा सर्वव्यापक होने से उस देह के बाहर भी वह रहता है।''

उदाहरण गाय तथा शेर का जीव वास्तव में एक ही है, परंतु दोनों के स्वभाव वैचित्र्य से दो भिन्न भिन्न जीव है ऐसा लगता है। यह जो स्वभाव वैचित्र्य है वही प्रत्येक जीव का भिन्न भिन्न रूप है। परंतु वह सर्वव्यापक होने के कारण यह जीव मात्र देह तक

न होकर देह के बाहर भी रहता है। यहां अंतरात्मा का अर्थ जीव करने का कारण तुरीय आत्मा के साक्षित्त्व का कोई परिवर्तन नहीं होता। वैसे ही वह उपाधी रहित रहता है। यहां रूप तथा उपाधि से युक्त आत्मा भिन्न भिन्न रूप धारण करता है ऐसा सोपाधिक आत्मा का वर्णन है अतः यह जीव का ही है। इसका अगला कठोपनिषद् का अध्याय २ वल्ली २ मंत्र १० में अगला वचन है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्ठो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

अर्थात्, एक ही वायु अव्यक्त रूप से संपूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त है तथा वह भिन्न भिन्न वस्तु के तथा देह के संयोग से उन वस्तुओं के तथा देह के अनुरूप गतिशील वस्तु शक्ति संपन्न हुआ दिखाई देता है अथवा एक ही भावरूपी देह में स्थल भिन्नत्व से प्राण तथा अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कृकल, धनंजय आदि दशरूपे तथा नानारूप परस्पर विलक्षण ऐसे लेता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न देह में जीव एक ही है नानाविध परस्पर विलक्षण ऐसे रूप धारण कर लेता है तथा उन सबके अन्दर-बाहर भी अनंत असीम ऐसे विलक्षण रूप से भी स्थित रहता है। मूर्तियाँ जितनी भिन्न है वैसे प्रकृति भी भिन्न है। वैसे स्वभाव लक्षण तक ही जीव की व्याप्ति न होकर वह सर्वत्र है। अतः बहिश्च ऐसा श्रुति कहती है।

ऐसा यह एक जीव जो अनेक देह से भिन्न भिन्न स्वरूप रूप होता है, वह जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति इन अवस्थाओं से युक्त होने से केवलाद्वैति उसे बद्ध तथा अनित्य मानते हैं। परंतु वह बाहर भी होने से बद्ध तथा अनित्य न होकर नित्य तथा मुक्त है ऐसा श्रुति कहती है। यह जो जीव सिद्धि - एक अज, नित्य, मुक्त, ब्रह्म - वहीं वैष्णवों का ईश्वरत्व होने से संतों को जागृति, स्वप्न, सुषुपित में एक ही विष्णु तथा देव सर्वत्र दिखता है। परंतु केवलाद्वैतियों को मात्र तुरीय अवस्था में, समाधि में ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है। भक्तों को जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्था में एक ही देव दिखाई देता है। यह बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

सारांश, वैष्णवों का विष्णुतत्त्व तथा केवलाद्वैतों का शिवतत्त्व इन दोनों तत्त्वों के रूप परस्पर विलक्षण ऐसे है। श्रुति ने किये साक्षी के वर्णन में तथा अद्वैतवादियों के वर्णन में तिल मात्र भी फर्क नहीं है। वैसे ही श्रुति ने किये हुए विष्णु अथवा ईश्वर तत्त्व के वर्णन में तथा वैष्णवाचार्यों द्वारा किये वर्णन में भी तिल मात्र (रत्तिभर भी) अंतर नहीं है। श्रुति शिव तथा वैष्णव इन दो तत्त्वों में वैलक्षण बताकर, फिर वह दो न होकर एक ही है, ऐसे सिद्धांत से बताते हैं। दोनों का फर्क बताकर भी सिद्धांत से उन्हें एकरूप, एक

ही कहते है, तो वादी अपने गृहित तत्त्व को ही केवलत्व (एक ही एकत्त्व) लाने के लिए प्रयत्नरत रहते है। यह श्रुति तथा वादी का भेद हैं।

कठपनिषद् के अध्याय २ वल्ली २ मंत्र ६ में श्रुतिरूप से यमराज कहते हैं-

य एष सुप्तेषु जागर्ति काम कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिनल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वैतत्।।

अर्थात् जो यह नाना प्रकार के विषय भोग निर्माण करने वाला परम पुरुषरूपी आत्मा निद्रित होकर भी (प्रलयकाल में) जागृत रहता है, वहीं वह परमविशुद्ध ब्रह्मतत्त्व है। उसे ही अमृत कहते हैं जिसमें संपूर्ण विश्व तथा अन्य सप्त लोक तथा चौदा भुवन आश्रय लेकर रहते हैं। उसके बाहर कोई जाता नहीं। यह तुमने पूछा हुआ ब्रह्म तत्त्व है। अथवा जो यह निद्रित पुरुष को जागृति में लाकर भिन्न भिन्न इष्ट विषय के वासनाओं को निर्माण करता है वही शुद्ध, वही ब्रह्म।'' अर्थात् यह अविद्या से निर्माण हुआ नहीं है तो अज इसलिए ब्रह्म है। यह वर्णन जीवात्मा का है। कारण वैसे वह साक्षी रहता नहीं तथा श्रुति उस जीवात्मा के वर्णन को ही शुक्र है, ब्रह्म है ऐसा कहती है। सप्तलोक तथा चौदाभुवन उसी के आश्रय से है। उसके बाहर कुछ नहीं, यही तुमने पूछा (नचिकेतने) हुआ ब्रह्म है। वही अमृत है।

यहां जीव को भी अमृत ही कहा है तथा श्रुति जीव तथा आत्मा एक मानती है तथा उसका यह कहना ठीक है -

मुण्डक उपनिषद् के मुण्डक २ प्रथम खण्ड के पहले ही मंत्र में अगला वचन है।

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिंगाः।
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधः सोम्य भावाः।
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।।

अर्थात् - हे सौम्य अथवा प्रिय, वह यह विश्व अथवा जगत् सत्य है। कारण जिस प्रकार से अत्यंत प्रखर ऐसे प्रज्वलित अग्नि से उसके ही स्वरूप के सहस्त्रावधी स्फुलिंग अथवा चिनगारियां उत्पन्न होती है उसी प्रकार से एक अकार विष्णु तत्त्व से (अविनाशी ब्रह्म से) विविध भाव युक्त ऐसे अनेक जीव उत्पन्न होते हैं। वह सभी उसी में समाहित होते हैं।

यहां भी श्रुति जीव तथा आत्मा एक ही मानते हैं यह स्पष्ट दिखता है। परंतु यह बात केवलाद्वैतवादियों की प्रक्रिया में बैठने वाली नहीं है। वैसे ही शिव तत्त्व यही अमृतत्त्व ऐसा उनका आग्रह है। अतः उपरोक्त प्रकार की विशेषताः ४१ वें वचन अर्थ

खिंचातानी से परब्रह्म पर करने का प्रयत्न अद्वैतवादी करते हैं। वैष्णवाचार्य ने ऐसे वचनों पर यद्यपि जीव पर किया है और वह अध्येताओं के बुद्धि को तर्कसंगत लगता हो तो भी इस पर श्रुति में ही एकवाक्यता नहीं है, वही वस्तुतः अनेकवाद है। भिन्न भिन्न उपनिषदों के वचन भिन्न-भिन्न सिद्धांत कहते होंगे, इसे वह भी विपरीत भावना कर लेता है। कारण आत्मा तथा जीव भिन्न भिन्न है यह हमारा पूर्वग्रह कायम रहता है। श्रुति मात्र इन दोनों को एक आत्मा ऐसा ही मानती है। यह दो है ऐसा नहीं कहती। यह ध्यान में आने पर श्रुति के बारे में विपरीत ग्रह नहीं होता।

अतः यहां भी विष्णुतत्त्व अर्थात् नित्य, सत्य, तत्त्व है तथा उपरोक्त उदाहरण जैसे उससे उत्पन्न नानास्वभावरूपी, उस हर देह के अभिमानी जीव यह सभी सत्य है ऐसा सिद्ध होता है। यहां वस्तुतः जीव अखंड नित्य एक ही रहता है। प्रत्येक देहाभिमानी जीव भिन्न भिन्न कहने का कारण उस देह के अभिमान को उस प्रकार के देह का अभिमान रहता है। अतः व्यवहार दृष्टि से मार्मिक बुद्धि से उसे अनेक कहा जाता है। यह अग्नि तथा चिनगारियों का वर्णन निश्चित ही तुरीय ब्रह्म का परब्रह्म का न होकर अपर ब्रह्म का, जीवरूप विष्णु तत्त्व का ही है तथा श्रुति उसे अक्षर, नित्य तथा सत्य कहती है। अर्थात् उससे संभव जगत् यह सत्य है ऐसा श्रुति का कहना है।

यहां जैसे विष्णु तत्त्व नित्य तथा सत्य है ऐसा कहा है वैसे ही कुछ स्थान पर शिवतत्त्व नित्य तथा सत्य बताया है। यह दोनों अलग अलग भिन्न-भिन्न सत्य है ऐसा कहने में सत्य को ही सत्यत्त्व रहता नहीं तथा द्वैत सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, तो १. जड़, २. जीव, ३. विष्णु, ४. शिव ऐसे चार सत्य होते हैं। परंतु श्रुति जीव तथा आत्मा के केवलाद्वैतियों जैसे फर्क न कर दोनों को एक ही मानते है। यही शिवतत्त्व सत्य तथा नित्य और विष्णुतत्त्व भी सत्य तथा नित्य कहने का कारण है। अतः कुछ समय विष्णुतत्त्व का वर्णन कर श्रुति उसे अक्षर, अमृत कहती है तो शिव तत्त्व का वर्णन कर अमृत कहती है। यह दोनों एक ही होने के कारण अक्षर अमृत कहने पर दूसरे अनित्य, क्षर नहीं होता। परंतु तुरीय आत्मा शिव तत्त्व आँखों को न दिखाई देने वाले, इंद्रिय से न ग्रहण होने वाले है।

उदाहरण मुंडकोपनिषद् में मुंडक ३ खंड १ मंत्र ८ में अगला वचन है।

न चक्षुषा गुह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवै तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कल ध्यायमानः।।

अर्थात्, तुरीय आत्मा शिवतत्त्व अरूप कह कर आँख को न दिखने वाले, वैसे ही वाणी से वर्णन न करने जैसे, अर्थात् दूसरे किसी भी इंद्रियों द्वारा ग्रहण न करने जैसे।

वृतवैकल्य आदि तप तथा यज्ञयागादि कर्म से उसकी प्राप्ति नहीं होती। उस निष्कलंक अवयव रहित शिवतत्त्व को, विशुद्ध अन्तःकरण को, उस विशुद्ध अतःकरण से अंतर्मुख होकर, स्वसंवेद्यता से निरंतर ध्यान कर ज्ञान से जानने का प्रयत्न करने पर ही उस विशुद्ध शिवतत्त्व का परब्रह्म अनुभव जिसे परोक्षानुभूति कहते हैं वह, उसे ज्ञानप्रसाद से संभव होगा।'' सारांश उसके लिए तड़पने वाला उसके स्वरूप के श्रवण का तथा मनन का अभ्यास कर यदि उसका निदिध्यास होगा, तो वह निर्गुण, निराकार, शुद्ध साक्षी चैतन्य का तथा परब्रह्म का अनुभव कर सकेगा। ऐसा जो करता है उसे ही वह प्राप्त होता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के ब्रह्मवल्ली अथवा ब्रह्मानद वल्ली के अनुवाक ९ में पहले मंत्र में श्रुति कहती है,

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान न विभेति कुतश्चनेति।

अर्थात्, जिस शिवतत्त्व को जान लेने की जिज्ञासा से वाणी, मन, बुद्धि प्रवृत्त होते है, वह मन, वाणी के साथ साक्षी ब्रह्मरूप शिवतत्त्व अप्राप्य है ऐसा जानकर निवृत्त होते है, वापस जाते है, उन्हें विवश होना पड़ता है। कारण वह स्वसंवेद्य है, लेकिन ऐसे सच्चिदानंद रूप परब्रह्म को जानने वाला विद्वान, ज्ञानी किसी को भी डरता नहीं।'' क्यों कि सबसे बड़ा भय मृत्यु का है, इसके कारण ही अन्य भय को अस्तित्त्व है। साक्षित्त्व की अनुभूति से, एक बार नित्यत्व का ज्ञान हुआ, कि हम अमर है, अमृत है, ऐसा निश्चय बनता है तथा मृत्यु भय का कारण ही रहता नहीं। जो मृत्यु को डरता नहीं उसे अन्य किसी से डरने की क्या आवश्यकता?

तात्पर्य शिवतत्त्व के ज्ञान से अमृतत्त्व का प्रत्यक्ष लाभ होता है, इसलिए ब्रह्मज्ञान की अत्यंत महती है। शिवतत्त्व के अनुभव से जैसे अमृतत्त्व का प्रत्यक्ष लाभ होता है वैसे विष्णुतत्त्व से होना सभव नहीं है, परंतु वह अनित्य तथा मिथ्या मात्र नहीं है। उसमें विविध भाव होने के कारण मानवी बुद्धि के साधक को वहां नित्यत्व का अनुभव नहीं आता नहीं निश्चय आता।

कठपनिषद् के अध्याय १ वल्ली २ मंत्र २० में कहा गया है -

अणोरणीयान्महतो महियानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।।

अर्थात्, ''आत्मा अणु से भी छोटा तथा आकाश से भी व्यापक तथा बड़ा है। वह अकर्ता, केवल साक्षी है, लेकिन उसकी जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति इन विविध अवस्थाओं

में सत्व, रज, तम आदि गुणों से विविध स्वभाव धर्म के जीव के रूप से वह दिखता है। यह उसका प्रत्यक्ष महिमा सभी देखते है। जो इस जीवात्म भाव को जीव-आत्मा को सर्वाधार परमेश्वर कृपा से पहचानते है वह शोकरहित होते है।'' यही मंत्र श्वेताश्वतर उपनिषद् के अध्याय तीन में बीसवां मंत्र जैसे का वैसा आया है। यहां इस वचन में श्रुति ने एक आत्मा के ही दो तत्त्वभाव जीव तथा आत्मा स्पष्ट बताया है। अतः श्रुति जीव तथा आत्मा का भेद केवलाद्वैतियों जैसे नहीं करती। उसे इसका साक्षी भाव जैसे मान्य है वैसे ही ईश्वर भाव, विष्णु तत्त्व भी मान्य है। सैद्धांतिक दृष्टि से श्रुति दोनों को भिन्न तत्त्व मानती है। लेकिन स्वरूपतः वह दो न होकर एक ही है ऐसा कथन है।

कठउपनिषद् का अध्याय २ वल्ली १ मंत्र ५ में श्रुति कहती है,

यं इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्।।

अर्थात्, जो मनुष्य कर्मफलदाता, भूतभविष्य का शासन करने वाले विष्णु तत्त्व भूत भोक्त्या जीव को और करीब रहने वाले शिव तत्त्व रूप सामान्य वर्तमान में ही रहने वाले साक्षी आत्मा के ऐसे उभय रूप को एकत्त्व से जानता वह अखिल चराचर के, ईश्वर के, पूर्णपुरुष स्वरूप को जानकर अभेद ज्ञान से, भेद भ्रम से लगने वाला भय छोड़ता है और स्वतः के जीव के रक्षण की इच्छा नहीं करता है। इसलिए वह किसी की निंदा नहीं करता, किसी का द्वेश, मत्सर नहीं करता। ऐसा जो उभय तत्त्व रूप आत्मा तथा आत्मतत्त्व है, वही नचिकेता ने पूर्छा तत्त्व अथवा ब्रह्मतत्त्व है।'' ऐसा शिव तथा विष्णु इन दो तत्त्वों से युक्त, जो एक वही पूर्णपुरुष है। जड़ तथा चेतन यह उसी के रूप है। यहां यह प्रकरण समाप्त।

अब तक हमने इस परब्रह्म प्रकरण का यह जो अत्यंत अभिनव तथा आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ (subjective & objective) पद्धति से अध्ययन किया, उसके पीछे मुख्य उद्देश्य कौनसा था, इसका यहां फिर से स्मरण करना आवश्यक है। वैसे ही इस अध्ययन से वह उद्देश्य कहां तक सफल हुआ इसे देखना प्रत्येक अध्येता का कर्तव्य है। इस दृष्टि से हमारे इस अध्ययन के पीछे यह मुख्य उद्देश्य था - यह देखिए -

१. पूर्णत्त्व यही मात्र ''शुद्ध सत्य परमेश्वर'' अपने इस मूल सिद्धांत का शुद्ध सत्य अर्थात् परब्रह्म की जानकारी लेना।

२. पूर्ण में जड़, जगत्, जीव, जगदीश्वर, आत्मा, परब्रह्म आदि यच्चयावत बातों को समाहित करने से होने वाले पूर्णपुरुष के ज्ञान के लिए तथा सिद्धि के लिए आत्मतत्त्व तथा परब्रह्म का विचार करना।

३. परब्रह्म का पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध है यह संशयातीत रीति से सिद्ध करना।

४. परब्रह्म की अनुभूति – अपरोक्षानुभूति पहले लेकर फिर पूर्णपुरुष की अनुभूति लेना आसान जाता है इसलिए अपने जैसे संसार सामान्य लोगों का सरल सहज मार्ग से अपरोक्षानुभूति कैसे लेते बनेगी इसकी जानकारी लेना। आत्मा तथा परब्रह्म का फर्क जानना।

५. इसी ग्रंथ के पूर्णपुरुष इस दूसरे प्रकरण में हम विश्व तथा ईश्वर का स्वरूप संबंध ज्ञान से, योग से तथा कर्म से सिद्ध करने पर ॐकार की मात्रा तथा आत्मा का पाद इनका संबंध, वह और उनके रश्मि में भेद कर (पृष्ठ २२) प्राज्ञपाद तक कराया था उसे पूरा करना।

६. विश्व के यच्चयावत घटनाओं को तथा त्रिकालातीत परब्रह्म को श्रुति एकही ॐ नाम से क्यों संबोधती है (पृ. ४६) का अध्ययन करें।

७. जीव तथा ईश्वर में जो साम्य हमने (पृ. २६-२७) (१) स्वयंभू, (२) भोक्ता, भोग्य, भोग की प्रेरणा देने वाला, (३) विकसनशील आदि का अध्ययन कर जो अध्ययन छोड़ा था उसे पूरा करना।

८. ईश्वर का सत्य की सापेक्षता में किया अध्ययन पूरा करना (पृ. ३५-३६) ईश्वर से परब्रह्म बड़ा है तथा मूल है (जड़) (पृ. २५) ऐसा जो अद्वैति प्रतिपादित करते है उनकी सत्यता श्रुति के आधार पर प्रमाणित करना।

९. ''जीवो ब्रह्मैव नापरः'' ऐसा शंकराचार्य ने सिद्धांत प्रतिपादित करने पर भी तथा वह तर्कसम्मत होने पर भी, जीव को हम इन सबसे भिन्न है ऐसी सतत अनुभूति क्यों और कैसे आती। वह निसर्गतः जन्म के साथ ही प्रत्येक जीव को हो ऐसी व्यवस्था ईश्वर ने क्यों की?

१०. श्रुति वचन में, उपनिषदों में परब्रह्म वर्णन के संबंध में एकवाक्यता क्यों लगती नहीं है इसे जानना।

११. अपना कल्याण हो, अपने को अमृतत्त्व प्राप्त हो, अपना मंगल हो, इसके लिए इस परब्रह्म का ज्ञान का (शाब्दिक तथा अनुभूतिजन्य) कैसे उपयोग करें यह जानना।

यह उद्देश्य सामने रखकर हम इस परब्रह्म का अध्ययन (१) ज्ञात तथा अज्ञात विषय से शुरु किया। प्रथम परब्रह्म विषय में हमें ज्ञात विषय कौन सा तथा अज्ञात विषय कौन सा है यह जान लिया। बाद में (२) परब्रह्म जिज्ञासा यह विषय उसके जीव का कल्याण, मंगलत्त्व तथा आनंद प्राप्ति इस मूल हेतु के साथ समझ लिया। (३) परब्रह्म

ज्ञानसे प्रपंचोशम होता है। प्रपंच में आने वाली निराशा नष्ट होकर कोई भी अपना अत्यंतिक नुकसान नहीं कर सकता, अपना मूल स्वरूप सच्चिदानद रूप अमर है तथा आनंद की प्राप्ति ज्ञान से करा लेना संभव है, यह हमने जाना। अपरोक्षानुभूति से अमृतत्त्व, अमरत्व प्राप्त होने के कारण जीवन यह विषय परब्रह्म ज्ञान से आनंद रूप कैसे होता है यह जानना। (४) चैतन्य के प्रकार जानकर उनका अध्ययन कर चैतन्य तथा चित का फर्क जान लिया यहां कश्मीर शैवमत तथा आचार्य के दर्शन का फर्क ज्ञानेश्वर के चिदविलासवाद की संक्षिप्त जानकारी ली। (५) जीव के तथा ईश्वर संबंधी आभासवादी भिन्न-भिन्न प्रक्रिया जानकर उन सभी जीवों का तथा ईश्वर का अभेद सिद्ध करने के लिए वह कैसे अधूरे है यह देखा। (६) सत्, चित्, आनंद रूप से, ज्ञान तथा अस्ति, भाति, प्रीति की संपूर्ण कल्पना तथा साम्य समझ लिया। (७) इन सबसे अंतिम सत्य मात्र आध्यात्मिक ज्ञान से सिद्ध नहीं होता यह जाना।

इसके सिवाय हमारा हर दृष्टि से भला हो, कल्याण हो ऐसी इच्छा करने वाले सामान्य संसारी जीवों की एकरूप इच्छा का तथा जिज्ञासा का शंकराचार्य ने (१) अभ्युदय, (२) निःश्रेयस ऐसी दो जिज्ञासाओं में रूपांतरित कर इसके लिए (१) धर्मजिज्ञासा, (२) ब्रह्मजिज्ञासा ऐसे दो स्वतंत्र कहकर वास्तविक द्वैत के बीज बोये वही आगे चलकर, (१) आत्मा अनात्मा विचार, (२) क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार, (३) क्षराक्षर विचार, (४) विद्या अविद्या विचार, (५) विषयज्ञान- स्वरूप ज्ञान विचारों में कैसे परिणत हुये तथा अन्यत्र द्वैत कैसे पिरोये गये यह भी हमने देखा। अतः अद्वैत ही परब्रह्म स्वरूप रहता है ऐसा निश्चित होने के विपरीत सामान्यजनों को परब्रह्म यह वस्तु दिखने वाली सबसे, प्रसंगोपात ईश्वर से भी अलग है- अर्थात् यह भी है, परंतु वह परब्रह्म इससे अलग है वैसे ही लगते रहता है अर्थात् अद्वैत भावना रुढ़ होने की बजाय द्वैत भावना ही मन में आती है। अतः आचरण द्वैत का तथा वाणी अद्वैत की अतः उस सामान्यजन को जो अपरोक्षानुभूति चाहिए वह कभी भी नहीं प्राप्त होती। यदि थोड़ी बहुत आती है तो भी द्वैत का पूरा नाश नहीं होता।

इसलिए परब्रह्म में स्थित, १. नित्यत्व, २. एकत्त्व अथवा केवलत्व, ३. सर्वज्ञत्व-सर्वसाक्षित्व, ४. अमृतत्त्व-मोक्ष यह चार बातें जीव में, आत्मा में ईश्वर में कैसे रहती है यह वेदान्त प्रक्रिया से, तर्क से अथवा बुद्धिवाद से सामान्य मनुष्य को सिद्ध नहीं होती और इसके लिए उनका अभेद बताने नहीं आता, यह हमने जाना। अद्वैतियों ने एकांगी परब्रह्म में किये केवलत्त्व के स्वीकार तथा विश्व की कार्यरूपता मानने के कारण उन्हें जीव, जगत्, ईश्वर की अविद्या तथा माया द्वारा कैसे उठापटक करनी पड़ी यह भी हमने जाना। तत्पश्चात हमने स्वरूप ज्ञान तथा स्वरूप संबंध का फर्क बारीकी से जाना। ज्ञान

न होते हुए केवल स्वरूप संबंध कायम रखने से (छोटे बालक का उसकी देह के स्वरूप से, देह के ज्ञान के बिना) कैसे अनेक बातें सहजता से बनती रहती है यह भी हमने देखा। इन सब कारणों से अंतिम सत्य वेद प्रणित पूर्णपुरुष है तथा उससे परब्रह्म का, आत्मा का, ईश्वर का, जगत् का तथा जड़ का स्वरूप संबंध ही है। यह बात हमने वादातीत पद्धति से कैसे मूलतः सिद्ध की यह भी जाना।

इसके पश्चात हमने परब्रह्म तथा आत्मा के संबंध को स्पष्ट करने वाले ४६ उपनिषद् वचनों का अध्ययन किया। इसमें से १८ कठोपनिषद् के थे जो आत्मा आत्मतत्त्व का वर्णन करने वाले थे। दूसरे ११ श्वेताश्वतर उपनिषद् से थी, उसमें से ७ शिव की, रुद्र की थी तथा शंकर की - अर्थात् शिवतत्त्व का वर्णन करने वाली थी। प्रश्नोपनिषद् के दो वचन आत्मा के जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति इन नैसर्गिक अवस्था के संबंध की थी तथा कर्ता विज्ञानात्मा जीव आत्मा में निरंतर स्थित रहता है ऐसा कहने वाली थी। उसी प्रकार छांदोग्य, केन, मांडुक्य, मुण्डक, ईशावास्य, तैत्तिरीय, जाबालोपनिषद् की वचनों पर भी हमने विचार किया।

इन सबसे हमारे यह ध्यान में आया कि श्रुति जीव तथा आत्मा इन दो तत्त्वों को यदि परस्पर विलक्षण मानते भी हो, इन दो तत्त्व रूप, शिवतत्त्व तथा विष्णु तत्त्व रूप मानते भी हो, तो भी केवलाद्वैत जैसे उसमें भेद न करते जीव तथा आत्मा एक ही है। शिव तत्त्व में विष्णु तत्त्व सुप्त सूक्ष्म रूप से स्थित रहता है तथा विष्णु तत्त्व में शिवतत्त्व सुप्त रूप से स्थित रहता है ऐसा मानने के कारण कभी कभी शिवतत्त्व का वर्णन कर उसे अज, नित्य, सत्य, कहती है तो कभी विष्णु तत्त्व का वर्णन कर उसे भी अज, नित्य, सत्य कहती है। शिव तत्त्व के ज्ञान से अमृतत्त्व प्राप्त होकर हमारे अर्थात् हमारी आत्मा के एकरूप - चतुर्थ पाद-अशब्द, अस्पर्श, निराकार, अव्यय, अरस, अगंधवत, अनंत, महत से परे है ऐसा समझते हैं। तो अपना दूसरा रूप - आत्मा के जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था, दृष्टा, श्रोता, घ्राता, रस लेने वाला विज्ञानात्मा पूर्णपुरुष ही है यह समझ लिया। आत्मा की जागृतादि तीन अवस्था में जीव तत्त्व प्रकट, तुरीय आत्मतत्त्व सुप्त तो तुरीय अवस्था में आत्मतत्त्व प्रकट तथा जीव तत्त्व सुप्त दिखता है। परंतु जीव तथा आत्मा एकरूप से सदैव रहते है। अतः जीव भी आत्मा जैसे एक अखण्ड व्यापक ही रहता है वैसे ही आत्मा के जागृति अवस्था में जैसे जीव रहता है उस समय सर्वत्र जैसे विश्व प्रत्यक्ष लगता है वैसे आत्मा के तुरीय अवस्था में आत्मतत्त्व प्रकट रहता है उस समय सर्वत्र परब्रह्म प्रत्यक्ष लगता है। यही परब्रह्म तथा तुरीय आत्मा में सूक्ष्म भेद है। अतः अंतिम केवल सत्य विश्व, विष्णु, शिवतत्त्व का जिनसे स्वरूपतः अभेद है वह पूर्णपुरुष ही है। यह हमने श्रुति के आधार पर सिद्ध किया है।

परब्रह्म प्रकरण का यह अध्ययन जब एकाध बुद्धिमान अध्येता अपने उद्देश्य के साथ यदि मेल बिठाए तो उसके यह ध्यान में आएगा कि-

१. शुद्ध सत्य अथवा परब्रह्म अर्थात् आत्मा की तुरीय अवस्था अथवा शिवतत्त्व है।

२. तुरीय आत्मपद में सर्वत्र जिसकी एकरूप अनुभूति आती है वह परब्रह्म है। यह आत्मपाद तथा परब्रह्म में सूक्ष्म भेद है।

३. आत्मा की चार अवस्थाओं में से जागृतादि नित्य के तीन, विश्व तथा विष्णुतत्त्व से संबंधित रहते है, तो एक ही तुरीय शिवतत्त्व से संबंधित रहता है।

इस कारण आत्मा की चार अवस्था अथवा पूर्ण 'मैं' पन यह परब्रह्म से बड़ा तथा विशाल है यह सहज सिद्ध होता है, तो परब्रह्म का पूर्ण से जो स्वरूप संबंध है वह ध्यान में आता है।

४. परब्रह्म की अपरोक्षानुभूति आने के लिए सामान्य संसारी मनुष्य अपने आध्यात्मिक 'मैं' को, आध्यात्मिक पक्ष को अपना गुरु मानना चाहिए। अपने आधिदैविक पक्ष को अपना ईश्वर मानना चाहिए। बाद में इन दोनों के सहाय से आधिभौतिक गैं को परब्रह्म ज्ञान की अनुभूति देने का श्रवण, मनन, निदिध्यास द्वारा प्रयत्न करना चाहिए। यह सरल मार्ग हमें समझ में आया।

५. आत्मा का अध्ययन हमने जो प्राज्ञ पद तक करके छोड़ा है उसे श्रुति वचन तथा परब्रह्म ज्ञान से पूर्ण किया।

६. श्रुति जीव तथा आत्मा इन दोनों को एकरूप मानने से उसके लिए ॐ यह एक ही अक्षर प्रयोग करता है तथा वह योग्य है यह हमारे समझ में आया।

७. जीव का बृहद रूप ईश्वर अथवा विष्णु तत्त्व तथा तुरीय आत्मा का बृहद रूप परब्रह्म तथा शिवतत्त्व है तथा दोनों एकरूप है यह जानने से जीव का ईश्वर की सापेक्षता में कर रहे अध्ययन को पूरा किया।

८. विष्णुतत्त्व तथा शिवतत्त्व एक ही वस्तु है और इन दोनों का विश्वतत्त्व से पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध है, यह ध्यान में आने से पूर्णपुरुष - परमेश्वर परब्रह्म से श्रेष्ठ तथा विशाल है तथा परब्रह्म ईश्वर से श्रेष्ठ नहीं है यह समझ में आया।

९. विश्व में दिखने वाली प्रत्येक बात का पूर्णपुरुष से नामरूप के साथ अभेद है, परंतु स्वरूप संबंध से नये सिरे से उसका नूतनीकरण करने में आनंद की प्राप्ति होने का कारण प्रत्येक जीव को हम इन सबसे अलग है ऐसी अनुभूति ईश्वर ने निसर्गतः दी है इसे हमने जाना। वह यदि न दी होती तो इस अभेद का ज्ञान हमें आधिभौतिकादि

भिन्न भिन्न स्तर पर लेने नहीं आता, तथा उससे मिलने वाला आनंद अलग से भोगने नहीं आता।

१०. श्रुति जीव तथा आत्मा को एक ही मानने के कारण उसके वर्णन में एकवाक्यता होकर भी उसके विष्णु तथा शिवतत्त्व भेद के कारण वह लगती नहीं यह हमारी समझ में आया।

११. इस प्रकार के सभी ज्ञान से हमें परब्रह्म तथा उसके परे के पूर्णपुरुष का ज्ञान होकर परब्रह्म ज्ञान का उपयोग जीवन में अमृतत्त्व के लिए कैसा करें यह ध्यान में आया।

इस परब्रह्म प्रकरण के अध्ययन से यह समझ में आया कि, मानवी ज्ञान की कक्षा परब्रह्म तक ही समाप्त नहीं होती, वह अगले पूर्णपुरुष की दिशा में अग्रसर होती है। उदाहरण अपने यह ध्यान में आया है कि प्रत्येक बात के हृदय स्थान में जीव आत्मा रूप है (अर्थात् पूर्णपुरुष) एक सत्य है तथा वह पूर्ण है। हमने आम्रफल लिया तो उसके अंदर हृदय स्थान में सापेक्षतया नश्वर दिखने वाले न सड़ने वाली कोयरी रहती है। वह आसानी से नहीं फूंटी जाती, लेकिन धीरे से थोड़ा बल देने पर उसके अन्दर बादाम मिलता है। परंतु वह मोटी कोयरी तथा अन्दर का बादाम निसर्गतः एकरूप जीव-आत्मा रूप रहते है। वह कोयरी न फोड़ते हुए बोने पर उग निकलती है लेकिन अन्दर का बादाम बोने पर तथा ऊपरी मोटी कोयरी मात्र उगाने पर नहीं निकलती। अन्दर का बादाम निर्विकार भले ही लगे फिर भी वह कोयरी को अंकुरित करने के लिए मदद करता है। यही बात अणु (Atom) तथा न्युक्लिअर (Nucleus) की भी है।

इस पूर्णपुरुष अथवा पूर्ण के ज्ञान से अथवा बोध से जीवन साया स्वरूप रहते हुए मनुष्य को अनायास - बिना कोई प्रयास जीने की इच्छा कैसे होती है इस पर प्रकाश पड़ता है। मानवी जीवन का बहुत हिस्सा साया स्वरूप होने पर भी उसमें अनायास यह विषय उपस्थित रहता ही है। इसका अध्ययन पूर्ण के बोध से संभव है। वैसे वह परब्रह्म ज्ञान से संभव नहीं बनता। सारांश, जीवन के संपूर्ण ज्ञान के लिए मन जैसे जीने के लिए मात्र जीव का, जगत् का, आत्मा का, परब्रह्म का, अमरत्व का ज्ञान पर्याप्त नहीं है, तो पूर्णपुरुष का ज्ञान आवश्यक है।

* * * * * *

परिशिष्ट – १

परब्रह्म प्रकरण में उपनिषद् वचनों की सूची

कठोपनिषद्

अ. क्र.	पूर्णवाद ग्रंथ पृ.	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्र.
१.	१५०	तं दुर्दश गूढम्	अध्याय १ वल्ली २ मंत्र १३	३
२.	१५१	न जायते म्रियते वा	अध्याय १ वल्ली २ मंत्र १८	४
३.	१५२	हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं	अध्याय १ वल्ली २ मंत्र १९	५
४.	१६२	अंगुष्ठ मात्र पुरुषो	अध्याय २ वल्ली ३ मंत्र १७	१८
५.	१६४	अशब्दं अस्पर्शम्	अध्याय १ वल्ली ३ मंत्र १५	१९
६.	१६५	न संदृशे तिष्ठति	अध्याय २ वल्ली ३ मंत्र ९	२०
७.	१७१	आत्मानं रथिनं विद्धि	अध्याय १ वल्ली ३ मंत्र ३	३१
८.	१७१	अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मा	अध्याय १ वल्ली ३ मंत्र १४	३२
९.	१७२	अशरीरम् शरीरेष्वनवस्थेष्व	अध्याय १ वल्ली २ मंत्र २२	३३
१०.	१७२	नायामात्मा प्रवचनेन लभ्यो	अध्याय १ वल्ली २ मंत्र २३	३४
११.	१७३	अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो	अध्याय २ वल्ली १ मंत्र १२	३६
१२.	१७४	अंगुष्ठ मात्र पुरुषो ज्योति	अध्याय २ वल्ली १ मंत्र १३	३७
१३.	१७४	यथोदकं दूर्गे दृष्टं	अध्याय २ वल्ली १ मंत्र १३	३८
१४.	१७४	अग्निर्यथैकोभुवनप्रविष्टो	अध्याय २ वल्ली २ मंत्र ९	३९
१५.	१७५	वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो	अध्याय २ वल्ली २ मंत्र १०	४०

१६.	१७६	य एष सुप्तेषु जागर्ति	अध्याय २ वल्ली २ मंत्र ८	४१
१७.	१७८	अणोरणीयान्महतो	अध्याय १ वल्ली २ मंत्र २०	४५
१८.	१७९	यइमंमध्वदं वेद आत्मानम्	अध्याय २ वल्ली १ मंत्र ५	४६

श्वेताश्वतरपनिषद्

अ. क्र.	पूर्णवाद ग्रंथ पृ.	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्र.
१.	१५४	निष्कलं निष्क्रीयं शान्त	अध्याय ६ मंत्र १९	८
२.	१५५	एको देवः सर्वभूतेषु गूढः	अध्याय ६ मंत्र ११	९
३.	१५६	यदातमस्तन्न दिवा न	अध्याय ४ मंत्र १८	१०
४.	१५७	घृतात्परं मण्डभिवातिसूक्ष्मम्	अध्याय ४ मंत्र १६	११
५.	१५७	सूक्ष्माति सूक्ष्मं कलिलस्य	अध्याय ४ मंत्र १४	१२
६.	१५८	सर्वानन शिरोग्रीवः	अध्याय ३ मंत्र ११	१३
७.	१५९	यदात्यतत्वेन तु ब्रह्मतत्त्वम्	अध्याय २ मंत्र १५	१४
८.	१६७	वलाग्रशतभागस्यशतधा	अध्याय ५ मंत्र ९	२४
९.	१६७	अंगुष्ठमात्रोरवितुल्य रूपः	अध्याय ५ मंत्र ८	२३
१०.	१६७	नैव स्त्री न पुमानेष न	अध्याय ५ मंत्र १०	२५
११.	१६८	संकल्पनस्पर्शनदृष्टि	अध्याय ५ मंत्र ११	२६

केनोपनिषद्

अ. क्र.	पूर्णवाद ग्रंथ पृ.	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्र
१.	१४८	न तंत्र चक्षुर्गच्छति	खण्ड १ मंत्र ३	१
२.	१४९	यदि मन्यसे सुवेदेति	खण्ड २ मंत्र १	२
३.	१७०	प्रतिबोध विदितं मतममृतत्त्वम्	खण्ड २ मंत्र ४	३७
४.	१७३	यन्मनसा न मनुते	खण्ड १ मंत्र ५	३५

प्रश्नोपनिषद्

अ. क्र.	पूर्णवाद ग्रंथ पृ.	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्र.
१.	१६१	तिस्त्र मात्रा मृत्युमत्यः	अध्याय ५ मंत्र ६	१६
२.	१६१	एष हि द्रष्टा स्पर्ष्टा श्रोता	अध्याय ४ मंत्र ९	१७

मांडुक्यउपनिषद्

अ. क्र.	पूर्णवाद ग्रंथ पृ.	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्र.
१.	१५३	अमात्रश्चतुर्थोत्व्यवहार्यः	मंत्र १२	७
२.	१५९	नान्त प्रज्ञः न बहिष्प्रज्ञं	मंत्र ७	१५

मुंडकउपनिषद्

अ. क्र.	पूर्णवाद ग्रंथ पृ.	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्र.
१.	१७६	तदेत त्सत्यं यथा	मुंडक २ खण्ड १ मंत्र ५	४२
२.	१७७	न चक्षुषा गुह्यते	मुंडक ३ खण्ड १ मंत्र ८	४३

ईशावास्योपनिषद्

अ. क्र.	पूर्णवाद ग्रंथ पृ.	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्र.
१.	१६९	अनेजदेकं मनसो जवीयो	मंत्र ४	२८
२.	१७०	यस्मिन्सर्वाणि भूतान्या	मंत्र ७	२९

छांदोग्यपनिषद्

अ. क्र.	पूर्णवाद ग्रंथ पृ.	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्र.
१.	१६६	जीवापेतं वावकिलेंद प्रियते	अध्याय ६ खण्ड ११ मंत्र ३	२१
२.	१६६	अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य	अध्याय ६ खण्ड ११ मंत्र ५	२२
३.	१६८	तं होवाच यं वै सोम्यैतमणि	अध्याय ६ खण्ड १२ मंत्र २	२७

जाबालोपनिषद्

अ. क्र.	पूर्णवाद ग्रंथ पृ.	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्र.
१.	१५२	अत्र हि जन्तो प्राणेषुत्क्रममा	जाबालोपनिषद्	६

तैत्तिरीयपनिषद्

अ. क्र.	पूर्णवाद ग्रंथ पृ.	वचन	उपनिषद् में स्थान	क्र.
१.	१७८	यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य	वल्ली २, ब्रह्मानंद वल्ली अनुवाक ९ मंत्र १	४४

* * * * * *
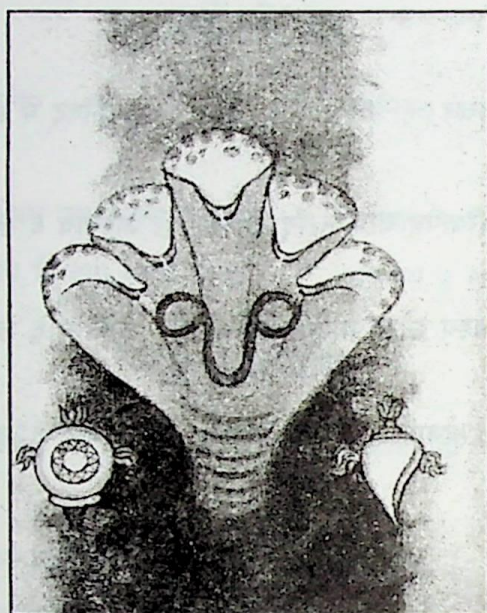
षष्ठम् अध्याय

वैष्णव

वैष्णव पूर्ण का विष्णु स्वरूप, आधिदैविक 'शेष' जो शेष रहा है वह। वही वह 'पूर्ण' उसे विष्णु भी कहते हैं। परमेश्वर का आधिदैविक स्वरूप जो इस अथाह ऐसे क्षीर सागर में वास करता है। इस चित्र में उसका जो सामान्य तौर पर दिखाई देने वाला उसे न दिखाते वह सांकेतिक रूप में शंख तथा चक्र बताकर बनाया है, उसका यह जो शेष के साथ पूर्णरूप बताया है। पूर्णवाद में पानी को जीवन कहा जाता है। ऐसे जीवन स्वरूप क्षीर सागर में रहकर गति देने का जो नित्य कार्य करता है वह 'विष्णु' है।

६.

वैष्णव

अब इस छठे प्रकरण में हमें १. रामानुजाचार्य (विशिष्टाद्वैति), २. मध्वाचार्य अथवा पूर्णप्रज्ञ (द्वैती), ३. वल्लभाचार्य (शुद्धाद्वैति-पुष्टिमार्गी), ४. द्वैताद्वैति निम्बार्काचार्य, ५. जीवगोस्वामी (अचिन्त्यभेदाभेदी) आदि वैष्णवाचार्यों के दर्शन पर विचार करना है। श्री शंकराचार्य का केवलाद्वैतवाद तथा वैष्णवाचार्य के दर्शन में जो मुख्य भेद है वह इस प्रकार है –

केवलाद्वैति नित्यत्व पर (अर्थात् एकतव के साथ नित्यत्व पर) बल देकर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ऐसे परब्रह्म को ही केवल सत्य मानकर-अर्थात् उसे ही केवलत्त्व देकर, जीव, जगत्, जगदीश्वर को मिथ्या अथवा माया तथा अज्ञान का कार्य मानते हैं। तो वैष्णवादि आचार्य नित्यत्व की अपेक्षा सत्यत्व पर बल देकर जीव, जगत्, ईश्वर इन तीनों को सत्य मानते है। यह दोनों भी अपना अपना कहना सिद्ध करने के लिए श्रुति का ही अर्थात् वेद तथा उपनिषद् वचनों का आधार लेते हैं। इसलिए ही श्रुति के सामान्य अध्येता के मन में असमंजस की स्थिति निर्माण होती है और वेद तथा श्रुति के बारे में सामान्य तौर पर मत दूषित होने की संभावना बनती है। परंतु हमने पिछले प्रकरण में श्रुति आत्मा यह चार अवस्थाओं से युक्त है तथा वास्तव में नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा अमृत रहता है ऐसा प्रतिपादन करती है। यह हमने देखा है।

इसके अतिरिक्त श्रुति जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से युक्त ऐसे देहाभिमानी आत्मा को भी जीव ऐसा संबोधित करती है, तो तुरीय ऐसी चौथी अवस्था से युक्त ऐसे आत्मा को शिवतत्त्व, साक्षी आत्मा अथवा परब्रह्म अर्थात् इस आत्मा के चारों अवस्थाएँ नित्य होने से किसी भी अवस्था का कभी भी और कहीं भी अभाव नहीं रहता। एक अवस्था प्रकट होने पर अन्य तीन सुप्त रहती है, परंतु किसी भी अवस्था का संपूर्ण अभाव कभी भी तथा कहीं भी नहीं रहता। वैसे ही जीव वास्तव में अनेक न होकर

एक ही है तथा श्रुति इस अखण्ड सर्वव्यापी एकमात्र जीव को विष्णुतत्त्व अथवा ईश्वर कहती है।

अतः जीव भाव से युक्त ऐसे सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान कर्माध्यक्ष, अज, एक, अमृत, कर्ता, शास्ता, ईश्वर-इस श्रुतिप्रणित श्रुतिमान्य ईश्वर तत्त्व पर ही अथवा विष्णुतत्त्व पर ही - वैष्णवी दर्शन तथा वैष्णव संप्रदाय की नीव है। इन सभी सांप्रदायी दर्शन का मुख्य हेतु अभेद सिद्धि की अपेक्षा जीव, जगत्, ईश्वर यह तीनों बातें सत्य है इसी पर है। सारांश, केवल अद्वैति दर्शन का रुख जैसे नित्यत्त्व पर अर्थात् एकत्त्व के साथ नित्यत्त्व पर तथा अभेद सिद्धि पर है वैसे वैष्णव दर्शन का बल सत्यत्व पर तथा ईश्वर सेवा पर है।

केवलाद्वैतवादी शांकरदर्शन में जैसे १. मायावाद, २. अजातवाद, ३. बिंबप्रतिबिंब वाद, ४. आभासवाद, ५. अवच्छेदवाद आदि नानावाद तथा प्रक्रिया है, वैसे ही वैष्णव दर्शन में १. विशिष्टाद्वैत, २. द्वैत, ३. शुद्धाद्वैत, ४. द्वैताद्वैत, ५. अचिंत्य भेदाभेद आदि अनेकवाद तथा संप्रदाय है। परंतु केवलाद्वैति दर्शन के सभी वाद तथा प्रक्रियाओं का परब्रह्म के स्वरूप संबंध में जैसे मतैक्य है, वैसे ही वैष्णव संप्रदाय के सभी तथा वैष्णवी संप्रदाय के ईश्वर के स्वरूप संबंध में मतैक्य है। यह जो अनेक प्रकार के वाद दोनों जगह दिखाई देते हैं, वह भिन्न भिन्न प्रक्रियाओं के कारण निर्माण हुए है इसमें कोई शंका नहीं है।

''ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या'' यह सिद्धांत प्रस्थापित करने वाले आद्य शंकराचार्य के बाद लगभग ढ़ाई सौ वर्ष बाद विशिष्टद्वैतवादी रामानुजाचार्य का चेनै (मद्रास) के पास पेरुम्बुमूर में जन्म हुआ। उनकी पूर्ण आयु लगभग १२० वर्ष की थी ऐसा कहा जाता है। शंकराचार्य के बाद तीन-चार सौ वर्ष बाद मध्वाचार्य तथा लगभग सात सौ वर्ष बाद वल्लभाचार्य हुए ऐसी जनधारणा है। अतः रामानुजाचार्य ने ही शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन का सर्वप्रथम खंडन किया तथा स्वमतमंडन का अर्थात् अपना अलग विशिष्टाद्वैति मत स्थापना करने का प्रयत्न किया। शंकराचार्य यह जैसे शंकर के अवतार माने जाते हैं, वैसे ही रामानुज शेष तथा लक्ष्मण का अवतार थे ऐसा कहा जाता है। उदाहरण-

अनन्तः प्रथमं रूपं, लक्ष्मणश्च ततः परम्।
बलभद्र तृतीयस्तु कलौ कश्चिद् भविष्यति।।

(यादवगिरी महात्म्य) श्लोक में 'कश्चिद' शब्द से दर्शाये गये रामानुजाचार्य यह ऐसा कहते हैं। उसी प्रकार रामानुजाचार्य के पृथ्वी पर आगमन के संदर्भ में शंकराचार्य जैसे ही देवों ने हरित ऋषि को पहले से ही बताकर रखा था, ऐसा कहा जाता है।

उदाहरण-

मदंशो यो महावीर्यं शेषाख्यो धरणीधरः।
जगतामुपकार तव वंशे भविष्यति।।

(भूतपुरी महात्म्य) रामानुजाचार्य का दर्शन संस्कृत कवि ने एक जगह श्लोक में संक्षेप से बताया है। वह श्लोक इस प्रकार है - ''नित्यं हे सगुणवधूनन परा नैर्गुण्यवादाः श्रुतौ'' आदि। इसका अर्थ परिशिष्ट में दिया है तथा उसमें बताये दर्शन को ही विशिष्टाद्वैत ऐसे कहा जाता है।

परंतु शंकराचार्य ने १. उपनिषदे, २. ब्रह्मसूत्रे, ३. भगवद्गीता इन तीनों ग्रंथों पर अर्थात् प्रस्थानत्रयी पर अपना भाष्य लिखकर मायावाद का प्रचार किया है। इसलिए ही रामानुजाचार्य को भी अपने 'विशिष्टाद्वैत' का प्रचार करने के लिए इन्हीं तीन ग्रंथों पर अपने भाष्य लिखने पड़े। शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर जब अपने भाष्य लिखे उस समय उनके सामने, १. माध्यमिक बुद्ध का शून्यवाद, २. योगाचार बुद्ध का स्वलक्षण क्षणिक बुद्धि विज्ञानात्मवाद, ३. सौतांत्रिक बुद्ध का दुःख विज्ञानात्मवाद था और उन्हें इन तीनों का खंडन करना था। वैसे ही मंडनमिश्रादि जैसे कर्मकांडी दर्शन का उच्छेद कर ज्ञानमार्ग की स्थापना करनी थी, अतः आचार्य ने इन तीन ग्रंथों के भाष्य से जो मायावाद दर्शन स्थापित किया, उस दर्शन का तथा मानवी जीवन के नित्य व्यवहार का कुछ भी संबंध नहीं रहा। अतः लौकिक व्यवहार तथा दर्शन यह दो बातें परस्पर पूरक बनकर ही जिस प्रकार वैदिक धर्म की दार्शनिक परंपरा जैसे निरंतर रहनी चाहिए वैसे वह नहीं रह सकी।

उल्टे, मायावाद ने मानवी जीवन की इति कर्तव्यता मोक्ष (जीवन से कायम छूटकारा) बतायी, इतना ही नहीं, तो जीवन यशस्वी रीति से जीने के लिए जो जीवनाभि निवेश चाहिए, वह भी- जीवनदशा यह अविद्या का बंध है- आदि विचारों से नष्ट किया। अतः जीवन व्यवहार के संबंध में उदास वृत्ति ही भारतीय समाज में जड़ पकड़ बैठी। ''जीवेत शरदः शतम्'' 'मैं सौ साल जिउंगा', 'पश्चेम शरदः शतम्' मैं सौ साल देखूंगा आदि जीवनाभि निवेश से परिपूर्ण ऐसे श्रुति वचनों को व्यर्थवाद तथा गौणत्व प्राप्त हुआ। अतः 'हुई मेरी संध्या गया मेरा संदेह' आदि विचारों का परिणाम सामाजिक तथा धार्मिक आचार पर होकर, आचार की शिथिलता समाज में बढ़ गयी।

मायावाद दर्शन से बौद्ध धर्मीय दर्शन का पूर्ण खंडन होकर उस धर्म का सच्चा एक भी अनुयायी आज हिंदुस्तान में दिखाई नहीं देता, इसका पूर्ण श्रेय जैसे शंकराचार्य को ही जाता है वैसे ही वैदिक धर्म के आचार विचार के मंडन का श्रेय उन्हें तथा उनके दर्शन

को नहीं दिया जा सकता यह भी एक महान् सत्य है। परंतु इसका बोध बहुत कम लोगों को हैं। कारण वैदिक धर्म तथा दर्शन - ज्ञान-कर्म उपासना ऐसे त्रिकांडात्मक है, तो आचार्य का दर्शन मात्र ज्ञानकांडात्मक है।

ऐसा होने पर भी शंकराचार्य के मठों में चलने वाली 'शारदाअंबा' की सगुण उपासना तथा शंकराचार्य द्वारा रूढ़ पंचायतन पूजा- विशेषतः विष्णु पंचायतन पूजा आदि बातों से तथा उनके द्वारा प्रचारित अन्य वर्णाश्रमादि आचारधर्म से शंकराचार्य को उनके एकांगी 'ज्ञानकांडात्मक दर्शन' के त्रुटियों की पूर्ण कल्पना थी ऐसा दिखाई देता है। अतः उन्होंने निर्माण किया हुआ मायावाद यह हेतु पुरस्सर उन्हें उनके सामने जो कार्य था उसके अनुकूल निर्माण करना आवश्यक लगा, ऐसा अनुमान करना गलत न होगा। नहीं तो दार्शनिक दृष्टि से मात्र विचार करना है तो मायावाद के कारण ही अजातवाद जैसे अति प्रसंग अथवा एक सिरे का दर्शन हुआ यह स्पष्ट है। वहां उन्होंने बताये आचार धर्म के परिणाम का कहीं आता पता ही नहीं दिखाई देता।

शंकराचार्य के दर्शन की यह खामी (त्रुटि) दूर करने का काम वैष्णवाचार्यों ने किया है। उससे दर्शन तथा व्यवहार में जो असंतुलन निर्माण हुआ था उसे पूरा किया गया। आज भारत भर में जो रामकृष्णादि के जो मंदिर दिखाई देते हैं, जिसके कारण घर घर में मूर्तिपूजा का आचार-विचार - जो वैदिक धर्म का महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य आज भी यंत्रयुग-अणु युग में जीवित है तथा प्रचलित है, इसका सही श्रेय शंकराचार्य के मायावादी अद्वैति दर्शन को न होकर वैष्णवाचार्य प्रणित विशिष्टाद्वैति दर्शन को है यह स्पष्ट है। परंतु ऐतिहासिक घटनाओं के कारण जैसे शंकराचार्य का कार्य ठोस है वैसे वैष्णवाचार्य का नहीं है। यह मात्र कालमहिमा है।

परंतु वैष्णवाचार्यों ने दर्शन की दृष्टि से वैदिक दर्शन का जो सार्थक समर्थन किया वह निश्चित ही समय की मांग थी। अन्यथा जिस आचार धर्म को वैचारिक पृष्ठभूमि नहीं रहती, वह आचार धर्म अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता न पुख्ता बनता। अतः वैदिक आचार को विचारों का समर्थन देकर वैदिक संस्कृति में नव चैतन्य देने का महत्त्वपूर्ण कार्य वैष्णवाचार्यों ने किया है। यह काम कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं था, तो यही काम मुख्य काम था। इस ऐतिहासिक कार्य को कैसे नकारा जा सकता है? वास्तव में बौद्ध धर्म का खंडन करने का आधा काम यद्यपि शंकराचार्य ने किया हो, तो भी वैदिक धर्म की पुर्नस्थापना करने का महत्त्वपूर्ण कार्य वैष्णवाचार्यों ने किया इसमें कोई शंका नहीं है।

शंकराचार्य के बाद आये हुए पहले वैष्णवाचार्य रामानुजाचार्य ही थे, जिन्हें

शंकराचार्य द्वारा मंडित तथा श्रुतिप्रणित अद्वैतसिद्धान्त यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से मान्य था, फिर भी 'जगन्मिथ्या' – जग मिथ्या है यह सिद्धान्त बिल्कुल मान्य नहीं था। श्री शंकराचार्य ने अद्वैत के लिए श्रुति को प्रमाण मान लिया, परंतु उनके अद्वैत दर्शन के विरोधी श्रुति वचनों को गौणत्व दिया। इतना ही नहीं तो कुछ समय श्रुतिप्रामाण्य अलग रखकर अपना मत प्रतिपादित किया। अतः शंकराचार्य के इस अतार्किक वृत्ति का सात्विक संताप (संत्रास) रामानुजाचार्य को हुआ था उसे उन्होंने अपने ग्रंथों में बार बार प्रकट किया। रामानुजाचार्य का कहना है कि यदि वेद को ही प्रमाण मानना है तो उसके प्रत्येक वचन तथा अक्षर न अक्षर प्रमाण मानना आवश्यक बनता है। अपने काम का तथा मतलब का श्रुति प्रामाण्य मानकर अन्यथा उसे अस्वीकार कर देना कभी भी उचित तथा समर्थनीय नहीं लगता। इससे अच्छा होता यदि वह तर्क को ही प्रमाण देकर, स्वतंत्रता से अपना मत रखते।

रामानुज ने जीव, जगत् तथा जगदीश्वर को सत्य मानने वाले श्रुति वचन देकर यह संपूर्ण विश्व जैसे शरीरभूत है इसलिए वह सत्य है, ऐसा सिद्ध किया। विष्णु तत्त्व को ही वह ईश्वर कहते है तथा विष्णुतत्त्व क्या है यह हमने अबतक जाना है। विश्व का अखण्ड सामान्य एकजीव ही विष्णुरूप ईश्वर है। अतः चितजीव तथा अचित जड़ जगत् को भी ईश्वर का शरीर मानने के कारण उसे उसके विशिष्ट देह का अभिमान है तथा उस कारण ही विश्व में जीव का नानात्व संभव है तथा दिखता है, जैसे मानवी शरीर में अवयव का नानात्त्व दिखता है। अतः अपने इस प्रक्रिया से मायावाद ने जीव, जड़ को दिया हुआ मिथ्यात्व सप्रमाण खंडन किया तथा सबकुछ एक ईश्वर ही है ऐसा रामानुज ने अद्वैत (अर्थात् ईश्वर का अद्वैत–परब्रह्म का नहीं) सिद्ध किया इसलिए उसे विशिष्टाद्वैत ऐसा कहते है। इस विशिष्ट शब्द का और अर्थ आगे देखने वाले है। चित् यह ईश्वर का श्रेष्ठ तथा अचित तथा जड़ यह गौण रूप है ऐसा वह कहते हैं!

''एकस्मिन विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञात् भवति'' यह एक जानने पर सब कुछ जाना जाता है– यह उपनिषद् वचन मुख्य प्रमाण मानकर ही रामानुज अपनी प्रक्रिया कैसे योग्य है यह सिद्ध करते हैं। एक ईश्वर को जानने पर सब कुछ जान गये यह श्रुति वचन तभी यथार्थ होता है जब सभी दृश्य, अदृश्य, व्यक्त, अव्यक्त जग यह ईश्वर का शरीरभूत है। नहीं तो मिट्टी से घड़ा बनाने वाले निमित्त कारण कुम्हार को देखकर जैसे घड़े के आकारादि का ज्ञान होना संभव नहीं, वैसे ईश्वर जगत् से अलग रहने पर उसे देखकर जगत् का ज्ञान संभव नहीं होगा। परंतु एकाध मनुष्य को देवदत्त से मिलने पर उसके देह से वह उसका मन, बुद्धि, आत्मा को जिस प्रकार मिलने से जानने जैसा होता है, वैसे ईश्वर से मिलने पर उसके जगरूपी सब देह का तथा उसके अव्यक्त बातों का

भ्रम ज्ञान संभव होता है अर्थात् ईश्वर को जानने पर सब जाना जाता है इसका ही अर्थ जग ईश्वर का शरीरभूत है यह सिद्ध है।

श्री रामानुजाचार्य का श्रीहरी अथवा ईश्वर ही श्रुतिप्रणित विष्णुतत्त्व नित्य, असंख्य गुणवान तथा मंगल ऐसा है। परंतु जब तक ''श्रुतिप्रणित आत्मा तथा जीव ही वास्तविक एक ही वस्तु है तथा जीव जिस समय अपने चतुर्थ अवस्था में अर्थात् तूर्या में रहता है, उस समय उसे साक्षी, आत्मा तथा परब्रह्म कहते है'' यह पूर्णवाद ने स्पष्ट खोलकर जब तक नहीं बताया था, तब तक यह श्रुतिप्रणित सत्य मनुष्य के ठीक से ध्यान में नहीं आता, तथा उसे एक अखण्ड नित्य जीव की अथवा ईश्वर की कल्पना नहीं आती। वैसे ही नित्य ऐसे एकजीव की अथवा जीवात्मा की मनुष्य को जब तक संपूर्ण कल्पना नहीं आती, तब तक उसमें मायावाद के अनेक वर्षों के संस्कार के कारण, जाने अनजाने ईश्वर विषयक हुआ विपरीत ग्रह दूर नहीं होता। ऐसा होने के कारण किसी भी चिंतनशील मनुष्य को वैष्णव दर्शन में कोई रूचि नहीं रहती। जीव तथा आत्मा की स्वरूपतः अभेद सिद्धि यह पूर्णवाद दर्शन की एक महान विशेषता है तथा वह केवलाद्वैति तथा वैष्णव दोनों को अनुकूल तथा पूरक तो है ही, लेकिन वेद जैसे त्रिकांडात्मक भी है।

केवल सत्य मात्र परब्रह्म ही है तथा उसकी शक्ति अज्ञान रूप माया है तथा उससे ईश्वर उत्पन्न होता है ऐसा अपना पक्का ग्रह प्रथम जाने अनजाने कर लेने से फिर वैष्णव दर्शन की ओर मुड़ने पर उसका यथार्थत्व हमें समझना कठिन है। अतः केवलाद्वैति दर्शन की अपेक्षा वैष्णव दर्शन अधिक निरर्थक तथा अर्थहीन लगने लगता है। परंतु यथार्थ वैसा न होकर वह बिल्कुल अलग है।

सारांश, रामानुजाचार्यादि सभी वैष्णव आचार्यों ने वास्तव में केवलाद्वैत ने शुरु किए भारतीय वैदिक दर्शन की निरंतर प्रगति ही की है। परंतु इसका सार्वत्रिक बोध उत्पन्न होकर उसका जिस ढंग से प्रकाश पड़ना चाहिए वह न पड़ने के पीछे मायावाद के कर्म मनुष्य का ईश्वर विषयक हुआ पूर्वग्रह है। परंतु यह अड़चण पूर्णवाद दर्शन से संपूर्णतया दूर होती है। मात्र यहां एक बात ध्यान में लेना जरुरी है वह यह कि, केवलाद्वैति दर्शन वैदिक दर्शन के आध्यात्मिक के अन्तर्गत आता है, तो वैष्णव दर्शन प्रमुखतया आधिदैविक के अन्तर्गत आता है, तथा वर्तमान पदार्थ विज्ञान शास्त्र (मॉडर्न सायन्सेस) आधिभौतिक के अन्तर्गत आता है। वास्तव में वैदिक दर्शन के अन्तर्गत इन तीनों की श्रृंखला १. जीव व्यवहारार्थ ज्ञान, २. उपासना, ३. कर्म इस साधन त्रयी द्वारा गठित की है तथा दर्शन को व्यावहारिक मूर्त स्वरूप दिया है, यह बात अध्येता ध्यान में रखें।

बीच में यह श्रृंखला संक्रमण काल के कारण अस्तव्यस्त तथा खंडित हुई अतः कभी मात्र ज्ञान, कभी मात्र उपासना, तो वर्तमान में दिखने वाले मात्र कर्म, इन सभी पर समाज का अटूट विश्वास निर्माण होता गया तथा मानवी जीवन एकांगी होता गया। इसका ही फलित वर्तमान भीषण समय है। आज संपूर्ण विश्व का मात्र और मात्र कर्म पर ही अटूट विश्वास दिखाई देता है। जो वास्तव में बड़ी भारी भूल है। अतः पूर्णवाद ने मानवी जीवन फिर वैदिक समय जैसे सर्वांगिण होकर जग में सुखचैन की बयार फिर से बह सकती है, ऐसी आशा करने का पर्याप्त आधार निर्माण किया। वैसा समय वास्तव में आये यही उस पूर्णपुरुष से प्रार्थना है।

यहां पाठक को विषयांतर हुआ ऐसा लगने की संभावना है। परंतु वैसे नहीं हुआ। पारंपरिक अन्य सभी दर्शन से पूर्णवाद का कैसे मेल बैठता है, इतना ही नहीं तो पूर्णवाद के कारण अर्थहीन, न जाँचने वाले दर्शन को कैसे अलग अर्थ तथा प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, यह ठीक से समझने के हेतु से ही उपरोक्त प्रतिपादन किया है। पूर्णपुरुष तक पहुंचने के लिए दर्शन एक सीढ़ी है, ऐसी कल्पना करने पर प्राचीन सभी वेद अथवा दर्शन उसकी एक एक सीढ़ी है तथा पूर्णवाद यह उसका आखिरी पायदान है यह बात यहां अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। श्रुति, वेद, उपनिषद् यह तो पूर्णपुरुष की वाङ्मयीन शब्द रूप मूर्ति ही है, अतः इसमें कोई शंका नहीं है।

वेदों में द्वैत तथा अद्वैत दोनों ही को प्रतिपादित करने वाले अनेक वचन है, परंतु इसलिए श्री रामानुजाचार्य आधुनिक विद्वानों जैसे वेदों में अनेकवाद तथा मत है ऐसे कहते नहीं दिखते। वह वेदों को अपौरुषेय, पूज्य तथा अलौकिक मानते है। वेदों में नाना वाद है, नाना मत है ऐसा कहने पर उसका महत्त्व ही चला जाता है। रामानुजाचार्य के मत से वेदों में नाना वाद तथा ब्रह्म का (परब्रह्म) तत्त्वतः अभेद मान्य है (जीवो ब्रह्मैव नापरः) वैसे ही रामानुजाचार्य को जीव तथा ईश्वर का तत्वतः अभेद मान्य है। परंतु उसके लिए शंकराचार्य जैसे वह मात्र ज्ञान को ही साधन नहीं मानते, तो रामानुजाचार्य का बल ध्यान धारणादि नवविधा भक्ति पर ही है। केवल ज्ञान उनके दृष्टि से अज्ञान का ही कारण बनता है।

इसका कारण शंकराचार्य अभेद ज्ञान को ही ज्ञान कहते है, वैसे रामानुजाचार्य नहीं कहते। अभेद तथा भेद दोनों ज्ञान को रामानुजाचार्य ज्ञान ही मानते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर तथा जीव यह तत्त्वः भले ही एक हो फिर भी ईश्वर यह कर्तुम, अकर्तुम, अन्यथा कर्तुम विभु तथा स्वतंत्र है। वैसे जीव स्वतंत्र नहीं है। अतः इन दोनों में इतना फर्क होते हुए प्रत्यक्ष अनुमान तथा श्रुति (शब्द) इन तीन प्रमाणों से जीव तथा ईश्वर का

भेद सिद्ध रहते मात्र अभेद ही ग्रहण करना अनिष्ट है। अतः जीव अपनी परतंत्रता समझकर, अपने मन जैसे होने के लिए उस सर्व शक्तिमान परमेश्वर का दास्य स्वीकार करे तथा भक्ति भाव से अथवा नवविधा भक्ति मार्ग से ईश्वर को सेवा करें यही श्रेयस्कर है। जीव यह १. अन्नमय, २. प्राणमय, ३. मनोमय, ४. विज्ञानमय, ५. आनंदमय ऐसा पंचकोषात्मक है, तथा श्रुति आनन्द ब्रह्म ऐसा ईश्वर है, ऐसा कहती है।

"यो हि पृथिव्यां तिष्ठन, पृथिवीमन्तराय मयति, यं पृथिवी न वेद" अर्थात् जो पृथ्वी में स्थित है, पृथ्वी के वातावरण को व्याप्त है, परंतु जीव जिन्हें जानता नहीं इस श्रुति वचन में सभी पदार्थों में अन्तर्यामी एक परमेश्वर ही है, परंतु जीव उसे पहचानता नहीं ऐसा श्रुति में जीव का तथा ईश्वर का स्पष्ट भेद प्रतिपादित है। इस प्रकार से "जीवौ ब्रह्मैव नापरः" - जीव ब्रह्म ही है तथा दूसरा कुछ नहीं - इस वचन से अभेद ही प्रतिपादित हैं।

यह दोनों सिद्धान्त योग्य होने से इन दोनों का आश्रय कर रामानुजाचार्य अपने को विशिष्टाद्वैति कहलाते हैं। विशिष्टाद्वैति कहलाने का अर्थ ही यह है कि, रामानुजाचार्य को जीव तथा ईश्वर का प्रसंगोपात भेद तथा प्रसंगोपात अभेद मान्य है। उसकी और एक वैशिष्टता यह है कि वह १. बद्ध, २. मुक्त तथा, ३. नित्य ऐसे जीव के ही तीन प्रकार मानते हैं, "आब्राह्मस्तंब पर्यंतं" १. जो लौकिक सुखदुख में पड़ते है वह बद्ध जीव है। २. ईश्वरोपासना कर जो परमेश्वर के कृपा प्रसाद से वैकुंठ में वास करते है, वह मुक्त जीव है। ३. अनंत, गरुड, विष्वकसेन आदि नित्य जीव है।

इन सबका विचार करते हुए, हमारे यह समझ में आएगा कि, केवलाद्वैति यद्यपि जीव तथा ब्रह्म का सिद्धाततः अभेद बताते हैं तो भी जीव को अविद्योपाधित मानकर जैसे जीव का तथा ब्रह्म का जीव के नित्य अनुभव में आने वाला भेद प्रतिपादन करते हैं। वैसे ही वैष्णवाचार्य जीव का तथा ईश्वर का तत्त्वतः अभेद बताकर, ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, विभु तथा आनंदमय, तो जीव अल्पज्ञ, परतंत्र, सुखदुख भोगने वाला है ऐसा कहकर उनका भेद प्रतिपादित करते हैं। दोनो वस्तुतः अभेद मान्य करते है, परंतु प्रत्यक्ष अनुभूति में भेद है यह मान्य करते हैं। उसमें भी यह भेद जीव में वस्तुतः अभेद रहते - कैसे और क्यों आया इसका योग्य उत्तर नहीं दे सकते, केवलाद्वैतियों को परब्रह्म का केवलत्व तथा एकत्त्व सिद्ध करने के लिए जैसे विश्व की तथा जीव के अनेकत्त्व की तथा ईश्वर की बाधा आती है, वैसे वैष्णवाचार्य को ईश्वर का अभेदत्त्व तथा एकत्त्व सिद्ध करने के लिए जीव की परतंत्रता, अल्पज्ञान, सुखदुखादि भोगों की दिक्कत है।

परंतु पूर्णवाद को वैसे कोई दिक्कत कहीं भी नहीं आती। परब्रह्म ज्ञान के लिए परब्रह्म के व्यापकत्व की 'परमेव्योमन' की दिक्कत जैसे अन्य वादों को विश्व के अन्य बातों के कारण जीव, जगत्, जगदीश्वर के कारण आती है, वैसे पूर्णवाद को नहीं आती। यह विषय हमने पीछे देखा है। इस प्रकार जीव ब्रह्म के अभेद सिद्धि के लिए केवलाद्वैतियों के लिए जैसे जीव की दिक्कत आती है, वैसे पूर्ण में सभी समा जाने के कारण पूर्णवाद में यह नहीं आती। इन्हीं कारणों से केवलाद्वैतियों का प्रमेय, जीव का ब्रह्म से अभेद यह जैसे पूर्णवाद से सिद्ध होता है, वैसे ही जीव को प्रत्यक्ष में भेद क्यों लगता है इसका समाधान 'मैं' के अध्ययन से तथा स्वरूप संबंध से होता है।

वैष्णव दर्शन में एक तरफ जीव तथा ईश्वर का अभेद है, ऐसा कहकर रामानुजाचार्य को जैसे जीव के परतंत्रता से, सुखदुःख भोग के कारण उसका भेद भी बताना पड़ा तथा बुद्ध, मुक्त, नित्य ऐसे जीव के तीन भेद बताने पड़े, वैसे पूर्णवाद को नहीं करना पड़ा। एक ही विष्णुतत्त्व अथवा एकरूप अखण्ड जीव जब देह का अभिमान कर अर्थात् उसके स्वरूप से संबंध कायम कर तथा उसका अभिमानी होकर उस प्रकार के देह से व्यवहार करने लगता है, तब जीव में परतंत्रता तथा सुखोपभोग 'मैं' के संस्कार से आते है तथा वह सभी ईश्वर से अभेद के कारण मिलने वाला आनंद भोगने के लिए आवश्यक है, ऐसा पूर्णवाद कहता है। सारांश, आधिदैविक रूप से यद्यपि ईश्वर का तथा प्रत्येक जीव में अभेद होने पर भी आधिभौतिक स्वरूप संबंध से जीव ईश्वर से अलग अल्पज्ञ तथा परतंत्र लगता ऐसा पूर्णवाद साफ ढंग से कह सकता है।

सिवाय इस कारण जीव को ईश्वर से अभेद के कारण अलग सा कर्म स्वातंत्र्य भी रहता है तथा उस कारण धर्म तथा संस्कृति की आवश्यकता तथा प्रतिष्ठा भी जीव के ध्यान में आती है। धर्म की परिभाषा अनेकों ने अनेक प्रकार से की तो भी पूर्णवाद की परिभाषा अत्यंत अभिनव तथा तर्क और बुद्धि सम्मत ऐसी है। जहां जिस आचार-विचार से मनुष्य तथा समाज का मन स्थिर होता है उसे धर्म कहते हैं, तो जहां जिस सभ्यता से काल स्थिर होता है अथवा स्थिर दिखता है या लगता है उसे संस्कृति कहते है। अतः धर्म मनुष्य के साथ मनुष्य के अंदर रहता है तो संस्कृति उसे बाहर की सभ्यता से (Civilization से) उधार धर्मपूर्ति के लिए लेनी पड़ती है। इस धर्म संस्कृति के कारण मनुष्य के आधिभौतिक 'मैं' का उद्धार होकर उसे अपना ईश्वर से आधिदैविक अभेद तथा परब्रह्म से आध्यात्मिक अभेद ध्यान में रखकर उसे पूर्ण का, पूर्णपुरुष का ज्ञान होता है तथा उस ज्ञान से जीवन में प्रभुत्त्व से मन जैसे जीवन जी सकने से अखण्ड आनंद की प्राप्ति होती है।

केवलाद्वैतियों को चेतन से जड़ की उत्पत्ति हुई ऐसा कहते हुए न्यायतः अथवा तर्क दृष्टि से जैसे कठिन लगता है, वैसे ईश्वर यह सर्वशक्तिमान है लेकिन विशिष्टाद्वैतियों को वह बिल्कुल नहीं लगता। एकाध योगी जिस प्रकार अपने योग सामर्थ्य से नाना देह धारण करता है, उसी प्रकार सर्व सामर्थ्यवान ईश्वर 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय' अर्थात् मैं अकेला हूँ, अनेकों को निर्माण करुंगा ऐसी इच्छा करने वाला ईश्वर यह सब विश्व निर्माण करता है तथा उसे शरीर जैसे धारण करता है। देहधारी जीव जिस प्रकार शरीर के किसी भी भाग को हुए स्पर्श को तत्काल पहचान लेता है, उस प्रकार ईश्वर सर्वज्ञ होने से विश्व की यच्चयावत जानकारी उसे होती है इसलिए जगत् (विश्व) उसका शरीरभूत है यह सिद्ध होता है।

केवलाद्वैति तथा विशिष्टाद्वैति इन दोनों के वैशिष्ट्य इस प्रकार है -

केवलाद्वैती	**विशिष्टद्वैती**
१. जीव शिव का अभेद	१. जीव शिव का अभेद
२. अभेद सिद्धि 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' से	२. जीव, जगत्, सत्य मानकर जीव-ईश्वर अभेद कहते हैं तथा फिर जीव ईश्वर का सेव्य सेवक रिश्ता (संबंध) बताते हैं। ईश्वर सेव्य तथा जीव सेवक
३. शिव, आत्मा परब्रह्म केवल साक्षी	३. ईश्वर सत्य संकल्प सर्वशक्तिमान, अन्तर्यामी, सर्व कर्ता।
४. ज्ञान पर बल। ज्ञानसाधन	४. उपासना, भक्ति पर बल
५. जीव कहने पर वह बद्ध।	५. जीव कहने पर वह ईश्वर सेवक।

श्री रामानुजाचार्य प्रणित विशिष्टाद्वैत से अपने मत का विरोध बताने वाले, दूसरे वैष्णवाचार्य, वल्लभाचार्य हैं। इनका जन्म इ.स. १४७९ को तेलगु ब्राह्मण कुल में हुआ। उन्हें रामानुजाचार्य का विशिष्ट अद्वैत-अर्थात् जीव तथा ईश्वर में अभेद होकर भी, सेव्य-सेवक संबंध में विशिष्ट भेद है तथा सभी दृष्ट्यादृष्ट जगत् ईश्वर का शरीरभूत है, यह प्रक्रिया मान्य नहीं हुई। उनके मत से श्री रामानुजाचार्य जैसे जीव, जगत्, ईश्वर यह यद्यपि सत्य है तो भी शरीर यह आत्मा से जड़ अर्थात् गौण होने से विशिष्टाद्वैत मत गौण है। अतः वल्लभाचार्य ने श्रुति के आधार से शुद्धाद्वैत-अर्थात् शुद्ध अद्वैत (गौण अद्वैत नहीं) दर्शन प्रतिपादित किया है अर्थात् शुद्ध शब्द का अर्थ गौण अथवा श्रेष्ठ ऐसा तरतम भाव नहीं रखने वाले अद्वैत ऐसा है।

वल्लभाचार्य का दर्शन, उनके ही एक सांप्रदायिक ने जिस एक श्लोक में ग्रंथित किये है वह श्लोक इस प्रकार है-

''सद्रूपं कृष्णरूपं जगदिदमखिलं व्रीहिसुच्यग्रकल्पो।
जीवोऽणुः सच्चिदात्मा व्रजपतिचरणे सर्वसारैव भक्तिः।।
साकारं ब्रह्म तद्यत व्रजभूमि रमते सच्चिदानंदरूप।
नित्याकारप्रकारो विलसतु सततं वल्लभाचार्य मार्गः''

अर्थात्, अखिल विश्व यह सत है, कृष्ण रूप है। जीव सत् तथा चित् है तथा वहीं अर्थात् सुई के अग्रभाग जैसे अणु है। ब्रज भूमि में विहार करने वाले साकार सच्चिदानंदरूप श्री कृष्णभगवान परब्रह्म है तथा श्री कृष्णभक्ति सभी साधनों का सार है।

इसी प्रकार इन दो श्लोकों में भी उनका मत देखने को मिलता है। वह यहः

सर्व खविल्दं ब्रह्म तज्जलानिति पठयते।
सर्व ब्रह्मात्माकं विश्व इदमाबोध्यते पुरः।।१।।
सर्व शब्देन याबुद्धी दृष्ट श्रुत महोजगत्।
बोध्यते तेन सर्व ही ब्रह्मरूपम् सनातनम्।।
कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्यातु कारणम्।।२।।

इसका अर्थ परिशिष्ट में दिया है उसे देखें। सारांश उपरोक्त दृश्य अदृश्य आदि शब्दों से गृहित अखिल विश्व परमेश्वर का शुद्ध रूप है। उसमें श्रेष्ठ और गौण भाव नहीं है- ऐसा भाव श्रुति को मान्य नहीं। कार्य रूप ही ब्रह्म ही है तथा कारण भी ब्रह्म ही है। लेकिन ऐसा कहते हुए ब्रह्म जड़ हुआ ऐसी जड़ापत्ति आती है तथा ईश्वर का परिणाम रूप जगत् ऐसा होता है। परंतु वल्लभाचार्य के मत से इससे ईश्वरत्त्व को कुछ भी हानि तथा कमी नहीं आती। इसका कारण श्रुति का आधार है। ''तद्विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत्।'' वह विज्ञान अर्थात् चेतन, अविज्ञान अर्थात् जड़, पृथ्वी, जल, अग्नि आदि सभी भूत हुए, अर्थात् जगत् यह उसका परिणाम स्वरूप है ऐसा ही श्रुति कथन है।

वल्लभाचार्य के मत से 'जगत् तथा जड़' का हौवा खड़ा करने का कोई कारण नहीं। कारण तुम्हारे मत से 'वृतिव्याप्यत्व' अर्थात् वृत्ति का विषय बनने वाले अथवा होने का गुण रखने वाले ही तो जड़त्त्व है न? तो फिर ईश्वर भी इस परिभाषा से जड़ ही बनता है। कारण ''मदभक्ता यत्र गायन्ति। तत्र निष्ठामि नारद'' अर्थात्, ''मेरे भक्त जहां गायन करते हैं वहां मै रहता हूँ।'' ऐसा जब ईश्वर का कथन है तब भक्तों के भक्ति वृत्ति का हम विषय है। हम भक्ति वृत्ति से व्याप्त है ऐसा वह कबूल करता है। इस दृष्टिकोण से वह विषय रूप जड़ रूप नहीं ठहरता क्या? समझो, यह भी तुम्हें मान्य नहीं है, तो

जिस जीव को सभी दार्शनिक चेतन समझते हैं वह जीव भी वृत्ति से व्याप्त होने वाला वृत्ति व्याप्त ही है। कारण वह इस देह को जानता है तथा जानकर ही 'मैं' ऐसा कहता है अर्थात् जीव यह भी वृत्ति का विषय है। सारांश, जग परमात्म परिणाम-ईश्वर परिणाम रूप है ऐसा कहते, ईश्वर का परिणाम जड़रूप ही होता है, ऐसा कहना तर्क प्रमाण भले ही न लगे तो अपने ही किये हुए जड़ की परिभाषा के कारण-उपरोक्त उदाहरण जैसे उसकी क्षिती रखने का कोई कारण नहीं है। परिणाम होता है कहने पर फिर निर्माण अर्थात् पहली स्थिति में जाना असंभव लगकर अनर्थ लगा तो भी मूलरूप से भी परिणाम संभव बनता है। उदाहरण- सोने का कड़ा फिर गलाकार कंठहार बनाया, तो भी सोने का सुवर्णत्व कायम रहकर अलंकार रूप से अनेक परिणाम हो सकते हैं। सांप यह लाठी जैसे सीधा रहे क्या तथा कुंडली मारकर माला जैसे दिखे क्या आखिर सांप ही रहता है। जग इस प्रकार ईश्वर इच्छा से उसका ही परिणाम रूप है।

जगत् यह ईश्वर से भिन्न रूप है, जड़, पर प्रकाशक दुःख रूप, अनेक भेदयुक्त है, तो वह ईश्वर का परिणामरूप कैसे? ऐसा कहोगे, तो अग्नि से निर्माण होने वाला पानी अथवा (दूध से निर्माण होने वाला दही) भिन्न नहीं है क्या? कार्यकारण भाव में कुछ साम्य तथा कुछ वैषम्य रहता ही है। वैसे ही वह ईश्वर तथा जगत् के कार्यकारण संबंध में है, परंतु इतने पर ही जगत् का ईश्वर से कुछ भी साम्य नहीं है ऐसा कहना योग्य नहीं है। सत्व से यदि जगत् की उत्पत्ति है, तो वह सात्विक ही है। जो कोई उसे असात्विक कहते है वह उनका दोष है। श्री वल्लभाचार्य श्रुति को प्रमाण मानते ही हैं, परंतु उनका विशेष बल श्रीमद्‌भागवत पर है। ईश्वर यह सर्वदा साकार, सगुण, कर्ता, भोक्ता है ऐसा दृढ़ता से कहते है। कारण उनका कहना है कि परमात्मा लीला से कभी जगत् रूप धारण करता है तो कभी वटपत्र पर शयन करता है, अकेला ही रहता है। यदि वह भोक्ता नहीं ऐसा कहें, तो उसे इस प्रकार क्रीड़ा करने का क्या कारण? अर्थात् परमेश्वर यह भोक्ता न होता तो यह लीलाएं होती ही नहीं, जग निर्माण हुआ ही न होता। परंतु विशिष्टाद्वैति मत में श्रेष्ठ तथा गौण इस तरतम भाव से, ईश्वर तथा जगत् में आखिर जो भेद रहता है वह भेद वल्लभाचार्य के परिणाम क्रिया से रहता नहीं और अद्वैत सिद्ध होता है। अतः उसे शुद्धाद्वैति ऐसा कहते हैं।

वल्लभाचार्य को प्रारब्धवाद बिल्कुल मान्य नहीं है। उनका कहना ऐसा है कि, ईश्वर ने आनंद से, सुख से, सुख के लिए निर्माण किए इस जग में जीव दुखी होता है, यह प्रारब्ध से न होकर वह ईश्वर को भूलता है। "ईशावास्य इदं सर्वं" इन सब में ईश्वर वास करता है। यह सब ईश्वर का ही है। यह भूल जाता है इसलिए ईश्वर के कोप का पात्र होकर दुखी होता है। जो जीव यह पहचान कर ईश्वर को शरण जाता है वह दुखी

नहीं होता। तो कृष्ण भक्ति से गोलोक अथवा ब्रजलोक में रहता है।

विशिष्टाद्वैत जैसे ही शुद्धाद्वैत यह वैष्णव मत है। विशिष्टाद्वैति जिस प्रकार बुद्ध, मुक्त, तथा नित्य ऐसे जीव के तीन प्रकार मानते हैं, वैसे शुद्धाद्वैति नित्य जीव ब्रजलोक तथा मुक्तजीव-गोलोक ऐसे दो प्रकार कहते हैं। जीव अपने आप को सुखदुःख भोक्ता स्वतंत्र समझना यह अज्ञान ही है, तो हम श्रीकृष्णसेवक है, ईश्वर सेवक है ऐसा समझकर भक्ति का आश्रय करना यह ज्ञान है। इस प्रकार ईश्वर की श्रीकृष्ण की भक्ति करने वाले भक्त को मरणोपरांत गोलोक प्राप्ति तथा आमरणांत भक्ति सुख के कारण कृष्णभक्त को भेद की विस्मृति ऐसी द्विविध मुक्ति का लाभ होता है। ईश्वर कृपा के सिवाय भक्ति लाभ भी नहीं होता तथा संसार सुख भी नहीं होता इसलिए प्रपंच तथा परमार्थ को ईश्वर कृपा ही कारण है।

हम एकाध काम करने के लिए प्रयत्न करें तथा ईश्वर के मन में वह काम हो ऐसा नहीं लगे, तो उस प्रयत्न का कुछ उपयोग होता नहीं। अतः अपने कृति को ईश्वर की पुष्टि रहना, इसे ही वल्लभाचार्य पुष्टि कहते हैं। इस पुष्टि पर उनका बहुत विश्वास है इसलिए उनके संप्रदाय को पुष्टि संप्रदाय ऐसा कहते हैं।

श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत पर अर्थात् मूल ब्रह्म से विशिष्ट रूप से जगत् का भेद करने वाले दर्शन पर उत्तर पक्ष के रूप में उपरोक्त बताया हुआ शुद्धाद्वैत वाद वल्लभाचार्य ने प्रतिपादन किया। उसी प्रकार निम्बार्काचार्य को भी विशिष्टाद्वैत मान्य न होने से उन्होंने एक नया द्वैताद्वैत सिद्धांत स्थापित किया है, अर्थात् ही निम्बार्काचार्य को द्वैत तथा अद्वैत दोनों ही मान्य है। तंतुपट न्याय से वह अपना सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं।

इस तंतुपट प्रक्रिया से देखते, पट का प्रत्येक तंतु यह दूसरे तंतु से भिन्न - अलग उस प्रकार ही पट से भी भिन्न है। परंतु कपड़ा तथा पट रूप से वह सभी एकरूप ही है। इस प्रकार दृश्य-अदृश्य, व्यक्त-अव्यक्त सकल विश्व यह समष्टि रूप से एक ईश्वर ही है। लेकिन उसकी प्रत्येक वस्तु भी भिन्न-भिन्न ऐसे धर्म से भिन्न-भिन्न है।

ईश्वर ही जगत् का उपादान कारण तथा निमित्तकारण है। अतः उपादान कारण का कुछ धर्म-जैसे मिट्टी के घड़े में मिट्टी का धर्म आता है, वैसे ही ईश्वर का कुछ धर्म कार्य में, जीव में आता ही है। अतः परमेश्वर की भक्ति कर उस परमेश्वर से अभेद होता है, तो दूसरे प्रकृति रूपी जड़ जगत् यह कालान्तर से ईश्वर से एकरूप होता है।

जीव को स्वरूप परिणाम तथा जड़ जगत् को शक्ति विक्षेपलक्षण परिणाम ऐसी निम्बार्काचार्य अपनी परिभाषा निश्चित करते है।

वल्लभाचार्य का और एक वैशिष्ट्य अर्थात् १. शब्द, उपमान, ३. अनुमान, ४. प्रत्यक्ष, ५. ऐतिह्य तथा ६. अर्थापत्ति ऐसे छह प्रमाण वल्लभाचार्य मानते हैं।

तथा मात्र वेद के कारण सच्चिदानंद ब्रह्म का ज्ञान संभव है ऐसा उनका प्रतिपादन है। ऐतिह्य अर्थात् परंपरा, रुढ़ी, यह प्रमाण मानने का वैशिष्ट्य वल्लभाचार्य का ही है। आप्तवाक्य अथवा शब्द प्रमाण सभी मानते हैं, परंतु ऐतिह्य की विशेषता अर्थात् परंपरागत उपासना का आचार प्रमाण के रूप में वल्लभाचार्य मानते हैं।

निम्बार्क वैष्णवाचार्य है कहने पर यह जीव, जगत् तथा ईश्वर इन तीनों को भी सत्य मानते हैं यह स्वाभाविक ही है। जीव यद्यपि परमेश्वर का स्वरूप परिणाम है तो भी वैसे स्वतंत्र नहीं। फिर भी वह राधाकृष्ण की भक्ति कर अपना उद्धार कर ले। रामानुजाचार्य के विशिष्ट को ही गौरव तथा लाघव ऐसे निम्बार्क कहते हैं।

भास्कराचार्य तथा भास्करराय इन दोनों के बारे में उनके नाम के कारण बहुत बार गलतफहमी होती है। अतः हम यहां भास्कराचार्य के बारे में विचार कर रहे हैं यह पाठक विशेष तौर से जानें।

भास्कराचार्य भी निम्बकाचार्य जैसे द्वैताद्वैति मत के है। वह श्रुति को प्रमाण मानते हैं। उनके मत से वेदों में ईश्वर यह जग का केवल निमित्त कारण ऐसा बताया है तथा उसके दो शक्तियां है। एक भोग्य तथा दूसरी भोक्तृ शक्ति। इसमें से भोग्य शक्ति से पंचतत्त्व जड़ जगत् निर्माण होता है, तो भोक्तृ शक्ति से जीव, मन, बुद्धि, अहंकारादि चैतन्य युक्त बातें निर्माण होती है। सारांश, निम्बार्काचार्य तथा भास्कराचार्य इन दोनों का द्वैताद्वैत दर्शन है, तो भी निम्बार्काचार्य ईश्वर यह जगत् का उपादान कारण है तथा निमित्त कारण है। ऐसा कहते हैं तथा तंतूपट प्रक्रिया से अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करते है, तो भास्कराचार्य ईश्वर यह मात्र जगत् का निमित्त कारण है ऐसा कहकर कर्तव्य उसके भोग्य तथा भोक्तृ ऐसे दो शक्ति को देते हैं। अतः इन दोनों की प्रक्रिया में उपरोक्त बतायें जैसे बहुत फर्क है।

श्री जीवगोस्वामी बंगाल में जन्में और एक वैष्णवाचार्य है। उन्होंने अचिंत्य भेदाभेद वाद अपने ग्रंथों में विशद किया है। वह भी अन्य वैष्णवाचार्य जैसे श्रुति को मानते हैं तथा वेदों में अद्वैत सिद्धान्त ही बताया है ऐसा कहते हैं। उनके मत से परमेश्वर के अनंत, अगणित शक्ति है तथा यह सब कार्यरूप शक्ति के कारण 'ईश्वरी सत्य' होने के कारण यह दृश्यादृश्य जगत् भी सत्य है, मिथ्या नहीं।

उनके मत से ईश्वर की जो अनन्त शक्तियां है उसमें से तीन ही हमारे परिचय के है। १. स्वरूपता, २. तटस्थ, ३. माया। इसमें से पहली स्वरूपता शक्ति से देव लोक

अथवा देवदेवता निर्माण होते हैं। दूसरी तटस्थता से अल्पज्ञ, अल्पशक्ति रूप जीव अर्थात् प्राणी जन्म लेते हैं तथा तीसरी माया शक्ति से जड़जगत् निर्माण होता है। स्वरूपता शक्ति को अंतरंग शक्ति, तो माया को बहिरंग शक्ति ऐसे भी दूसरे दो नाम है। इन सभी शक्ति की केंद्रीभूत आदि जननी जो शक्ति उसे पराशक्ति कहते हैं।

ईश्वर सच्चिदानंदरूप सत्-चित्-आनंदरूप, होने से उसके अंतरंग शक्ति से और तीन शक्तियां निर्माण होती है। उनके नाम १. संधिनी, २. संबित, ३. ल्हादिनी है। मायावादी जिसे सत्ता कहते हैं वह संधिनी हैं। इसका सच्चिदानंद के सत् से संबंध रहता है। मायावादी केवलाद्वैति सत्ता मात्र 'स्व' को ही, चैतन्य को ही है ऐसा मानते है, विषय को अथवा जड़ को सत्ता है ऐसा नहीं मानते। परंतु जीव गोस्वामी जगत् को सत् मानने के कारण, स्व सत्ता तथा जड़ की सत्ता ऐसे दोनों सत्ता को मानते है तथा उनको संधिनी के अन्तर्गत मानते हैं।

ईश्वर के चित रूप से जागृति में अनुभव आने वाले सकल मनोव्यारादि जिन शक्तियों से उत्पन्न होते हैं वह संबित शक्ति है। उसी प्रकार सकल मनोव्यापारानुकूल कर्म से जो आनंद समाधान तथा प्रसन्नता प्राप्त होती है वह ईश्वर के आनंद रूप से निकली जो तीसरी ल्हादिनी शक्ति उसका कार्य रहता है ऐसा वह कहते हैं।

इस प्रकार 'अचिंत्य-भेदाभेद' वाद ने अपनी अलग परिभाषा तैयार कर इस परिभाषा की सहायता से श्री जीवगोस्वामी यह भेद तथा अभेद यह दोनों बातें तर्क से सप्रमाण सिद्ध करना अतयंत कठिन, तथा अशक्य प्रायः है ऐसा अपना मत सिद्ध करते हैं।

द्वैत सिद्ध करते हुए – अर्थात् भेद सिद्ध करते जो कुछ आपत्ति संभव होती है, वैसे ही अद्वैत अथवा अभेद सिद्ध करते हुए संभव रहते है। दोनों जग तर्क से अप्रमाणित लगने वाले तर्क विरुद्ध कुछ बाते तथा आपत्तियां आती है। ऐसा होकर भी सभी आचार्य न्याय से तथा तर्क से भेद अभेद सिद्ध करते रहते है। इसलिए उन सबको गोस्वामी भेदाभेदी अर्थात् भेद-अभेदवादी कहते हैं। जीव गोस्वामी को यह जचता नहीं, कारण तर्क तथा न्याय से भेद अथवा अभेद कुछ भी सिद्ध करना मात्र अशक्यप्राय है ऐसा उनका मत है। अतः उनके दर्शन को अचिंत्य भेदाभेदी कहा जाता है।

अन्य वैष्णवाचार्य से जीव गोस्वामी के बारे में कोई मतभेद नहीं है। जीव को चाहिए कि हम श्रीहरि सेवक है, ऐसा समझकर उसकी भक्ति करनी चाहिए ऐसी ही सीख जीव गोस्वामी की है। बिना ईश्वर कृपा इहलोक संसार तथा परलोक सुख प्राप्त करने के लिए लगने वाला परमार्थ, दोनों सिधारते नहीं ऐसा ही उनका मत है। मनुष्य यह

दोषपात्र होने के कारण वह ईश्वर की शरण में जाए, तभी उसका उद्धार होगा ऐसा उन्होंने निश्चयपूर्वक कहा है। इनके मत से भी ईश्वर कर्ता, भोक्ता तथा शास्ता ऐसा है।

सभी वैष्णवाचार्यों में वीरवैष्णवाचार्य के नाम से जो प्रसिद्ध है तथा सभी वैष्णवाचार्यों में अत्यंत जहाल के रूप में प्रसिद्ध है, वे है मध्वाचार्य अथवा श्री मदानन्दतीर्थ उनका जन्म इ.स. ११९१ में 'पाकजक्षेत्र' - बेल्लारी गांव में हुआ। सगुण साकार दृश्य की ओर अथवा दुनिया की ओर जिस बुद्धि से मायावादी तथा अजातवादी अथवा केवलाद्वैति देखते है, उतनी ही उपेक्षा की बुद्धि से वीर वैष्णवाचार्य मध्वाचार्य अद्वैत की ओर देखते है। उनका कहना है कि राजा तथा नौकर दोनों मनुष्य प्राणी ही है परंतु राजा के अधिकार नौकर को नहीं तथा नौकर का दास्यत्व राजा को नहीं। अतः ईश्वर तथा जीव की जाति एक होने पर भी वह एक ही है - उनमें अभेद है ऐसा नहीं कह सकते। दोनों चेतन है यह सही है, परंतु ईश्वर यह सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ, कर्तुम, अकर्तुम अन्यथा कर्तुम ऐसा है, तो जीव पराधीन, अल्पज्ञ तथा पामर ऐसा है। अतः मात्र जाति के आधार पर अभेद का नारा लगाना व्यर्थ है! जीव अपनी पादान समझकर रहने में ही उसका भला है।

श्री शंकराचार्य ने अद्वैत सिद्धान्त स्थापित कर जीव ब्रह्म का ऐक्य स्थापित करने पर, मध्वाचार्य ने उनको खरी खोटी सुनाई तथा उन्हें इसका दोषी बताया। शंकराचार्य के इस सिद्धान्त के पीछे भले ही बड़ा उदात्त हेतु हो, परंतु उनके इस दर्शन का परिणाम आगे चलकर समाज पर अत्यंत विपरीत हुआ इसे कहने के लिए किसी विद्वान की भी क्या आवश्यकता है।

इसका मुख्य कारण ऐसा है कि शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य आदि आचार्य जब हुए अथवा थे तब से समाज से आचारधर्म का पालन करवा लेते थे इसलिए आचार्य कहलवाये जाते। समाज से योग्य आचार करा लेने वाला वही आचार्य कहलाया जाता। नहीं तो वह उपदेशक बनता है। इस कारण से इन आचार्यों के काल में समाज अपना आचार कड़ाई से बड़े पैमाने पर पालन करता था। आचार का पालन न करने वाले को दंड देने का अधिकार आचार्य को था, तथा राजसत्ता और जनता का उसे समर्थन प्राप्त था। हिन्दु धर्म की परिभाषा अनेकों ने की लेकिन इस इतिहास को लेकर हिन्दु धर्म की पूर्णवाद जैसे सुंदर परिभाषा आज तक कोई न कर सका।

"जो सब को विचारों की, विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देता है, लेकिन कुछ विशिष्ट न्यूनतम आचार से बांध लेता है वह धर्म, हिन्दु धर्म है।" ऐसी पूर्णवाद ने हिन्दु धर्म की परिभाषा की। इस प्रकार शंकराचार्यादि आचार्य वैचारिक क्षेत्र में यद्यपि अपना

अपना दर्शन स्थापित करते थे फिर भी त्रिकांडात्मक वैदिक आचार का स्वतः भी आग्रहपूर्वक पालन करते थे तथा अन्यों से भी उस प्रकार का आचरण करवा लेते थे। ऐसा इतिहास है।

परंतु इन आचार्यों के बाद समाज जब आचार से अलग होने लगा, तो शंकराचार्य का संदर्भ देने लगा। जीव वास्तव में ब्रह्म रूप है। कर्मकाण्ड़ बकवास है। जग मिथ्या है, आदि मायावादी तथा अजातवादी दर्शन वह स्वतः के आचार भ्रष्टता के समर्थनार्थ देने लगा। इतना ही नहीं तो समाज में बड़े दार्शनिक जैसे मिजाज करने लगा।

रामकृष्ण परमहंस के चरित्र की एक बात बड़ी बोधपूर्ण है। एक संन्यासी अद्वैत पर बड़े अच्छे ढंग से प्रवचन दक्षिणेश्वर में देता था तथा उसे सुनने के लिए भीड़ लगती थी। उसके किसी स्त्री से अवैध संबंध थे। एक बार रामकृष्ण को वह सहज ही मिला, तो रामकृष्ण ने उसे 'यह आचार तुम्हें कैसे चलता है?' ऐसा कहा, तो वह कहने लगा इसका उत्तर बड़ा सरल है। यहां सब जग ही मिथ्या है, भास रूप है, वहां मेरे यह अवैध संबंध भी उतने सही है ऐसा आप क्यों मानते है?

इस प्रकार की वृत्ति पर वैष्णवाचार्यों ने अपने दर्शन के आधार पर तीखी टिपणी की है तथा वैदिक त्रिकांडात्मक आचार में से उपासना तथा भक्ति मार्ग के द्वारा समाज में आचार रूढ़ किया और एक मध्वाचार्य का अपवाद छोड़कर अद्वैत दर्शन के बारे में समाज में सम्मान को बनाये रखा। अतः बुरे दिनों में भी वैदिक धर्म को बनाये रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य वैष्णवाचार्यों ने ही किया।

सारांश, उपासना तथा आचार धर्म की उत्कृष्ट निष्ठा तथा जीवन के प्रति अभिनिवेश यह मायावादी तथा अजातवादी दर्शन के कारण वैदिक धर्मानुयायियों में अपेक्षित मात्रा में कायम नहीं रह सके। यह बात कोई भी विद्वान चिंत्तक नकार नहीं सकता। उसके कारण ही स्वमुख से हिन्दु कहलाने वाला दूसरा समाज निर्माण हुआ। यह बात भी उतनी ही सही है।

शंकराचार्य के कालखण्ड से एक तरफ सभ्यता (Civilization) तेजी से बढ़ने लगी इसलिए वैदिक आचार धर्म के लिए पर्याप्त समय देना भी समाज के सभी वर्गों के लिए असंभव बनने लगा। परंतु समाज के जानकार लोगों को इस वैदिक आचार का महत्त्व - अर्थात् कर्म, उपासना तथा ज्ञान - इस त्रिकांडात्मक आचार का महत्त्व ज्ञान होने से समाज के सभी वर्गों से न सही लेकिन उसमें से कम से कम कुछ लोग अर्थात् ब्राह्मणवर्ग तो इस आचारधर्म का कड़ाई से पालन करें, ऐसी व्यवस्था शंकराचार्यादि आचार्यों ने वैदिक मत को सामने रखकर बनायी थी। वैदिक धर्म का आचार ब्राह्मण

द्वारा यदि चलता रहे - एकाध ब्राह्मण रुद्र का अभिषेक कर उसका फल यजमान को मिले - अर्थात् समाज को मिले, ऐसी यह सुंदर व्यवस्था थी। आज भी पाश्चात्य वैज्ञानिक संशोधन में लगे रहते हैं लेकिन उसका फायदा विश्व के सभी देशों को मिलता है। इस सुंदर व्यवस्था के कारण हिन्दु धर्म तथा समाज बहुत सदियों तक एकत्र (National Intigration) तथा आचार निष्ठ रहकर विदेशी आक्रमण से संघर्षरत रहकर कायम विजयी बनता रहा।

परंतु अंग्रेजों ने इस बात को भांप कर अपने ग्रंथों से ब्राह्मण वर्ग तथा हिन्दु धर्म ऐसा हेतुतः विभाजन कर दो धर्म बताना शुरु किया। उसमें से संस्कृत अध्ययन का हास होकर अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार तथा प्रसार होकर वेद, उपनिषद्, संध्या पूजादि आचार धर्म यह मात्र ब्राह्मणों का विषय है, हमें उससे कोई लेना देना नहीं है, ऐसी बहुजन हिन्दु समाज की धारणा बनती गयी। इसके लिए कुछ पाश्चात्य विद्या विभूषित ब्राह्मण भी जिम्मेदार बने। परंतु ब्राह्मणों के वेदादि ग्रंथ तथा उन्होंने सिखाया आचार धर्म यदि हिन्दु धर्म से निकाल दिये तो हिन्दु धर्म यह क्या शेष रहता है, इसका विचार होना चाहिए लेकिन उसके लिए यह स्थान नहीं है।

तात्पर्य, हमें अपना परिवार, समाज हिन्दु कहकर सम्मानजनक जिये ऐसा यदि लगता हो, तो हिन्दु धर्म के वेदादि ग्रंथ तथा उन्होंने बताया त्रिकांडात्मक आचार धर्म पर विश्वास तथा श्रद्धा रखकर - अभ्युदय तथा निःश्रेयस के लिए इस त्रिकांडात्मक आचार का अपने परिवार तथा समाज के कुछ लोग तो दृढ़ता से पालन करते है अथवा नहीं यह देखना तथा उनको यथासंभव सहाय करना अपने में से हर एक का कर्तव्य बनता है। इतनी संवेदना समाज में जागृत रहे तो पर्याप्त होगा। सारांश, यह सब आंखों के सामने आने पर मध्वाचार्यादि वैष्णवाचार्य ने शंकराचार्य के संबंध में जो क्षोभ व्यक्त किया है उसकी तीव्रता कम होगी।

महाराष्ट्रीय संतो ने उपासना के क्षेत्र में, अर्थात् आचार के क्षेत्र में, वैष्णवाचार्यों के अनुकूल कार्य तो चल रहा है किन्तु अपने ग्रंथों में केवलाद्वैति ज्ञान का प्रतिपादन किया है। अतः महाराष्ट्रीय संतों का दर्शन उनके नाम से उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर निश्चित करना कठिन है।

उदाहरण- संत ज्ञानेश्वर को लिया तो उनके अमृतानुभव ग्रंथ से वह अजातवाद के पुरस्कर्ता है यह स्पष्ट होता है। परंतु वैसे वह विठ्ठल (पांडुरंग) की भक्ति करने वाले वारकरी संप्रदाय के आद्यप्रवर्तक-वारकरी संप्रदाय की बुनियाद रखने वाले महान भगवद्भक्त भी समझे जाते हैं। उनके अभंग से तथा ज्ञानेश्वरी के प्रसंग से दिखाई देने

वाला भक्ति का मेला वैष्णवाचार्य पर मात करने वाला है। अतः एक ज्ञानेश्वरी ग्रंथ का यदि हम विचार करने बैठे तो चिंतनशील व्यक्ति को महानयोगी, नाथपंथी, भगवद्भक्त, अज़ातवादी संत ज्ञानेश्वर यह एक पहेली ही बन जाते है। यही स्थिति कम अधिक प्रमाण में अन्य महाराष्ट्रीय संत की है। महाराष्ट्रीय संतों के इस प्रकार विशिष्ट कार्य प्रणाली के कारण महाराष्ट्र जीवंत तथा समर्थ बनकर मुसलमानी आक्रमण का योग्य प्रतिकार कर हिन्दू बना रहा।

यह सब लिखने का कारण शंकराचार्य के भक्तों को मध्वाचार्य के शंकराचार्य के संबंध में अनुदार वृत्ति पर बड़ा ही संत्रास है, लेकिन ऐसी वृत्ति उनको क्यों कर हुई यह समझ में नहीं आता। अध्येता को यह बात ठीक से समझे इसलिए यह स्पष्टीकरण दिया। लेकिन यहां अपना मूल विषय मध्वाचार्य का दर्शन यहीं है।

मध्वाचार्य का सारा दर्शन एक संस्कृत श्लोक में हमें दिखाई देता है। वह श्लोक ऐसा –

''श्रीमन्मध्वमते हरिः परतर ...'' आदि इसका संपूर्ण अर्थ परिशिष्ट में देखें।

जहाल अद्वैतवादी अर्थात् जैसे अजातवादी, उसी प्रकार वैष्णवाचार्य में मध्वाचार्य अत्यंत जहाल थे तथा उन्हें वीर वैष्णवाचार्य कहा जाता था। श्री रामानुजाचार्य के बाद मध्वाचार्य का काल है। परंतु इनमें अन्य वैष्णवाचार्यों की अपेक्षा विशेष होने के कारण उन सब के बाद इन्हें इस प्रकरण में लाया गया है। इन्हें वीर वैष्णव कहने का एक ओर ऐसा कारण है कि, इन्हें वायु का अर्थात् हनुमान का अवतार माना जाता है। श्री मध्वाचार्य के एकनिष्ठ शिष्य त्रिविक्रम पंडिताचार्य ने भी उन्हें वायुदेव का अवतार मानकर 'वायुस्तुति' नाम का स्तोत्र लिखा है। इनका नाम वासुदेव है तथा उन्हें पूर्णप्रज्ञ कहते है इसलिए उनके मत को पूर्णप्रज्ञ ऐसा कहा जाता है। वह वासुदेव का अवतार है कहने वाला यह श्लोक देखिए –

थमो हनुमन्ताय द्वितीयो भीम एव च।
पूर्णप्रज्ञ तृतीयस्तु। भगवत्कार्यसाधकः।।

केवलाद्वैति तथा वैष्णवाचार्य इनमें दूसरा साम्य यह है कि केवलाद्वैत के आद्य प्रवर्तक श्री शंकराचार्य के ही अनुयायियों ने आचार्य दर्शन का खण्डन किया है। उदाहरण– जगत् कारण अज्ञान रूप माया का अजातवादियों ने बोध दर्शाया है, अर्थात् इतना क्यों न हो वह आचार्य मत का खण्डन ही है। कारण सिद्धांत यदि वह कायम भले ही हो तो भी अलग प्रक्रिया से यदि वह सिद्ध होता है तो उस पहले प्रक्रिया का खंड़न नयी प्रक्रिया से करने आता अथवा हुआ है ऐसा ही मानना पड़ता है। इस प्रकार आद्य

वैष्णवाचार्य रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैति दर्शन का अंशतः हर एक वैष्णवाचार्य ने खण्डन ही किया है तथा इस परंपरा में - अर्थात् रामानुजाचार्य के दर्शन का खण्डन करने वाली परंपरा के मूल प्रवर्तक मध्वाचार्य ने ही शुरुवात की। मध्वाचार्य को शंकराचार्य का दर्शन बिल्कुल मान्य नहीं, उसी प्रकार श्री रामानुजाचार्य का ढुलमुल रवैया "रामाय स्वस्ति रावणाय स्वस्ति" राम का भला हो, रावण का भी भला हो, यह पक्ष बिल्कुल मान्य न था।

यहां एक ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस प्रकार अद्वैत मत के आद्य प्रवर्तक श्री शंकराचार्य के मत का खंडन उनके ही अनुयायियों ने किया अथवा उनको वैसे करने आया, श्री वैष्णव दर्शन के आद्य प्रवर्तक रामानुजाचार्य का खण्डन उनके ही अनुयायियों ने- मध्वादि, वल्लभाचार्यादि आचार्यों ने किया, उसी प्रकार, पूर्णवादी दर्शन का खण्डन उनके अनुयायी करेंगे अथवा कर सकते हैं क्या - तो इस संबध में अभी हम इतना ही कह सकते है कि, १९४७ इ.स. में इस दर्शन के प्रबंध को डॉक्टरेट उपाधि मिली तब से लेकर आज तक ६७ वर्षों बाद भी किसी ने कुछ खण्डनात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। इसलिए हम कह सकते हैं कि भविष्य में भी शायद संभव न हो। लगता तो ऐसा है कि भविष्य में इसका और स्पष्टीकरण होता रहेगा। इस पर हम अगले प्रकरण में और विस्तार करेंगे।

श्री मध्वाचार्य यह भास्कराचार्य जैसे ही ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण ही मानते हैं तथा उनकी शक्ति प्रकृति यह उनका उपादान कारण है ऐसा कहते हैं। अर्थात् रामानुजाचार्य यह शरीरवत् जड़ जगत् मानते हैं। परंतु ईश्वर को उपरोक्त जड़ रूप मानने को मध्वाचार्य तैयार नहीं है। अतः वह ईश्वर का तथा चराचर का, कुलाल (कुम्हार) तथा घट सबंध मानते है। "द्यावा पृथिवी जनयन्देव एकः धाता यथापूर्वमकल्पयत्" "आकाश तथा पृथ्वी यह सभी एक ईश्वर ने ही (धाता) पहले कल्पना जैसे की थी उसी प्रकार निर्माण किया।" आदि श्रुति वचनों से वह ईश्वर का जगत् कर्तापन सिद्ध करते है।

यह जगत् ईश्वर ने क्यों निर्माण किया - तो इस प्रश्न का उत्तर, 'वह हम भगवद्भक्त हमारे सुख के लिए, ऐसा मानते है।' इस प्रकार देते है। परंतु इस पर भक्त पहले थे तथा उनके सुख के लिए जगत् बाद में किया, कि जग पहले था तथा भक्त बाद में हुए तथा उनके सुख के लिए इसका उपयोग हुआ, यह प्रश्न रहता ही है। परंतु इस प्रश्न की ओर मध्वाचार्य का रुख न होकर, प्रत्येक जीव स्वतः को हम परमेश्वर के अनुरूप सेवक है ऐसा जानकर भक्तिभाव से उसकी भक्ति करे यही श्रेयस्कर है', यह कहने का मध्वाचार्य का विशेष आग्रह है। प्राणी अपने पाप कर्म से हीन गति को जाता है तथा सदाचार से और ईश्वर की उपासना से उत्तम गति को प्राप्त करता है। इस अर्थ

के श्रुति वचनों को देकर मध्वाचार्य जीव की परतंत्रता बताते हैं।

इस ईश्वर निर्मित जग में सभी कुछ ईश्वर का स्वामित्व होने पर भी जीव मेरा मेरा कहते रहता है, यह जीव का अज्ञान है तथा उसके अज्ञान के कारण जीव संसार में दुःख का अनुभव करता है। जो जीव ईश्वर को अनन्यभाव से शरण जाता है, उसे उसका इच्छित प्राप्त होता है।

"अनन्याश्चितंयतो माम्" इस गीता के श्लोक पर मधुसूदनी भाष्य का कथन अत्यंत मार्मिक तथा मध्वाचार्य के द्वैति सिद्धान्त की विशिष्टता वैशिष्ट्य दर्शाने वाला है। वह एक मधुसूदनी विद्या ही है ऐसा कहना अतिशयोक्त न होगा। मध्वाचार्य को "अहं ब्रह्मास्मि" "जीवो ब्रह्मैव नापरः" आदि वचन मात्र बड़बोलापन लगता है।

"पामर ऐसे जीव को चाहिए कि वह सर्वशक्तिमान ईश्वर की भूलकर भी बराबरी नहीं करनी चाहिए। ऐसा करना पाप है। जो ईश्वर से अपना सेवक भाव भूलकर उपरोक्त बड़बोलेपन के भागी होते हैं। वह घोर नर्क का साधन बनते हैं। भले आदमी को भूलकर भी ऐसा नहीं करना चाहिए। उस दयाघन परमेश्वर को शरण जाना चाहिए। अपना दुःख उस भक्त वत्सल को कहना चाहिए। उस करुणा सागर की करुणा युक्त अंतःकरण से प्रार्थना करें। तथा उसके कृपाप्रसाद से अपना ऐहिक तथा पारमार्थिक कल्याण करा लेना चाहिए।" ऐसी यह मध्वाचार्य की निग्रह पूर्वक सीख है।

मध्वाचार्य ने कुल सैंतीस ग्रंथ लिखे। उनका यह ग्रंथ संग्रह शंकराचार्यनामक ब्राह्मण के पास रहता था। मध्वाचार्य द्वैतमत प्रतिपादक होने के कारण श्रंगेरीपीठ के यतियों तथा अनुयायियों द्वारा उन्हें प्रताड़ित भी किया गया ऐसा इतिहास है। शंकरमठ के अधिपति पद्मतीर्थ नामक यति ने मध्वाचार्य का ग्रंथ संग्रह अपने कुछ हस्तकों द्वारा काबिज किया। लेकिन आगे मध्वाचार्य का समर्थक राजा जयसिंह के डर से मध्यस्थ द्वारा फिर वापस किया यह इतिहास है। उनके प्रमुख ग्रंथों में से कुछ इस प्रकार है।

१. गीता भाष्य

२. अणुभाष्य

३. सदाचार स्मृति

४. मायावाद खण्डन

५. उपनिषद् भाष्य

६. कृष्णामृतमहार्णव

७. कर्मनिर्णय

मध्वाचार्य के ग्रंथ देखने पर श्रुतिप्रणित अद्वैत उन्हें ज्ञात नहीं था अथवा बिल्कुल मान्य नहीं था ऐसा कुछ नहीं दिखता। परंतु इस कारण कोई इतना प्रभावित हो यह उन्हें बिल्कुल पसंद नहीं था। अतः उन्होंने अद्वैत की ओर उपेक्षा बुद्धि से देखा है। उन्होंने वास्तव का अंजन साधकों की आंखों में डालकर प्राप्त हुए उस दिव्य ज्योति के प्रकाश में उन्हें (साधक) तथा उनके द्वारा संपूर्ण समाज को भक्तिमार्ग के अवलंब करने को प्रेरित किया। प्राणिमात्र को अपनी जीवन यात्रा शुरू करने के लिए अपना कर्तव्य अपूर्ण लगता है और इसलिए उस प्रत्येक को ईश्वर कृपा की नितांत जरुरी रहती है।

सारांश, ईश्वर प्राप्ति यह मात्र बौद्धिक जिज्ञासा न होकर उसकी कृपा यह अन्य व्यावहारिक आवश्यकता जैसे अत्यंत महत्त्व की आवश्यकता है। यह अध्येता ध्यान रखे।

* * * * * *
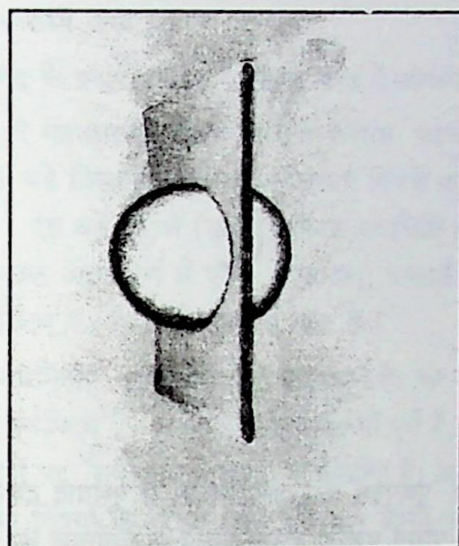
सप्तम् अध्याय

ज्ञान-विज्ञान

ज्ञान समझना है तथा विज्ञान अर्थात् आचार में लाना। ज्ञान होने पर उसे आचार में उतारने पर ही वह पूर्ण होता है, जीने का समाधान होता है। पूर्ण का ज्ञान होने पर उसे आचार में उतारने पर ही जीवन का संपूर्ण समाधान प्राप्त होता है। चित्र में उपरोक्त बाजू में पूर्ण वर्तुल स्वरूप में बताया है। वह ज्ञान तेजस्वी है, प्रखर है, शुभ्र है। उस पूर्णज्ञान के बर हुकूम हमें चलना है। जो समझा है वह उतारना भी है। मात्र बहुत समझना भी उपयोग की बात नहीं होती तथा न समझकर चलना भी चलता नहीं। दोनों सम्यक होने पर ही पूर्ण समाधान प्राप्त होता है।

७.

ज्ञान-विज्ञान

अब तक हमने 'पूर्णपुरुष' इस दूसरे प्रकरण से पूर्णवाद दर्शन का परिचय प्राप्त किया। 'परब्रह्म' इस पांचवें प्रकरण में शंकराचार्य के मायावाद का ज्ञान संपादित किया तथा 'वैष्णव' प्रकरण में वैष्णवाचार्यों के दर्शन का अध्ययन किया। इन तीनों दर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का ज्ञान हमने प्राप्त किया। अब इन तीनों के संबंध में हम जो कुछ समझते हैं वह ज्ञान के सैद्धांतिक परिभाषा में बैठता है कि नहीं यह देखना आवश्यक है। हमें जो जिज्ञासा थी, वह पूर्ण करने की दृष्टि से हमने यह तीन दर्शनों का अध्ययन किया तथा इस अध्ययन से हमें जो कुछ प्राप्त हुआ है, समझा है, उसी को हम क्या ज्ञान कहें, सैद्धान्तिक दृष्टि से वह ज्ञान हो सकता है क्या? इन बातों पर हम इस अध्याय में विचार करेंगे। इसके लिए हमें ज्ञान तथा विज्ञान इन दो शब्दों की सैद्धान्तिक सर्वमान्य ऐसी परिभाषा का ज्ञान आवश्यक है।

वास्तविक पाश्चात्य पद्धति जैसे ज्ञान के शाखा द्वारा जिसे इपिस्टेमॉलजी (Epistemology) कहते है - प्रथम ज्ञान तथा विज्ञान की परिभाषा निश्चित कर उसके मूल्य (Values) निर्धारित कर, हमने यह जो तीन दर्शनों का अध्ययन किया होता, तो हमें जो ज्ञान हुआ और कुल जानकारी से कौन सा ज्ञान इस श्रेणी में आता अथवा कौन सा विज्ञान आता यह हमें उसी समय स्पष्ट होता। परंतु भारतीय परंपरा ऐसी नहीं है। कारण भारतीय ऋषि मुनि तथा विद्वान लोग पहले तप से तथा ध्यान से, अनुभूति जन्य प्रत्यक्ष प्रतीति को आने वाला ज्ञान प्राप्त कर ही बाद में उसे दार्शनिक भाषा में तथा रूप में परिवर्तित करते हैं। अतः भारतीय दर्शन का अध्ययन करते समय प्रथम साधक भाव से इस दर्शन को ठीक से समझ लेना चाहिए वैसे ही उसका स्पष्ट बोध होने पर, उससे हमें कौन सा ज्ञान तथा कौन सा विज्ञान प्राप्त हुआ इसका विचार करना हित में होगा। इस दृष्टि से अब हम ज्ञान विज्ञान अध्याय में (अब तक किये हुए अध्ययन

के संदर्भ में) विचार करने वाले है।

मुण्डक उपनिषद् के प्रथम मुण्डक के प्रथम खण्ड में अगला वचन है –

१. ''शौन को ह वै महाशालोऽङगिरस विधिवत् उपसंन्नः प्रपच्छ... आदि'' अर्थात् शौनक नाम के बड़े विश्वविद्यालय के अधिष्ठाता जिनके ऋषि कुल में ८८ हजार ऋषि रहते थे – ऐसे बड़े कुटुंबी (कुनबा) शौनक यथाविधि समिधा लेकर अंगीरस को बडे श्रद्धायुक्त अंतःकरण से पूछा, हे भगवान्, वास्तव में क्या जानने से उन सभी का सर्वमिदम् का ज्ञान विशेषत्व से होता है ?''

इस प्रश्न में 'सर्वमिदम्' – यह पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह पद ही सर्वदा माननीय है। ''पूर्णमदः पूर्णमिदम्'' – वह पूर्ण है तथा यह भी पूर्ण है, इस श्लोक का 'वह' और 'यह' दोनों पद 'सर्वमिदम्' इस पद में समाहित है। अतः इस पद से सूचित होने वाले सभी विषयों के जिज्ञासा की पूर्ति क्या जानने पर कौन सा एक तत्त्व जानने पर होगा? ऐसा यह प्रश्न है। सारांश, हमें दिखने वाले, अपने अनुभव में आने वाले जो कुछ है उसका ज्ञान होने के लिए क्या जानना चाहिए ऐसा प्रश्न यहां शौनक अंगिरस से पूछ रहे हैं।

इस प्रश्न के उत्तर को तभी सुलझाया जा सकता है जब तक कि 'सर्वमिदम्' अथवा 'यह सभी' यह विषय शांत चित्त से मन स्थिर कर मनुष्य समझ नहीं लेता। आद्य वैष्णवाचार्य श्रीरामानुज का बल इसी श्रुति वचन पर है। उनके मत से 'ईश्वरशरीरभूतम्' जगत्– ईश्वर का शरीर है – यह सिद्धान्त इसी श्रुति वचन पर है। अतः जो जान लेने पर 'सर्वमिदम्' अर्थात् यह सब समझता है, उसे ही ज्ञान कहा जाना चाहिए ऐसा श्रुति का रुख है।

''ज्ञान क्या है? तथा विज्ञान क्या है?'' इसका विचार करते समय हमें यह समझ में आता है कि, भारतीय दर्शन का प्रत्येक वाद ज्ञान और विज्ञान शब्द की अपनी अपनी परिभाषा अलग अलग करते दिखाई देता है। हम यहां दर्शन तत्त्व निश्चिति की दृष्टि से विचार कर रहे हैं ऐसे तीन प्रमुख दर्शन (पूर्णवाद, अजातवाद तथा शंकराचार्य का मायावाद तथा वैष्णवमत) विचारार्थ लिये हैं तथा गीता और अन्य जगह पर आये ज्ञान विज्ञान योग से, तथा विज्ञान विषय से यहां हमें कोई सरोकार नही है।

अतः यह तीन दर्शनों में से मायावादी तथा अजातवादी यह परब्रह्म की अपरोक्षानुभूति को ही ज्ञान मानते हैं। तो जीव यह ईश्वर सेवक है यह जानना इसे ही सामान्यतः सभी वैष्णवाचार्य ज्ञान कहकर संबोधित करते हैं। ऐसा होने से क्या जानने पर यह

सर्वमिदम् - जाना जाएगा? शौनक के इस प्रश्न को अजातवादी तथा मायावादी ''एके ब्रह्म'' विज्ञाते सर्वमिदम् जगत् मिथ्या एवं विज्ञानम् भवति इति। अर्थात् एक ब्रह्म जानने पर यह सब अर्थात् सर्व मिदम मद में आने वाले सभी जगत् मिथ्या है यह समझते हैं तथा इस रीति से यह सब ब्रह्म रूप है यह जाना जाता है। ऐसा उत्तर देते हैं। इसके विपरीत सामान्यतः सभी वैष्णवाचार्य ''हम श्रीहरी के सेवक है।'' यह ज्ञान एक बार पक्का हुआ कि सर्वमिदम् अर्थात् यह चराचर विश्व तथा उसके सभी बातें उस ईश्वर के अर्थात् श्रीहरि की ही है यह समझ में आता है, ऐसा उत्तर देते हैं।

परंतु पूर्णवाद की दृष्टि से दोनों उत्तर अपूर्ण है तथा ज्ञान के संबंध में उनके विचारों में कहीं अपूर्णत्व जरूर है ऐसे सहज ही लगता है। ज्ञान का मुख्य उद्देश्य 'बोध का विकास तथा विस्तार' यह है तथा ज्ञान से व्याप्ति बढ़ती है यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। सिवाय ज्ञान से होने वाले अंतस्थ विकास को, जीवन के आनंद को विस्तार से जोड़ने वाली बात को विज्ञान कहा जाता है। ज्ञान मूल सिद्धांत का बोध कराता है। तो विज्ञान इस सिद्धान्त के अंतस्थ बोध से आनंद की, सुख की व्याप्ति बढ़ाने का साधन है। सरल शब्दों में यदि कहना हो तो ज्ञान समझना है तो विज्ञान आचार है ऐसा दिखाई देता है।

परंतु अजातवादी तथा मायावादी दर्शन से ब्रह्म ज्ञान को अथवा स्वरूप ज्ञान को ज्ञान कहा जाये तो यह ज्ञान आचरण में कैसे लाया जाये? इसका विज्ञान क्या है, ऐसा प्रश्न सहज ही निर्माण होता है अर्थात् उस विज्ञान को असंभव कहकर केवलाद्वैति पंडित विज्ञान शब्द का अर्थ अंतःकरण, बुद्धि, वृत्ति ऐसे अनेक प्रकार से करते है। तथा ब्रह्म ज्ञान से यह बातें शुद्ध होती है तथा जीवन सुखमय बन सकता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं। वैष्णवाचार्यों में से वल्लभाचार्य भी विज्ञान शब्द का अर्थ 'चेतन' अथवा चैतन्य ऐसा करते हैं। परंतु इन सभी बातों से जैसे ज्ञान स्वतंत्र रीति से सिद्ध नहीं होता, वैसे ही ज्ञान से होने वाले बोध के विकास को जीवन से जोड़ने वाले - जीवन अधिक आनंदमय करने वाला - विज्ञान भी स्वतंत्र रीति से सिद्ध नहीं होता। सही ज्ञान अथवा बोध वहीं रहता है कि जो तुरंत जीवन में उतार सके। विज्ञान में परिवर्तन करने आता है। जब तक यह स्वतंत्ररीति से करने नहीं आता तब तक आया वह ज्ञान ही है ऐसा कहने नहीं आता। अंगिरस ने शौनक के प्रश्न का उत्तर केवलाद्वैति अथवा वैष्णवाचार्य से बिल्कुल अलग भिन्न पद्धति से मुंडकोपनिषद् में दिया है, यह एक ही बात इन दोनों प्रकार के दर्शन में कुछ अपूर्ण है यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

शौनक के क्या जानने पर यह सब 'सर्वनिद्' जाना जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में अंगिरस कहते है, दो विद्याओं के अध्ययन से होता है। १. परा तथा दूसरी अपरा। जो ब्रह्मविद है वह परा तथा अपरा दो विद्याएं है ऐसा मानते हैं।

सारांश, जिस किसी से अपने नित्यत्व का ज्ञान होता है वह परा है, अर्थात् हम अमर रहे इस इच्छा की पूर्ति परा से होती है। इसके विपरीत उसे जो जीने की लालसा रहती है वह उसे इस जगत् से कुछ कर्तव्य रहता है इसलिए, इस जगत् के कुछ बातों की उसे इच्छा रहती है, जिसे वह प्राप्त करने की इच्छा रखता है। अर्थात् जीव के अनेक पहलू होने के कारण उसे उसके लिए जिस ज्ञान की अपेक्षा रहती है, वह अपरा है, लेकिन इन दोनो विद्याओं को अंगिरस विद्या ही कहते हैं। अपरा को अविद्या नहीं कहते यह बात विशेष है।

इस अपरा के भी दो भाग है – एक जीव, तथा दूसरा इसे अपेक्षित विषय जिस जगत् में रहते है, वह इससे भिन्न जग, अतः इसके, इस जीव को ज्ञान कौन करा देगा? इस जीव को क्या चाहिए यह इस जीव को ही पहचानना चाहिए और इसे ही धर्मज्ञान कहते हैं। और वह इस जग में कैसे मिलेंगे अथवा घटित होंगे, इसे नीतिज्ञान कहते हैं। इसका ज्ञान होना अपरा विद्या है।

केवलाद्वैति दर्शन में विज्ञान का असंभव होने से – अर्थात् ज्ञात ब्रह्म ज्ञान आचार में कैसे लाया जाये? यह न समझने के कारण कर्म मार्ग का उच्छेद हुआ। अतः केवलाद्वैतियों ने ज्ञान-विज्ञान यह पारंपरिक जोड़ी छोड़कर परोक्ष ज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान ऐसी नयी जोड़ी निर्माण की। ब्रह्म के स्वरूप विषय का वैचारिक निश्चय ही परोक्ष ज्ञान तथा प्रत्यक्ष अनुभव अपरोक्ष ज्ञान ऐसी उनकी परोक्ष अपरोक्ष की परिभाषा है। इसका परिणाम यह हुआ कि शंकराचार्य के दर्शन ने यद्यपि बौद्ध धर्म का खंडन किया तथा इस देश से उसका निर्गमन हुआ तो भी वैदिक दर्शन का मंड़न तथा आचरण फिर से प्रस्थापित नहीं हो सका। यह काम वैष्णवाचार्यों के दर्शन से हो सका तथा कर्म मार्ग कुछ प्रमाण में कायम हो सका।

परंतु पूर्णवाद ने मात्र "पूर्णत्त्व यही केवल शुद्ध सत्य परमेश्वर।" यह सिद्धांत ज्ञान से, अर्थात् तर्क से योग से, उपासना से, तथा कर्म से – जिसमें स्वीकृत, सुकृत तथा सुकृत ऐसे तीनों कर्म को समाया गया है – निश्चयपूर्वक जानना तथा पूर्णपुरुष यहीं अंतिम सत्य है और इसे पहचानना ही ज्ञान है तथा नैपुण्य (निपुणता) योजकता, लोक संग्रह, लोकमत, काल तथा उपासना इन षड्ंग साधनों से इस ज्ञान का उपयोग जीवन कलात्मक रीति से मन जैसे तथा मानवीयता से जीने के

लिए करना ही विज्ञान माना है। हम मन में जो जो सोचते है वह इस संसार में सहज ही कृति में कलात्मक रीति से उतार सकते हैं तथा मन को सहज खुला रखकर जीना यह पूर्णवाद की दृष्टि से समझा हुआ जीवन में उतारना है। यह बिना ईश्वर कृपा तथा ज्ञान-कर्म-उपासना आदि त्रिकांडात्मक साधनों के बिना संभव नहीं है इसलिए ही आज तक समाज में जो वैदिक कर्ममार्ग की तथा ईश्वर निष्ठा की अप्रतिष्ठा हो रही थी, उसे पूर्णवाद ने रोका है। अतः आधिदैविक पक्ष के संबंध में जो अज्ञान था उसका ईश्वर निष्ठा के कुंडो (वेदी) पर सतत हवन हो रहा है। जिसे पूर्णत्त्व का ज्ञान हुआ उसे आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक यह एक पूर्ण के ही स्वरूप है यह सहज ही समझ में आता है। अतः वह आधिभौतिक में योग्य प्रयत्न कर तथा ईश्वर को शरण जाकर अपने मन के सभी संकल्प ईश्वर की कृपा से कुल योजना से तालमेल बिठाकर सहज ही पूरा कर सकता है।

मन की वासनाएं (इच्छाएँ) सभ्यता के साथ (Civilization के साथ) बदलती रहती है इसलिए ईश्वर को शरण जाकर वासना पूर्ति के लिए किये गये योग्य प्रकार के आधिभौतिक प्रयत्न यह सभ्यता जिस प्रकार विस्तार करती है वैसे ही सभ्यता तथा संस्कृति का मेल भी बिठाते है। इसलिए समय रहते मन का रूप काल के आइने में देखें, अर्थात् काल तथा मन में साहचर्य (तालमेल) रखें ऐसा पूर्णवाद का ज्ञान होने से धर्म की प्रतिष्ठा भी समाज में बढ़ती है। उस से ''पूर्णमदः पूर्णमिदम्'' इस श्लोक का वह अर्थात् परब्रह्म और यह सर्वमिद्म यह दोनों बातें ''पूर्णत्त्व यही केवल शुद्ध सत्य परमेश्वर'' इस सिद्धान्त का 'यहीं' में समाया होने से, परा तथा अपरा, दोनों विद्याओं का समावेश पूर्णवाद में सहज ही हुआ है। इस कारण साधक अवस्था से जो पूर्णवाद ग्रंथ का अध्ययन करता है वह पूर्णत्त्व में अथवा पूर्णपुरुष तक सहज ही जा सकता है तथा उसे पूर्णवाद का ज्ञान तथा विज्ञान इन दोनों का स्पष्ट ज्ञान होता है।

परंतु ज्ञान विज्ञान की, समझना तथा उसे उतारना (To Understand & To Act) यह जोड़ी छोड़ कर केवलाद्वैति जैसे परोक्ष ज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान ऐसी जोड़ी जो स्वीकारता है वह विज्ञान शब्द का अर्थ केवलाद्वैति पंडित जैसे बुद्धि, अंतःकरण, वृत्ति ऐसा करता है। परंतु कठोपनिषद् में विज्ञान का अर्थ बताने वाले वचनों से विज्ञान शब्द का अर्थ बुद्धि, अंतःकरण, वृत्ति ऐसा न लगने से उन्होंने किये विज्ञान शब्द का अर्थ कैसे गलत रहता है यह हम देखेंगे।

कठोपनिषद् का अध्याय १ वल्ली ३ के ५ वें श्लोक में उपनिषदकार कहते हैं -

२. ''यस्तवविज्ञानवान... दृष्टाश्वा इव सारथेः।'' अर्थात् शरीररूपी रथ इंद्रियों द्वारा ही चलित है, परंतु उस घोड़े को किस मार्ग से रथ लेने लगाना है यह जिसके हाथ में घोड़े का लगाम है वह मन बुद्धिरूपी सारथी ही निश्चित करता है। परंतु जो अविज्ञानवान रहता है - अर्थात् वह (एकाध दर्शन का) विज्ञान क्या है यह वह नहीं जानता, उसका मनबुद्धि रूप सारथी सदैव विमनस्क स्थिति में रहता है, दुविधा में रहता है। अतः उसके इंद्रिय उसके नियंत्रण में नहीं रहते। अतः वह अपने इंद्रियों से अपेक्षित काम नहीं करवा सकता। अतः उसके इंद्रिय रूप अड़ियल दुष्ट घोड़े उसे चाहे जिस रास्ते से उसे ले जाते है। उन्हें बार बार फटकारकर नियंत्रण में रखना तथा योग्य मार्ग से रथ ले जाना उसके मन बुद्धि रूप सारथी को बहुत ही दुष्कर काम बनता है। सारांश, जो विज्ञान जानता नहीं उसे समझा हुआ उतारना अत्यंत कठिन कर्म है।

इसका मुख्य कारण यह है कि, मानवी जीवन सामान्यतः दोहरेपन का शिकार है जिसमें विचार तथा आचार यह दो भिन्न बातें है। विचार का प्रात्यक्षिक (Practicle) रूप आचार है। यह परिभाषा ठीक लगती है। परंतु सामान्य जीवन में ऐसा नहीं होता। विचार हुआ और उसे तुरंत आचार में लाया ऐसा इतनी सहजता से सामान्य व्यक्ति के जीवन में नहीं होता। वैसे ही विचार करना है इसलिए विचार करने नहीं आता तो विचार करना सीखना पड़ता है, वैसे मन में आया कि वह कृति में उतारे ऐसा सहज तथा अपने आप नहीं होता। मन के संकल्प कृति में उतारने के लिए प्रयत्न करने पड़ते है। परिश्रम लेने पड़ते है। इंद्रियों को मन के अनुकूल अधिकार से ढ़ालने की आदत, पहले से ही लड़कपन में आज्ञाकारी वृत्ति से रहकर अपने व्यक्तित्त्व में उतारनी पड़ती है। यदि यह आदत नहीं है तो इंद्रिय दुष्ट अड़ियल घोड़ें जैसे अपने मन के नियंत्रण में नहीं रहते तथा उसे अपनी मन की बात कृति में उतारना संभव नहीं बनता। ऐसे आदमी को श्रुति अविज्ञानवान-विज्ञान न जानने वाला कहती है।

परंतु कठोपनिषद् के अध्याय १ वल्ली ३ के अगले ही छठे श्लोक में उपनिषदकार कहते है,

३. ''यस्तुविज्ञानवान भवति... सदश्वा इव सारथेः।'' अर्थात् जो विज्ञानवान रहता है अर्थात् अपने विचार इंद्रियों द्वारा आचरण में उतारने की कला जिसे प्राप्त है वह कोई भी काम मन लगाकर करता है। उसकी इंद्रियां-जिस प्रकार अच्छे घोड़ें सारथी के लगाम के इशारे पर चलते है, उस प्रकार उसके स्वाधीन रहते है। अतः

वह समझा हुआ उतार सकता है। ऐसे आदमी को श्रुति विज्ञानवान-विज्ञान जानने वाला कहती है।

वैसे ही इस उपनिषद् के अध्याय १ वल्ली ३ श्लोक ८ में उपनिषद्कार कहते हैं, जो ज्ञान विज्ञानवान रहता है अर्थात् समझना तथा उतारना जानता है वह

४. **''यस्तुविज्ञानवान भवति समनस्क... यस्माद्भूयो न जायते''** ''जो विज्ञानवान समाहित चित्त वाला - अर्थात् सदा ही सावधान (Alert) चित्त का - तथा विशुद्ध अंतःकरण का रहता है वह (अपने अपने दर्शन के) श्रेष्ठ पद तक पहुँच सकता है तथा फिर उस मार्ग से पतित नहीं होता।'' परंतु इसके विपरीत कठोपनिषद् में ही अध्याय १ वल्ली ३ के ७ वें श्लोक में जैसे कहा गया है।

५. ''यस्त्वविज्ञान ... संसारं चाछिगच्छति'' अर्थात् जो अविज्ञानवान रहता है वह सदैव विषण्ण चित्त तथा अमंगल रहता है। वह इस परमपद को प्राप्त न होकर सतत् अधःपतित होता है।

उपरोक्त सभी वचन विज्ञान शब्द का अर्थात् उतारना, व्यवहार में लाना क्या होता है यह बताने वाले थे। इन वचनों में विज्ञान का अर्थ बुद्धि, अन्तःकरण, मन ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है। उल्टे मन लगाकर (युक्तेन मनसा) कोई भी काम करने वाला अपने इंद्रियों पर सतत् नियंत्रण रखने वाला तथा आचरण करने वाला निर्मल मनुष्य विज्ञानी अथवा विज्ञानवान रहता है यह सिद्ध होता है।

तैतिरीय उपनिषद् के वल्ली २ अनुवाक ५ में ऋषि कहते हैं -

६. **''विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुमेपि। ... सर्वान्कामान्समश्नुत''** आदि। अर्थात् विज्ञान ही यज्ञ करता है। समझा हुआ व्यवहार में उतारने पर यज्ञ सिद्ध होता है। यह यज्ञ कौन सा- तो ''यज्ञेन यज्ञमयजंत देवाः'' आदि श्रुति वचनों ने वर्णन किया हुआ यज्ञ है। अर्थात् यज्ञ में कर्म आता ही है। उसके सिवाय कर्म का यहां स्वतंत्र उल्लेख भी आया है। इससे विज्ञान यह अन्य शुभकर्मरूपी पुण्य का भी यज्ञ जैसे ही विस्तार करता है। वैसे ही वह अन्य लौकिक कर्म का विस्तार भी करता है। इंद्रादि तैतिस करोड़ देवता भी विज्ञान इस जेष्ठ ब्रह्म की उपासना कर ही कर्म का विस्तार करते हैं। वेद में भी जगत् का नियमन करने वाले विष्णु को ही ब्रह्म अथवा जेष्ठ ब्रह्म ऐसे नाम है। अतः विज्ञान को अथवा आचार में लाने वाले को जो ब्रह्मरूप से जानता है - विज्ञान अथवा आचार यह भी ब्रह्म है यह जानता है - वह ब्रह्म को पहचानने की भूल नहीं करता, यह सिद्ध है। वह शरीर धारण करने वाला विज्ञानरूपी जीव सभी पाप नष्ट करता है। उस जीव की सभी कामनाएं पूरी

होती है। उसे जो चाहिए वह उत्तम प्रकार के भोग उपभोग करने को मिलते हैं।

इस एक उपनिषद् में विज्ञान शब्द के विष्णु, जीव तथा समझा हुआ व्यवहार में लाने वाला इस प्रकार के अर्थ मिलते हैं। कौषितकी उपनिषद् में अध्याय तीन मंत्र २ में अगला वचन है -

७. **"अथ खलु प्राण एवं प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति"** आदि अर्थात् यह "प्राण वास्तव में 'प्रज्ञात्मा' होकर शरीर रूप धारण करता है।"

सारांश तैतिरीय उपनिषद् में विज्ञान को जिस अर्थ में ब्रह्म कहा गया है तथा कौषीतकी उपनिषद् में प्राण को भी जब 'प्रज्ञात्मा' कहा गया है, तब वेदों में आत्मा तथा ब्रह्म यह शब्द पूर्णपुरुष वाचक (सर्वसमावेशक) है ऐसा सिद्ध होता है। परंतु इसके एक विशेष अंग का जब निर्देश करना होता है तब अभेद दर्शक आत्मा तथा ब्रह्म यह पद कायम रखकर उस हर एक अंग को अपेक्षित विशेषण लगाये रहते हैं जैसे साक्षी परब्रह्म कहने में परब्रह्म का एक अर्थ तरह से साक्षी पुरुष ऐसा निहित है। वैसे ही पूर्णपुरुष के शिवतत्त्व को - आनंदमय आत्मा तथा विष्णुतत्त्व को जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति इन अवस्थाओं से युक्त तथा वासनादियुक्त जीवात्मा ही विज्ञानमय आत्मा कहा है। परंतु ऐसे भिन्न भिन्न विशेष नाम से यद्यपि आत्मा के अथवा पूर्ण पुरुष के पृथक-पृथक अगों के रूप बताये रहते हैं। तो भी उनमें कार्यकारणभाव नहीं होता है। अतः इन सर्वांगो से युक्त ऐसे आत्मतत्त्व को पूर्णपुरुष अथवा पूर्ण ऐसा स्पष्टतया उपनिषद् आदि ग्रंथों में दिखाई देता है।

उपनिषद् में अगला वचन है -

८. **"तस्यैष एवं शरीर आत्मा। यः पूर्वस्य। ... अन्वयं पुरुषविधः।"** अर्थात् यही वह पहले का विज्ञानमय आत्मा के शरीर अथवा शरीरी आविष्कार है। इसी विज्ञानमय आत्मा के अन्तर में जो आत्मा है वह आनंदमय है। वह पूर्ण से युक्त है तथा पुरुषविध है। वास्तव में उसकी पुरुषविधता ही (पूर्णपुरुषत्व) सिद्ध होता है।

इन उपर्युक्त वचन के केवलाद्वैति भाष्य में मय अथवा मयट इस प्रत्यय संबंध में बहुत विचार किया गया है तथा यहां आनदमय को अर्थात् आनंदमय आत्मा को कर्मात्मा बताया है। परंतु यह विचार प्रणाली ठीक नहीं है। कारण आत्मा तथा आत्मन यह पद ही वास्तव में स्वरूप बाधक है अर्थात्, वह कार्यकारण संबध का बाध उसका निषेध करने वाले ही है। सिवाय उपरोक्त वचन में स्पषटतया "तेन एष पूर्णः" उसने यह पूर्ण है ऐसा कहा। अतः यहां आनदमय कहा गया आत्मा पूर्णपुरुष का ही अर्थात् उस पुरुष विधाका शिवतत्त्व ही है। उसका अर्थात् उस

आनंदरूप शिवतत्त्व आत्मा का स्वरूप ज्ञान अथवा ज्ञान ही सच्चिदानंद अपरोक्षानुभूति ही है।

इस आनदमय आत्मा में – शिवतत्त्व में एक ज्ञान के सिवाय दूसरा कुछ संभव नहीं है। परंतु विज्ञानमय आत्मा का वैसा नहीं है। वहां वासना, कर्म अथवा भोग तथा 'तृप्ति' यह त्रयीरूप विद्यमान होने से वह यज्ञ चलता है। वेद में इसे विष्णु कहा गया है। अतः विज्ञानमय आत्मा का अथवा विष्णु तत्त्व का जो ज्ञान, वह वासना, भोग (कर्म) तथा तृप्ति इस त्रयी से युक्त जो है वह विज्ञान है।

भगवद्‌गीता के छटे अध्याय के ८ वें श्लोक में भगवान कहते हैं –

९. **''ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजिर्तेद्रिय... आदि।''** अर्थात् ''जो ज्ञान तथा विज्ञान से युक्त हुआ तथा जिसने सभी इंद्रियों को जीत लिया, वह सर्वोच्च स्थान में स्थिर होता है। फिर उसे मिट्टी तथा सोना एक जैसे ही लगने लगते है तभी उसका योग सिद्ध हुआ ऐसा कहा जाता है अथवा उसे ही 'सिद्धयोगी' कहा जाता है।

सारांश, ज्ञान-विज्ञान से युक्त होने वाले को ही गीता योगी कहती है मात्र ज्ञान अथवा मात्र विज्ञान ऐसा श्रुति, स्मृति तथा पुराण में कहीं भी अलग अलग स्वतंत्र कहीं भी नहीं है। सभी जगह ज्ञान-विज्ञान की जोड़ी ही दिखाई देती है। शंकराचार्य ने भी मात्र एक निःश्रेयस हेतु के लिए कहता हूँ, ऐसा कह कर ही फिर अकेले ज्ञान की महती गायी है। अतः उनका बताया हुआ ज्ञान ही ज्ञानविज्ञान अथवा 'यह सर्व' (सभी) का सर्वमिदम् ऐसी उसकी अतिव्याप्ति करने में बहुत दोष आता है। परंतु आचार्य ने ही पहले ही निश्रेयस के लिए कहता हूँ ऐसा कहकर ही फिर ज्ञान की महिमा गायी है अतः उन पर यह दोष नहीं आता।

ऐसा होने का कारण यह है कि ज्ञान तथा विज्ञान यह दिखने में दो अलग अलग बातें यद्यपि लगती हैं तथा उनका वर्णन भी अलग प्रकार से संक्षेप से समझना तथा कार्यरत होना इस पद्धति से करने पर भी ज्ञान तथा विज्ञान ऐसे दो स्वतंत्र (Water Tight Compartment) नहीं है। तो एक ही चीज अथवा बात के भिन्न भिन्न संदर्भ में अथवा अध्ययन की दृष्टि से, किया हुआ यह वर्णन है। अतः अंगिरस ने शौनक से, ''जो ब्रह्मविद रहते हैं वह, परा तथा अपरा विद्याओं का अध्ययन करें (द्वै वि. वेदितव्ये), ऐसा कहते हैं।'' ... यहीं कहा है।

यहां वास्तव में सर्वमिदम् – यह सब जानने वाली विद्या एक ही है, एकल ऐसी ही है। लेकिन अध्ययन के लिए, समझने के लिए उसे परा तथा अपरा अथवा ज्ञान

तथा विज्ञान अथवा विद्या तथा अविद्या नाम से जानने की पद्धति है ऐसा कहा गया है। परब्रह्म प्रकरण के पहले चौथे प्रकरण में विद्या-अविद्या में, अविद्या यह विद्या के विरोधी न होकर विद्या से अविद्या का नाश नहीं होता, यह जैसे हमने स्पष्ट किया, वैसे ही उसकी सहउपासना ही वेदों ने बतायी है यह भी देखा। इसमें इस सहउपासना का रहस्य यहीं है। वहां इन दोनों की उपासना वास्तव में एक ही तत्त्व की उपासना है ऐसा स्पष्टतया नहीं कहा। कारण अगला परब्रह्म विषय विद्या से ही संबंधित होने के कारण तथा विद्या द्वारा वह समझा कर अनुभव करने का होने के कारण हमने वैसे नहीं कहा।

समझना तथा कार्यान्वित होना (मराठी कळणे तथा वळणे) इन दो शब्दों में पहले हमारे बोध में आये, हमने जिसका अध्ययन किया है (थोड़ा बहुत अनुभव भी किया) सभी नहीं आता यह अनुभव हम सबको है। एकाध ने चाहे जो वर्णन कर कहा हो - बिल्कुल सरलकर बताया तथा वह सब शब्दशः हमारी समझ में आया-बिल्कुल हमने धड़ाधड़ कहकर भी बताया - फिर भी वह सब हमें ठीक से समझ में नहीं आया ऐसा हमारा मन ही हमसे कहने लगता है (स्वीकार करने की बात तो आगे ही रहती है) इसका कारण समझने में कुछ बात कार्यान्वित करने की तथा आचार की रहती ही है। वैसे ही जो बातें हम कार्यान्वित कर सकते हैं वह हमारी समझ में आया ऐसा भी हम नहीं कह सकते।

उदाहरण- हम बटन दबाकर पंखा चालू करते हैं, सिलाई मशीन चलाते हैं, साईकल चलाते है, मोटार, हवाई जहाज चलाते हैं, लेकिन उन सभी का यांत्रिक अथवा तांत्रिक ज्ञान हमें है ऐसा नहीं है। साइकल चलाते समय हम संतुलन रखते है। लेकिन हम ऐसा कह नहीं सकते कि हमें बैलन्स का सिद्धात (Principle of balance) सैद्धांतिक दृष्टि से समझ में आया ऐसा नहीं होता। परंतु सैद्धांतिक कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ ऐसा भी नहीं कह सकते।

इसका ही अर्थ कार्यान्वय में समझना और समझने में कार्यान्वय अन्तर्गत रहते हैं। परंतु वह पूर्णतः पूर्णत्त्व से नहीं होता। लेकिन बिल्कुल रहता ही नहीं ऐसा भी नहीं है। अतः वास्तव में समझना तथा कार्यान्वित करना, ज्ञान विज्ञान एक ही बात से अथवा वस्तु से संबंधित रहते हैं। जैसे मोटर, साईकल आदि में एक ही बात रहती है, वैसे ही यह है। उस एक के ही कुछ वर्णन को तथा जानकारी को ज्ञान कहते हैं तथा दूसरे को विज्ञान।

इसके लिए ही अट्टहास से शरीर (आधिभौतिक), जीव (आधिदैविक) तथा

आत्मा (आध्यात्मिक) इनका हित समझकर किया हुआ अट्टहास युक्त, प्रयत्न पूर्वक किया हुआ प्रपंच ही परमार्थ बन जाता है। तो लालच, दंभ, आदि स्वार्थ परायण वृत्ति से किया हुआ परमार्थ फिर वह चाहे सगुण भक्ति हो अथवा निर्गुण-निराकार की उपासना-प्रपंच (गृहस्थि) ही बन जाता है - ऐसा पूर्णवाद का दृढ़ मत है। अतः सयानापन इसी में है कि हमें ज्ञान-विज्ञान, परा-अपरा, विद्या-अविद्या आदि को स्वतंत्र नहीं मानना चाहिए, वह सभी एक ही है। एक ही तत्त्व दर्शाने वाले है। यह समझकर ही अगला भाग पढ़े।

कारण यह वास्तव में एक बात अथवा तत्त्व दूसरा तीसरा कुछ भी न होकर एक पूर्णपुरुष ही है। ऐसा वेद का दृढ़मत सर्वत्र दिखाई देता है और इसलिए ही (Mind & Matter is one and the Same Reality) मन तथा जड़ द्रव्य यह वास्तव में एक है यही और यही अंतिम सत्य तत्त्व है यही पूर्णवाद का सिद्धांत है। इसलिए ही वह आद्य शंकराचार्य तथा वैष्णवाचार्य के सिद्धांत को (परब्रह्म तथा हरी) सत्य ही कहता है। परंतु उनको पूर्णसत्य तथा सत्य का सत्य नहीं कहता, यह बात आप समझे।

इस बात को समझने पर यह बात भी हमारे समझ में आ सकती है कि, जो लोग ईश्वर का तथा आत्मा का बिना कुछ विचार करें अपना संसार अट्टहास से-मानवीयता से कर थोड़ी-बहुत जनसेवा, अन्नदान करते हैं, वह ईश्वर की, तथा आत्मा की कुछ भी सेवा नहीं करते ऐसा नहीं होता क्योंकि उन्होंने कुछ कार्यान्वय, आचार किया ही होता है। परंतु उनकी वह सब ईश्वर सेवा तथा आत्मसेवा ही बनती है। उनको अलग कुछ करने की जरुरी ही नहीं, ऐसा भी नहीं होता, ऐसा कहते नहीं बनता। अतः बिना ईश्वर को जाने, आधिदैविक पक्ष से उपासना किये, की हुई जनसेवा यह ईश्वर सेवा आधिदैविक पक्ष की सेवा नहीं बन सकती, सारांश, ज्ञान-विज्ञान, परा-अपरा, विद्या-अविद्या यह जोड़िया एक ही वस्तु से, तत्त्व से सबंधित है यह बात पक्की समझे, तथा साधक अगला भाग पढ़ने पर उसे पूर्ण पुरुष की वास्तव अनुभूति प्राप्त करने में कोई बाधा नहीं होगी तथा उसका प्रपंच परमार्थ एकरूप होकर पूर्णत्त्व प्राप्त कर सकेगा।

बृहदारण्यकपनिषद् में विज्ञानमय ब्रह्म का अर्थात् विष्णु रूप पूर्णपुरुष का जो विज्ञान विशद किया है उसे अब आगे दिया जा रहा है।

१०. **''स वा आयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमय... यत्कर्म कुरुते तदर्भिसंपद्यते।''** आदि। अर्थात् जो जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं से युक्त ऐसे इस पर

(अर्थात् तीनो लोक में) संचार करने वाला विज्ञानात्मा हैं, वह प्राणमय, चक्षुमय, कानों से युक्त, पृथ्वी, आप, तेज, आकाश, वायु, आदि पंचतत्त्व से युक्त, वैसे ही पंचतत्त्व से परे अर्थात् अतेजोमय, अर्थात् आकाशमय, काममय, वैसे ही अकाममय, क्रोधमय, वैसे ही अक्रोधमय, धर्ममय वैसे ही अधर्ममय – सारांश, सर्वमय अर्थात् दृश्यमय तथा अदृश्यमय ऐसा सर्वव्यापी है। उसमें से ब्रह्म कहने पर नित्य है यह कहने की ही आवश्यकता है। नित्यत्त्व से कर्म का भी बोध होने से अर्थात् वह किया गया है इसका बोध होने से जीव यह कार्य रूप नहीं यह सिद्ध होता है।

अविद्या प्रतिबिंबित चैतन्य ही जीव है, इस केवलाद्वैति जीव प्रक्रिया का ही इस वचन से निषेध होता है। यह विज्ञानमय आत्मा तथा जीव जिस प्रकार का होगा – अर्थात् जैसे आचार होगा वैसे होता है। पापाचरण से पापी पुण्यकर्म से पुण्यशील बनता है।

विष्णु अथवा उसी का अंशभूत यह जीव काममय अर्थात् वासनादि से युक्त ऐसा है ऐसे ऋषि कहते हैं तथा जिसकी जैसी वासना, वैसे उसका निश्चय तथा जैसे निश्चय वैसे उससे कर्म होगा (इस लोक में मनुष्य का जैसे निश्चय होता है, वैसे उसका प्रिय होता है अतः विद्वान निश्चय करें। अर्थात् यहां जो निश्चय बताया है वह पूर्णपुरुष के स्वरूप का ही है। आदि विषय पूर्णवाद ग्रंथ के पृष्ठ ४७ पर हमने देखा है, उसका यहां स्मरण हो)

मनुष्य जैसे कर्म करता है वैसे ही उसे सामान्यतः फल मिलता है। ''जन्म घेणे लागे । वासनेच्या संगे।।'' (वासना के कारण जन्म है) यह संत तुकाराम का कथन है। ''अन्ते मतिः सा गति'' ऐसा उपनिषद् तथा गीता का कथन है। अतः हमारे जन्म की वासना निश्चित पहचानना ही धर्म की दृष्टि से हमारा प्रथम पुरुषार्थ हैं।

सारांश, उपरोक्त सभी प्रतिपादन में विज्ञानमय आत्मा का काममय पुरुष का अर्थात् जीव का प्रथम सार्वदेशिकत्व कहकर ही उसका ब्रह्मत्त्व स्थापित किया है। यज्ञ यह कर्तव्य है ऐसा प्रथम सिद्ध होने पर ही – जैसी वासना वैसे यज्ञ (यथा कामः तथा ऋतुः) जैसा यज्ञ वैसे काम (यथा ऋतुः तथा कर्म) और जैसे कर्म वैसे भोग ऐसे उस विज्ञान (वळवणे – अर्थात् कार्यान्वय) का व्याख्यान हैं। इससे वासना जहां जाती है वहां उपेक्षा की बुद्धि से देखो, ऐसा ऋषि कदापि नहीं कहते। यह स्पष्ट है। धर्म के जो विरुद्ध नहीं है वह काम अथवा वासना मैं ही हूँ (धर्माविरुद्ध कामोस्मि) ऐसा गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है। इससे धर्म

अथवा जन्म का कारण मूल वासना के अनुकूल सभी वासना विष्णु रूप ही है। यह सिद्ध होता है अर्थात् इसकी पूर्ति करना - अर्थात् उसके लिए यज्ञ रूप कर्म ही यज्ञ है यह प्रत्येक का धर्म है। जन्म का कारण वासना की पूर्ति करना यहीं इस जन्म की ''इतिकर्तव्यता'' है। सारांश, जन्म लेने पर किसी को अपना ध्येय ग्रंथ पढ़कर, परिस्थिति से अथवा किसी विद्वान को अथवा नेता को पूछ कर कुछ निश्चित करना नहीं होता है तो वह पहले से ही निश्चित रहता है और जो पहले से ही निश्चित है उसे पहचानना भर है। ज्ञात कर लेना है। एक बार वह निश्चित जानकर मात्र वैसे कर्म आवश्यक है, ऐसा श्रुति का प्रतिपादन है। संक्षेप में, विज्ञान अथवा कार्यान्वय, आचार (कर्म) का पालन करना ही धर्माचरण है। परंतु यह दिखाई देता है वैसे वास्तव में सरल तथा आसान काम नहीं है।

दूसरा यह की साक्षीतत्त्व तथा आत्मा और यज्ञरूप (कर्मरूप) विष्णुतत्त्व अथवा जीव यह दोनों तत्त्व नित्य है। अतः वह वस्तुतः भिन्न सर्वतंत्र स्वतंत्र नहीं है। कारण वह एक पूर्ण पुरुष के ही दो रूप है और इसलिए ही वह नित्य है। अतः इन में से किसी का भी त्याग करना, अर्थात् अत्यंतिक त्याग करना वास्तव में संभव नहीं है। प्राणी मात्र के ह्रदय में मृत्यु का भय रहता ही है। अर्थात्, १. अमर होने की इच्छा वैसे ही, २. मन जैसे हो यह बुद्धि स्वभावतः दिखाई देती है। इस प्रकार पहले शिवतत्त्व की तथा दूसरी विष्णुतत्त्व की साक्ष सभी में सदैव जागृत रहती है। 'एकांगी जीवन' यशास्वी है ऐसा कहना कहां तक उचित है... सैद्धांतिक भाषा में मूलतः एक ही जीवन के अभ्युदय तथा निःश्रेयस ऐसे दो अंग शिवतत्त्व तथा विष्णुतत्त्व यह नित्य अंग होने से अर्थात् ऐच्छिक अंग न होने के कारण उनमें से किसी एक का त्याग होना भी संभव नहीं है।

श्रीमद् आद्यशंकराचार्य ने इनमें से मात्र एक निःश्रेयस पर ही पूर्व संकल्प युक्त ऐसा व्याख्यान किया। अतः उस एक ही अंग का अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार करना तथा उसी को सर्वस्व मानना यह मात्र हटधर्मिता है।

योगी अर्थात् परमात्मा के अंतिम तत्त्व से एकाकार होने वाला है और इसलिए गीता में उसे ज्ञान-विज्ञान युक्त कहा है। अतः वेद का केवल सत्य पूर्णपुरुष ही है।

अब तक विद्या-अविद्या तथा ज्ञान-विज्ञान यह एक ही बात दर्शाते हैं, एक ही बात से संबंधित है यह हमने देखा। परंतु उसमें से विद्या-अविद्या यह जोड़ी अथवा यह वर्णन अनुभव रूप वा अनुभव जन्य है, तो ज्ञान-विज्ञान यह जोड़ी अथवा वर्णन यह साधन रूप है - अर्थात् अनुभव प्रकट करने वाले है। संस्कृत में वेद को

पुरुष वेदपुरुष कहते हैं। वेद शब्द पुलिंग है, तो विद्या शब्द स्त्रीलिंग है। पूर्णपुरुष के संपूर्ण सांग ज्ञान को वेद कहा है तथा उसके अंगज्ञान को अर्थात् प्रत्येक रूप के अलग ज्ञान को विद्या ऐसा स्त्रीलिंग संबोधित किया जाता है। विद्या–अविद्या यह पूर्णपुरुष के एक अंगज्ञान का अर्थात् विद्या का ही प्रकार हैं।

इससे 'क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या' इस श्रुति वचन का विचार करने पर अमृतत्त्व देने वाले शिवतत्त्व के ज्ञान को स्त्रीलिंग विद्या यह नाम दिया है अर्थात् उपरोक्त विचार करने पर वह शिवतत्त्व का पूर्णत्त्व दर्शाने वाला न होकर उस पूर्णपुरुष का शिवतत्त्व यह एक अंग है, रूप है, यही दर्शाता है। इससे अर्थात् इस युक्तिवाद से ही केवलाद्वैती ज्ञान पूर्णज्ञान नहीं बनता।

ज्ञान के साथ बिना विज्ञान के उसे पूर्णत्त्व वेद रूप प्राप्त होता ही नहीं और इसलिए ही छांदोग्यपनिषद् में अध्याय ७ खण्ड १७.१ में उपनिषदकार कहते है :

११. **"यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति ... विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति।।"**
अर्थात् नारद ऋषि सनतकुमार से कहते है जब मनुष्य पूर्ण पुरुष अंतिम सत्य को पूर्णतः जनता है तब वह सत्य बोलता है। जो उसे पूर्णतः जानता है वही उसके सत्य स्वरूप का प्रतिपादन कर सकता है। अतः विज्ञान को भी जानने की इच्छा करनी चाहिए इस उद्देश्य से भगवान (कारण मात्र ज्ञान से गुजारा नहीं हो सकता) मैं विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से आपके पास आया हूँ। आदि।"

उपरोक्त मूल वचन में पूर्णपुरुष को 'पूर्णतः' जानता हूँ ऐसा शब्द प्रयोग न होते हुए अर्थ लगाते समय वह वैसा किया गया है, इसका कारण इस वचन का आगे पीछे का संदर्भ वैसा ही है। वह पाठक ज्ञात न होने से पूर्णतः शब्द यदि नहीं प्रयोग किया होता तो इस वचन का रहस्य, पाठक को समझना कठिन होता। इसलिए यह विशेष शब्द प्रयोग यहां किया गया है।

यहां मात्र 'सोऽहं' अर्थात् 'वह मैं हूँ' इस अद्वैत ज्ञान से मनुष्य मात्र बड़बोला बनता है, ऐसे सनत कुमार ने १६वें खण्ड में कहा है और इसलिए ही नारद ने सत्य का सत्य ज्ञात हो तथा बता सके इसलिए विज्ञान के संबंध में सनत कुमार के पास विज्ञान की विशेष जिज्ञासा प्रकट की है। परंतु सोऽहं से मनुष्य बड़बोला बनता है यह वचन प्रत्यक्ष देखने पर अर्थात् "पूर्णतः' शब्द प्रयोग की यथार्थता पाठक को ज़ात होगी। इस दृष्टि से वह वचन भी आगे दे रहे हैं।

१२. **"एषा तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति। ... सत्यं भगवो विजिज्ञास इति"**

आदि। अर्थात् सनतकुमार नारद से कहते हैं, 'जो सोऽहं' अद्वैत ज्ञान का ही मात्र प्रतिपादन करता है, वह वास्तव में अतिवादी तथा दुराग्रही है।' इस पर नारद अपनी स्वीकृति देते है, हे भगवन्, आप जो कह रहे हैं वह सही है और वास्तव में मैं अतिवादी हूँ। उस पर सनतकुमार नारद को सिखाते हैं, ''ऐसे एकांगी ज्ञान का स्वीकार न कर उस केवल सत्य को पूर्णतः जानने की जिज्ञासा रखे।'' इस पर नारद सनत कुमार को नम्र प्रार्थना करते है कि, मैं सत्य की पूर्णसत्य की ही जिज्ञासा करता हूँ।

उपरोक्त नारद-सनत कुमार संवाद से पाठक के समझ में आयेगा कि छांदोग्य-उपनिषद् के अध्याय ७ खण्ड १६ में सनत कुमार ने नारद को मात्र सोऽहं ज्ञान से मनुष्य बड़बोला बनता है, उसे संपूर्ण सत्य समझता नहीं, अतः संपूर्ण सत्य जानने की इच्छा मनुष्य करें। ऐसा उपदेश करने पर नारद ने विज्ञान के संबंध की जिज्ञासा छांदोग्य उपनिषद् के अध्याय ७ खण्ड १७ के अगले खण्ड में प्रदर्शित की है। अतः सत्य के संपूर्ण ज्ञान के लिए अर्थात् अंतिम पूर्ण सत्य के संपूर्ण ज्ञान के लिए अर्थात् पूर्णपुरुष के पूर्णतः ज्ञान के लिए ज्ञान-विज्ञान इन दोनों की जानकारी रखना आवश्यक है। वैसा न करने पर मात्र ज्ञान से प्राप्त होने वाले शिवतत्त्व की प्राप्ति जीवन का इति कर्तव्य नहीं बन सकता। कारण सोऽहं जप अर्थात् अपने हर श्वास से होने वाले सो तथा हं के सूक्ष्म आवाज पर अनुसंधान रखकर अर्थात् वह और वह अंतिम सत्य मैं ही हूँ का अनुसंधान करना है। परंतु यह अंतिम सत्य वेद जैसे वास्तव में ज्ञान विज्ञान युक्त, ज्ञान विज्ञान रूप होने से विज्ञान का विचार न करते, उसके मात्र एक ही अंग पर ज्ञान पर ही अनुसंधान रखने पर मैं सच्चिदानंद शिव रूप हूँ यह भी अंतरंग में जाये, तो भी उससे अंतिम सत्य के साथ आने वाले सामर्थ्य-सत्ता, वैभव, जीवन उत्साह आदि प्राप्त होना कठिन ही है। अतः यह भूल सनत कुमार जब नारद को समझाते हैं तब उन्होंने विज्ञान की जिज्ञासा कर उसे भी जान लिया।

इतनी सभी गंभीर बातें सिद्धान्तवत रीति से हमने प्रमाण माने हुए 'श्रुति-स्मृति-पुराणादि' ग्रंथ से स्पष्ट होते हुए भी अपने समाज में एकांगीपन को मात्र 'ज्ञान तथा शिवतत्त्व' को ही कैसे चिपके रहे यह आश्चर्य की बात है। संस्कृत के अज्ञान के कारण यह हुआ ऐसा कहने पर यह अज्ञान अधिक से अधिक १०० वर्षों से चलते आया है (इ.स. १८५० से)। परंतु दर्शन को आया हुआ यह एकांगी दृष्टिकोण तो लगभग ढ़ाई हजार (२५००) वर्षों से आया हुआ दिखता है। अतः इसका उत्तर कालमहिमा तथा ईश्वरेच्छा ऐसा ही दिया जा सकता है।

मूल ग्रंथ में विज्ञान की जो परंपरा बतायी है वह इस प्रकार है - जीवन में तीव्रतर ऐसे सुख की लालसा रहे बिना मनुष्य कृति अथवा कर्म नहीं करता, वह उद्देश्य युक्त संकल्पयुक्त कर्म नहीं करता - अथवा वर्तमान भाषा में प्रायोगिक भूमिका से कर्म नहीं करता। बिना निष्ठा श्रद्धा संभव नहीं होती। श्रद्धाहीन मनन नहीं कर सकता। बिना मनन के कोई बात ठीक समझ में नहीं आ सकती इसलिए मनन तथा निदिध्यास के बिना अंतिम सत्य पूर्णतः समझना संभव ही नहीं, अर्थात् उसका ज्ञान भी संभव नहीं बनता।

यह विज्ञान परंपरा जो समझा लेगा, उसकी यह बात समझ में आएगी कि, इसकी शुरुवात संकल्प युक्त कर्म से है। कर्म ही यदि संकल्प युक्त नहीं है तो उसका फल मिला या नहीं यह समझ में नहीं आ सकता। मनुष्य इस बात पर उदासीन ही रहेगा। सिवाय फल नहीं मिला तो 'क्यों न मिला' इसका शोध लेने के लिए लगने वाले तप के लिए वह कभी भी प्रवृत्त नहीं होगा तथा कुछ भी नया प्राप्त न कर सकेगा और यदि फल मिले भी तो उसके तथा कर्म के संबंध पर मनुष्य को चाहिए वैसी निष्ठा भी नहीं रहती। अतः फल न मिले तो तप और मिले तो कर्म पर निष्ठा निर्माण होने के लिए कर्म सकाम संकल्प युक्त ही रहना जरुरी है। एक बार यदि निष्ठा निर्माण हुई तो उससे सहज अनुभूति मिल सकती है।

परंतु जिसे जो होगा सो होगा ऐसा यदि चलता है तो संकल्प युक्त कर्म कर ही नहीं सकता तथा विज्ञान को वह पात्र नहीं बनता। लेकिन इसके विपरीत जिसके पास ऐहिक जीवन की लालसा तथा निग्रह है वही सही विज्ञान का अधिकारी है। ईश्वर भक्ति तथा उपासना यह दोनों विज्ञान के ही अंग हैं।

मन के जैसा होने में अथवा प्राप्त करने के लिए लौकिक दृष्टि से आलस्य त्याग कर कर्म करना पड़ता है, इसमें कोई दो राय नहीं है। लेकिन मात्र कर्म से भी यश की हम हामी नहीं भर सकते। अतः यशार्थ ईश्वर की आराधना विशेषतः सगुण ईश्वर की आराधना ही आवश्यक है। "पेरणे प्रयत्न पिकणे ही कृपा। यत्न नव्हे सोपा कृपेविना।।" (मराठी अभिनव अभंग, ले. डॉ. पारनेरकर) (बोना हमारे हाथ में, फसल देना ईश्वरी कृपा है) यह अनुभव सभी का है। लेकिन जिसे फसल की लालसा है तथा ऐहिक जीवन की कामना है उसे ही इसका महत्त्व है। वर्तमान पीढ़ी में जीवन के प्रति तीव्र लालसा (अभिनिवेश) ही नहीं रही। वह प्रथम सीखकर निर्माण किये बिना अगली बातें निरर्थक हैं। मजबूरी से मरने तक जैसे तैसे जीने वाला, फिर उसने यदि कोई अच्छा काम भी किया तो वह धर्म के अनुकूल जिया

ऐसा शास्त्रतः नहीं होता। तो अपने धर्म के लिए अभिनिवेश से (जोश), तथा ऐहिक लाभ प्राप्त करने के लिए जो यथाविधि मानवीयता रखकर जो सतत् प्रयत्नरत है वही धर्म से जीते रहता है। जीने का अर्थ है सतत् संकल्प युक्त कर्म करते रहना । अतः विज्ञान की पूर्ती बिना कर्म की नहीं हो सकती। अतः 'अथातो धर्मजिज्ञासा' यह पूर्वमीमांसाकार का जैमिनी सूत्र तथा उसपर छांदोग्यपनिषद् में नारद की विज्ञान-जिज्ञासा।

सारांश, इस प्रकरण में यद्यपि विज्ञान पर अधिक बल दिया गया है तो भी ज्ञान-विज्ञान यह एक ही रथ के दो पहिये हैं। इसमें से कोई भी गौण नहीं है तथा किसी एक से भी काम नहीं बन सकता। अतः हर एक को चाहिए कि वह ज्ञान-विज्ञान दोनों के प्रति जिज्ञासा को आचरण में लाये। यही वेद का संदेश है। अतः अंतिम सत्य जड़ (Static) तथा स्थिर न होकर वह गतिमान (Dynamic) है पूर्णवाद को यही अपेक्षित है।

संक्षेप में, पूर्ण को जानने के लिए तथा उसकी उपासना के लिए मुख्य साधन इस प्रकरण में बताये जैसे ज्ञान-विज्ञानात्मक ही है। इसी से जीवन सुखमय बनकर मनुष्य पूर्ण अंतिम सत्य की ओर अग्रसर हो सकता है।

* * * * * *
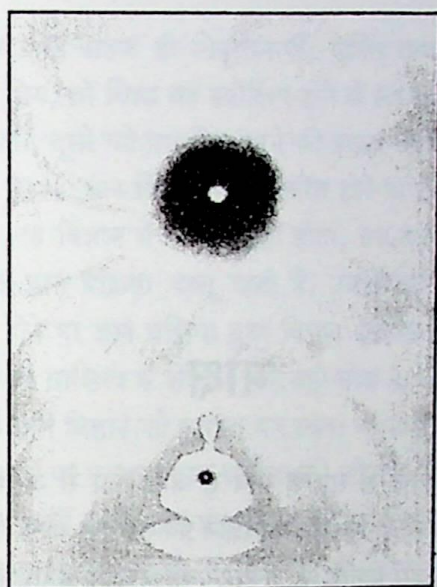
अष्टम् अध्याय

मोक्ष

• 'मोक्ष' कहने पर बंध का स्मरण होता है तथा उससे छुटकारा ही मोक्ष। परंतु मोक्ष अर्थात् जीवन की इति कर्तव्यता, पूर्ण समाधान। जीवन जीते हुए अपना जीवन स्तर बढ़ाकर उस पूर्ण स्वरूप से एकाकार होना ही मोक्ष है। चित्र में जीवन स्वरूप एक ध्यानस्थ व्यक्ति बताई है। वह इस सामान्य जगत् में ही जीते जीते अभ्यास से तप से अपना स्तर बढ़ाती है तथा उस तेजस्वी ऐसे पूर्ण पुरुष में समाई जाती है। उसका जीवन भी उस परमेश्वर जैसे ही तेजस्वी, शुभ्र ऐसा बन जाता है तथा जीवन का पूर्ण समाधान उसे प्राप्त होता है।

८.

मोक्ष

पूर्णवाद ग्रंथ शुरुवात से साधक भाव से जो निष्ठा से अध्ययनरत है उनकी यह बात समझ में आ सकती है कि, ज्ञान-विज्ञान प्रकरण तक योग्य रीति से विषय समझते हुए मनुष्य जिस समय इस प्रकरण के अध्ययन की शुरुवात करता है, उस समय वह एक अलग ही अवस्था में, संतुष्टि तथा कृतकृत्य के वातावरण में चला जाता है। उसके ज्ञान जिज्ञासा की परिसमाप्ति इस प्रकरण में होने के कारण, इस प्रकरण का उसके मन पर होने वाला परिणाम अन्य प्रकरण से बहुत ही अलग तथा विशेष आनंददायी होता है। यहां उसका साधक भाव धीरे धीरे कम होता है तथा वह सिद्धावस्था की ओर अग्रसर करने लगता है तथा यहां का अनुभव कुछ अलग ही है यह उसे लगने लगता है। अतः वह इस प्रकरण को बहुत ही शांत चित्त से तथा सूक्ष्म भाव से अध्ययन करना जरुरी है।

पिछले प्रकरण में हमने यह देखा कि परा-अपरा, विद्या-अविद्या तथा ज्ञान-विज्ञान एक ही बात से संबंधित है, तथा उस संबंध की ही जानकारी देते रहते हैं। परंतु उनमें कुछ महत्त्वपूर्ण भेद है तथा उसे ठीक प्रकार से समझ लेना जरुरी है। उदाहरण- १. विद्या यह बात ही प्रवृत्ति की प्रेरणा देने वाली, प्रवृत्ति रूप है, तो ज्ञान यह वास्तव में निवृत्ति रूप है। २. विद्या में अनेकत्त्व रहता है। विद्या अनेक प्रकार की रहती है तथा वह अनेक सत्य के दर्शन हमें कराती है। परंतु ज्ञान यह एक ही सिद्धांत अर्थात् अनेक सत्य में से हमें अपेक्षित एक ही सत्य से, अति सत्य के सत्य से संबंधित रहती है। एक ही तत्त्व की निश्चित कराती है। ३. विद्या की परिणति अविद्या में कभी नहीं होती, तो अविद्या की परिणती विद्या में हो सकती है। ज्ञान की भी परिणति विज्ञान में होती है। ज्ञान जब विज्ञान में आता है, तभी वह पूर्णत्त्व प्राप्त करता है। विचार जब आचार में परिणति होता है तभी वह पूर्ण विचार बनता है। ४. पूर्णपुरुष के अर्थात् अंतिम सत्य के संपूर्ण सांग ज्ञान को वेद कहते हैं, यह हमने पिछले प्रकरण में देखा। वह वेद पुरुष यह

पुल्लिंग होने से ज्ञान यह सहज ही निवृत्तिमार्गी, मुक्ति तथा मुक्तता का भोक्ता, एकांकी तथा एकांत प्रिय, तो विद्या यह स्त्रीलिंग होने से सहज ही प्रसारण होने वाली, लोक संग्रह करने वाली, दूसरे को प्रभावित करने की इच्छा रखने वाली है। विद्या से ही व्यक्ति पंडित बनता है। ५. ज्ञान विज्ञान में रूपांतरित होने पर ही परिसमाप्त हो सकता है। लेकिन जब तक वह विज्ञान में परिणत नहीं होता, तब तक विज्ञान जान लेने की उसकी क्रिया अर्थात् ज्ञान प्रक्रिया चालू रहती है। उसकी समाप्ति नहीं होती। परंतु विज्ञान में परिवर्तित होने पर ज्ञान प्रक्रिया तथा विज्ञान प्रक्रिया दोनों ही समाप्त होकर जो आनंद रूप समाधान साक्षित्त्व से शेष रहता है वही मोक्ष है। उसे ही मोक्ष कहा जाता है। संक्षेप में, मोक्ष में ज्ञान विज्ञान को समाप्त कर स्वतः भी समाप्त होता है। परंतु विद्या अविद्या का विचार करने पर एकाध समय अविद्या की परिणति विद्या में हो सकी तो भी विद्या अविद्या का नाश नहीं करती तथा वह भी नष्ट नहीं होती। अपितु वह प्रसारण होती है। अतः वह कभी समाप्त नहीं होती। ६. ज्ञान यह बुद्धिगम्य है, उसे तीव्र बुद्धि की अपेक्षा रहती है, तो विद्या इंद्रियजन्य है, उसे तीव्र बुद्धि की आवश्यकता नहीं रहती।

यह छह मुख्य बातें (मुद्दे) जिसके समझ में आयेंगे उसे यह समझ में आयेगा कि विद्या ने बतायें अनेक सत्य में से जो सत्य ज्ञान से, हम अपने खुद के अस्मिता केन्द्र से अथवा व्यावहारिक भाषा में आवश्यकता से, सत्य का सत्य जो निश्चित किया होगा उसे जानना ही ज्ञान है। फिर उसके विज्ञान का ज्ञान करा लेने पर वह ज्ञान विज्ञान में परिवर्तित करने की प्रक्रिया जब पूर्ण होती है, तब वहां ज्ञान विज्ञान इन दोनों प्रक्रियाओं की परिसमाप्ति होकर जो आनंद रूप समाधान अथवा कृतार्थ साक्षी भाव से शेष रहता है वही मोक्ष है। तब तक ज्ञान विज्ञान की प्रक्रिया चालू रहने से जीव उस दृष्टि से बंधन में ही रहता है। परंतु इस मोक्ष में मनुष्य मन तथा चित्त से खुला होता है और इस खुलेपन से तंथा खुली वृत्ति से रहना ही मोक्ष प्राप्त करना है। यहां पर साधकावस्था समाप्त होकर मनुष्य सिद्ध पद पर आरुढ़ होने के मार्ग पर रहता है।

यह ठीक से समझ लेने वाले को मोक्ष प्रकरण के पहले वाक्य मोक्ष, मुक्ति, अमृतत्त्व – यह सभी शब्द सापेक्ष ही है – इसका महत्त्व ध्यान में आता है। इसी वाक्य का विश्लेषण पूर्णवादाचार्य ने अगले परिच्छेद में किया है।

इस परिच्छेद में पूर्णवादाचार्य डॉ. पारनेरकरजी कहते है, मनुष्य जो कुछ करता है, फिर यदि वह बुद्धि से करे, मन से करे अथवा शरीर से करे, वह सभी जीवन सापेक्ष ही रहता है। जिसे जीवन ही नहीं, अर्थात् जिसे इंद्रिय की बहिर्प्रज्ञा अथवा मन-बुद्धि-चित्त की अंतःप्रज्ञा नहीं, ऐसे मनुष्य को बंध, मोक्ष, नरक ऐसा कुछ भी होना संभव नहीं

बनता। अर्थात् मात्र आनंदमय को अर्थात् शिवतत्त्व को कोई भी उपाधि नहीं है, लेकिन यह सभी उपाधियां विज्ञानमय को अर्थात् विष्णुतत्त्व को रहते ही है। सिवाय यह विष्णुतत्त्व नित्य है। यह हमने देखा ही है। वैसे ही शिव-विष्णु तत्त्व का नित्य सह अस्तित्त्व होने से 'जीवभूतः सनातः' वचन·जैसे जीवन भी नित्य ही है तथा बंध, मोक्ष, नर्क आदि का विचार अनिवार्य बन जाता है।

अब कोई पूछ सकता है कि, पूर्णवाद को जीव बंध यही मान्य नहीं वह मोक्ष का विचार ही क्यों करें? उसके लिए एक एक छोटा क्यों न हो लेकिन स्वतंत्र प्रकरण पूर्णवाद ग्रंथ में क्यों रखें?

इसका उत्तर यह है कि, प्रथम चौथे प्रकरण में विद्या-अविद्या बताकर उसके पहले माया प्रकरण में किया हुआ वर्णन जिसमें भ्रम तथा अज्ञान का निराकरण करने के लिए विद्या, जो अनेक सत्य मनुष्य के सामने रखती है, उसमें से निश्चित एक तत्त्व सत्य कहकर निश्चित किया कि - अर्थात् सत्य का सत्य निर्धारित करने पर उसका ज्ञान-विज्ञान जानना मनुष्य का कर्तव्य बनता है। उसे जान लेने पर तथा ज्ञान की परिणति विज्ञान में करने पर जब उस सिद्धांत के प्राप्ति के साथ ज्ञान विज्ञान प्रक्रिया परिसमाप्त होती है, तब जो आनंदमय वातावरण, साक्षी रूप में स्थित होता है, वही वास्तव में पूर्णवाद की दृष्टि से मोक्ष है। पूर्णवाद शंकराचार्य के प्रक्रिया जैसे जीव दशा को बंध नहीं मानता, फिर भी ज्ञान विज्ञान प्रक्रिया जब तक मनुष्य में कार्यरत है, तब तक मनुष्य की वृत्ति बंध रूप ही रहती है यह वास्तव सत्य मानता है। वह जिस समय परिसमाप्त होती है - फिर चाहे वह किसी विषय के संबंध में क्यों न हो - व्यावहारिक रीति से लड़के-लड़कियों के शादी-ब्याह के संबंध में हो - तथा दूर यात्रा के प्रबंधन के संबंध में क्यों न हो- उस समय उस विषय से मोक्ष सिद्ध होता है, परंतु जब तक उस विषय संबंध का ही ज्ञान विज्ञान चालू रहता है, तब तक वृत्ति को तथा जीव को एक प्रकार का बंध रहता है तथा जब वह सभी प्रक्रिया तत्त्व प्राप्ति में परिसमाप्त होती है, तब उस बंध से मोक्ष सिद्ध होता है।

यहां उस विषय के संबंध की साधकावस्था कम होकर (समाप्त), यह मोक्षस्थिति यदि कायम रख सके - अर्थात् फिर एक बार पूर्ण हुए विषय में मन अटका हुआ न हो, तो मनुष्य उस संबंध में सिद्धावस्था में जाता है, अर्थात् मोक्ष यह स्थिति किसी भी विषय की - बिल्कुल पूर्णवाद ज्ञान के संबंध की क्यों न हो साधकावस्था तथा सिद्धावस्था का दुआ अथवा (Buffer State) बफर अवस्था कहते हैं, वैसे है, यह पूर्णवाद का कथन है।

विज्ञान ने भी यह सिद्ध किया है, पर्यावरण (Atmosphere) छेदकर अवकाश

यांन (Space Ship) छोड़ना यह साधकावस्था की परिसमाप्ति अथवा उस अवकाशयान की मोक्ष अवस्था। (पृथ्वी से - अर्थात् पृथ्वी पर अन्य वस्तु जैसे फिर से आने से) पृथ्वी से मुक्ति भी है तो भी उस अवकाशयान को अवकाश तथा आकाश से पृथ्वी से प्राप्त सभी चित्र तथा जानकारी फोटो के साथ फिर वापस सकुशल पृथ्वी पर उतारना यह सिद्धावस्था बनती है। सारांश, साधकावस्था तथा सिद्धावस्था इसमें मोक्ष अवस्था होने से यह छोटा सा अध्याय ज्ञान-विज्ञान तथा पूर्णद्वैत में इसका संपूर्ण विश्लेषण आपको प्राप्त होगा।

अर्थात्, पूर्णवाद के मत में केवलाद्वैति अजातवादी भी अज्ञान तथा उसके कार्य का बोध तथा निषेध करने के कारण तथा जग हुआ ही नहीं, ऐसा कहकर जीव दशा ही वास्तव में नकारते है। अतः उनके ही सिद्धान्त से बंध तथा मोक्ष यह प्रक्रिया उन्हें मान्य नहीं यह सिद्ध होता है। परंतु आचार्य का जो मूल केवलाद्वैति मायावाद यह अज्ञान यह भाव पदार्थ है ऐसा मानकर माया तथा अविद्या यह उनका कार्य है ऐसा प्रतिपादन करते हैं तथा उस कार्य से क्रमशः उपाधि रूप कार्य ईश्वर तथा जीव निर्माण होता है ऐसा मानने के कारण, वह अविद्या के उपाधि को जीवदशा का बंध मानकर उसके सापेक्ष ऐसे सच्चिदानंद स्वरूप अपरोक्षानुभूति को मोक्ष मानते है। परंतु वेदों में मात्र विज्ञानमय आत्मा - जीव यह नित्य है ऐसा प्रतिपादन किया है।

अजातवादियों का अज्ञान का बोध यह सत्य है। परंतु उसके आगे उन्होने बताये जग का तथा जीवदशा का बोध-निषेध यह मात्र प्रत्यक्ष से विपरीत किसी को भी न स्वीकारने जैसा है। तात्पर्य, अजातवादी इनके वास्तविकता के विपरीत सिद्धांत को किनारा कर, उनके द्वारा प्रतिपादित अज्ञान का बाध यदि समझे तो जीव दशा बंध नहीं बनती तथा जगत् को मिथ्या भी कहने नहीं आता। जीव यह वास्तव तथा नित्य होते हुए तर्क से उसका बोध करना, कभी भी तर्क शुद्ध कहने नहीं आता। एक बार जीव है तथा अज्ञान और अविद्या नहीं ऐसा निश्चित होने पर जीव दशा बंध नहीं बनती। श्रुति विज्ञानमय आत्मा का तथा जीव का नित्यत्व दर्शाती है इसलिए जीव दशा बंध है (नित्यत्व - जैसे घडी की टिक-टिक) कहना वेद प्रमाण नहीं है। मात्र मायावाद के सिवाय अन्य किसी दार्शनिक ने बंध अथवा मोक्ष कल्पना स्वीकार नहीं की। अतः पूर्णवाद को भी वह मान्य नहीं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

जीव तथा विज्ञानमय आत्मा नित्य है तथा अज्ञान और अविद्या भी नहीं है, ऐसा निश्चित होने पर जीव दशा बंध नहीं बनती। अतः जिसे ज्ञान प्राप्ति हुई तथा जिसका ज्ञान विज्ञान में परिणत होकर जिसे मोक्ष प्राप्त हुआ, उसकी साधकावस्था समाप्त

होकर वह सिद्धावस्था की ओर अग्रसर होता है। (मोक्ष यह सापेक्ष होने से पूर्णवाद मोक्ष को संपूर्ण सिद्धावस्था नहीं मानता।) परंतु वह कल्पना करते समय कुछ बातें ध्यान में रखना जरुरी है।

उसमें पहली बात यह है, कि, जीव नित्य तथा गतिमान है। अतः यह गति जैसे प्रगति पर रहती है, वैसे ही वह विपरीत भी हो सकती है। वेदग्रंथ तथा शंकराचार्य के मायावाद तक सब दार्शनिक प्रगति तथा विगति ऐसे जीव के दो गति मानते हैं तथा वह वास्तव है। अतः साधकावस्था पूर्ण हुए जीव को चाहिए कि हम विगति की ओर न जाकर प्रगति की ओर ही बढ़े, इसके लिए उसे प्रयत्नशील रहना चाहिए। हमें ज्ञान हुआ, अतः हमारा अधःपतन हो ही नहीं सकता, इस प्रकार के अति विश्वास की जोखिम साधक न उठायें। ज्ञाता को मोह हो सकता है यह यथार्थ ध्यान रखे।

व्यावहारिक दृष्टि से देखते हुए हमें जीव का उत्कर्ष तथा अपकर्ष देखने को मिलता है। सामान्य पारमार्थिक भाषा में इस उत्कर्ष तथा अपकर्ष की चरमसीमा को हम स्वर्ग तथा नर्क कहते हैं तथा यह नाम वेदों से चलता आया है।

वैसे ही दूसरी महत्त्वपूर्ण बात इस साधकावस्था पूर्ण किये ज्ञानी जीव को ध्यान में रखनी है वह यह कि, जिस समय वह ज्ञान से अपने जीव में अद्वैत स्थिति का अनुभव करता है, एकत्त्व की साक्ष अनुभव करता है, अस्तिभाव से एकत्त्व जानता है, उस समय सभी जीवों में स्थित एकत्त्व का वह प्रत्यक्ष अनुभव लेता है। वह सभी को एक रूप देखता है। परंतु व्यवहार में मात्र उसे जीव में अनेकत्त्व, नानात्त्व, विविधता तथा उनका परस्पर संघर्ष आदि देखने को तथा अनुभव करने को मिलता है। जिस प्रकार हम (अर्थात् एकाध घर का मालिक-कर्ता पुरुष) जब यह घर मेरा है ऐसा कहता है, उस समय घर के सभी लोग तथा घर के सभी कमरों को एकत्त्व भाव से देखता है। उन सभी में हमें अपेक्षित सभी चीजें सामान है। कुछ एक प्रकार का अनुशासन, रचना रहती है उन पर हमारी सत्ता है यही भाव हम में रहता है। लेकिन प्रत्यक्ष में घर के हर एक व्यक्ति को अपना एक अलग स्थान, अलग अस्तित्त्व, स्वतंत्रता रहती है जिस पर उसकी निरंकुश सत्ता है ऐसा भाव रहता है। यह अनेक भाव, यह मेरा घर है, इस मूल भाव के विपरीत चल नहीं सकता। बल्कि वह विसंगत रह ही नहीं सकता। मूल मालक अर्थात् मैं। इन सभी अलग-अलग भवन में एक व्यवस्था है, तथा एकसूत्र के रूप में हम देखते हैं उस सूत्र के आधार पर ही हमें (अर्थात मूल मालक को) इस अनेकत्त्व की कोई शिकायत तथा असहजता नहीं लगती।

यह जैसे है वैसे ही ज्ञान से अद्वैत भाव से लगने वाले जीव का एकत्त्व तथा प्रत्यक्ष

में उसमें स्थित अनेकत्त्व इस का जोड़ साधकावस्था पूर्ण करने वाले जीव को बिठाते बनना चाहिए। वह यदि न हो सका तो उसे उनके अनेकत्त्व का संत्रास तथा ऊबाउपन लगकर वह उससे दूर जाने का प्रयत्न करेगा। जिसमें उस घर की सत्ता भी एक अर्थ से खो बैठता है। यहां उसे समझना चाहिए कि जीवन मात्र में जैसे ज्ञान के कारण एकत्त्व रहता है वैसे व्यवहार में अनेकत्त्व रहता है। ज्ञानी जीव को, जीव के भूमिका से भी, दोनों प्रकार के अनुभव आते रहते हैं, लेकिन उनका जोड़ बिठाने नहीं आता, तो उसमें उस जीव भाव के प्रति एक प्रकार की उदासीनता तथा प्रतिकूल भाव उत्पन्न हो सकता है। ऐसा भाव इस साधकावस्था पूर्ण होने वाले व्यक्ति के मन में कभी उत्पन्न नहीं होना चाहिए।

यह जीव का अनेकत्त्व जैसे आधिभौतिक क्षेत्र में विश्व के अनेक व्यक्ति में, ज्ञानीजन के अनुभव में आता है, वैसे ही वह आधिदैविक क्षेत्र में भी उसे अनुभव करने मिलता है। वेदों में मुख्य तैंतीस देवता (तैंतीस प्रकार के देवता - इसी प्रकार को कोटी (करोड़ प्रकार) कहने के कारण ३३ करोड़ देवता) हैं ऐसा कहा जाता है और प्रत्येक देवता के उपासक को मृत्यु तक इहलोक में, अपने उपास्य की कृपा से एहिक जीवन का लाभ होकर बाद में उस देवता के लोक की प्राप्ति होती है। ऐसा कहा गया है। दुराचारी, देवता को न मानने वाले मनुष्य को नर्क की प्राप्ति बतायी जाती है तथा उसमें भी अनेक भेद है।

परंतु इन सब बातों से अथवा अनेकता के अनुभव से ज्ञानी व्यक्ति विचलित न हो, तो उसे उसमें एक प्रकार की आत्मियता का निर्माण करते बननी चाहिए। फ्लॉवर पॉट के अनेक फूलों में जैसे हम एक संगति लगाते हैं, उसके एक प्रकार की रचना का आनंद एकता से प्राप्त होता है। वैसे जीव अनेकत्त्व का संत्रास न लगकर उसकी रचना का, सुसंगति का साक्षात्कार लेकर उसके एकत्त्व के अनुभव की कला ज्ञानीजन प्राप्त करें।

इसके विपरीत अनेकत्त्व का संत्रास लेकर जीव भाव का त्याग करने वाले ज्ञानी मनुष्य को यह ठीक से समझे कि शिवस्य हृदयं विष्णुः तथा विष्णुस्य हृदयं शिव यह नित्य ऐसा होने के कारण जीव तथा शिवतत्त्व का कायम वियोग कदापि संभव नहीं है तथा इसलिए किसी को भी मात्र साक्षी रूप से बहुत समय तक रहना कालत्रयी संभव नहीं है। शिवतत्त्व की अनुभूति से मनुष्य को नित्यत्त्व की, अमृतत्त्व की प्राप्ति होती रहती है। अतः प्रगति के पक्ष में अमृतत्त्व तथा स्वर्ग, तथा विगति के अधोगति के पक्ष में मृत्यु, दुःख ऐसी स्थित रहती है।

किसी भी जीव को, बिल्कुल ज्ञानी जीव को भी मृत्यु दुःख नहीं चाहिए रहता है। अतः उसे चाहिए कि वह प्रगति के मार्ग पर रहे। मोक्ष यह कोई अन्तिम सिद्धावस्था नहीं है। ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होने पर भी उसके आगे सिद्धावस्था की, प्रगति की सीढ़ी बाकी रहती है यह ज्ञानी जन को पक्का ध्यान में रखना चाहिए और उसे प्राप्त करने पर कर्म, उपासना, ज्ञान इन ज्ञानपूर्व के त्रिकाण्डात्मक साधन का ही फिर से प्रयोग करे। इन त्रिकांडात्मक साधनों से कोई भी जीव-ज्ञानी जीव भी विहित मार्ग से अर्थात् जिस मार्ग से आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक को जोड़ कर तथा उसका यथोचित समन्वय कर उस मार्ग से जाने वाला सिद्धावस्था प्राप्त कर सकता है। ज्ञानीजन कर्म से छुटकारा न पाये। ज्ञानी जीव भी जीव के एकत्त्व के साथ अनेकत्त्व प्रतीत होने के कारण वह कर्मत्याग कभी भी न करें। बल्कि जीव के अनेकत्त्व में एकत्त्व जान कर उससे उत्तम प्रकार के कर्म करने का प्रयास करें। हम ज्ञानी बने हैं, हमें एकत्त्व समझता है, अब हमें उस जीव के अनेकत्त्व से क्या करना है, इनका कुछ भी हो, हम संन्यास लेकर उससे दूर रहकर साक्षी भाव से उनकी ओर सिर्फ देखते रहें तथा मोक्ष के स्थिति में सदा कायम रहेंगे आदि विचार योग्य नहीं होंगे। मोक्ष स्थिति सापेक्ष है, उससे सिद्धावस्था में पदार्पण न करें तो अधःपतित होने का डर रहता है इसे वह कभी न भूले। (विज्ञान की दृष्टि से भी देखें तो पृथ्वी से वातावरण छेद कर अवकाश में गये तथा पृथ्वी से मुक्त हुआ अवकाशयान फिर पृथ्वी पर न उतार सकें, तो उसका पृथ्वी से संपर्क टूटा, तो वह बहुत समय तक अवकाश में फेरे लगाकर पृथ्वी के वातावरण में भस्म हो जाता है, नष्ट होता है। यह विज्ञान सिद्ध बात है।) प्रत्यक्ष ईश्वर को भी इस जगत् से कुछ कर्तव्य न होकर जहां उसे कर्म करना पड़ता है वहां सामान्य ज्ञानीजन की क्या बात है। सारांश, ज्ञानी व्यक्ति कर्म से कभी मुँह न मोड़े, जीवन यह सतत् चलने वाला यज्ञ तथा उपासना है इस वैदिक संकल्पना को कोई नकार नहीं सकता।

जब तक जीव को फिर वह जीव ज्ञानी रहें अथवा अज्ञानी, इसी जग में जीवन जीना है, तब तक कर्म तथा ईश्वरी उपासना यह मात्र अपने मर्जी की तथा ऐच्छिक बात नहीं रहती, वह नितांत आवश्यकता की बात रहती है। इस बात को जीव सतत् याद रखें। इस उपासना से आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों क्षेत्र में प्रकाश मिलकर यश लाभ होता है। अतः शंकराचार्य तथा रामकृष्ण परमहंस जैसों ने अपरोक्षानुभूति के बाद भी सगुण उपासना, पूजादि कर्म नहीं छोड़ा। शंकराचार्य के मठ में आज भी शारदांबा की नित्य पूजा होती है।

यद्यपि यह सत्य है, तो भी मानवी जीवन का ध्येय, तथा मानवी जन्म मात्र भक्ति तथा उपासना के लिए ही होता है, ईश्वर की उपासना ही मानवी जीवन की इति

कर्तव्यता है यह मानना भी गलत है। केवलाद्वैति दर्शन से जिस प्रकार से जन्म मोक्षार्थ ही है ऐसी गलत धारणा जनमानस में बनायी है वैसे ही संतों की सीख से भी भक्ति यही जीवन इतिकर्तव्यता बन गयी। वास्तविक जीवन का मुख्य ध्येय धर्मपालन है। धर्म का पालन अर्थात् जिस वासना के कारण हमारा जन्म हुआ है वह वासना तथा उसके अनुकूल अन्य वासना विष्णु रूप मानकर उनकी मानवीयता से, विविधमार्ग से तृप्ति करना है। परंतु यह होने के लिए अर्थात् जीवन में यश के लिए ज्ञान की तथा भक्ति की आवश्यकता है। यदि उनकी जिज्ञासा न रहें तो जन्म लेने के लिए प्रेरित करने वाली वासना भी व्यवस्थित पूरी नहीं होगी, ऐसा वेदों का कथन है।

इस जीव को जन्म देने वाली मूल वासना में विविधता रहने के कारण ही आधिभौतिक में जीव का अनेकत्त्व दिखाई देता है वैसे ही आधिदैविक में भी विभिन्न देव, विभिन्न धर्म, तथा उनकी स्वतंत्र उपासना आदि बातें दिखाई देती है। इसकी ज्ञानीजन उपेक्षा न करें अथवा उसे मिथ्या, अर्थहीन तथा भासमान न कहें। डॉक्टरेट प्राप्त मनुष्य के दृष्टि से पढ़े गिनना तथा पहली दूसरी के अध्ययन का एक ही शब्द अनेक बार लिखना अर्थहीन तथा अनावश्यक भले ही लगते हो, उस स्तर के लड़के के दृष्टि से वह आवश्यक है यह विद्वान भूले नहीं। उससे वही करवाना चाहिए। यह जैसे युक्त है वैसे ही यह है। (न बुद्धिभेद जनयेत अज्ञानां कर्म संगिणाम्- गीता)

प्रत्येक व्यक्ति में कुछ जन्मजात बातें रहती हैं तो कुछ की उसे आवश्यकता रहती है। जीवन में सभी बातों की आवश्यकता रहने के कारण मात्र विद्यमान गुणों का विकास यह कोई ध्येय नहीं हो सकता। ऐसे समय हममें न रहने वाले गुणों को भी अंगीकृत करना पड़ता है। पूर्ण के कितने तत्त्व हम में हैं यह पहचान कर अथवा कौन सी सुप्तावस्था में है यह जानकर, उस सुप्त तत्त्वों की आधिदैविक की उपासना करनी चाहिए। ऐसे कलात्मक देवता की उपासना करने वाले को पूर्ण का बोध आवश्यक रहता है। उसके अभाव में आधिदैवत की उपासना सफल नहीं होती। अतः अपनी व्यक्तिगत उपासना सफल होने की दृष्टि से पूर्ण का पूर्णवाद का ज्ञान - पूर्णवाद ग्रंथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और इसलिए ही सभी कार्य के पहले महागणपति अर्थात् पूर्ण का स्मरण करना चाहिए ऐसा वैदिक कर्मकांड़ का नियम है। शिव का शिवगण, विष्णु का गण, इंद्र के ४९ मरुदगण है तथा प्रत्येक देवता का गणों का पति अर्थात् गणपति कहते है। इन सभी गणपतिका अर्थात् देवताओं का जो गणपति उसे महागणपति कहते है। अर्थात् वही पूर्णपुरुष है। उसका ज्ञान पहले प्राप्त कर फिर देवता की उपासना करने पर तत्काल फल प्राप्त होता है। विज्ञान ब्रह्म तथा आनंदब्रह्म उन दोनों ब्रह्म का अधिपति वह ब्रह्मणस्पती है। अपरोक्षानुभूति में मनुष्य को आनंदब्रह्म की अर्थात् सच्चिदानंद की

अनुभूति आती है। यही वह है जो विश्व व्याप्त कर दशांगुल शेष परब्रह्म है। इन दसों के शून्य में सभी समा जाते हैं, शून्य रूप से नेणीवरूप से यद्यपि होता हो तो भी स्वयंवेद्यता का एक शून्य के बाहर रहता है। परंतु पूर्ण की अनुभूति आने पर अर्थात् स्वयंवेद्यता के एक, पर पूर्णत्त्व का एक आने से आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन तीनों का अनुभव आता है। ग्यारह में जैसी दस की अपरोक्षानुभूति समाहित है वैसे ही विश्व की तथा ईश्वर की भी है। अतः विज्ञानमय तथा आनंदमय ब्रह्म का अधिपति एक पूर्णपुरुष ब्रह्मणस्पती है।

जीवन यशस्वी बनने के लिए प्रथम पूर्ण का ज्ञान, फिर पूर्ण के कितने तत्त्व हम में हैं तथा कौन से सुप्त है इसका ज्ञान तथा फिर सुप्त तत्त्वों की आधिदेवता की उपासना, ऐसा क्रम होने से मनुष्य को पहले पूर्ण का पूर्णपुरुष का ज्ञान करा लेना आवश्यक है। विश्व व्याप्त कर दश अंगुल शेष परब्रह्म के अनुभूति को (अत्यतिष्ठत दशांगुलम आचार्य प्रतिपादित ब्रह्म ऐसा समझना चाहिए - पूर्णवाद ग्रंथ, पृ. ८) अपरोक्षानुभूति कहने के कारण इन दसों में स्वयंवेद्यता का एक नेणीवरूप शून्य का साक्षी होने के कारण बाहर रहता है, तो शून्य में सभी अंकों का (१ से ९ अंक का) समावेश रहने के कारण उसमें अनंतत्त्व का भी शून्य के विस्तार के साथ समावेश हो सकता है। सारांश, दस में स्वसंवद्यत्त्व का एक शून्य साक्षी रहता है। तो ग्यारह में अर्थात् पूर्णपुरुष के ग्यारह में स्वसंवेद्यता का एक उस पर पूर्ण का - एक का साक्षी रहता है और इसलिए अपने यहां ग्यारह बार पाठ करने का महत्त्व है तथा ग्यारह आवर्तन को एकादशनी कहते हैं।

अतः पूर्णपुरुष महागणपति जो विज्ञान ब्रह्म तथा आनंद ब्रह्म इस उभय ब्रह्म का अधिपति है तथा उसे ब्रह्मणस्पीत कहते हैं उसका हर कार्यारंभ में स्मरण करने की वेद की आज्ञा है। हमने इस पूर्णवाद ग्रंथ के अध्ययन की शुरुवात ही पूर्णपुरुष प्रकरण से की है, तथा अब साधकावस्था से जब हम सिद्धावस्था में पहुँचेंगे तब हमें फिर से पूर्णाद्वैत की ओर अर्थात् पूर्णपुरुष की ओर ही जाना है। पूर्णवाद ग्रंथ के अनुक्रम का यदि हम विचार करें तो, पूर्णवाद ग्रंथ में (९) नौ प्रकरण है। तो गीता में १८ अध्याय अर्थात् बराबर इससे दुगने प्रकरण उसमें हैं। परंतु पूर्णवाद का सातवां प्रकरण ज्ञान-विज्ञान है, तो गीता का सातवां अध्याय भी ज्ञान-विज्ञान ही है (ज्ञान-विज्ञान योग) ज्ञानी व्यक्ति कर्म से छुटकारा न पाये, न सोचे, ऐसा जिस प्रकार गीता का संदेश है वैसे ही पूर्णवाद ग्रंथ का संदेश है। यह पूर्ण के साधक तथा सिद्धावस्था के बीच की स्थिति होने से इस अवस्था से सिद्धावस्था में जाने के लिए ज्ञानी मनुष्य भी कर्म करें अर्थात् वह स्वधर्म करना चाहिए ऐसा ही गीता जैसे ही पूर्णवाद ग्रंथ का संदेश है। अतः पूर्णवाद ग्रंथ को गीता जैसे ही तथा वारकरी संप्रदाय के ज्ञानेश्वरी जैसा ही महत्त्व पूर्ण की दृष्टि से प्राप्त

हुआ है तथा यह ग्रंथ इससे भी आगे और एक कदम पूर्ण सिद्धावस्था का बढ़ा रहा है ऐसा कहना अधिक होगा।

पहले पूर्ण का ज्ञान, फिर उसकी कला का अर्थात् अपने इष्ट देवता की उपासना यह जैसे जीवन का आवश्यक उपासना प्रकार है, वैसे ही 'पूर्ण जीवन' की कल्पना अर्थात् स्वधर्म की स्वतः के जन्म की वासना की पूर्ति की कल्पना प्रथम और बाद में अर्थ, काम, मोक्ष यह त्रिविध पुरुषार्थ है। जीवन की सफलता के लिए, अपना जीवन हेतुपूर्ण करने के लिए धर्म की यद्यपि विगुण 'निचले स्तर की' है तो भी उसे करने पर सिद्धावस्था आती है (सिद्धि के साथ) ऐसा कहा गया है।

जिस धर्म के लिए प्राणी मात्र को जन्म लेना पड़ता है उसी धर्म में कर्म सिद्ध करने के लिए ईश्वर समर्थ रहता है। परंतु सांप्रत मनुष्य अपना जीवन ध्येय ग्रंथ से, तथा परिस्थिति से निश्चित करता है और उसके यथार्थ जी तोड़ मेहनत करता है और अंत में हताश होता है। जिस वासना के कारण जन्म हुआ है वह और उसके अनुकूल वासनाओं की पूर्ति जब तक नहीं होती, तब तक कुछ भी करें तो चैन नहीं। उन वासनाओं के पूर्ति के बिना होने वाला अपमृत्यू-अनैसर्गिक मृत्यु अथवा बूढ़ापे की मृत्यु – यह बचैनी में रही होने के कारण उन्हें मंगलमय मृत्यु नहीं कहा जा सकता। उल्टे इन वासनाओं को पूर्ण करने के लिए फिर जन्म लेना आवश्यक बनता है। ऐसा होने के कारण वृद्धावस्था में दिखाई देने वाली उदासीनता और जाने अनजाने हर किसी के हृदय में असमाधांन, बेचैनी यह दर्शाता है कि उसके जन्म की वासना पूरी नहीं हुई है, तथा वह स्वधर्म पूरा होना असंभव है। यदि ब्रह्मानुभूति हुई हो अथवा ईश्वर दर्शन हुआ भी हो, सभी सिद्धियां प्राप्त हुई क्यों न हो जब तक स्वधर्माचरण हमसे होता नहीं है तब तक वास्तव समाधान दूर की कौड़ी बनता है तथा जीवन यशस्वी हुआ ऐसा नहीं होता। यह बात समझदार ध्यान में रखे।

यहां लगने की संभावना है कि यह स्वधर्म अर्थात् हमारे जन्म की वासना हम कैसे पहचाने? यद्यपि हमने धर्म को जाना भी तो उस ओर हमारी प्रवृत्ति होकर हमारे हाथ से यह कैसे संभव बनेगा? पहले तो स्वधर्म को ठीक से पहचानना ही कठिन तिस पर वह हमसे पूरा होना उससे कठिन। अतः यहां एक बात स्मरण रखनी है कि, यहां स्वधर्म की कल्पना सर्वश्रेष्ठ आध्यात्म द्वारा बतायी जाने से वह कठिन लगती है। आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर प्रथम पूर्णपुरुष की – पूर्ण की तत्त्व निश्चिती ज्ञान से कर फिर उसे विज्ञान में परिणत कर, ज्ञान-विज्ञान प्रक्रिया जहां परिसमाप्त होती है तथा साधकावस्था जहां पूर्णत्त्व तक जाती है, उस मोक्ष स्थिति में आनंद रूप समाधान स्थिति में मनुष्य एक बार स्थिर हुआ कि उसे अपने वर्तमान जीवन की वासना तथा स्वधर्म – बिना किसी

पूर्वग्रह के - किसी भी विशिष्ट दिशा में बिना झुके (Unbiased) निःपक्ष पद्धति से योग्य तथा न्याय रीति से सटीक समझ में आ सकता है। उसे जानने के बाद उसके गुणदोषों का विचार न करते तथा कर्म के प्रति उदासीन न रहते विधि पूर्वक तथा मानवीयता से आचरण कर अपनी जन्म वासना कर्म से पूर्ण करना यही ध्येय रहता है। ज्ञान-विज्ञान प्रक्रिया मे जैसे कळणे-वळणे-समझना-उतारना महत्त्वपूर्ण रहता है, वैसे स्वधर्माचरण के संबंध में उसे जानना तथा अपने हाथ से वह होना महत्त्वपूर्ण है। बिल्कुल अपरोक्षानुभूति के बाद वैराग्य युक्त सन्यास लेने वाला मनुष्य भी जीवन यापन करता ही है, इसका अर्थ ही जिस वासना से अथवा जिस कारण के लिए कभी भी उसका जन्म हुआ है, वह पूर्ण होने की अभी भी संभावना बाकी है। वह विश्वास यदि मिथ्या, अर्थहीन मानता क्यों न हो उसके जन्म की वासनापूर्ति होने की संभावना शेष रहने के कारण वह इस संसार में ही जीवन यापन करते रहता है। अतः पूर्ण के ज्ञान के बाद अपने जन्म की वासना धर्माचरण से अर्थात् स्वधर्माचरण से पूर्ण कर मनुष्य अपने नाम रूप के साथ विलीन होगा तभी उसे अपनी इच्छानुरूप चाहे जिस स्थान तथा समय पर जन्म लेते बनेगा।

यह तभी संभव है जब इस जन्म में जो इच्छा करता है, जो मन में धारण किया हो, वह अपने आप तथा सहजता से पूर्ण होता रहेगा अर्थात् व्यावहारिक भाषा में वह मनोनुकूल सहज जीते रहेगा, जीवन यापन करेगा। (बल्कि जो होने वाला है, तथा होते रहेगा वहीं और उतना ही उसके मन में आता रहेगा।) जैसे ही मन में आया वह होते रहेगा ऐसा जब सतत् होने लगेगा, तभी मनुष्य पूर्ण की सिद्धावस्था को प्राप्त होगा। ऐसा सिद्ध होगा। ''जो जे वांछील तो ते लाहो। प्राणीजात'' यह स्थिति पूर्ण के सिद्धावस्था की संपूर्ण संसार पूर्ण की सिद्धावस्था में जाने का संकेत है, तथा लक्षण है।

अन्य दर्शन के सिद्धि से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होगा, जन्म मरण के फेरे से कदाचित मुक्त ही कहलाया जाएगा - जैसे अवकाश में भेजा गया यान यदि उसका पृथ्वी से संपर्क टूटने पर मुक्त अवस्था में ही रहता है - परंतु वह अपनी इच्छानुकूल चाहे जिस स्थान अथवा समय पर जन्म न ले सकेगा। ईश्वर मनुष्य को सब कुछ देता है, लेकिन अपनी इच्छा से कहीं भी किसी भी समय जन्म लेने का तथा मृत्यु नैसर्गिक बनाने का अधिकार पूर्ण के ज्ञान के सिवाय देता नहीं। अतः पूर्णावस्था यह मोक्ष की अगली श्रेणी है। (तथा ज्ञानेश्वर की समाधि संजीवन समाधि है।)

परंतु सामान्य व्यक्ति को इस आध्यात्म मार्ग से स्वधर्म पहचानना कठिन होने के कारण 'तोंडओळख' इस पूर्णवादमीमांसा खण्ड-१ द्वारा पूर्णवादाचार्य डॉ. पारनेरकरजी

ने उसे आधिदैविक मार्ग से कैसे पहचानने आता इसका वर्णन इस ग्रंथ में किया है। उसके लिए १. समाधि से नीचे उतरते समय दिखने वाले मातृ का, २. गायत्री पुरश्चरण (त्रैवर्णिकों को), ३. देव कृपा तथा ईश्वर कृपा अथवा सद्गुरु कृपा ऐसे मार्ग बताये हैं। ईश्वर का दर्शन करने वाले अनेक लोग मिलेंगे लेकिन उस ईश्वर को 'अपना स्वधर्म क्या है यह निश्चित बता दीजिए' ऐसे अनुनय करने वाला अर्जुन एकाध ही रहता है। अतः सामान्य जीव को यह आधिदैविक मार्ग भी अनेक बार ईश्वर साक्षात्कार होकर भी कठिन ही लगता है।

यह सब देखकर सामान्य व्यक्ति भी आधिभौतिक से यह स्वधर्म कैसे पहचाने यह भी पूर्णवादाचार्य ने अत्यंत सरल भाषा में बताया है। मन तथा काल का साहचर्य रखकर आचरण करना ही स्वधर्माचरण अथवा स्वधर्म है। ऐसा उनका कथन है। जिन्हें आध्यात्मिक से स्वधर्म पहचानना संभव नहीं होगा वह अपने मन का अध्ययन करें। इसके लिए स्वभाव प्रकरण का अध्ययन आवश्यक है। मन की दिक्कतें समझ लेनी चाहिए। मन को ही मनाकर, उसे मना सज्जना.. आदि नाम से संबोधित कर उसका कहना भी सुनना चाहिए तथा बाद में ही काल का अध्ययन कर इस मन का काल के साथ साहचर्य रखकर उसे पूरा करने के पीछे पड़ना चाहिए। मन तथा काल का तालमेल बिठाकर उसे काल सापेक्ष बनाए, सुसंगति बिठानी होगी। वामन पंडित का 'सुसंगति सदा घड़ो' यह श्लोक याद करें। इससे भी स्वधर्माचरण होता है ऐसा पूर्णवादाचार्य का कथन है।

यहां एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी है वह यह कि वास्तव में काल को मन से ममत्व नहीं रहता, कुछ भी लेना-देना नहीं होता। मानवी मन को भावना को क्या लगता है इसकी उसे चिंता नहीं रहती वह अपनी गति से आगे बढ़ता है। (Time and Tide wait for nobody) अतः मन को काल के साथ तालमेल तथा साहचर्य रखकर ही अपनी बात मनवानी पड़ती है। ऐसा करते करते ही मनुष्य आगे चलकर काल पर सवार होकर अपनी सत्ता चलाता है। चला सकता है। उसी प्रकार कर्म को ज्ञान का ममत्व नहीं रहता। कर्म ज्ञान युक्त हो अथवा अज्ञान युक्त हो फल मिलता ही है। अतः ज्ञान को कर्म से साहचर्य ही रखना पड़ता है, कर्म ज्ञान से साहचर्य रखेगा ही यह निश्चित नहीं रहता। काल के अध्ययन में आज की सभ्यता

(Civilization), वैज्ञानिक आविष्कार, शैक्षणिक प्रगति, राजनीतिक उथलपुथल, सभ्यता से उपलबध साधन टी.वी., फोन, फ्रीज, कंम्प्युटर आदि, नौकरी तथा व्यवसाय के प्रकार, अर्थशास्त्र की प्रगति यह सब आते हैं। तो मन के अध्ययन में - मन में बार

बार उठने वाली वासना, मूल में 'है' पन में जिन जिन बातों का नहीं पन सबसे ज्यादा अखरता है। पीड़ादायक बनती है वह बातें, मन की आदतें, स्वभाव, विकार आदि बातें आती है।

परंतु काल का तथा मन का यह अध्ययन तथा उनका साहचर्य सिद्ध होने के लिए इंद्रिय अपने वश में रहें, हम व्यवसन मुक्त रहें – व्यसनाधीन न होना बहुत आवश्यक है। इसके लिए बचपन से ही आज्ञा पालन की विशेषतयाः जेष्ठ तथा ज्ञानी पुरुषों की आज्ञा पालन की आदत डालनी चाहिए। हमें जब तक कोई बात जचंती नहीं तब तक हम बड़ों की भी नहीं सुनेंगे, हम किसी से दबेंगे नहीं, इससे गुलाम मनोभूमि बनती है, इस प्रकार के विघातक विचार नहीं करने चाहिए। पहले किसकी सुनें, यह ठीक से जांच परखकर, अनेक परीक्षणों बाद निश्चित करें। लेकिन यदि एकबार किसी पर विश्वास किया कि, वह जो कहता है उस प्रकार आचरण करने की आदत डालनी चाहिए। फिर उसकी बात हमें अच्छी लगे अथवा न लगे हम उसकी आज्ञा का पालन करने की आदत हमारे इंद्रियों में सिद्ध करें।

व्यवहार में भी पहले ही अच्छा डॉक्टर कौन अथवा अध्यापक कौन यह देखकर उसके पास जाते हैं। फिर यदि एक बार गये तो वह जो कहें वह भले ही हमें अच्छा न लगे करना ही चाहिए। वैसे करना गुलामी नहीं हैं। इससे हमारी बुद्धि की जिज्ञासा कभी भी नहीं मरती। बल्कि आज्ञा पालन से वह सीधी रेषा में तथा सुंदर तरह से काम कर सकती। छोटे बालक को उसकी मर्जी से पाठशाला में डालेंगे ऐसा सोचने पर कोई भी बालक पाठशाला में जाकर सयाना नहीं बन सकता। अतः आज्ञा पालन से इंद्रियजय साध्य होता है तथा जिसे इंद्रियजय साध्य होता है उसकी बुद्धि ही तीव्र तथा निष्पक्ष निर्णय दे सकेगी। यह बात पते की है। ऐसे व्यक्ति को गुरु का, मां आदि का क्या सुनना है अथवा नहीं यह अगले समय से अपने आप समझ में आ सकता है।

ऐसा इंद्रियजय रहने वाला ही मन तथा काल का साहचर्य बिठाकर – 'काम का विश्वास, काल का अध्ययन' कर प्रसन्न मन से स्वधर्माचरण साध्य कर सकता है। यह आधिभौतिक से स्वधर्माचरण आचरण का मार्ग है। ज्ञान-विज्ञान में जैसे कळणे-वळणे-समझना-उतारना महत्वपूर्ण रहता है वैसे ही स्वधर्माचरण में समझ में आना तथा अपने हाथ से होना यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है यह हमने इसके पहले देखा है। नहीं तो दुर्योधन जैसे ने "जानामि धर्म नय में प्रवृतिः।" कहा, "स्वधर्म क्या है यह मैं जानता हूँ लेकिन मेरी प्रवृत्ति उधर नहीं जाती, उसे करें ऐसा मुझे लगता ही नहीं, उसी प्रकार अधर्म क्या है यह भी मुझे समझ में आता है, लेकिन उसे छोड़े उसका मोह त्याग

दे ऐसा भी मुझे लगता नहीं, वहां से मेरी निवृत्ति नहीं होती।'' इस प्रकार दुर्योधन जैसे हमारी स्थिति बनती है।

यहां एकाध जगह प्रवृत्ति नहीं हुई अर्थात् वहां से मेरी निवृत्ति हुई है ऐसा जैसे नहीं होता वैसे ही एकाध जगह से निवृत्ति हुई है तो वहां फिर प्रवृत्ति होती नहीं ऐसा भी नहीं होता। यह बात हम ठीक प्रकार से समझे। इसलिए ही आज का शत्रु कल हमारा मित्र भी बन सकता है, यह संभावना ध्यान में रखकर ही उससे व्यवहार करें, ऐसे पूर्णवादाचार्य डॉ. पारनेरकर जी ने कहा है।

अतः स्व धर्म पहचानने पर वह अपने हाथ से होना जरुरी है। इंद्रियों के वश में नहीं रहने वाला मन जिस समय काल का अध्ययन करता है, उसका चित्रपट देखता है उस समय मानव के जन्म की, उसकी वासना, हमें अनुकूल ऐसे काल के चित्रपट से तत्काल समझ में आती है। अतः मन तथा काल के साहचर्य से धर्माचरण सहज साध्य होता है। सारांश, जिस समय जो समझना चाहिए, जैसे व्यवहार होना चाहिए वैसे उत्साह से कर्म के प्रति उदासीनता न रखते प्रसन्न मन से हाथ से होना ही स्वधर्माचरण है तथा इसकी कच्ची चिट्ठी अर्थात् आने वाली शांति तथा मानसिक समाधान है। इससे सरल स्वधर्माचरण की परिभाषा ब्रह्मदेव भी शायद क्र सकें।

संक्षेप में बचपन में अध्ययन तथा कसरत होना, युवावस्था में प्रेम पूर्वक गृहस्थी होना, उसमें हमारे मनोनुकूल सब होने के लिए उपासना हमसे होना, आध्यात्मिक उन्नति के लिए, हमने जीवन भर प्राप्त किया संस्कार जन्य ज्ञान आत्मा में स्थित करने के लिए पूर्णवाद का अध्ययन हमसे होकर पूर्ण का थोड़ा बहुत ज्ञान आत्मसात करना तथा मनोनुकूल जीवन यापन होकर जीवन में सही समाधान अंति प्राप्त होना अर्थात् स्वधर्माचरण होना है। सारांश, ज्ञानीजन भी, तथा देव तुल्य व्यक्ति के लिए भी स्वधर्माचरण होना अनिवार्य है तभी वह व्यक्ति सिद्धावस्था को पूर्णाद्वैत सिद्धि तक पहुंच पाएगा यह बात पक्की ध्यान में रखें। स्वधर्माचरण पूर्ण होने पर, जन्म देने वाली वासना पूर्ण होने पर समाधान युक्त तथा मंगलमय मृत्यु नैसर्गिक बनता है। स्वधर्माचरण यहीं मानवी जीवन का मुख्य आदर्श होने के कारण उसके लिए विश्व की संपूर्ण शक्ति मदद के लिए अनुकूल रहती है। यह अगला श्रुति वचन दृढ़ता से कथन करता है कि, १) ''वायुरनिलममृतमथेदम् ... कृतंस्मर।'' आदि। अर्थात्, ''अब मुझ मरने वाले पुरुष के शरीर की वायु अर्थात् जो प्रज्ञानमय आत्मा, जो अमृतमय आनंदमय साक्षी आत्मा तथा अनिलमय, विज्ञानमय आत्मा, अथवा जीव, यह सर्वात्मक को प्राप्त हो और यह मेरा अग्नि में रखा शरीर भस्म हो। उसे पूर्ण पुरुष में विलीन होने के लिए ॐरूप हृदय

में स्थित धर्म-पुरुष ऋतु उसका तथा तुमने किये आचरण का स्मरण करो।'' बा, प्राणी, अपने स्वधर्म तथा आचार का (आचरण) स्मरण कर ऐसी यहां द्विरुक्ति है। इस वचन का ''ॐ कृतो स्मर। कृतं स्मर'' यह स्पष्टतया दर्शाता है कि, तुम यदि स्वधर्म से जिये हो तो आगे तुम्हें सद्गति है ही। तब आगे क्या? यह अपना अतीत का चरित्र स्मरण करो तो तुम्हरी समझ में आएगा। यह वचन भी यशस्वी जीवन क्या है? तथा मोक्ष अथवा स्वर्ग कैसे प्राप्त होता है यह समझने के लिए पर्याप्त है। सही मोक्ष तभी संभव है जब जन्म का कारण वासना स्वधर्माचरण से पूर्ण होगी तथा ज्ञान के कारण नयी वासना उत्पन्न नहीं होगी।

मोक्ष स्वरूप के संबंध में संदेह न रहें इसलिए अगला वचन देखिए : २) ''अग्ने नय सुपथा... नमउक्तिं विधमें'' हे! ''अग्ने हमें सन्मार्ग से ले चलो। हे! ईश्वर, तुम सर्वज्ञ हो। अतः किसने किस देवता की उपासना की यह तुम जानते हो। मेरा आचरण स्वधर्माचरण है अथवा नहीं यह पहचानने वाले हो। जिस विषय वासना से, मोह से हमें धर्म से दूर किया होगा उस हमारे आत्मवंचक पाप का नाश कीजिए। इस समय हम तुम्हारी अर्चना मात्र नमस्कार से कर रहे हैं।'' यहां स्वधर्माचरण छोड़ कर किये आचरण को पाप कहा गया है। अतः पूर्णवाद ने पाप, ताप, दैन्य की नयी परिभाषा 'तोंडओळख' ग्रंथ में दी है। संक्षेप में अपरोक्षानुभूति से जो मोक्ष प्राप्त होता है उससे फिर नयी वासनायें उत्पन्न नहीं होती। परंतु जिस वासना से वर्तमान जन्म प्राप्त हुआ है वह, जब मनुष्य ज्ञानोत्तर कर्म से-धर्माचरण से पूर्ण करता है, तभी वह सही मोक्ष का अधिकारी बनता है और फिर उसका उपरोक्त बताये जैसा समाधान से कृतार्थावस्था में मृत्यु होती है।

* * * * * *
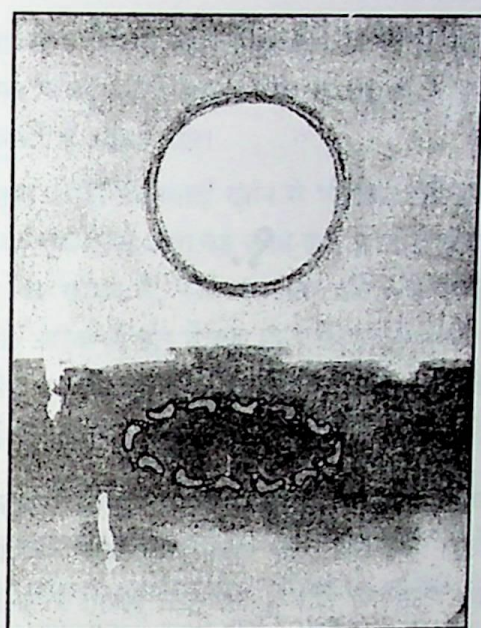
नवम् अध्याय

पूर्णाद्वैत

पूर्णत्त्व ही शुद्ध सत्य परमेश्वर। जहां मात्र पूर्ण ही है
वहां किसी प्रकार का द्वैत नहीं, अथवा अपूर्णत्त्व
भी नहीं। प्रश्न मात्र इतना ही है कि पूर्ण को
आप कैसे देखते, अनुभव कर लेते। तुम्हें जो समझ
में आया उसी को पूर्ण मानते हो अथवा सही
पूर्ण को जानते? चित्र में एक गोल बताया है।
पूर्ण एक ही है लेकिन उसे दो में विभाजित कर
बताया है। उस पूर्ण को आप जिस बाजू से
देखते हो उतना ही पूर्ण समझो कि पूर्ण को पूर्ण
से जानते हो। यह खुद अध्ययन कर देखो।

९.

पूर्णाद्वैत

'पूर्णवाद' इस ग्रंथ से क्या प्रतिपादित किया है इसका साधक भाव से अध्ययन कर, पूर्णपुरुष का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् वह विज्ञान में परिणत करने पर जब ज्ञान-विज्ञान प्रक्रिया परिसमाप्त होती है तब मोक्ष स्थिति प्राप्त होती हैं। यह हमने पिछले मोक्ष प्रकरण में देखा है। यह मोक्ष प्राप्त होने पर मनुष्य की साधकावस्था समाप्त होती है तथा वह सिद्धावस्था में पहुँच सकता है। यह सिद्धि अर्थात् ही सही अद्वैत सिद्धि तथा पूर्णअद्वैत अर्थात् पूर्णद्वैत सिद्धि है। अतः पूर्णवाद ग्रंथ में अब तक क्या प्रतिपादित किया है और वह पूर्णवाद पूर्णाद्वैतसिद्धि अर्थात् सही अद्वैत सिद्धि कैसे प्राप्त करा देता है यह इस प्रकरण में हमें देखना है।

इसके लिए ध्यान देना यह है कि चार्वाकादि नास्तिक (वेद न मानने वाले) छह दर्शन तथा शंकराचार्यादि तथा वैष्णवाचार्यादि आस्तिक (वेद मानने वाले) सभी दर्शन - हम सभी को नित्य अनुभव में आने वाले इस विश्व को तथा जगत् को कार्य मानते है। विश्व यह किसी न किसी प्रकार से अथवा तत्त्व का कार्य है यह दृढ़ भूमिका लेकर ही यह सभी दर्शन विचार करते हैं तथा इस विश्व रूपी तथा जगत् रूपी कार्य का कारण क्या होना चाहिए इस विषय का तर्क अपनी अपनी प्रक्रिया से अपने दर्शन में प्रतिपादित करते है।

इन सभी दर्शनों में श्री आद्यशंकराचार्य का 'मायावाद' जिसे आज असाधारण महत्त्व प्राप्त हुआ है और वह सही अद्वैत सिद्धि जीव को प्राप्त करा देने का दावा करते है, वह परब्रह्म गात्र सत्य है, यही प्रतिपादन करता है। वह मायावाद अज्ञान यह भाव पदार्थ मानकर जिसका एक कार्य माया-यह विश्व का (ईश्वर) का कारण है ऐसा मानते है। अपरोक्ष ज्ञान से अथवा अपरोक्षानुभूति से 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या।' यह यद्यपि विशिष्ट समाधि अवस्था में अनुभव में आता है तो भी जीव यह जगत् का ही एक होने के कारण उसका प्रश्न इस अनुभूति से नहीं सुलझा सकते। कारण उस अवस्था में जीव

को, उसका अपना बोध ही नहीं रहता। ऐसा होने के कारण 'ब्रह्मं सत्यं जगत् मिथ्या' इस सिद्धांत के साथ 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' जीव यह ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ भी नहीं ऐसा शंकराचार्य को अलग से कहना पड़ा।

परंतु यह कहना उनके मायावादी दर्शन से भी सिद्ध नहीं होता। अज्ञान यह भाव पदार्थ है तथा उसका एक कार्य माया यह जगत् तथा ईश्वर का कारण है, तो दूसरा कार्य अविद्या यह जीव का कारण है, ऐसा एक बार प्रतिपादित करने पर इस प्रक्रिया से 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' जीव भी मूल में ब्रह्म ही है यह कहना किसी के गले नहीं उतरता। इस प्रक्रिया में जीव का नित्यत्त्व सिद्ध न होने के कारण 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' कहना अर्थात् अवस्था में है उस पर अर्थात् उस साक्षी जीव पर मात्र आक्षेप करना है यह स्पष्ट होता है।

यह जीव के संबंध की दिक्कत ध्यान रखकर ही अजातवादी शंकराचार्य प्रतिपादित अज्ञान का ही बोध दर्शाकर – अर्थात् अज्ञान यह बात ही अस्तित्व में नहीं है, ऐसा कहकर उसका कार्य जग (अर्थात् जीव) इनका अस्तित्व ही बिल्कुल भासमय अस्तित्व ही नकारते है। परंतु फिर उस अवस्था में अजातवाद का प्रयोजन भी रहता नहीं है इसे वह भूलते हैं।

आचार्य मात्र श्रुति अथवा वेद जिसे अखंड रूप से एक विष्णु तत्त्व है ऐसा कहते है उस जीव को भी अविद्या का (अर्थात् अज्ञान का) कार्य संबोधित किया है। वह जीव भी एक कार्य है ऐसे कहा है। परंतु वैष्णवाचार्या ने उसका (जीव का) नित्यत्त्व वेदों के आधार पर सिद्ध किया है तथा वास्तव में वह वेदों में सिद्ध है भी, इसिलिए वैष्णवाचार्य ने ईश्वर तथा जीव नित्य है ऐसा सिद्ध करने से वह जीव, शंकराचार्य की प्रक्रिया में कार्य बनकर अनित्य सिद्ध नहीं होता।

इस प्रकार शंकराचार्य को उनकी प्रक्रिया में आड़े आने वाली बाधा उसका (ईश्वर का) नित्यत्त्व सिद्ध कर यद्यपि वैष्णवाचार्यो ने सुलझाई है तो भी उन्होंने भी जगत् तथा विश्व को कार्य ही माना है।

सारांश, शंकराचार्य ने अद्वैतसिद्धि का अनुभव दिया परंतु उनको वह दार्शनिक प्रक्रिया से जीव के बाधा के कारण सही अर्थ में सिद्ध करते नहीं बना। तो वैष्णवाचार्य ने जीव तथा ईश्वर यह दो तत्त्व मानने के कारण जगत् को कार्य कहकर ईश्वर शरीर रूप अथवा ईश्वरी शरीर भूत मानने के कारण उन्हें सही अर्थ में अद्वैत पर कायम रहते नहीं बना। वैष्णवाचार्यों में से वीर वैष्णव मध्वाचार्य यह द्वैती ही है अर्थात् द्वैत मत के प्रतिपादक है। यह देखते अद्वैत सिद्धि में जीव की बाधा यद्यपि वैष्णवाचार्यो ने अपनी प्रक्रिया से दूर की भी है, तो भी जगत् को कार्य मानने के कारण उन्हें भी अद्वैत पर सही

अर्थ में अद्वैत सिद्धि पर स्थिर होते नहीं बना।

समात्रक (मात्राओं के साथ) ॐकार इस विष्णुतत्त्व की महती वेदों ने बहुत गायी है। तो शिव तत्त्व यह अमात्रक (मात्रा विरहित) ॐकार है तथा अव्यवहार्य है ऐसा स्पष्ट कहा गया है। अतः जो सबकुछ है वह एक ॐकार में ही है, ॐ ही वह एकमात्र शिवतत्त्व ऐसे दो तत्त्व मनुष्य की दृष्टि के सामाने आकर सही अद्वैतसिद्धि दूर होने की संभावना से इन्कार नहीं कर सकते।

अतः पूर्णवाद की विशेषता यह है कि, वेदों में पूर्ण पुरुष यही एकमात्र सत्य है तथा उसके शिवरूप-विष्णु रूप तथा विश्व रूप यह तीन रूप ही है ऐसा पूर्णवाद का सैद्धांतिक प्रतिपादन है। अर्थात् इसका पूर्ण पुरुष से कार्य कारण संबंध न होकर तीनों रूपों का पूर्ण से स्वरूप संबंध ही है, ऐसा उसका प्रतिपादन है। जैसे एक परब्रह्म अपरोक्षानुभूति के समय, अर्थात्, शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धि के समाधि के अनुभूति समय, परब्रह्म में 'सच्चिदानंद' अर्थात् सत्, चित्, आनंद यह उसके तीन स्वरूप का अनुभव आता है वैसे ही एक पूर्णपुरुष के अद्वैत रूप अनुभूति में शिव, विष्णु, विश्व तत्त्व का अनुभव आने के कारण यह तीनों तत्त्व नित्य सत्य प्रमाणित होते है।

पूर्णपुरुष के स्वरूपतः तीन रूप होने के कारण उस प्रत्येक रूप में दूसरे दोनों रूपों की साक्ष, ऐसे कुल तीन से युक्त तीन रूप होते हैं। परब्रह्म में सच्चिदानंद यह त्रयी, विष्णुरूप में वासना भोग तृप्ति यह त्रयी तो विश्व रूप में उत्पत्ति, स्थिति, लय ऐसे तीनों त्रयी की पूर्ण पुरुष के अनुभूति में एकत्त्व से अनुभूति आती है।

विश्व का पूर्णपुरुष से स्वरूप संबंध होने से अन्य दर्शन मानती है, वैसे पूर्णवाद, विश्व की उत्पत्ति, विश्व की स्थिति तथा विश्व का लय मानती नहीं है, तो विश्व यह नित्य है तथा उसकी प्रकृति अर्थात् उसके अन्तर्गत चल रही उथलपुथल, उत्पत्ति, स्थिति, लय रूप रहती है ऐसा मानता है। यह अंतर्गत कार्य अखंड़ित वर्तुलाकार रीति से चालू रहने से गम् (अर्थात् जाना) धातू से उत्पन्न होने वाला जगत् यह शब्द इस कार्य के गति के स्थित को लगाते है। जगत् यह प्रवाह रूप है।

सारांश, जग यह नित्य होने के कारण सदैव स्थित रहता है, उसमें खण्ड नहीं रहता है। परंतु उसके अन्तर्गत जो उथलपुथल होते रहता है जिसमें उत्पत्ति, स्थिति, लय यह कार्य दिखाई देते है तथा उसमें कार्य कारण परंपरा भी दिखती है तथा इसे ही वेदों में माया कहते है। एकाध सुलगी हुई अगरबत्ती सतत् गोल घुमाते रहे तो उस गति के स्थिति को तेज का जैसे वर्तुल कहा जाता है तथा यह गति नित्य होने पर वह जैसे नित्य रहता है वैसे ही उत्पत्ति, स्थिति, लय के नित्य परिक्रमा को जग (जाने

वाला) कहते हैं तथा वह नित्य और सत्य है ऐसा पूर्णवाद का प्रतिपादन है। पृथ्वी के गति के (अपने तथा सूर्य की परिधी में) स्थिति को जैसे नित्य तथा स्थिर पृथ्वी कहते है वैसा ही यह है।

इन सबसे एक बात स्पष्ट होती है कि, जो नित्य है इसलिए सत्य है वह सामान्यतः प्रकट ही रहता है। वह जानने के लिए सामान्य शुद्ध बुद्धि की यद्यपि आवश्यकता रहती है, फिर भी तीव्र प्रज्ञा की उतनी जरुरी नहीं रहती। हर एक व्यक्ति को मेरा अस्तित्त्व नित्य है, उसमें कभी खण्ड नहीं था, ऐसी ही अन्तःप्रेरणा रहती है। मनुष्य को हम जन्म के बाद अस्तित्व में आये तथा मृत्यु के पश्चात अस्तित्त्वहीन होंगे ऐसा अन्दर से कभी भी लगता नहीं। तुम इस तारीख को जन्मे हो ऐसा उसे कहा जाता है तथा लोग मरते देख हमारा भी अस्तित्त्व एक दिन ऐसे ही समाप्त होगा ऐसा उसे बाहर से संस्कारित किया जाता है। फिर भी यह बात उसे अन्दर तक हजम नहीं होती और इसलिए ही वह जैसे हम अमर है ऐसे सोचकर ही सभी बातों का विचार करता है।

अस्तित्त्वहीनता का वैसे पूर्ण अनुभव स्मरण करने पर भी जँचता नहीं। तुम एक घंटे तक बेहोश थे, इस संसार में न के बराबर थे कहने पर भी तर्क से यह बात उसके गले उतरती नहीं तथा इस बात का उसका नअुभव नहीं रहता। सारांश, मैं अगर हूँ, आत्मा अमर है तथा मुझे समझ आने पर मैं जैसे था वैसा ही आज भी हूँ, यह उसे सहज ही समझ में आता है। वैसे ही यह जग नित्य है यह भी उसके समझ में आता है। मेरे जीव को जैसे भावना-भय, आनंद, दुःख, सुख, भूख, तथा प्यास है वैसे ही सभी प्राणी मात्र तथा जीवों को है यह भी थोड़ा विचार करने पर उसकी समझ में आता है। प्रत्येक को सुख की अपेक्षा रहती है, दुःख कोई चाहता नहीं यह भी उसे पता रहता है। यह जग कुछ विशिष्ट नियम तथा योजना के अन्तर्गत कार्यरत है इसका भी उसे प्रकट ज्ञान रहता है। सारांश, अंतिम सत्य जो पूर्णपुरुषत्त्व के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक रूपों का अर्थात् आत्मा, जीव, शरीर का सामान्य ज्ञान प्रत्येक बुद्धिवादी मनुष्य को थोड़ा बहुत रहता ही है।

परंतु यह तीनों स्वरूप एक ही पूर्ण पुरुष के - एक ही अंतिम सत्य का स्वरूप है। उसमें यद्यपि द्वैत भी लगे, जीव का अनेकत्त्व भी लगा तो भी मूल में अद्वैत है - एक ही पूर्णपुरुष की सत्ता अव्यक्त रीति से सर्वत्र व्याप्त रहती है, इतना ही बोध उसे करा लेना रहता है। बिल्कुल परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध कार्य करने वाले बातों के पीछे एक ही अव्यक्त सत्ता काम करती है यह वैसे समझ लेना पड़ता है। उदाहरण एकाध मोर्चे पर लाठीमार करने वाली पुलिस की सत्ता तथा उसके आदमीयों को हॉस्पिटल में उस

पर इलाज करने वाले सरकारी दवाखाने की व्यवस्था के पीछे एक ही राज्य सत्ता काम करती है, यह उसे समझ लेना पड़ती है। उस अव्यक्त की सत्ता दोनों के पीछे कार्यरत है यह भी जानना जरुरी है।

और इसलिए ही सत्य का शोध लेना यह मानव का वास्तव ध्येय न होकर सत्य खुला तथा प्रकट है उसका बोध करा लेना मानव का कर्तव्य बनता है ऐसा पूर्णवाद कहता है, और उसके लिए तीव्र प्रज्ञा की जरुरी नहीं ऐसा प्रतिपादन है। शंकराचार्य के दर्शन जैसे मात्र ब्रह्म सत्य के अद्वैत सिद्ध के लिए - अद्वैत ज्ञान के लिए जगत् का मिथ्यात्व गले उतरना आवश्यक होने से जगत् मिथ्या प्रमाणित करने के लिए अथवा समझने के लिए तीव्र प्रज्ञा की, कुशाग्र बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इस तीव्र प्रज्ञा के कारण ब्रह्मानुभूति के समय जगत् की अथवा जीव की कोई भी साक्ष समाधि अवस्था में प्रकट नहीं होती. बुद्धि एक ही परब्रह्म पर केन्द्रित रहती है। परंतु इस पद्धति की अद्वैत सिद्धि एकांगी रहती है। मानव के अनुभव में आने वाली सभी बातें अद्वैत सिद्धि से उसे प्राप्त नहीं होती। उसमें से कछ को मिथ्या प्रमाणित कर शेष की अद्वैतता उसमें सिद्ध होती है। अतः मनुष्य के अनुभव में आने वाली सभी की अद्वैत सिद्धि प्राप्त करा देने वाले पूर्णवाद सिद्धि को ही सही अद्वैत सिद्धि पूर्णाद्वैत सिद्धि कहा जाता है और वहीं मोक्ष के बाद की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है।

बहुत लोगों को लगता है कि, हमें एक बार यदि 'आत्म ज्ञान' हुआ अथवा अपरोक्षानुभूति से अद्वैत सिद्धि प्राप्त हुई अथवा भक्ति से सगुण ईश्वर का दर्शन हुआ कि संसार में सब कुछ प्राप्त हुआ ऐसे लगता है और फिर जीवन में नया कुछ करना शेष रहता ही नहीं। एक बार यदि ज्ञान हुआ की जीवन सार्थक हुआ फिर कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। परंतु ऐसा समझना सरासर गलत है। केनोपनिषद् के खण्ड २ श्लोक २१ (पूर्णवाद ग्रंथ पृ. ११) में ऐसा स्पष्ट कहा है कि, 'जिन्हे हमें सत्य समझा है ऐसा लगता है उन्हें वह सत्य तथा ज्ञान हुआ ही नहीं रहता। और जिन्हें वह लगता नहीं उन्हें यह समझा ऐसा जानो।'

सारांश, ज्ञान होने पर अज्ञान का संपूर्ण नाश होता है, फिर वह उद्‌भव होने की संभावना नहीं बनती ऐसा समझने का धोखा कभी मोल न लें। क्योंकि ज्ञान से अज्ञान का समूल नाश होता ऐसा वास्तव नहीं है। उसमें से वास्तव अंतिम सत्य मात्र पूर्ण पुरुष ही है तथा वह मूलतः त्रिरूप अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप का होने से मानवी जीवन की इति कर्तव्यता संपूर्ण सार्थकता अकेले ज्ञान से, अकेले भक्ति से अथवा अकेले कर्म से भी असंभव है।

पूर्णपुरुष के अंतिम सत्य के तथा उसके ज्ञान का शिव रूप, विष्णु रूप तथा विश्वरूप इन तीनों से ही स्वरूप संबंध होने के कारण तथा यह तीन तत्त्व नित्य अस्तित्त्व में होने के कारण अंतिम सत्य का तथा उसके ज्ञान का संपूर्ण बोध किसी भी एकांगी साधन से, अर्थात् एकांगी ज्ञान से, एकांगी भक्ति से तथा एकांगी कर्म से संभव नहीं।

वेद तथा उपनिषद् में इन तीनों तत्त्वों का निर्देश अथ आध्यात्म, इति आधिदैवतम्, इति आधिलोकम् ऐसे उपदेश से किया है। अतः विश्व की प्रत्येक क्रिया (फिर वह ज्ञान संपादन की हो अथवा ईश्वर की भक्ति, उपासना की हो) इन तीनों भावों से युक्त ही रहती है। सारांश, शरीर, मन, जीव अथवा बुद्धि तथा आत्मा इन तीनों का प्रत्येक क्रिया में कुछ न कुछ सहभाग होता ही है। इसलिए कोई भी क्रिया मूल में एकांगी रहती ही नहीं, अतः एकांगी सिद्धि यह पूर्णसिद्धि हो ही नहीं सकती।

वेदों की विशेषता ही है कि, पौर्वात्य तथा पाश्चात्य सभी वैज्ञानिकों ने यद्यपि विश्व को कार्य रूप माना है, तो भी वेद उसे मानते नहीं है। किसी को भी विश्व के कारण का बोध हुआ नहीं। अतः प्रत्येक के वाद को अज्ञेयता (Agnostocosm) की झलक है।

उदाहरण जिन आद्यशंकराचार्य ने अपने तीव्र बुद्धि से ज्ञान के क्षितिज के भी परे की उड़ान लेकर अपरोक्षानुभूति जैसे दिव्य अनभूति मानव जाति को करा दी, उन्हीं शंकराचार्य के बुद्धि को 'अज्ञान तथा माया' क्यों निर्माण हुई इस प्रश्न पर 'वह जानना' बुद्धि के परे की बात है ऐसा कहकर बुद्धि की शरणागति को स्वीकारना पड़ा यह एक आश्चर्य ही है अर्थात् यह अज्ञेयता नहीं तो और क्या है?

समझो, एकाध को ज्ञान से यह समझ में आया कि वह पूरे सागर शहर को खाना खिला सकता है इतनी साधन संपत्ति उसके पास है लेकिन प्रत्यक्षतः वह अपने ही पुत्र को खाना नहीं खिला सकता इसलिए ऐसा कहना पड़ता है। तो उसकी जैसी अवस्था होगी ऐसी ही अवस्था शंकराचार्य की हुई ऐसा लगता है।

और प्रत्यक्ष व्यवहार में भी ज्ञानी जनों की ऐसी ही अवस्था हम देखते हैं। एक जगह हम ब्रह्म रूप है, ब्रह्म जैसे बड़े है ऐसा कहना और व्यवहार तथा प्रत्यक्ष खाने के लाले पड़ना, यह विडंबना किस कारण से होता है। ज्ञान की अव्यवहार्यता इससे स्पष्ट नहीं होती क्या? इसका कारण ज्ञान का एकांगी होना। ज्ञान एकांगी साधन है इसलिए उसमें अज्ञेयता आती है। यहां वह ज्ञान झूठ नहीं होता। ज्ञान की दृष्टि से वह सत्य ही रहता है, लेकिन सही वास्तविक सत्य त्रिरूप का (Three Dimentional) ही होने

के कारण, उस अकेले एकांगी ज्ञान सत्य में, प्रत्यक्ष में उतना कठिन ही रहता है। उस अकेले एकांगी ज्ञान सत्य में प्रत्यक्ष ग्राम भोजन देने में समर्थ नहीं रहता। कारण कि ग्राम भोजन का संबंध आधिभौतिक में आता है। उसके पास आधिभौतिक की भी अद्वैत सिद्धि होनी चाहिए। यह बिना कर्म के, लोक संग्रह, लोकमत के संभव नहीं बनता।

ऐसी ही स्थिति एकांगी भक्ति मार्ग की होती है। तुम्हारा ईश्वर यदि चराचर विश्व का स्वामी है, तो फिर ऐसी स्थिति क्यों? इस प्रश्न पर उन्हें भी ऐसी ही अज्ञेयता प्रकट करनी पड़ती। आधिभौतिकवादियों को भी, तुम्हारे पास सभी सुखसाधन, संपत्ति होते हुए आप सुखी, प्रसन्न, आनंदमय क्यों नहीं है? ऐसा पूछने पर उन्हें भी अज्ञेयता का ही आश्रय लेना पड़ता है। सारांश, आज तक सभी पौर्वात्य तथा पाश्चात्य शास्त्र विश्व को कार्य मानते आये हैं। अतः उनका दर्शन चाहे उच्चतर अथवा श्रेष्ठ हो फिर भी उस पर अज्ञेयता की मुहर लगती ही है तथा बुद्धि को शरण चिठ्ठी देनी पड़ती है तथा परमेश्वर की इच्छा कहकर स्वस्थ बैठना पड़ता है।

परंतु वेदों में मात्र ऐसी अज्ञेयता नहीं है इसलिए प्राचीन वेदकालीन ऋषि, मुनि, अपना दर्शन स्व सामर्थ्य से प्रत्यक्ष में उतार सकते थे। किसी भी कार्य का कारण मिल सकता है। वह उतना असंभव नहीं। परंतु विश्व यह कार्य न होकर, यदि कार्य समझ कर मनुष्य (हम) कारण मीमांसा करने लगे, तो आज तक के सभी दार्शनिकों की जो स्थिति आज है वह होना अटल ही है। सारांश, दर्शन के किसी भी चिकित्सक तथा जिज्ञासु को एक बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि, आज तक के किसी भी वाद अथवा दर्शन को विश्व यह कार्य पक्ष मानकर उसके कारणों की मीमांसा करते नहीं बनी। कहीं तो मानवी बुद्धि को शरणचिठ्ठी देनी ही पड़ती है तथा अज्ञेयता प्रकट करनी पड़ती है।

इसलिए ही पूर्णवाद ऐसा कहता है कि, जिसे हमें किसी सिद्धांत का फिर वह परब्रह्म हो, ईश्वर हो, अगर पूर्णपुरुष हो ज्ञान हुआ ऐसा लगता हो, वह अपने मन जैसे, संकल्प जैसे व्यवहार करने का प्रयत्न करें। हमारे मन जैसे, संकल्प जैसे इस संसार में प्रत्यक्ष उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करें। जब वह ऐसा प्रयत्न करेगा, तब उसके यह ध्यान में आयेगा कि, 'अरे! मुझे अब तक प्राप्त हुआ ज्ञान पर्याप्त नहीं है उसे अज्ञान तथा अज्ञेयता की झांकी है। अभी ऐसी अनेक बातें है कि उसे मुझे आत्मसात (सीखना) करना जरुरी है। तभी मेरे मन जैसे हो सकता है।' यहां उसे अपने अज्ञान का बोध हो सकेगा तथा संकोच होगा। फिर पूर्णवादाचार्य डॉ. पारनेरकरजी ने अपने अभिनव अभंग रचना में जैसे कहा है, 'सदा अज्ञानाची वाहिली मी लाज। मनाचे हे

चोज पुरविता।।' (मैंने अज्ञान की हमेशा शर्म की। मन के चोंचलों को पूरा करते करते) यह अवस्था उसे प्राप्त होगी। फिर वह इस अज्ञान को दूर करने का सतत् प्रयत्न करता रहेगा। सारांश, एक बार ज्ञान हुआ कि खत्म ऐसा नहीं होता। वह ज्ञान प्रत्यक्ष में लाने का जब हम प्रयत्न करते है, तब काल के साथ नया, नया अज्ञान हमें चिपक जाता है तथा बार बार उसे दूर करना पड़ता है। यह प्रक्रिया सतत् करनी पड़ती है तभी मूल ज्ञान प्रकाशित तथा आबाधित रह सकता है। इस सतत् क्रिया के लिए ज्ञान, कर्म, उपासना इस त्रिकांडात्मक साधन की सतत् जरुरी रहती है तथा वेद इसलिए ही इस त्रिकांडात्मक साधना की सहउपासना करने को कहते है।

अब तक के पौर्वात्य तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने विश्व को कार्य पक्ष मानकर उसके कारण का जो कुछ विचार अपने अलग अलग दर्शन में प्रतिपादित किया, उन सभी दार्शनिकों को विश्व के कारणों का निश्चित पता नहीं चल सका, उल्टे अपनी अपनी प्रक्रिया में कहीं न कहीं बुद्धि को किनारा कर अज्ञेयता को स्वीकार करना पड़ा। इसका अब तक हमने विचार किया। तब यह ऐसा क्यों यह प्रश्न सहज ही हमारे सामने उपस्थित होता है।

इस पर पूर्णवाद का एक ही अत्यंत महत्त्व का उत्तर है कि विश्व यह वास्तव में अंतिम सत्य का तथा पूर्ण पुरुष का रूप है तथा इस रूप को कार्य मानने की अक्षम्य ऐसी दिग्भ्रमित अवस्था इन दार्शनिकों की हुई। यह दिग्भ्रमित होने का कारण ऐसा है कि, इस विश्वान्तर्गत घटनाओं में कार्य कारण भाव दिखाई देता है यह सही है। परंतु यह विश्व की प्रकृति है तथा इस प्रकृति के नियम उन्होंने विश्व को लगाये तथा उसे कार्य मानकर प्रथम अनित्य प्रमाणित किया (अनादि तथा सान्त) और बाद में उसका तथा नित्य अविनाशी रूप (उस दर्शन से प्रतिपादित) सत्य के संबंध का विचार अपनी अपनी दार्शनिक प्रक्रियाओं द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया।

लेकिन मूल में ही जो त्रुटी उससे अगला सब गणित गलत होता गया। ऐसी अवस्था हुई तथा सही अर्थ में अद्वैतसिद्धि प्राप्त करते नहीं बनी। अतः उस प्रत्येक दर्शन में अज्ञेयता की झलक शेष रही। तथा उनके द्वारा प्रतिपादित ज्ञान पर उसकी सतत् छाया भी बनी रही।

परंतु जैसे हमने बताया कि वेदों में अज्ञेयता बिल्कुल नहीं है। सिवाय पूर्णवाद शिव, विष्णु तथा विश्व तत्त्वों का वेदों में जैसे बताये पूर्ण पुरुष से अंतिम सत्य से स्वरूप संबंध का ही प्रतिपादन करता है तथा इसलिए ही वेद जैसे ही ज्ञान, कर्म, उपासना इन साधनत्रयी पर बल देता है। इसलिए पूर्ण पुरुष के दर्शन पर अज्ञेयता की

छाया नहीं पड़ सकती, वैसे ही काल के साथ सतत् आने वाला अज्ञान भी इन साधनत्रयी द्वारा पीछे बताये जैसे सतत् दूर होता जाता है।

पूर्णवाद आग्रह पूर्वक यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि, ज्ञान, कर्म, उपासना इन तीनों साधनों में से किसी को भी - कर्म को भी - गौणत्व न होकर किसी भी एक साधन से किसी को भी अद्वैत सिद्धि - पूर्णाद्वैत सिद्धि प्राप्त होना संभव नहीं है। तीनों तत्त्वों का पूर्ण से स्वरूप संबंध होने के कारण पूर्ण के बाहर कुछ भी संभव नहीं है। रूप यह नित्य है, सदैव स्थित रहता है, तो कार्य यह अनित्य रहता है। अतः तीनों तत्त्वों का पूर्ण से स्वरूप संबंध होने के कारण विश्व यह भी नित्य ही है, तथा वह पूर्ण के बाहर नहीं है। अतः जो कुछ भी है वह सब पूर्ण में है। प्रत्येक का पूर्ण से पूर्णतः अभेद है यह सिद्ध है।

किसी भी सत्य अथवा तत्त्व का हम केवल एकमेव सत्य कहकर ज्ञान करा लेते हैं, बोध करा लेते हैं, तब हमारा मन उस सत्य तथा तत्त्व की ओर लगा रहता है। इंद्रियों से परे मन होने के कारण उसकी गति तीव्र रहती है और इसलिए ही हनुमान जी की स्तुति में कहा जाता है, 'मनोजवं मारुततुल्य वेगम्' ऐसी मन की गति प्रकाश के गति से भी तीव्र होती है। ऐसा अपना तीव्र मन सत्य तत्त्व जानने के लिए उस समय ज्ञान ही मार्गदर्शक बनता है।

अब जब यह मन (बुद्धि सहित) ज्ञान से एकाध सत्य को अथवा सत्य तत्त्व को अर्थात् ही १. परब्रह्म अथवा २. ईश्वर अथवा, ३. पूर्णपुरुष इसे केवल तथा पूर्ण सत्य कहकर पहचानते हैं, अनुभव करते हैं, तब उसे 'वह' तत्त्व अर्थात् (जहां मन पहुंचा हुआ रहता है तथा जिसका अनुभव लेता है) उतना ही सत्य लगता है तथा अन्य सभी का अनुभव लेने वाले हम भी तथा हमारा मन भी रहता है, उसका विस्मरण होता है। लेकिन जब उस मन को उसकी अपनी सुध (स्मरण) वा सुध-बुध आती है, तब उसके सामने 'वह' सत्य तत्त्व तथा यह अपने नित्य के संसार (विश्व) में हम तथा हमारा मन ऐसी दो बातें सहज ही उपस्थित होते है। ऐसा होने का मुख्य कारण मानवी मन को शुरुवात से ही 'मै हूँ' तथा मै इन सबसे अलग तथा स्वतंत्र है ऐसी प्रकट भावरूपी प्रेरणा सदैव रहती है इसे ही जीव दशा तथा जीव कहा जाता है।

अर्थात् सत्य तथा केवल सत्य कहकर निर्धारित किये हुए 'वह' तथा इस संसार का शरीर जीव आत्मा युक्त 'मै'पन, अथवा यह ऐसी दो बातें जब मन के सामने उपस्थित होती है, तब इन दोनों का 'वह' को मन से सत्य कहकर निर्धारित किया रहता है इसलिए और स्वीकारने के कारण फिर 'यह' क्या? ऐसा प्रश्न उसके सामने उपस्थित होता है तब उसकी भ्रमित अवस्था होती है। 'वह' यदि सत्य है, तो 'यह' असत्य तो

नहीं? ऐसी शंका उपस्थित होती है।

विशेषतः 'वह' तत्त्व यदि परब्रह्म अथवा ईश्वर है तो 'यह' वह रह ही नहीं सकता। वैसे ऐन समय पर, ज्ञान होने पर, अनुभव होने पर भी पुराने संस्कार से तथा उसके मर्यादित सामर्थ्य के लिए उसे ऐसा लगता है, इसलिए द्वैत कायम रहकर अद्वैत सिद्धि सही अद्वैत सिद्धि उसे प्राप्त नहीं होती।

परंतु मूल तत्त्व 'वह' यह त्रिरूप (शिव-विष्णु-विश्व रूप) पूर्ण पुरुष अथवा पूर्ण है ऐसा ज्ञान से मन को निश्चयपूर्वक समझा होगा तथा (१) पूर्ण से पूर्ण ही निकलता है, (२) पूर्ण से पूर्ण जाने पर पूर्ण ही शेष रहता है, (३) पूर्ण मे पूर्ण मिलाने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है - यह पूर्ण के संबंध का (यह शून्य पर भी चरितार्थ है) महत्व का सिद्धांत समझ में आने पर 'वह' पूर्णपुरुष तथा 'यह' भी पूर्ण है - पूर्णमदः, पूर्णमिदं और इसलिए 'वह' पूर्णपुरुष तथा 'यह' शरीर जीव आत्म युक्त जगत् का सर्वसामान्य मैं से एकरूप है, इसमें अद्वैत स्थित है ऐसा बोध उदय होकर पूर्णाद्वैत सिद्धि अपनेआप तथा सहजरीति से सिद्ध होती है। अतः पूर्णवाद दर्शन अर्थात् पूर्णाद्वैत की सही अद्वैत की सिद्धि ही है ऐसा कह सकते हैं। इन सब विश्लेषणों से पूर्णवाद क्या है इसकी अध्येता को कल्पना आ सकती है तथा इससे उसे पूर्णाद्वैत सिद्धि प्राप्त होगी ऐसा विश्वास है। उसमें भी वह पूर्ण है तथा यह भी पूर्ण है ऐसा ज्ञान से समझने के कारण पूर्णाद्वैत सिद्धि का जैसे वहां पूर्णपुरुष में मन लगाना है कहने पर जैसे चट् से लगाने आता, वैसे ही यहां अर्थात् 'मै' के स्थान पर तथा उसके आसपास के परिसर में भी मन लगाना है कहने पर भी फट् से वहां से निकाल कर उतनी ही सक्षमता से तथा आनंद से यहां भी लगाने आता है। कारण 'वह' तथा 'यह' दोनो पूर्ण है। चाहे जिस विषय में मन लगाते बनना तथा वह वहां से फट् से निकालकर किसी दूसरे विषय में उतने ही प्रभावी ढंग से लगाना यह सिद्धि उसे सहज प्राप्त होती है।

उसमें से मूल सत्य पूर्णपुरुष अथवा 'वह' यह त्रिरूप होने के कारण पूर्णाद्वैत की सिद्धि प्राप्त व्यक्ति को आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन तीनों क्षेत्र के किसी भी विषय में जैसे वह अपना घर है ऐसे खुले तथा सहज वृत्ति से प्रभुत्व से संचार करने आता है। डॉ. रामचंद्र पारनेरकर (पूर्णवादाचार्य) बिल्कुल रत्न की परख कैसी करनी होती है इस विषय से लेकर अर्थशास्त्र इतिहासादि सभी विषयों में तथा आध्यात्मिक सभी दर्शनों में जैसे अधिकारी थे वैसे ही वह शिष्यों को आधिदैविक पक्ष के भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना भी देते थे, यह इसी का लक्षण है। सारांश, पूर्णवाद के अध्ययन से मानव को जैसे पूर्णवाद पूर्णाद्वैत सिद्धि प्राप्त होगी, वैसे ही प्रत्येक मानव का उसके

नामरूप के साथ पूर्ण से अभेद है यह भी ज्ञान उसे प्राप्त होगा तथा वह प्रभुत्त्व से जीवन यापन कर अन्त में नाम्‌रूप के साथ पूर्ण में प्रवेश कर सकेगा ऐसा अब विश्वास होने के कारण इस प्रकरण की तथा इस ग्रंथ की यहां समाप्ति करते हैं।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाशिष्यते ।।
ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॐ पूर्णपुरुषार्पणमस्तु

* * * * * *

लेखक परिचय

डॉ. विष्णु रामचन्द्र पारनेरकर पूज्यपाद पूर्णवादाचार्य डॉ. रामचन्द्र प्रह्लाल पारनेरकर के ज्येष्ठ सुपुत्र का जन्म इ. स. 1939 में इंदौर में हुआ।

महाविद्यालयीन तथा स्नातकोत्तर कानूनी शिक्षा प्रथम श्रेणी में पूर्ण की, तत्पश्चात मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय में वकालत का व्यवसाय किया। इंदौर बार के वे प्रतिथयश वकील के रूप में प्रतिष्ठित हुए। आज भी उनका उल्लेख आदर से किया जाता है। छात्र अवस्था से ही अनेक कलाओं में अभिरूचि होने के कारण उसमें उन्हें अपार यश प्राप्त हुआ। वक्ता तथा क्रीड़ापटु के रूप में प्रतिष्ठा।

वैदिक परिवार से संबंधित होने के कारण वेदविद्या प्राप्त कर शारीरिक संपदा के स्वरूप मल्लविद्या प्राप्त की तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में युवकक्रांति पत्रिका का संचालन तथा संपादन किया।

पूर्णवादाचार्य के कार्य को, अर्थात वैदिक दर्शन तथा परंपरा को आधुनिक रूप देकर विश्व स्तर तक प्रचार कार्य का संचालन। इस कार्य का महाराष्ट्र से संचालन कर स्वदेश तथा विदेशों की यात्राएं कर भारतीय वेदविद्या की महत्ता तथा सामयिकता पर प्रबोधन कार्य। ऑस्ट्रेलिया, अमेरिका, इंग्लैंड, कनाडा तथा मॉरिशस में जीवनकला मंदिर के रूप में केंद्र स्थापना कर जीवन को कलात्मक तथा नीतिमूल्यों से परिपूर्ण करने का कार्य, गुरु-शिष्य परंपरा का प्रचार।